योगेश्वर गुरु गङ्गेश्वर

लेखिका

रतन फोजदार

योगेश्वर गुरु गंगेश्वर

गङ्गेश्वर-ग्रन्थमाला : प्रसून–२

योगेश्वर गुरु गङ्गेश्वर

लेखिका

रतन फ़ौजदार

सम्पादक

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य

प्रकाशक

श्री गोविन्दराम सेऊमल

गंगेश्वर-जयन्ती, २०२१

प्रकाशक :
श्री गोविन्दराम सेऊमल
२८७, घोड़बन्दर रोड,
बान्द्रा, बम्बई

●

प्रथम संस्करण : २,०००
जनवरी, १९६५
मूल्य : पाँच रुपये

●

मुद्रक :
तरुण भाई,
जीवन-शिक्षा मुद्रणालय,
गोलघर, वाराणसी

●

प्राप्ति-स्थान :
१. उदासीन सद्गुरु गङ्गेश्वर जन-कल्याण ट्रस्ट, तीसरा माला,
फ्लैट नं० ३१, डी रोड, चर्च गेट, बम्बई-१
२. उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, ढुण्ढिराज, वाराणसी
३. वेद-मन्दिर, कांकरिया रोड, अहमदाबाद
४. गङ्गेश्वर-धाम, १३, पार्क एरिया, करोलबाग, नयी दिल्ली
५. राम-धाम, निरञ्जनी अखाड़ा रोड, हरिद्वार
६. श्रौतमुनि-निवास, वृन्दावन (मथुरा)
७. डेरा राजवाना खुर्द, पो० राजवाना कला, जि० लुधियाना
८. राम-धाम शिव-मन्दिर, रतनचन्द रोड, अमृतसर
९. गीता-भवन, मनोरमागञ्ज, इन्दौर

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में एक नितान्त उज्ज्वल एवं उदात्त चरित्र का चित्रण मञ्जुल शैली तथा प्राञ्जल शब्दावली में किया गया है। चरित्र भी है, भारत के कोने-कोने में प्रख्यात, वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज जैसे सच्चे महापुरुष का। शतशः निकषग्रावा-परीक्षित सुवर्ण के समान देदीप्यमान आपका जीवन अनन्त लोकोपयोगिताओं एवं लोकोत्तर लीलाओं का विशाल भण्डार है। कितने मैले-कुचैले आवरण में निहित होंने पर भी इसकी मोहकता और वहुमूल्यता में कमी नहीं आ सकती थी। किन्तु रतनवहन फोजदार जैसी चतुर-चितेरो की विमल तूलिका ने उसे स्वर्णिम जामा पहनाकर चार चाँद लगा दिये हैं। जीवनी का अविकल संकलन दो ही व्यक्ति कर सकते हैं : एक तो स्वयं, दूसरा चरित्र-नायक के घनिष्ठ सम्पर्क में रहनेवाला सजग संग्राहक। दूसरे व्यक्ति का तथ्यान्वित सुन्दर सञ्चयन स्वयंरचित-रचना से बढ़ जाया करता है; क्योंकि स्वयंरचित जीवनी घटनाओं का एक संग्रहमात्र होती है, जब कि अन्य-वर्णित जीवनी में उन शिक्षाप्रद एवं संस्कृति-उन्नायक अंशों की पूर्ति भी रहती है, जिन्हें स्वयं व्यक्ति संकोचवश या अनुपयुक्त समझकर छोड़ जाता है।

नेत्रों के कैमरों एवं श्रोत्र के शब्दग्राहक यन्त्र द्वारा लेखिका का स्वस्थ मस्तिष्क महाराजश्री का जीवन-क्रम यथावत् सतत संग्रहीत करता रहा। वही दुर्लभ संग्रह आज मूर्त रूप में हम लोगों के समक्ष उपस्थित है। बहुत दूर तक पढ़ जाने पर भी मन उकताता नहीं; उत्तरोत्तर औत्सुक्य बढ़ता ही जाता है। वास्तव में यही लेखन-कला का कौशल है। रतनवहन फोजदार गुजराती-साहित्य की अच्छी लेखिका हैं, किन्तु राष्ट्रभाषा की यह रचना भी ऐसी बन पड़ी है कि इससे उत्तम इस विषय का वर्णन अन्य की लेखनी नहीं कर सकती, ऐसी मेरी अपनी धारणा है।

इस पुस्तक में १८ प्रकरण हैं। आरम्भिक तीन प्रकरणों में सम्प्रदाय-परिचय; चतुर्थ से षष्ठ तक महाराजश्री का पूर्व-जीवन; सप्तम में औदास्य-दीक्षा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन; उसके पश्चात् के प्रकरणों में सन् १९२५ से साधु-मंण्डली लेकर समग्र भारत में यात्रा-क्रम तथा लोक-संग्रह के विविध चरण वर्णित हैं। इन वर्णनों में रोचकता के साथ-साथ यथार्थता का पूर्ण विग्रह विराजमान है; क्योंकि सन् १९३५ से लेकर आज तक मैं भी महाराजश्री के सम्पर्क में बराबर बने रहने का सौभाग्य प्राप्त कर रहा हूँ। पुस्तक पढ़ने से बहुत-सी धूमिल घटनाएँ

ताजी हो उठती हैं। इस पुस्तक का उपयोग केवल साधुओं के जीवन से ही नहीं, भारतीय संस्कृति और साहित्य के समस्त जिज्ञासु-जन इससे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं।

यद्यपि हमारे सम्प्रदाय को एक-से-एक ज्ञानी, कर्मठ, भक्त, विद्वान् महापुरुष सुशोभित करते आये हैं और उन सब पर मेरी अटूट श्रद्धा है; तथापि इस तथ्य का अपलाप नहीं किया जा सकता कि महाराजश्री हमारे सम्प्रदाय में युगपुरुष के रूप में विराजमान हैं। जैसे आचार्य उदयन को ईश्वर की सत्ता, स्थिति और मान्यता बनाये रखने का गर्व था, भगवत्-विग्रह के समक्ष वे 'मदधीना तव स्थितिः' का उद्घोष कर बैठे थे, वैसे ही आप भी यदि समूचे उदासीन-सम्प्रदाय को सम्मुख रखकर वही उद्घोष कर दें, तो सर्वथा समुचित ही होगा। आपकी अमर रचना 'श्रौतमुनि-चरितामृत' उदासीन-सम्प्रदाय की आधार-शिला है, इसे कौन नहीं जानता! सम्प्रदाय के लिए आप भयंकर-से-भयंकर तूफानों के सामने छाती तान-कर चट्टान बन चुके हैं। सन् १९२५ से लेकर १९४५ तक निरन्तर २० वर्षों तक आप धर्म और संस्कृति के अभ्युत्थान में धुँआधार प्रचार-रत और संलग्न रहे, निजी सुख और सुविधा के लिए कहीं भी आश्रम आदि का निर्माण नहीं किया। सर्वप्रथम सन् १९४६ में विशाल वेद-मन्दिर की स्थापना अहमदाबाद में की। उसके पश्चात् काशी, वृन्दावन, माउण्ट आबू, हरिद्वार, अमृतसर, बम्बई, नासिक और दिल्ली में बृहत् आश्रम बनाकर जनता को सौंप दिये। अनासक्ति-योग का इससे बढ़कर चमत्कार और निदर्शन क्या होगा?

ऐसे योगेश्वर का जीवन-चरित्र जानने के लिए लोग बहुत दिनों से उत्सुक थे। आपकी 'व्याख्यान-माला' निकलने के पश्चात् तो वह उत्सुकता व्यग्रता के रूप में परिणत हो गयी थी। उसे शान्त करने का श्रेय श्री रतनबहन फोजदार को ही है। इसके लिए हम सभी आभारी हैं।

जनता एक्सप्रेस,
हरदोई स्टेशन
२४-१२-'६४

—योगीन्द्रानन्द
अध्यक्ष, उदासीन संस्कृत
महाविद्यालय, वाराणसी

आ मु ख

माननीय लेखिका रतनबहन फोजदार की उत्कट गुरु-भक्ति का प्रकट प्रमाण यह १८ पर्वों का गुरुचरित-महाभारत है, जिसका लिखना महाभारत से कम कठिन नहीं। एक दृष्टि से महाभारत-लेखन प्रस्तुत लेखन से अपेक्षाकृत सरल कहा जा सकता है। कारण उसके अधिकांश पात्र, मुख्य नायक गृहस्थ थे, जब कि इसके नायक और बहुत-से प्रमुख पात्र भी सर्वसंगपरित्यागी चतुर्थाश्रमी ! शास्त्रों की मर्यादा है कि चतुर्थाश्रमी के पूर्व आश्रम का उच्चारण क्या, स्मरण तक नहीं किया जाना चाहिए। फिर उसका समग्र चरित्र ग्रथित करना संभव ही कहाँ ? किसी मानव-देहधारी का चरित्र लिखते समय उसके जन्म, निवास-स्थल, कुल-परिवार आदि का निरूपण तो आवश्यक ही है और वह सब उसके पूर्व आश्रम का ही होता है, जिसके स्मरण का शास्त्र स्पष्ट प्रतिषेध करते हैं। वह सर्वपरित्यागी त्यागी तो उसे कह ही नहीं सकता। फिर दूसरा उसे कहाँ तक संग्रह करे ? आखिर अभी तक प्रस्तुत चरित्र-नायक के जन्म-स्थान का पता कहाँ चला ? प्रदेश के संकेत तक ही वह सीमित रह गया। जन्म-तिथि का भी पता अभी-अभी ४ वर्षों से ८० वर्ष की आयु के बाद चला और उसे प्राप्त करना लेखिका की अटूट भक्ति के ही वश की बात रही।

सचमुच सन्तों के पूर्व जीवन एवं पूर्व घटनाओं का ठीक-ठीक पता पाना और उनके वर्तमान सन्त-जीवन के भी अनेक प्रसंगों की सन्-संवत्, मास-महीने, तारीख-तिथि-वार संकलन बड़ी टेढ़ी खीर है। कारण उनके व्यवहार सामान्य व्यावहारिक जीवन से भिन्न होते हैं। फिर उनके जीवन के गोपनीय आध्यात्मिक, दैविक प्रसंगों का स्पष्टीकरण तो और भी दुस्साध्य है। किन्तु कहना पड़ता है कि बहन की निर्विशेष गुरु-भक्ति ने इन सब असंभवों को आज संभव कर दिखाया ! उसकी दीर्घकालीन साधना और अध्यवसाय से परिपुष्ट लेखनी ने उसे लिपिबद्ध कर ही लिया।

इस प्रसंग में गुरु महाराज के शत-शत भावुक भक्तों के शोभन अदृष्ट को भी नहीं भुलाया जा सकता। कारण न्यायशास्त्र के आचार्य किसी कार्य की सृष्टि में उसके भोक्ता का अदृष्ट भी सर्वसाधारण अनिवार्य कारण मानते हैं। बहन की इस साधना के फ़लभोग में उस अकेली का ही अधिकार नहीं, उनके असंख्य अनुगृहीत भी उसमें हिस्सा बँटानेवाले हैं। इस प्रकार उन सबके असंख्य सद्-

भाग्यों से उपबृंहित लेखिका की साधना आज इस वाङ्‌मयी मूर्ति के रूप में साकार हो उठी है।

लेखिका की यह गुरु-साधना इतनी प्रबल रही कि उसने सर्वथा यान्त्रिक-जीवन इस जन को भी अपनी लपेट में ले लिया। गया था, गुरु महाराज के निकट कुछ और अन्वेषण करने, पर रम गया गुरु-भक्ता के भाव-भीने इस गुरुलीला-विलास में। प्रारम्भिक २-३ पर्व और अन्तिम कतिपय पर्व, प्रत्येक पर्व के विषय-प्रवेश आदि के संयोजन, परिष्करण एवं अलंकरण में ही बह पड़ी उसकी लेखनी की धारा। गुरुभक्ता लेखिका की मोहक गुरु-निष्ठा जादू कर गयी उस पर। खैर, अब तो बहती गंगा में हाथ धोकर उसे श्री वाचस्पति के शब्दों में यह कहने का अवसर मिल गया कि 'रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति'—इस जन की दुर्बल लेखनी से प्रसूत यह क्षुद्र धारा गुरुभक्ता द्वारा प्रवाहित पावन अजस्र धारा में मिलकर अनायास पवित्र हो जाती है।

इस प्रसंग से प्रस्तुत पुस्तक के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग की यथादृष्टि जो झाँकी मिली, उसका अमन्द प्रमोद बाहर छलककर लेखनी के द्वार से बहने को बाध्य हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन-पथ में वह पाठकों के लिए दिशा-सूचक यन्त्र सिद्ध होगा।

बहिरंग-चित्रण

प्रस्तुत पुस्तक डबल डिमाई (२२″ × ३६″) सोलहपेजी (५॥″ × ९″) आकार के कुल ४१८ + २८ पृष्ठों में ३९ पौण्डी मैपलीथो कागज पर छपी है। अक्षरों में सामान्य मैटर १२ पाइण्ट मोनो सादा में, उद्धरण १२ पा० काला और १४ पा० सादा में, टिप्पणी १२ पा० नाटा पाइका में, प्रकरण-शीर्षक २४ पा० स्क्रिप्ट में और उपशीर्षक १६ पा० स्क्रिप्ट में प्रयुक्त हैं। चरित्र-नायक के अतिरिक्त कुछ भक्तों के चित्र एवं आकर्षक तिरंगे रैपर के साथ सुपुष्ट जिल्द में आबद्ध है। जीवन-शिक्षा मुद्रणालय, वाराणसी के अधिपति, प्रमुख साहित्यिक श्री तरुणभाई के कलात्मक सहयोग, अक्षर-योजकों एवं मुद्रक के हस्तकौशल, श्री नरहरि पुरुषोत्तम रंगप्पा की निर्मल पैनी दृष्टि से संशोधित और श्री सन्त आनन्द भास्कर के दृढ़ अध्यवसाय की मूर्तिमान् आकृति यह पुस्तक कलाकारों की कसौटी के लिए प्रस्तुत है। अब इसकी साधुता या असाधुता का निर्णय विज्ञ कलाकारों का काम है। संक्षेप में पुस्तक का यही बहिरङ्ग-चित्रण किया जा सकता है। आइये, अब थोड़ा अन्तरङ्ग-चित्रण की ओर मुड़ें।

अन्तरंग-चित्रण

पुस्तक में १८ पर्व या प्रकरण हैं और एक परिशिष्ट, खिलपर्व—'निकट अतीत के छह मास।' दोनों मिलाकर ईसवी सन् के अनुसार चरित्र-नायक के पूरे ८३ वर्ष व्याप लेते हैं। वैसे इन ८३ वर्षों को समय का आखिरी छोर मान लें और पहला छोर विधाता की प्रथम मानसी सृष्टि भगवान् सनत्कुमार से जोड़ें, तो यह ग्रन्थ बहुत बड़ा अतीत अपने उदर में समाये हुए है। फिर यदि इस सृष्टि को अनादि बतायें और 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' मानें, तो जाने कितने कल्प इसके उदर में समा सकते हैं। इस तरह तो यह अनादि सृष्टि-काल से अब तक का मूर्त इतिहास बन जाता है, जिसे ४१८ पृष्ठों में सँजोने का लेखिका का प्रयास चुलुक (चुल्लू) में समुद्र को सँजोनेवाले महर्षि अगस्त्य का बरबस स्मरण करा देता है। खैर, इतना तो निश्चित है कि प्रस्तुत ग्रन्थ इतिहास का ऐसा मापदण्ड है, जिसमें अनादि सृष्टि से अद्यतनीय सृष्टि तक की घटनाओं में सुन्दर सलोनी कड़ी जोड़ी गयी है। और वह कड़ी पूर्वपक्षात्मक प्रवृत्ति-मार्ग की ही नहीं, उत्तरपक्ष निवृत्ति-मार्ग की लट से भी गुँथी हुई है। इस तरह सृष्टिदेवी के सुमन-गुम्फित कमनीय कवरी-पाश के रूप में यह ग्रन्थ हम-आप रस-लोलुप मधुपों की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है।

वास्तव में किसी वस्तु के लिए भूमि का आधार लगता है। निराधार गगन में पक्षी ही उड़ते हैं और उड़ते हैं आज के वैज्ञानिक ! कल्पना के गगन में भी उड़नेवाली एक जाति है, पर सामान्य जन जमीन पर चलता है, आधार पर ही चलता है। उसके लिए 'आसमान में उड़ना' बुरा मुहावरा माना जाता है। यही कारण है कि उदासीन-सम्प्रदाय को आधार-शिला बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति का अद्ययावत् आध्यात्मिक इतिहास-प्रासाद खड़ा किया गया है। उदासीन-सम्प्रदाय के उद्गम से १८८१ कड़ियों को गूँथते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के करीब तीन प्रारंभिक पर्व भारतीय संस्कृति की स्वर्णिम झाँकी कराते हुए पाठकों को ईसा की उन्नीसवीं सदी के ८० वर्ष तक पहुँचा देते हैं। 'करीब' इसलिए कि बीच में आधा पर्व उदासीन-सम्प्रदाय की वेद-वाणी 'मात्रा-शास्त्र' के परिचय में व्यय हुआ है। उसके बाद, सन् १८८१ से आदरणीय प्रमुख नायक की चरित्र-गंगा का प्रवाह बहने लगता है, जो सन् १९६४ के २७ दिसम्बर तक, नहीं-नहीं, १० जनवरी, सन् १९६५ तक अखण्ड प्रवाहित हो रहा है। सौभाग्य मिला, तो आगे भी दीर्घ काल तक यह धारा प्रवाहित होती रहेगी।

जहाँ तक आदर और श्रद्धा का प्रश्न है, उसे अलग रखकर तटस्थ विचारक

की दृष्टि से चरित्र का परीक्षण किया जाय, तो निःसंकोच कहना पड़ेगा कि चरित्र-नायक का जीवन अठपहलू और सर्वतोभद्र है। यहाँ कर्म, उपासना और ज्ञान का सुन्दर त्रिवेणी-संगम है। मर्यादा में भगवान् राम का आदर्श और अतिदिव्यता में भगवान् कृष्ण का ऐश्वर योग भी समन्वित हो चित्त-काशी में पञ्चगङ्गा का दृश्य खड़ा कर देता है, जो पञ्चदेवोपासना के गृहीत-व्रती चरित्र-नायक के स्वरूप के सर्वथा अनुरूप है।

कर्मनिष्ठा तो उनकी आज भी देखते बनती है। ८३ वर्ष की अवस्था में भी गीता-मधुसूदनी और ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य की तरह ऋग्वेद-संहिता के मन्त्रों को परस्पर अवतरण-संगति लगाने के काम में व्यस्त रहना तथा प्रतिपक्षियों के आक्षेपाभास के पात्र विभिन्न वैदिक मन्त्र एवं वैदिक प्रसंगों का सर्वथा अनाक्षेप्य अर्थ-संलपन करने का चमत्कारी प्रातिभ विलास उनकी विद्याक्षेत्रीय उत्कट कर्मसंगिता का स्पष्ट निदर्शन है। व्यवहार-क्षेत्र में भी देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता आदि के निरोधार्थ चरित्र-निर्माण एवं सदाचार-प्रसार का आज तक चला आ रहा अव्याहत कार्य उनकी कर्मयोगिता का अति उज्ज्वल चित्र है।

उनकी योग-साधना और उपासना का भव्य चित्र तो प्रस्तुत ग्रन्थ के ६ठें, ७वें पर्व में ३० पृष्ठों में ही विस्तार के साथ देखा जा सकता है।

फिर, ज्ञान तो उनके जीवन का व्याप्यवृत्ति गुण है। उसे जीवन के किसी अवच्छेद से बताने का दुस्साहस कोई नैयायिक कर ही कैसे सकता है? ज्ञानमूर्ति आत्मा एकमात्र ज्ञानावतार के सम्प्रदाय में अवतीर्ण हो जीवनभर ज्ञान की साधना में ही लगा रहे, तो उसकी ज्ञान-व्याप्ति की बात ही क्या?

त्रैवर्णिकों के उपनयनादि श्रौत संस्कारों एवं पौराणिक कर्मों की मर्यादाओं का जनता से पूर्ण पालन कराना और स्वयं 'परमहंस परिव्राजक' शब्द को अन्वर्थ करते हुए अपने आश्रम की परम मर्यादा 'अनासक्ति' की आदर्श स्थापना तो तब निखर उठती है, जब आप असंख्य छोटे-छोटे आश्रमों के अतिरिक्त बड़े-बड़े ८ आश्रम स्वयं खड़े कर उन्हें जनता-जनार्दन को सौंप देते हैं, उनसे अपना तनिक भी लगाव नहीं रखते, जब कि लोग अपने पूर्वजों से चले आ रहे छोटे-मोटे आश्रम, गद्दियों से भी बुरी तरह चिपके रहते हैं। आपकी इस अनासक्ति की झाँकी १२वें पर्व में स्पष्ट मिलती है।

श्रीकृष्ण के ऐश्वर योग ने तो मानो आपको जन्म से ही वरण कर लिया है। वे आपके परम इष्टदेव जो ठहरे! आज की नयी रोशनी का मानव इन चमत्कारों से नाक-भौंह सिकोड़ता है, उसे संभव मानने की सामर्थ्य उसकी मति में नहीं होती। किन्तु भारतीय संस्कृति में चमत्कारों का क्या स्थान है और वे साधन-

सम्पन्न अनन्त-यात्री के मार्ग से किस तरह अत्यन्त आनुषङ्गिक रूप में गुजरते हैं, इसका कुछ आभास पाठक ग्रन्थ के प्रथम पर्व की प्रारम्भिक भूमिका से भी पा सकते हैं।

इस तरह सवितृरूप कर्म, विश्वम्भर उपासना, संसार-संहारक ज्ञान, विघ्न-हर मर्यादा और महाशक्ति ऐश्वर योग के उपादानों से बना गुरु महाराज का वर्तमान विग्रह पञ्चदेव का मूर्तिमान् रूप कहने में क्या अनुपपत्ति हो सकती है? पूरी पुस्तक उनके इन पञ्च रूपों से सर्वथा उपपन्न, सर्वथा परिप्लुत है, पाठक पढ़कर इसका प्रत्यय पा सकते हैं।

पुस्तक में इतिहास की विपुल सामग्री है, विशेषकर सन्त-इतिहास की। उसमें भी उदासीन-सम्प्रदाय के सन्त-जीवन का जितना प्रामाणिक इतिहास इसमें मिलेगा, कदाचित् ही किसी अन्य ग्रन्थ में वह सुलभ हो। इस दृष्टि से यह चरित्र-नायक के 'श्रौतमुनि-चरितामृत' का निश्चय ही अग्रिम चरण कहा जायगा। सन्त-वाङ्मय का रिसर्च करनेवाले स्कॉलर के लिए यह सर्वथा अनुपेक्ष्य ग्रन्थ है। हम चाहते थे कि इसमें आये सन्तों की अक्षरक्रमानुसारी सूची बनायी जाय और उनका संक्षिप्त परिचय भी उसके साथ जोड़ दें। किन्तु एक तो समय का संकोच और दूसरे और भी कई कारण थे, जिनसे यह न बन पड़ा। ठीक ही है, आखिर आगेवालों के लिए भी तो कुछ रखना ही चाहिए! सचमुच महात्मा सन्तरामजी, कुनरावाले महात्मा, महात्मा कर्मप्रकाशजी, नरसिंहदासजी, आत्मानन्दजी जैसे कितने ही महात्मा ऐसे हैं, जिनके चरित्र पर व्यापक प्रकाश डालना विश्व-मंगल के लिए परम आवश्यक है। हम तो उसके लिए 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' और 'उत्पत्स्यते कोऽपि समानधर्मा'—अनन्त काल और विशाल भू-मण्डल पर कभी यह भी साकार कर दिखानेवाला कोई पैदा होगा—यही मानकर सन्तोष करते हैं।

'यात्रा' गुरु महाराज का जीवन-व्रत है और ग्राम्य-संस्कृतिप्रधान भारतीय संस्कृति का वह परम पोषक है। अपनी अखण्ड यात्रा में भारत का कोई कोना ऐसा न रहा, जहाँ आपने भारतीय संस्कृति का सन्देश पहुँचाकर जनता को राष्ट्र-सेवा के उन्मुख न किया हो। भारत ही नहीं, लंका, नेपाल तक के लोगों को आपकी अमृत-वाणी से आप्यायित होने का सौभाग्य प्राप्त है। अवश्य ही आपके भारत के प्रचार-कार्य से यूरोप, अमेरिका आदि खण्डों के भी कतिपय जन लाभान्वित हुए हैं, फिर भी यह सच है कि विदेश आपका वैसा प्रचार-क्षेत्र न बन सका। इसका एकमात्र कारण आपकी अनन्य गुरु-निष्ठा ही कही जा सकती है। परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज नहीं चाहते थे कि मेरा शिष्य विदेशों

की यात्रा करे। आपने भी अपनी इस उत्कट इच्छा को गुरु की मर्जी के सामने बलि देकर गुरु-भक्ति का दुर्लभ आदर्श उपस्थित कर दिया। हमारे ये सारे विधान प्रस्तुत चरित्र के विभिन्न पृष्ठों में विखरे पड़े हैं और उन्हींकी एक झाँकी दिलाने के लिए हमारा यह उपक्रम है।

इसी प्रसंग में उनकी मण्डली को भी भुलाया नहीं जा सकता। यह मण्डली-प्रथा उदासीन-सम्प्रदाय के आचार्य सुयत्न मुनि (सिकन्दर-आक्रमण के सम-कालीन) की चलायी है, जिसे आज भी गुरु महाराज अखण्ड चलाते आ रहे हैं। अनेक सन्तों को तैयार कर देश के कोने-कोने में धर्म-प्रचारार्थ सुनियोजित योजना देकर भेजना और हर तीसरे वर्ष अधिक मास में एकत्र हो सबके कार्यों की समीक्षा करना तथा प्राप्त अनुभव के आधार पर सुधरा कार्यक्रम देना इसकी पद्धति है। सचमुच यह मण्डली-प्रथा देश के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपनाने जैसी है। यह व्यापक रूप में कार्यान्वित रहे, तो हमारे शासकों को सदाचार-समिति जैसे संगठनों के गठन का क्लेश ही न उठाना पड़े और काम उससे कहीं अधिक ठोस हो।

भारतीय वैदिक हिन्दू-संस्कृति के श्रद्धा-विन्दुओं की रक्षा, नव-नव वास्तुओं की रचना भी आपके जीवन का एक वड़ा भाग रहा है, जिसने करीव २-३ दशकों को व्याप लिया है। अमृतसर के दुर्ग्याना-सरोवर का जल-प्रश्न आपके जीवन का वहुत वड़ा प्रसंग है, जिसे आपने दीर्घ काल तक निष्ठा से हल करके दिखाया, जिसका वर्णन ९वें और १०वें पर्व में विस्तार से वर्णित है।

समय-समय पर देश की सेवा में आपका सक्रिय सहयोग भी कम महत्त्व का और कम अनुपात में नहीं रहा। सिन्ध-विभाजन का निषेध, पाकिस्तान वनने से पूर्व सिन्ध-वासियों का आत्मरक्षार्थ जागरण, पाकिस्तान बन जाने के बाद उत्पी-डित शरणार्थियों की व्यापक सेवा, देश के निर्माण में ६५० देशी राज्यों के वल का भारत राष्ट्र में सम्मेलन, देशी राज्यों में शान्ति-स्थापना, चीन-आक्रमण के समय सुरक्षा में सक्रिय सहयोग और चरित्र-निर्माण-कार्य में योगदान—ऐसे कार्य हैं, जो आपकी वहुमूल्य देश-सेवा के बोलते चित्र कहे जा सकते हैं। ११वें पर्व से १८वें पर्व तक ये सारे कार्य यत्र-तत्र विकीर्ण हैं।

शास्त्र-रक्षा, शास्त्र-प्रणयन, शास्त्रार्थ-विचार, ग्रन्थ-प्रकाशन और शास्त्र के प्रत्यक्ष रक्षक विद्वान् एवं विद्यार्थियों का पोषण तो आपका कुल-व्रत ही समझिये। ऐसा शास्त्र-प्रेम विरले ही सन्त में देखने को मिलता है!

पूरे चरित्र में गुरु महाराज की यह विशेषता स्पष्ट दीखती है कि इतना व्यापक लक्ष्य और इतने उच्च विचार रखते हुए भी अपने अनन्य आश्रितों के

प्रति उनकी माता-सी ममता है। उनके उद्धारार्थ अपना सर्वस्व लगा देने की उनकी गृहस्थ-दुर्लभ आत्मीयता देखते ही बनती है। यही कारण है कि बड़े-बड़े महत्त्व के कार्य त्यागकर वे कई बार अपने भक्तों की बात रखने के लिए उनके पास पहुँचते देखे गये हैं। महानुभावों की प्राकृतजन-सुलभ चेष्टाएँ, लीलाएँ मात्र होती हैं। उन्हें कभी लौकिक मानदण्ड से मापने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। अन्यथा परीक्षक तथ्य की जगह कुछ का कुछ पा जाता है और उसके अनुसार बरतने पर धोखा भी खाता है।

गुरु महाराज के लीला-कार्य में वैसे तो असंख्य जन आये। उनके भाग्यशाली लक्ष्मी-पुत्र भावुक भक्तों की भावना देख इन पंक्तियों के लेखक में भी अष्टविध सात्त्विक भाव उमड़ उठते हैं। फिर भी तीन महापुरुषों का उल्लेख करने का मोह संवरण नहीं हो पाता। वे हैं: १. परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज, श्री शान्तानन्दजी महाराज और ३. दर्शनरत्न श्री सर्वानन्दजी महाराज। प्रथम आपके गुरु हैं, द्वितीय सुहृद्, तो तृतीय शिष्य। वास्तव में बड़ी ही सरलता से तीनों का आपके साथ समीकरण हो जाता है। एक ही शरीर के ये तीन अंग थे या एक ही शरीर के तीन उपादान। इन त्रिमूर्ति-सम्बन्धों की धारा से ही जीवन-वल्ली पनपती, लहलहाती और पुष्पित होती है। ये तीनों महापुरुष गुरु महाराज की जीवन-शृङ्खला के आदि, मध्य और अन्त के रूप में पाये गये। आश्चर्य है कि आज वे इन तीनों संयोजक अर्गलाओं से मुक्त हो अपने वास्तविक उन्मुक्तस्वरूप, आनन्दमय रूप का निदर्शन करते विराज रहे हैं।

आपमें श्रुति का यह अमर सन्देश साकार दीख पड़ता है—'**आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है, यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च आनन्द से आविर्भूत हुआ है, आनन्द से जीवन—धारण-पोषण पाता है और अन्त में आनन्द में ही समा जानेवाला है। मैं कोई साधक नहीं, साधारण गृहस्थ, अतिप्राकृत जन हूँ। फिर भी अपनी दृष्टि से जैसा मैंने गुरु महाराज को पाया, कह सकता हूँ कि वे 'आनन्द-मूर्ति' हैं, विषाद उनमें छूकर नहीं है। स्वयं विषाद से अलिप्त हैं और अपनी सन्निधि में रहनेवाले को भी सदैव विषाद से बचाने में सन्नद्ध रहते हैं। अपने जीवन की एकमात्र कड़ी स्वामी श्री सर्वानन्दजी के ब्रह्मभाव पर भी उनकी यह अविचल आनन्द-निष्ठा सुदुर्लभ-दर्शन है। इस जन को भी एकाधिक बार उन्होंने कहा कि 'जिससे मन पर बोझ हो, विषाद का अनुभव आये और आनन्द की मात्रा में कमी पड़ने लगे, तो

भूलकर भी वह काम न करना, भले ही उसके लिए बड़ी-से-बड़ी शक्ति प्रेरित करती रहे।'

गुरु महाराज का इस प्रकार आनन्द की साकार मूर्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कारण आनन्द का बहुत बड़ा, कुछ अंशों में एकमात्र, बाधक होता है, भय। उनमें उसका तनिक भी संस्पर्श नहीं। कारण 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'—जहाँ दूसरा हो, वहीं भय होता है और उनमें तो रग-रग में अद्वैत भरा हुआ है; क्योंकि वे समन्वय-मूर्ति हैं। प्रस्तुत चरित्र में हम-आप उनके जीवन के प्रत्येक पहलू में समन्वय की यह अखण्ड धारा बहती पायेंगे। उनके इसी समन्वय का एक रूप 'भारत साधु-समाज' है। राजनीति में धर्म का समन्वय होने के आज जो आसार दिखाई पड़ते हैं, उसमें भी आपकी ही प्रेरणा काम कर रही है। स्वर्गीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे भौतिकता के अत्यन्त पक्षपाती को गीता-पाठरूप अध्यात्म-साधना के लिए तैयार करना आपकी इसी समन्वय-भूमिका का परिणाम है।

निश्चय ही इस दिशा में गुरु महाराज को उनके उदासीन-सम्प्रदाय का प्रमुखतम सिद्धान्त 'ज्ञान-भक्ति-समुच्चय' प्रेरणाप्रद रहा हो। प्रस्तुत चरित्र में कई जगह विस्तार के साथ इस सम्बन्ध में उनके मन्तव्य संकलित हैं। दार्शनिकों में ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी तो बहुत दूर की श्रेणी में आते हैं, यद्यपि शुद्ध कर्मवादियों से वे अपेक्षाकृत निकट हैं। उनके मत में अनेक अनुपपत्तियाँ आती हैं, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य बैठ ही नहीं पाता। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में उनका अच्छा समीक्षण किया है। वह दर्शन का एक छोर है, तो श्री शङ्कर का केवल ज्ञानवाद अन्तिम छोर। जो कोई अधिकारी अन्तिम छोर तक पहुँच नहीं पाते और पहले छोर से भी ऊपर उठे रहते हैं, उनकी गति क्या होगी? कहना होगा कि उनके लिए बौद्धों की मध्यम प्रतिपदा की तरह एक मध्यम मार्ग मानना चाहिए और वह मार्ग है, ज्ञान-भक्ति-समुच्चय।

उदासीन आचार्यों की मान्यता है कि जीवन में दो बन्ध होते हैं, एक अविद्या और दूसरा माया। इनमें अविद्या बन्ध का नाश तो ज्ञान से हो जाता है, पर माया बन्ध का नाश बिना भगवत्-शरणागति, भगवत्प्रपत्ति के हो ही नहीं सकता। इसके समर्थन में ९म पर्व (पृष्ठ १५२), ११वाँ पर्व (पृष्ठ १९२—९५) और १८वें पर्व (पृष्ठ ३७७—७९) में विस्तार से श्रुति, स्मृति एवं युक्तियों का उपन्यास किया गया है।

आचार्य शङ्कर ने भी भक्ति को अमान्य नहीं किया, फिर भी अन्तिम अनुभव में उन्होंने भक्ति की अपेक्षा नहीं मानी। किम्बहुना, उन्होंने यही अपेक्षा रखी

कि वहाँ भक्ति की स्थूल क्रिया कुण्ठित हो जाती है। किन्तु उनके बाद गीता के प्रसिद्धतम व्याख्याता सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी 'ज्ञानेश्वरी' में स्पष्ट कहा है :

'देव देउळ परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तिचा व्यवहारु। कां न व्हावा॥'

इस प्रकार उन्होंने अन्तिम अवस्था में भी भक्ति का समर्थन किया है। वे स्पष्ट मानते हैं कि अद्वैत में क्रिया सहन न होने पर भी भक्ति वहाँ रह सकती है। उनकी भक्ति का स्वरूप, गीता के १४वें अध्याय के २६वें श्लोक 'सततं कीर्तयन्तो माम्' की व्याख्या में निखर उठता है। पूर्व में उदाहरणों द्वारा निरूपण कर वे बताते हैं कि 'जब ईश्वर और साधक में साम्यभाव और ऐक्यभाव विकसित होता है, तभी हम उसे भक्ति कह सकते हैं। समुद्र में नमक की डली गल जाने पर उसे अलग गलाने के लिए नहीं कहना पड़ता, उसी तरह भेदबुद्धि को नष्ट कर 'सोऽहम्' बुद्धि भी नहीं रहती।' ऐसी भक्ति अद्वैत से कम कैसे कही जा सकती है ? वास्तव में दोनों पर्याय हो जाते हैं। यही कारण है कि ज्ञानेश्वर के अनुयायी सन्त एकनाथ महाराज का अभिमत है कि 'अद्वैत के बिना भक्ति का वास्तविक स्वारस्य ही नहीं।'

इस तरह ज्ञान और भक्ति का समुच्चय मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती। उससे अद्वैत का कुछ नहीं बिगड़ता। फिर, कठोर ज्ञानैकवादियों की ही दृष्टि से कहना हो, तो जैसे जीवन्मुक्त की अनेक लौकिक क्रियाएँ चलती ही हैं, वे निर्बीज, दग्धवत् होने से बन्धक नहीं होतीं, उसी तरह निर्बीज-सी भक्ति को भी ज्ञानावस्था में मानने में बाधा ही क्या है ? प्राकृत क्रिया से भक्ति-क्रिया तो कहीं श्रेष्ठतर ही है। फिर, यह भक्ति-ज्ञान-समुच्चय मानने पर अद्वैत को सिद्ध करनेवाले श्री मधुसूदन सरस्वती जैसे भक्तों की भक्ति की भी व्यवस्था लग जाती है और अद्वैतियों पर आक्षेप कर विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि की प्रतिष्ठापना करनेवालों को भी अवसर नहीं मिल पाता। इस तरह लोक, वेद की संगति बैठाने के लिए भक्ति-ज्ञान-समुच्चय का सिद्धान्त सर्वथा समर्थनीय हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इस दार्शनिक सिद्धान्त से अतिरिक्त, 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' सूत्र पर विचार, योग का निरूपण, गुरु एवं दीक्षा का रहस्य, प्रारब्ध और पुरुषार्थ का प्राबल्य-दौर्बल्य, सदाचार और संस्कृति-तत्त्व, वैदिक-धर्म का सर्वधर्मों से उत्कर्ष, वेद में राम-कृष्ण का उल्लेख आदि कितने ही ऐसे विषय हैं,

जो दार्शनिक विद्वानों के विलास की वस्तुएँ कही जा सकती हैं, जिन पर समय-समय पर गुरु महाराज ने मार्मिक प्रकाश डाला है।

इस तरह इस पूरी पुस्तक का सम्पादन करते हुए और उसके पर्वों का विषय-प्रवेश लिखते समय, जिसमें उस-उस पर्व की प्रमुख घटना को शास्त्रीय दृष्टि से देखने का यत्न किया गया है, हमें भी बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसके लिए हम लेखिका के कृतज्ञ हैं।

इस प्रसंग में इसके प्रकाशक, अपने मित्र भक्तवर श्री गोविन्दराम सेऊमल की गुरु-भक्ति और गुरु-कृपा को भुलाया नहीं जा सकता। शान्त, दान्त, तितिक्षु और जिज्ञासु वृत्ति रखने के कारण ही उन्हें इसके प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके इस कार्य से समस्त गुरु-भक्त वर्ग उनका अनुगृहीत रहेगा।

हमारे विद्यालय के प्रधानाध्यक्ष स्वामी श्री योगीन्द्रानन्दजी ने भी इसे अपना प्राक्कथन देकर बहुत बड़ा स्वर्ण-सौगन्ध्य योग उपस्थित कर दिया है। अन्त में हम गुरु महाराज के चरणों में बार-बार साष्टांग नमस्कारपूर्वक निवेदन करते हैं कि 'उन्हींके अमोघ आशीर्वाद और बल से यह कुछ हो पाया। भला-बुरा जैसा बना, हमारी अपनी तनिक भी शक्ति नहीं। 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन' यह हो रहा है। अतः त्रुटि के लिए क्षमा कर इसी प्रकार इस जन पर अखण्ड स्नेह-वर्षा करते रहेंगे।'

उदासीन संस्कृत महाविद्यालय
वाराणसी
२७-१२-'६४

–गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

निवेदन

प्रत्येक युग में आवश्यकतानुसार सच्चिदानन्दघन, परात्पर, पूर्णब्रह्म, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने भारत-भूमि पर अवतार धारण कर साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश एवं धर्म-संस्थापन किया है। किन्तु ये सब उनके अलौकिक श्रीविग्रह के प्राकट्य के मुख्य हेतु नहीं। वे रसराज-शेखर, परमप्रेम-रसार्णव प्रभु षोडश कलाओं से पूर्ण हैं : 'पूर्णमदः पूर्णमिदम् ।' वे आप्तकाम, पूर्णकाम और आत्माराम हैं। उनके लिए ये सारी बातें लीलावत्, संकल्पमात्र-साध्य हैं। फिर भी वे यहाँ जो धराधाम पर प्रकट होते हैं, उसका एकमात्र मुख्य कारण है, अपने प्राणाधिक प्रिय प्रेमी भक्तों को अपना वह परमोज्ज्वल प्रेमामृत प्रत्यक्ष पिलाकर आह्लादित करना। वे सत्, चित् और आनन्द हैं।

शास्त्रों में यह 'सत्' शब्द जहाँ परमात्मा के लिए आता है, वहीं साधु के लिए भी प्रयुक्त है। महापुरुष साधु-सन्त ब्रह्मस्वरूप हुआ करते हैं। वे परमेश्वर के अंशावतार बनकर अपनी आदर्श लीला और अमृतमयी वाणी से विश्व को उज्ज्वल प्रकाश दे उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। इस प्रकार सन्त और ईश्वर एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं।

ऐसे सर्वमान्य, विश्ववन्द्य सन्तों में हमारे आराध्य चरण योगेश्वर श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज जन्म-जन्मान्तरीय सौभाग्य से हमें सद्‌गुरु रूप में प्राप्त हुए हैं। शास्त्रों में सद्‌गुरु को परमात्मा से भी बड़ा माना गया है। 'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन'—कदाचित् किसी कारण परमात्मा सदाशिव रुष्ट हो जायँ, तो गुरुदेव उन्हें मनाने का उपाय बताते हैं और उसे अमल में लाकर परमात्मा को मना लिया जा सकता है। किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर तो कोई चारा ही नहीं। कृपानिधि गुरु महाराज अपने प्रति प्रपन्न जीव को देहरूप पिंजड़े से मुक्त कर निरावरण ब्रह्माकाश में विचरण करने का सौभाग्य सुलभ करते हैं। परमपिता परमात्मा से बिछुड़कर अविद्या के अन्धकार में भटकते हुए जीव को पुनः अपने पिता की गोद में बिठा देनेवाले सद्‌गुरु की महिमा अवर्णनीय है। हमारे पूज्य गुरुदेव कृपा-प्रेमामृत के अथाह सागर हैं, जिसका कण-कण अगणित गुणरत्न-राशि से उद्‌भासित एवं उल्लसित है। वे अपने उपासक के गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सब कुछ हैं। असंख्य शरणापन्न साधकों के अन्तराकाश से अज्ञान की गाढ़ कुहू मिटाकर वहाँ पूर्ण चन्द्र की उज्ज्वल शुभ्र ज्योत्स्ना

फैलायी है। अपनी ज्ञान-गङ्गा से हृदय-दर्पण की गाढ़ कालिमा को धोकर गुहाहित प्रदीप्त आत्मज्योति का प्रतिबिम्बन कराया है। अपने उपदेशामृत से विषय-दावानल की लपटों को शान्त कर हम लोगों के दग्ध मन, प्राण, इन्द्रियादि को पुनः जीवन दिया है। हम सब उनके परम ऋणी हैं। केवल उनकी असीम उदार क्षमा ही हमें इन ऋणों से उऋण कर सकती है।

ऐसी महान् आदर्श विभूति के दर्शन तथा सत्संग साधारणतया संसार में सबको सुलभ नहीं होता। अतएव उनके कल्याणार्थ पूज्य गुरुदेव का पावन लीला-चरित्र लिखने का सहज संकल्प मेरे मन में, भावनाशील हृदय में प्रस्फुरित हुआ। मैं बार-बार अपने आराध्य प्रभु से प्रार्थना करती रही कि कृपया मुझे इस शुभ कार्य के लिए अनुमति दें। किन्तु वर्षों तक वे इस प्रस्ताव को टालते ही गये। अन्त में उन करुणानिधान ने मुझे प्रसन्न करने में ही अपनी प्रसन्नता मान ली। वास्तव में ऐसी विभूति के पूर्ण स्वरूप को पहचानना साधारण मानव-शक्ति की बात नहीं। हाँ, जिसे वे बुद्धियोग दें, वह कुछ कर सकता है। पर वे किसे बुद्धियोग का अधिकारी समझते हैं, यह वे ही जानें।

जीवन-चरित्र लिखने का भगीरथ-कार्यभार उठाने में मुझे अपनी असमर्थता का पूरा खयाल था। फिर भी प्रभु की अमित कृपा-दृष्टि एवं सामर्थ्य के प्रबलतम विश्वास ने मेरा यह संकल्प शिथिल होने नहीं दिया। सोचा—'उन्हींका काम है, वे ही करवायेंगे, क्यों चिन्ता करती है ?' भक्तवर दादू भी कहते हैं :

'दादू करता हम नहीं, करता औरे कोय।
करते हैं सो करेगा, तू जिन करता होय ॥'

पूज्य गुरुदेव की इतनी ही कृपा पर्याप्त है कि उन्होंने हृदय में इस कार्य के प्रति सहानुभूति रखकर मुझे पूर्ण सहयोग दिया। उनके प्रधान शिष्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री सर्वानन्दजी की डायरी से भी काफी सहायता मिली। प्रभु के अन्तरङ्ग सेवक शिष्य श्री स्वामी ईश्वर मुनि तथा श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी ने अत्यन्त प्रेम तथा उत्साहपूर्वक परिश्रम उठाकर सामग्री के संकलन में मुझे जो साथ दिया, इसके लिए उनको मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

अन्ततः इस कृति को मैंने पण्डित श्री वैजापुरकर शास्त्रीजी के हाथ सम्पादन के लिए दिया। गुरु महाराज का आदेश मानकर विद्वद्वरेण्य, हिन्दी तथा संस्कृत-साहित्य एवं दर्शन के मर्मज्ञ मेरे धर्म-बन्धु शास्त्रीजी ने अनेक कार्य-भार सिर पर रहते हुए भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनके परिश्रम और परिमार्जन से इसमें चार चाँद लग गये,सोने की अँगूठी में रतन जड़ गये।

मेरा हिन्दी भाषा पर विशेष अधिकार नहीं । सच पूछा जाय, तो मैं किसी भी भाषा की लेखिका नहीं । केवल गुरु महाराज के प्रसादस्वरूप गुजराती में 'प्रेम-रतन' आदि तीन पुस्तकें लिखीं । मुझे अनुभव है कि लेखनी मेरी चलती थी, पर उसके मूल में प्रेरणा गुरु महाराज की ही काम कर रही थी। मैं केवल निमित्तमात्र बनी । मेरी इस कृति में सम्पादन आदि की दृष्टि से जो कुछ कमियाँ थीं, उनको दूर कर मेरे बन्धु ने इसे नितान्त उपादेय बना दिया । दूसरे शब्दों में सोने में सुगन्धि ला दी । अतः मैं उनके इस प्रशंसनीय सहयोग के लिए उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ ।

अन्त में कृपालु पाठकों से यही अभ्यर्थना करूँगी कि वे आराध्यदेव के इस अनन्त लीला-रत्नाकर के सार-मणि-रत्नों से आलोकित अन्तस्तल की गहराई में डुबकी लगायें, अधिकाधिक रत्न प्राप्त करने का परम पुरुषार्थ दिखायें और अपने इस देवदुर्लभ मानव-जीवन का समस्त दुःख-दारिद्रय मिटाकर अनन्त ऐश्वर्य एवं शाश्वत आनन्द की अनुभूति प्राप्त करें । इसीमें आर्य-संस्कृति तथा सद्गुरु-शिष्य-परम्परा का महत्त्व और गौरव है।

लिली कोर्ट, ११३ रेक्लमेशन,
चर्चगेट, बम्बई—१ —रतन फोजदार
२७-१२-'६४

प्र का श की य

'योगेश्वर गुरु गङ्गेश्वर' जैसे पावन ग्रन्थ के प्रकाशन का सौभाग्य इस जन को प्राप्त हुआ, इसे वह अपने पूर्व-सुकृतों का परिपाक मानता है। नहीं तो लिखनेवाले ने बड़ी भक्ति और निष्ठा से लिखा, सम्पादक ने सम्पादित किया, मुद्रक ने मुद्रित कर दिया, मेरा अपना कुछ भी श्रम नहीं लगा और यश का भागी मैं बन गया, यह कैसी अद्‌भुत बात है! किन्तु शास्त्र के पृष्ठ उलटने पर उसकी अद्‌भुतता जाती रहती है। शास्त्र कहते हैं, जिस पर ईश-कृपा, गुरु-कृपा और शास्त्र-कृपा होती है, संसार में उसके लिए असम्भव भी सम्भव बन जाता है। आप मेरे बारे में ऐसा ही कुछ समझें। कारण मैं इतना जानता हूँ कि शत-शत प्रमाद करने पर भी गुरु-माता के हृदय में इस बालक के प्रति अटूट स्नेह है, इसीके बल पर आप पाठकों से भी इसे अपनाने का सप्रेम आग्रह करता हूँ।

—गोविन्दराम

अ नु क्र म

मङ्गलाचरणम्

ॐ कृष्णं त एम रुशतः परो माश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम् ।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ।।

—ऋग्वेद, ४-७-९

ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः ।
(पूर्व दिशा में) —शुक्ल यजुर्वेद, १-१

कृष्णोऽस्याखरेष्ठः ।
(पश्चिम दिशा में) —शुक्ल यजुर्वेद, २-१

विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
(दक्षिण दिशा में) —शुक्ल यजुर्वेद, ३४-४३

कृष्णाय देवकीपुत्राय ।
(उत्तर दिशा में) —छान्दोग्य, ३-१७-६

कृष्णावसनविस्तारिकृष्णं कृष्णसखं भजे ।
कल्पद्रुमं प्रपन्नानां सात्वन्मानसमन्दिरम् ।। १ ।।

विश्ववन्द्यपदो वन्दे विबुधान् वेदविश्रुतान् ।
पञ्च हेरम्ब-वैकुण्ठ-शक्ति-शंकर-भास्करान् ।। २ ।।

हंस-सनत्कुमाराद्यां श्रीचन्द्रगुरुमध्यगाम् ।
अस्मद्देशिकपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ।। ३ ।।

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् ।
औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ।। ४ ।।

शतोत्तरचतुष्षष्ठितमं देवं तपोनिधिम् ।
अविनाशिगुरुं नौमि वेदवेदाङ्गपारगम् ।। ५ ।।

भक्तिवित्तिसमुच्चेत्ता शंकरः सर्वशंकरः ।
गुरुः पायादपायान्नः श्रीचन्द्रः श्रौतवंशजः ।। ६ ।।

विश्वविद्याविदं देवं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
अमन्दानन्ददं वन्दे रामानन्दं गुरोर्गुरुम् ।। ७ ।।

सकार्याऽनार्यसद्ध्वान्त - ध्वंसैकव्रतधारिणे ।
नमो गङ्गेश्वरानन्द-गुरुपादाम्बुजन्मने ।। ८ ।।

पूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ सद्गुरु
स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज उदासीन

१
सनत्कुमार से अविनाशी तक

पूर्वजों का गौरव जानिये !

जो जाति अपने पूर्वज महापुरुषों के गौरव का सश्रद्ध स्मरण नहीं करती, उनके दिव्य चरित्रों का मनन नहीं करती, वह स्वयं अपना गौरव कैसे सुरक्षित रख सकती है ? यदि हम अपनी संस्कृति की नींव डिगने से बचाना चाहते हैं, उसे उत्तरोत्तर सुदृढ़, दृढ़तर, दृढ़तम बनाना चाहते हैं, तो अपने देश में आविर्भूत अनेकानेक महापुरुषों के विभूतिमय जीवन से निश्चय ही परिचित होना पड़ेगा और उनके लोक-कल्याणकारी कार्यों से प्रेरणा लेनी होगी।

यह सच है कि आज के युग में, विशेषकर तथाकथित सुशिक्षित समाज में इस प्रकार के जीवन-चरित्रों से कुछ अरुचि-सी दीखती है। वह समझता है कि ये सारी कपोल-कल्पनाएँ हैं। उसकी इस धारणा के पीछे दो बातें काम करती हैं। एक है, ऐतिहासिकों द्वारा इनका समर्थन न होना और दूसरी है, ऐसे जीवन-चरित्रों में आनेवाली चमत्कारभरी बातों को यथार्थ मानने की अनिच्छा। किन्तु जो इतिहास स्वयं ही सन्दिग्ध और विवादास्पद है, उसके आधार पर हम कब तक टिके रहेंगे ? फिर, इतिहास-लेखकों की दृष्टि सदैव राजवंश और युद्धों पर ही केन्द्रित रहती है, इससे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिनकी दृष्टि स्थूल-जगत् तक ही सीमित है, उनके निकट आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन-परम्परा का प्रमाण खोजना अधिकांश व्यर्थ ही है।

प्रकृति योगी की दासी भी संभव

रही चमत्कार की बात ! सो दार्शनिक दृष्टि से तो सारा जगत् ही एक चमत्कार है या कोई घटना चमत्कारिक नहीं। दोनों का अर्थ एक ही होता है। स्थूल दृष्टि से मानवीय ज्ञान की सीमा कितनी सँकरी, कितनी छोटी और कितनी प्रतिपल परिवर्तनशील दीखती है ! इस सीमा पर निर्भर रहने पर हम कितनी सारी बातों को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगेंगे ? क्या आज से दो पीढ़ी पूर्व मानव की अन्तरिक्ष-यात्रा की बात सुनने के लिए कोई तैयार होता ? अश्रद्धा और तिरस्कार से वह हँसी उड़ाता। फिर भी आज हम देखते हैं कि साधारण व्यक्ति को जो बात कल्पनातीत मालूम पड़ती थी, वह मूर्त रूप धारण

कर हमारे सम्मुख खड़ी है। उनके पीछे के वैज्ञानिक कारणों को मान लेने पर हम वैज्ञानिक सिद्धियों को यथार्थ मानते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र की आश्चर्यजनक घटनाओं के पीछे कौन-कौन से आध्यात्मिक कारण हैं, उन्हें खोजिये और स्वीकार कीजिये, तभी यह समस्या हल होगी।

दिव्य दृष्टि या सिद्धियों के आविष्कार की हमारी प्रक्रिया इस प्रकार है— प्रकृति के तीन विभाग हैं : १. सत्त्व, २. रज और ३. तम। जहाँ रजोविभाग क्रियाशील है, तमोविभाग से स्थूलता आती है, वहीं सत्त्वविभाग परधर्म (दूसरों के गुण) अपने में प्रकट करता है। जब योगी में सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तो वह प्रकृति पर विजय पाता और चेतन तत्त्व के साथ अपना संबंध स्थापित कर लेता है। फलस्वरूप चेतन या ब्रह्म की दिव्य शक्ति उसमें प्रवेश कर जाती है। अब प्रकृति रही जड़। बेचारी चेतन की सत्ता से ही कोई कार्य कर पाती है। तब चेतन के साथ गाढ़ संश्लिष्ट योगी की वह दासी बने, तो आश्चर्य क्या ?

इसके अतिरिक्त योगशास्त्र के अनुसार देखें, तो साधारण व्यक्ति भी 'संयम' द्वारा ये सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। यहाँ संयम का अभिप्राय है, विचार-संयम—एक ही पदार्थ या विषय का निरन्तर अखण्ड चिन्तन। इससे चित्त एकाग्र होता और मानव में अपूर्व शक्तियाँ विकसित होती हैं। व्यास, पाणिनि, कुमारिल आदि कितने ही इसके उदाहरण हैं। इसलिए चमत्कारों या तत्काल ध्यान में न आनेवाली बातों से घबड़ाकर निराश हो जाना या अन्यथाभाव कर लेना उचित नहीं। ऐसे प्रसंग में मानव का कर्तव्य है कि जिज्ञासु बनकर देखे और यह न मान ले कि जो लोकोत्तर विकास प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, किसी दिव्यावतारी महात्मा में उसका सविशेष आविर्भाव हो ही नहीं सकता।

उदासीन संप्रदाय का श्रीगणेश

अति प्राचीन भारत देश की प्राचीनतम परम्पराओं में उदासीन-सम्प्रदाय को भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।[1]

---

१. उदासीन सम्प्रदाय अति प्राचीन है, इसके समर्थन में अनेक प्रमाण हैं। यहाँ प्रमुख पुराणों, रामायणादि इतिहास, तन्त्र और श्रीमद्भगवद्गीता से कतिपय उद्धरण दिये जा रहे हैं। ज्ञातव्य है कि 'ब्रह्मसंस्थ' और 'उदासीन' दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायरूप में (विग्रहरूप में—'तस्य उदिति नाम', छा० १।६।७) छान्दोग्यादि उपनिषदों में, सांख्यकारिका में और अन्यत्र भी प्रयुक्त हैं।

'सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास्तु वेधसा।
न ते लोकेष्वसज्जन्त ह्युदासीना प्रजासु वे ॥'

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३।१६९)

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में पितामह ब्रह्मदेव ने सनन्दन आदि जिन चार पुत्रों को जन्म दिया, वे सृष्टि-निर्माण के कार्य से विरत हो गये, कारण वे उदासीन थे।

'गृहस्थस्य समासेन धर्मोऽयं द्विजसत्तम।
उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।
कुटुम्बभरणे युक्तः साधकोऽसौ गृही भवेत् ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम्।
एकाकी यस्तु विचरेदुदासीनः स मौक्षिकः ॥'

(गरुडपुराण ५९।९-१०)

अर्थात् गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं : एक साधक और दूसरे उदासीन। कुटुम्ब का पालन-पोषण करनेवाला 'साधक' कहलाता है तो तीन ऋणों से मुक्त, स्त्री, वैभव आदि को त्यागकर एकाकी विचरण करनेवाला 'उदासीन'।

'पुत्रे निधाय वा सर्वं गत्वाऽरण्यं तु तत्त्ववित्।
एकाकी विचरेन्नित्यमुदासीनः समाहितः ॥'

(कूर्मपुराण, उत्त० २७।२)

अर्थात् गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी सारा भार पुत्र पर सौंपकर जो तत्त्वज्ञ पुरुष वनवासी बनता है, वह वानप्रस्थाश्रमी उदासीन है।

इन श्लोकों के आधार पर उदासीन-सम्प्रदाय की तीन शाखाएँ मानी जाती हैं : १. सेवक, २. ऋषि और ३. मुनि।

उपकुर्वाणक 'ब्रह्मचारी' और सामान्य गृहस्थ 'सेवक' कहलाते हैं। उन्नत कक्षा का गृहस्थ, वानप्रस्थ और नैष्ठिक ब्रह्मचारी तीनों 'ऋषि' कहे जाते हैं तथा चतुर्थाश्रमी साधु 'मुनि' हैं।

ऊपर कूर्मपुराण के वचन के द्विविध गृहस्थ-निरूपण में जो उन्नत गृहस्थ के लिए 'ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य' इस श्लोक में 'उदासीन' शब्द आया है, उसका भी अर्थ 'ऋषि' है। 'उद् = ब्रह्मणि, आस्ते' इस व्युत्पत्ति से उदासीन शब्द मुनि का वाचक होता है, तो 'उद् आशिष्यते' इस व्युत्पत्ति से सेवक और 'ऋषि' का वाचक।

'ततः स्वधर्मनिरतान् एकग्रामनिवासिनः ।
अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत् ॥'

(महानिर्वाण-तन्त्र ८।४९)

अर्थात् गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह स्वधर्म-परायण, एक स्थान पर निवास करनेवाले और अभ्यागत उदासीन की सेवा करे ।

'के न गच्छन्ति नरकं पापिष्ठं लोकगर्हणम् ।
सर्वमाख्याहि तत्त्वेन परं कौतूहलं हि मे ॥'

यम उवाच—

'ज्ञानवन्तो द्विजा ये च ये च विद्यापरङ्गताः ।
उदासीना न गच्छन्ति स्वाम्यर्थे च हता नराः ॥'

(वाराहपुराण २०७।२४, २६)

अर्थात् नारदजी धर्म-सम्बन्धी प्रश्न करते हैं कि 'इस जगत् में पापमय और निन्दनीय माने जानेवाले नरक में कौन नहीं जाता, यह जानने की मेरी उत्कट लालसा है । यथार्थतः इसे समझाइये ।' इस पर धर्मराज कहते हैं कि 'ज्ञानी ब्राह्मण, पूर्ण विद्वान् मनुष्य, स्वामी के लिए प्राण त्यागनेवाले सेवक और उदासीन महात्मा नरक के भागी नहीं होते ।

'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥'
'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥'

(गीता १४।२३; ९।९)

अर्थात् जो महापुरुष उदासीन साधु की तरह जीवन बिताता है, उसे गुण विचलित नहीं करते । समस्त व्यवहारों के मूल कारण गुण हैं, यह जानकर वह किसी भी प्रकार की सकाम चेष्टा करता ही नहीं । अर्जुन ! कर्म मुझे बन्धन में नहीं डाल सकते, कारण मेरी उनमें आसक्ति ही नहीं है । मैं उदासीन महात्माओं की तरह रहता हूँ ।

'अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥'

(गीता १२।१६)

अर्थात् जिसे किसी बात की इच्छा न हो, जो पवित्र हो, जिसने सभी कर्तव्य त्याग दिये हों यानी जो चतुर्थाश्रमी हो, जिसे दुःख पीड़ा नहीं पहुँचाता, मेरे स्वरूप में निपुण तथा मेरा भक्त उदासीन-धर्मावलम्बी वह महात्मा मुझे अत्यन्त प्रिय है।

'उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥'

(भागवत १०।६०।२०)

अर्थात् हम लोग सदैव उदासीन यानी ऋषि ही हैं। हमें स्त्री, पुत्र, धन आदि की कोई इच्छा नहीं। हम आत्मलाभ से परिपूर्ण हैं और दीपक की तरह निष्क्रिय एवं साक्षीरूप हैं।

'प्रमत्तोऽहं महाभाग विद्यया वयसा धनैः।
उदासीनं गुरुं कृत्वा (तदवज्ञया) प्राप्तवानीदृशीं गतिम्॥'

(बृहन्नारदीय-पुराण ९।८३)

अर्थात् वट-वृक्ष पर रहनेवाले ब्रह्मराक्षस ने महाराज सुदास से कहा कि 'राजन्! मैंने उदासीन मुनि गौतम को अपना गुरु बनाया था। प्रमादवश उनकी अवज्ञा की, जिससे मुझे यह गति प्राप्त है।

'एताश्चान्याश्च सुहृदाम् उदासीनः शुभाः कथाः।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम्॥'

(वाल्मीकि-रामायण, अयोध्याकाण्ड १७।१२)

अर्थात् पिता के आज्ञा-पालन का व्रत निबाहनेवाले श्रीराम की प्रशंसा और वरदान की निन्दा कर रहे मित्रों की हितभरी बातों को सुनते हुए उदासीन श्रीरामचन्द्रजी वन की ओर निकल पड़े।

'तापस भेष विशेष उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी।'

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड दो० २८ चौ० २)

'यह सुधि पाइ प्रयाग निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाज आश्रम सब आये। देखन दशरथ सुअन सुहाये॥'

(वही, अयोध्या० १०७।३)

'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'

(वही, अयोध्या० २०९।२)

माना जाता है कि साक्षात् भगवान् श्री विष्णु ने हंसावतार[1] धारण कर सर्वप्रथम श्री सनत्कुमार को चतुर्थाश्रम का उपदेश दिया और आदेश दिया कि आप लोग परमहंस-वृत्ति से सदैव ब्राह्मी स्थिति में रहते हुए जगत् में विचरण करें। 'उदासीन' शब्द का अर्थ ही यह है : उद् = ब्रह्म + आसीन = स्थित, अर्थात् ब्रह्मसंस्थ[2] या ब्रह्मनिष्ठ। चार प्रकार के चतुर्थाश्रमियों में चौथा प्रकार 'परमहंस' है। इसके अतिरिक्त 'हंस' शब्द की व्युत्पत्ति से भी 'शिखा आदि बाह्य चिह्नों का हनन करनेवाला' यह अर्थ निकलता है।

पूर्व-परम्परा के १६५ आचार्य

श्री सनत्कुमार को सर्वप्रथम उदासीन आचार्य मानते हुए उदासीनों की मुनि-परम्परा निम्नलिखित है :[3]

ब्रह्मात्मजो बुधवरः प्रथितो महात्मा,
स्तुत्यः सदा मुनिवरः स [1]सनत्कुमारः।
वीणाविभूषितकरः सुरगेयकीर्तिः,
नः पातु [2]नारदमुनिर्भवतापहारी ॥१॥

---

१. कुछ लोग इस हंसावतार के घटक 'हंस' शब्द से हंस पक्षी का ग्रहण कर भगवान् की इन अवतार-मूर्तियों में हंस पक्षी का चित्र भी ला खड़ा कर देते हैं। किन्तु यह निरा भ्रम है। वस्तुतः यहाँ 'हंस' से संन्यास की चरम-कोटि 'परमहंस' ही अभिप्रेत है। यहाँ उसका उल्लेख, आदिम 'परम' शब्द का लोप कर, संक्षेप में 'हंस' शब्द से किया गया है। व्यवहार में भी प्रायः ऐसा हुआ करता है। जैसे 'सत्यभामा' के लिए नामैकदेश 'भामा' शब्द का प्रयोग।

२. 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' (छान्दोग्य० २।२३।१)

३. इसका आधार ऋग्वेद में मिल जाता है। वैदिक 'सुदास' शब्द 'उदास' का पर्यायवाची है। उत् + आस = उदास, सु + उत् + आस = सूदास। बाद में प्रथमाक्षर ह्रस्व होकर 'सुदास' बन गया, ऐसा दीखता है। विशेष विवरण के लिए 'श्रौतमुनि-चरितामृत' द्रष्टव्य है। वहाँ द्वितीय प्रवाह के चतुर्थ तरंग में ऋग्वेद के निम्नलिखित १८ मन्त्रों को लेकर यह विषय स्पष्ट किया गया है : ऋग्वेद—७, १८, २२, २४, २५; ७, ३२, १०; ५, ५३, २; ७, १८, ५; ७, २८, ९; ३, ५३, ९, ११; ७, ८३, १, ८; १, ११२, १९; ७, ८३, ४, ६, ७; १, ४७, ६; १, ६३, १७; ७, १८, २३।

[3]बाभ्रव्यो मुनिशार्दूलो [4]दाल्भ्यो मान्यस्तपोधनः ।
[5]जयमुनिर्जंगद्वन्द्यः [6]सञ्जीवनश्च मोक्षदः ॥२॥
[7]देवो देवैः सदा सेव्यो [8]ह्यरविन्दो द्वयातिगः ।
[9]गोविन्दश्च गवां त्राता शरणागतपालकः ॥३॥
[10]सहस्रभानुरेकाकी जगदज्ञाननाशकः ।
[11]शतभानु [12]श्चित्रभानु [13]र्वरदो विदतां वरः ॥४॥
[14]दिव्यो दिव्यगुणैः ख्यातः [15]सुधर्मा धर्मरक्षकः ।
[16]सुवर्ममुनिरुत्साही वेदविद्याप्रचारकः ॥५॥
[17]आदित्यो विश्रुतो विद्वान् [18]रामो विमलमानसः ।
[19]भूरिसेनो [20]महासेनो [21]हिमांशुर्विगतामलः ॥६॥
वाचं यमश्च [22]गोपालो [23]नारायणो महामुनिः ।
[24]पद्ममुनिर्महौजस्वी वेदविद्याविशारदः ॥७॥
[25]कृष्णः सर्वत्र विज्ञातः [26]शिवदेवस्तपोधनः ।
[27]ऋतुदेवो [28]वामदेव[29]स्तिलको [30]गगनो मुनिः ॥८॥
[31]विबुधो विबुधैः पूज्यः [32]सुदेवो मुनिसत्तमः ।
[33]भूदेवो भुवि सर्वज्ञः [34]शान्तो मोक्षपरायणः ॥९॥
[35]सत्यमुनी रतो मोक्षे [36]विधिदेवो विशारदः ।
[37]निधिदेवो मुनिश्रेष्ठो [38]विजनः [39]सुजनो मुनिः ॥१०॥
[40]श्रुतिसिद्धो महाभागो [41]माधवश्च [42]मनोहरः ।
[43]धर्मध्वजो [44]जयध्वजो वेदवेदाङ्गपारगः ॥११॥
[45]गिरिधरस्तपोयुक्तः [46]सत्यसन्धोऽनिशोभनः ।
[47]ब्रह्मदेवो [48]विशालश्च [49]योगीन्द्रो विजितेन्द्रियः ॥१२॥
[50]रवीन्द्रो भूतले ख्यातः [51]प्राज्ञः [52]श्रीशो विचक्षणः ।
[53]देवेशश्च [54]चिदानन्दः [55]सुज्ञानः प्रतिभान्वितः ॥१३॥
[56]विज्ञानो ज्ञानलोकेशः [57]शुद्धो विगतवासनः ।
[58]विशुद्धः शुद्धचेताश्च [59]लोकेशः परिकाङ्क्षिकः ॥१४॥
[60]आचारणोऽतितेजस्वी तत्त्वदर्शी [61]सुभूषणः ।
ब्रह्मैकशरणः [62]सिद्धो [63]नृदेवोऽथ नरोत्तमः ॥१५॥

[६४]नरश्रेष्ठो नरेन्द्रश्च [६५]देववान् परिकाङ्क्षिकः ।
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो ब्रह्मवादी [६६]प्रतापवान् ॥१६॥
[६७]सुधाकरस्तमोमुक्तः सततं शुद्धमानसः ।
[६८]रत्नाकरोऽतितेजस्वी विज्ञो [६९]हिमकरस्तथा ॥१७॥
[७०]देवरातः [७१]सुरातश्च [७२]विष्णुः संसारसेवकः ।
[७३]शङ्करः शास्त्रनिष्णातो[७४]हिरण्योऽतिद्वयातिगः ॥१८॥
[७५]सुवेषो मुनिशार्दूलो [७६]रिपुजिद् विजितेन्द्रियः ।
[७७]मदनजिन्महौजस्वी [७८]ह्यालोको लोकशिक्षकः ॥१९॥
[७९]सुलोको ज्ञातवेदान्तः [८०]सुकीर्तिर्मुनिपुङ्गवः ।
[८१]पुण्यकीर्तिर्महाभागो [८२]लोकपालो महामुनिः ॥२०॥
निर्मोहः सर्वशास्त्रज्ञः [८३]सुयत्नः [८४]सुनयो[८५]ऽभयः ।
[८६]रोचिष्णु [८७]र्दीपनो विद्वान् [८८]सुतेजा [८९]सुतपा बुधः ॥२१॥
वाचोयुक्तिपटु[९०]श्चन्द्र[९१]स्त्रिनयनो महामतिः ।
[९२]हरिनारायणः पूज्यो सर्वान्नीनः [९३]सुलोचनः ॥२२॥
[९४]प्रलोचनमुनिर्विज्ञो [९५]ब्रह्मबोधस्तु शास्त्रवित् ।
अधीतवेदवेदाङ्गो वागीशो [९६]विरजो मुनिः ॥२३॥
[९७]सुजन्मा सर्वलोकज्ञः [९८]सुशर्मा पुण्यमानसः ।
प्राज्ञः [९९]सुधाम-शापास्त्र[१००]स्त्रिलोकश्च प्रियवरः ॥२४॥
विशुद्धहृदयो [१०१]भीष्मः [१०२]सुखदो विरजस्तमाः ।
[१०३]मङ्गलः [१०४]पुण्डरीकश्च [१०५]जितानन्दो विचक्षणः ॥२५॥
[१०६]महेशो दीप्तिमान् धन्यः [१०७]शक्तिः [१०८]शान्तिः प्रियंवदः ।
[१०९]हंसो धवलसर्वाङ्गः [११०]सुसङ्गः पुण्यमानसः ॥२६॥
[१११]असङ्गो दक्षिणो [११२]विज्ञः [११३]कृतार्थो निर्जितेन्द्रियः ।
[११४]सुबोधः शास्त्रनिष्णातः [११५]कुण्डलोऽथ [११६]बृहद्रथः ॥२७॥
ज्ञातनिःशेषभूगोलः [११७]सुरथो भ्रमणप्रियः ।
[११८]सुवर्चाः [११९]शोभनो मौनी [१२०]हारीतः शास्त्रकोविदः ॥२८॥
[१२१]सुमना [१२२]ब्रह्मदत्तश्च [१२३]ज्ञानराशिस्तपोधनः ।
[१२४]शुचिः [१२५]पूर्णो महाभागो [१२६]हर्षणस्तु समर्धकः ॥२९॥

[१२७]तोषणो विश्रुतो लोके दीर्घदर्शी [१२८]दिवाकरः ।
[१२९]सुचितो द्युतिमान् धीरः [१३०]सुवृत्तः पूतमानसः ॥३०॥
[१३१]शमवित्तो ब्रह्मवादी [१३२]सुधनो विरजस्तमाः ।
[१३३]प्रियंवदोऽतिगम्भीरः [१३४]श्वेतकेतुर्महामनाः ॥३१॥
अधीतवेदवेदाङ्गो [१३५]विधूतो धौतकल्मषः ।
[१३६]सुधन्वा [१३७]प्रस्तवो दान्तो [१३८]वीतहव्यो महामुनिः ॥३२॥
[१३९]रुद्धजवः [१४०]पिजवनः [१४१]उदयो मुदितः सदा ।
[१४२]स्वप्रकाशः [१४३]स्वतःसिद्धः कोविदेषु विचक्षणः ॥३३॥
[१४४]प्रभाकरो दूरदर्शी [१४५]च्यवनो मोक्षशिक्षकः ।
[१४६]सामप्रियो गीतदक्षो वीणावादनविश्रुतः ॥३४॥
[१४७]लोकप्रियो महाभागो देशकल्याणचिन्तकः ।
प्राज्ञः [१४८]प्रभुप्रसादोऽथ शरणागतरक्षकः ॥३५॥
विज्ञातासारसंसारो हृद्यो [१४९]हरिनिरूपणः ।
[१५०]नहुषो ब्रह्मविद्यायां चतुरः सर्वशास्त्रवित् ॥३६॥
[१५१]विश्वश्रवास्तपोयुक्तः [१५२]सुयशाः शुद्धमानसः ।
[१५३]धर्मसेतुरधर्मस्य नाशाय बहुयत्नवान् ॥३७॥
[१५४]चित्रकेतुर्विशालाङ्गो [१५५]लक्ष्मीरस्तु तपोधनः ।
[१५६]सुमेरुरचलो नित्यं मोक्षधर्मपरायणः ॥३८॥
प्रगल्भो [१५७]हरिगम्भीर [१५८]ऋषिरामो द्वयातिगः ।
[१५९]चतुर्भुजस्तत्त्वदर्शी [१६०]भास्करो लोकरक्षकः ॥३९॥
[१६१]रामरतिर्महौजस्वी वेदवेदान्तपारगः ।
[१६२]अतीतो मुनिशार्दूलो [१६३]वेदो वेदोपकारकः ॥४०॥
[१६४]अविनाशिमुनिर्दान्तिस्तपसा दग्धकल्मषः ।
प्रज्ञाताखिलविद्यानां भवभारापहारकः ॥४१॥
[१६५]श्रीचन्द्रदेवो मुनिराजमान्यः
श्रेयःप्रदानात् प्रथितो वदान्यः ।
दिग्वृन्दविस्तारियशोवितानाद्
भूचक्रवालं विशदं वितेने ॥४२॥

इन मुनियों में केवल बीस मुनियों के विषय में थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है, जो निम्नलिखित हैं : १. सनत्कुमार, २. नारद, ३. बाभ्रव्य, ४. दाल्भ्य, ५. जयमुनि, ६. संजीवन, ७. पद्ममुनि, ८. विधिदेव, ९. श्रुतिसिद्ध, १०. सुवेश, ११. सुयत्न, १२. सुनय, १३. अभय, १४. रोचिष्णु, १५. चन्द्रमुनि, १६. महेशमुनि, १७. हारीतमुनि, १८. लोकप्रिय, १९. अविनाशी मुनि, २०. श्रीचन्द्र। इनका विवरण निम्नलिखित है :

सनत्कुमार : इनमें सर्वप्रथम आचार्य हैं, श्री सनत्कुमार। सनत्कुमार स्वभावतः विरक्त-प्रकृति थे और उनको गुरु मिले भगवान् नारायण। गुरु और शिष्यों के बीच ज्ञान-वैराग्य-विषयक जो प्रथम वार्तालाप हुआ, उसीमें जिज्ञासुओं को पर्याप्त ज्ञातव्य बातें मिल जाती हैं।

नारद : श्री सनत्कुमार ने देवर्षि नारद को उदासीन दीक्षा दी और तभी से चतुर्थाश्रम की परम्परा चल पड़ी। भला नारद को कौन नहीं जानता होगा ? तरह-तरह की युक्ति-प्रयुक्तियों को आजमाने में परम चतुर नारदजी जिस किसी तरह प्रचलित रीति-नियमों के सुखी जीवन में क्षोभ लाते और अन्ततः जीवात्मा को आत्मकल्याण के मार्ग की ओर आकृष्ट करने में सदैव निरत रहते हैं। उन्होंने 'भक्तिसूत्र' रचा है। रामायण-कथा भी सर्वप्रथम उन्हींने वाल्मीकि को कह सुनायी।

बाभ्रव्य : नारदजी के शिष्य और बभ्रु-वंशी 'बाभ्रव्य' कुशिकगोत्रीय थे। इनका उल्लेख स्कन्द-पुराण में (माहेश्वर-खण्डान्तर्गत कौमारिका-खण्ड, ५४ अध्याय, २७–४३ श्लोक) है। बाभ्रव्य का दूसरा नाम 'पाञ्चाल' था। इन्हींने वेद की 'क्रम-संहिता' बनायी और उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया। इसका उल्लेख भगवान् वेदव्यास ने महाभारत में और भाष्यकार उव्वट ने 'ऋक्प्रातिशाख्य' में किया है।

दाल्भ्य : बाभ्रव्य के शिष्य 'दाल्भ्य' मुनि के पिता का नाम चिकितायन था और उनका गोत्र दाल्भ्य था। उन्हें 'चैकितायन दाल्भ्य' भी कहा जाता। वे और उनके दो मित्र 'शिलक शालावत्य' और 'प्रवाहण जैवलि' उद्गीथ के विद्वान् थे। छान्दोग्य-उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के आठवें खण्ड में ये तीनों मित्र सामवेदीय उद्गीथ-विषयक चर्चा करते हुए वर्णित हैं। इन्होंने अन्न-विद्या का आविष्कार किया (द्रष्टव्य : छान्दोग्य-उप० १।१२।५)। इन्होंने अर्जुन को त्याग का उपदेश दिया, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार माना जा सकता है कि ये विक्रम संवत् ३१०० वर्ष-पूर्व हो गये हैं।

जयमुनि : दाल्भ्य के शिष्य जयमुनि ने स्थान-स्थान पर आश्रम बनाकर महाभारत का प्रचार किया।

संजीवन : इनके शिष्य संजीवन के पास 'संजीवनी' विद्या थी, जो उन्हें

कश्यप-पुत्र 'काश्यप' मुनि ने दी। युधिष्ठिर के उत्तर प्रथम शताब्दी में उत्पन्न इन संजीवन मुनि के पश्चात् लगभग ७०० वर्ष का इतिहास लुप्तप्राय है।

पद्ममुनि : इसके पश्चात् उत्पन्न नारायण मुनि के शिष्य और गुरु-परम्परा से २४वें स्थान पर आनेवाले पद्ममुनि ने चार्वाक-मत का खण्डन किया और व्याकरण के विख्यात आचार्य पाणिनि को मन्त्र-दीक्षा दी।

विधिदेव : तदनन्तर ३०० वर्ष, यानी युधिष्ठिर से ११वीं शताब्दी में उत्पन्न विधिदेव गोदावरी-तट पर त्र्यम्बकेश्वर में निवास करते थे। वे सत्यमुनि के शिष्य थे। उन्होंने अपने मित्र और सहाध्यायी 'व्याडि' से वेदाभ्यास के नियमों का ग्रन्थ 'विकृतिवल्ली' लिखवाया और पाणिनि के व्याकरण पर 'संग्रह' नामक व्याख्या करवायी, जो अब उपलब्ध नहीं है।

श्रुतिसिद्ध : सुजन मुनि के शिष्य श्रुतिसिद्ध युधिष्ठिर से १२वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें वेद के सभी कठिन शब्दों की सूची है। एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द एक साथ रख देने से एक तरह से यह कोश की आवश्यकता पूरी कर देता है। बाद में उन्होंने यह ग्रन्थ 'यास्क' को दिया और उस पर 'निरुक्त' नामक भाष्य लिखवाया। दोनों ग्रन्थ वेदाभ्यास के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए।

सुवेश : वैक्रम संवत् ५०० वर्ष पूर्व हिरण्यकेश मुनि के शिष्य सुवेश मुनि हुए। उन्होंने बौद्धधर्म के सुख्यात अनुयायी महाराज बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को और श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् के पुत्र विरुद्धक को वैदिक-धर्मानुयायी बनाया। गौतम बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त को वैदिक-धर्म की ओर मोड़ उनसे अपना प्रचार-कार्य कराया। ये मुनि भी नारदजी की तरह धर्म-प्रचारार्थ राजनैतिक उपाय काम में लाते रहते।

सुयत्न : जब सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की, तो उस समय लोकपाल मुनि के शिष्य सुयत्न मुनि उदासीन-सम्प्रदाय के अग्रणी थे। वे विदेशों में धर्म-प्रचारार्थ अपने चुने शिष्यों के मण्डल भेजते रहते। ये सभी मण्डल हर तीसरे वर्ष अधिक मास में एक स्थान पर जुटते और अपना-अपना कार्य-विवरण प्रस्तुत करते। सुयत्न मुनि ने यह बड़ी सुन्दर प्रथा चलायी। स्वयं सभी मण्डलों के प्रधान होने के कारण वे 'महामण्डलेश्वर' कहलाते और तप, दर्शन (तत्त्वज्ञान) तथा जनता में धर्म-प्रचार पर विशेष जोर देते। उदासीनों के लिए उन्होंने यह सर्वोत्कृष्ट प्रणाली स्थापित की। उनके गुरुदेव के गुरुबन्धु प्रतापवान् मुनि थे। सुयत्न मुनि ने इन प्रतापवान् मुनि के शिष्य सुषेण मुनि को एक बार कुछ समय

के लिए अपनी अनुपस्थिति में मण्डलेश्वर बनाया था। इन्हीं सुषेण मुनि ने चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षा दी थी।

इसका उल्लेख 'उदास-सम्प्रदाय मात्रा' नामक दाक्षिणात्य गुरुदास द्वारा लिखित ग्रन्थ में मिलता है। वहाँ की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

'तिनके भये महाव्रत धारी। नाम सुषेण मुनि अधिकारी ।।
चन्द्रगुप्त नृप को उपदेशा। तजे राज सो भये रिखेशा ।।'
(चौ० १५)

अर्थात् सुषेण मुनि के उपदेश से प्रभावित हो चन्द्रगुप्त ने राज-पाट छोड़ दिया और वे ऋषि-राज अर्थात् सन्त बन गये। कितने ही जैन-ग्रन्थों में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन-धर्मावलम्बी बताया गया है। किन्तु यह बड़ी अटपटी बात है। कारण सनातन-धर्म में दृढ़ आस्था रखनेवाले प्रखर विद्वान् चाणक्य का शिष्य जैन हो, यह तर्कसंगत नहीं लगता।

इसी चन्द्रगुप्त को संकट के समय सुयत्न मुनि ने धैर्य का उपदेश दिया था, जिससे प्रभावित हो चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में मुनिराज तथा साधुसमाज की अत्यन्त उल्लेख्य सेवा की। ये मुनि ईसा-पूर्व ३०२ वर्ष में ब्रह्मलीन हुए।

सुनय : सुयत्न मुनि के शिष्य 'सुनय' मुनि ईसा-पूर्व २७५ वर्ष में महामण्डलेश्वर बने। वे सम्राट् अशोक के समकालीन थे। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के कारण जनता पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। कितने ही हिन्दुओं और उनमें भी कितने ही उदासीन चतुर्थाश्रमियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। काल की यह प्रतिकूलता देख सुनय मुनि अपने सभी मण्डलों को काश्मीर ले गये और उन्हें योगाभ्यास की ओर विशेष ध्यान देने का आदेश दिया।

अभय : सुनय मुनि के शिष्यों में श्री अभय मुनि ने योग द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। राजकुमार कुणाल को, सौतेली माँ के षड्यंत्रवश आँखें खोनी पड़ीं, यह इतिहास-प्रसिद्ध है। फिर कुणाल का पुत्र जलोक पिता को अभय मुनि के पास ले गया तो मुनि ने यज्ञकुण्ड के भस्म से कुणाल की दृष्टि लौटा दी। फलस्वरूप पिता, पुत्र दोनों की मुनि के प्रति आस्था बढ़ी और उन्होंने उदासीन-धर्म की दीक्षा ली। जलोक और उसकी रानी ईशानदेवी ने काश्मीर में अनेक देव-मन्दिर बनवाये। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीर्थस्थान मार्तण्ड-मन्दिर (मटन) है, जहाँ भगवान् सूर्य-नारायण की मूर्ति है। इस प्रसंग से मुनियों के धर्म-प्रचार में भी अच्छी मदद मिली।

रोचिष्णु : अभय मुनि के शिष्य रोचिष्णु मुनि भी योगसिद्ध थे। वे पाटलिपुत्र के महाराज बृहद्रथ के समकालीन थे। उन्होंने अनेक वर्षों बाद पुनः मगध के राजगृह में नगर में सभी मण्डलों की परिषद् बुलवायी। वहाँ उनके प्रभावशाली प्रवचन से आकृष्ट हो शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र वैदिक-धर्म का अनुयायी बना। राजा बनने के बाद इसी पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें महाभाष्यकार पतञ्जलि उपस्थित थे।

चन्द्रमुनि : सुतपा मुनि के शिष्य चन्द्रमुनि का स्थान ९०वाँ है। वे महाराज विक्रम, महाकवि कालिदास तथा राजा भर्तृहरि के गुरु थे।

महेशमुनि : परम्परा से १०९ठे महेशमुनि जितानन्द के शिष्य थे। वे पाटलिपुत्र के लिच्छिवीवंशीय महाराज चन्द्रगुप्त के गुरु थे। उन्होंने यज्ञ-यागादि कार्यों तथा पूर्वजों के स्मारकों के पुनरुद्धार पर विशेष जोर दिया।

हारीत मुनि : एक सौ वीसवें स्थान पर जिनका नाम आता है, उन हारीत मुनि में उनके गुरु शोभनमुनि ने खूब प्रेरणा भरी। हारीतमुनि ने कन्नौज में विक्रम संवत् ७४२वें वर्ष वैदिक-धर्मानुयायियों की सभा बुलायी और समझाया कि केवल त्याग पर ही जोर देने से किस तरह शास्त्रविहित कर्ममार्ग का लोप होता जा रहा है। वे पूर्वमीमांसा-पद्धति का एक ग्रन्थ बनाना चाहते थे और उसके लिए सुयोग्य शिष्य की खोज में थे। प्रभु-कृपा से उनकी वह उत्कट इच्छा पूर्ण हुई और उन्हें कुमारिल भट्ट मिल गये। मुनिराज ने कुमारिल भट्ट को मीमांसा-दर्शन, शावरभाष्य प्रभृति ग्रन्थ पढ़ाये। कुमारिल की विद्वत्ता तो इतिहास-प्रसिद्ध ही है। हारीतमुनि को दूसरा भी एक सुयोग्य शिष्य मिला, जो शास्त्र तो नहीं, 'शस्त्र' में निपुण था। वह था, बाप्पा रावल, एकलिंगजी का परम भक्त और मेवाड़ का अधिपति।

लोकप्रिय : हारीतमुनि के ५०० वर्ष पश्चात् राजस्थान में लोकप्रिय मुनि का जन्म हुआ। परम्परा में उनका स्थान १४७वाँ पड़ता है। वे सामप्रिय के शिष्य थे और उन्होंने विक्रम संवत् ११८६ में सोलह वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। 'उदासीन-मंजरी' और 'उदासधर्म-दिवाकर' में इनका उल्लेख है। अजमेर के राजा अजयपाल लोकप्रिय मुनि के गुरुबन्धु थे। उनके पुत्र आना ने लोकप्रिय मुनि की प्रेरणा से मुसलमानी आक्रमण टालने के प्रयत्न किये। फिर आना का पुत्र वीसलदेव भी मुनि का शिष्य बना और बड़े होने पर उसने भी मुसलमानों को मार भगाने तथा हिन्दुओं का संगठन करने की ओर ध्यान दिया।

अविनाशी मुनि : सोलहवीं सदी में एक विद्वान् ब्राह्मण के घर में अविनाशी मुनि का जन्म हुआ। उनका स्थान परम्परा के अनुसार १६४वाँ पड़ता है। ये

ही उदासीन सम्प्रदायाचार्य श्रीचन्द्र महाराज के गुरुदेव थे। अविनाशी मुनि ने चौवीस वर्ष की अवस्था में, विक्रम संवत् १५३८ में वेदमुनि से उदासीन-सम्प्रदाय की दीक्षा ली। यात्रा के प्रसंग में आबू पर्वत पर उन्हें उस यज्ञकुण्ड के अवशेष दीख पड़े, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसमें से चार क्षत्रिय-कुल निकले। उन्हें देख अविनाशी मुनि के पावन चित्त में यह विचार उठा कि मुझे भी धर्म-रक्षार्थ वीर क्षत्रियों का निर्माण करना चाहिए। कदाचित् इसी सत्संकल्प के वल पर पंजाव के वेदी-कुल के क्षत्रिय बालक श्रीचन्द्र से उनकी भेट हो गयी हो। इस सुन्दर मणि-कांचन योग से भारत के धार्मिक जीवन में उत्साह का नया ज्वार आ गया।

श्री अविनाशी मुनि ही श्रीचन्द्राचार्य के गुरु थे, इस विषय में प्रमाण स्वयं आचार्यश्री का वचन है। सन्तजनों के इस प्रश्न पर कि "किन मूड्या" (१) अर्थात् किस गुरु ने तुझे यह दीक्षा दी, वे अपने 'मात्रा-शास्त्र' में स्पष्ट लिखते हैं : "सद्गुरु मूड्या (२)।·········गुरु अविनाशी खेल रचाया। अगम-निगम का पन्थ बताया" (४)।

यद्यपि 'अविनाशी' का अर्थ परमात्मा भी होता है, फिर भी दाक्षिणात्य श्री निर्वाण प्रीतमदासजी[1] इन चौपाइयों की संस्कृत व्याख्या में लिखते हैं : "गुरु-रविनाशी खेलामरच्चयत्, निगमागमयोः पन्थानं चावोधयत्" अर्थात् 'प्रथम किसने मूँड़ा ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'सद्गुरु मूँड़ा' कहा गया और 'सद्गुरु कौन ?' इसके उत्तर में 'गुरु अविनाशी' यह है, ऐसा श्री प्रीतमदास का हार्द है। अतः 'अविनाशी मुनि' ही यहाँ के 'अविनाशी' पद से आचार्य को अभिप्रेत हैं, यह सिद्ध होता है।

मात्रा-शास्त्र पर 'भाव-प्रसादिनी' नामक पद्यबद्ध व्याख्याकार वैयाकरण, दार्शनिक, सुकवि-सम्पादक स्वामी रामस्वरूपजी को भी यही बात अभिमत हैं। वे लिखते हैं :

---

१. श्री प्रियतमदास या प्रीतमदासजी ने १९वीं सदी में उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा की स्थापना की। आप बहुत बड़े विद्वान् एवं साधु-समाज में पूज्य थे। आप दाक्षिणात्य यानी वर्धा, अकोला जिले के अमरावती नगर के निवासी थे। आपका जन्म सन् १८०७ में हुआ और सन् १८८८ में आपने निर्वाण प्राप्त किया। आपने 'साधु-सुमन-चन्द्रिका' और 'निर्वाण-गंज' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें प्रथम में साधुओं के जीवन का इतिवृत्त संकलित है, तो दूसरे में पुराणों तथा योगवासिष्ठ के उपदेश भरे हैं।

'क्रीडामात्रं जगच्चक्रेऽविनाशी मे गुरुस्तथा ।
श्रौतमुपादिशन्मार्गं पुराणं लब्धुमीश्वरम् ।।'

(भावप्रसा० ७)

'श्रुति-संवादिनी' व्याख्या में स्वामी श्री योगीन्द्रानन्दजी भी इसीकी पुष्टि करते हैं : 'गुरुरविनाशीत्यादि । अविनाशीनामा दीक्षागुरुरित्यर्थः ।'

वेद के प्रकाण्ड विद्वान्, सनातनधर्म-मार्तण्ड, कविरत्न श्री अखिलानन्दजी भी अपने 'श्रीचन्द्र-दिग्विजय' महाकाव्य के ६ठे सर्ग के ५वें श्लोक में स्पष्ट ही लिखते हैं :

'यस्माद्दीक्षामवाप्य श्रुतिपथमतनोद् भारते भारतेन्दुः,
यस्मिन्नस्तं प्रयातः खलबलनिकरो धैर्यराशौ मुनीन्द्रे ।
यः श्रीचन्द्रं समेत्य स्वमनसि निहितं पूरयामास सर्वं
सोऽयं लोकेऽविनाशी जयति मुनिगुरुः सर्वदा सर्वमान्यः ।।'

अर्थात् जिनसे उदासीन-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर श्रीचन्द्र भगवान् भारत में वैदिक-धर्म के विस्तार में समर्थ हुए और जिन्हें देख शत्रु स्वयं ही पराजित हो जाते थे, साथ ही जो श्रीचन्द्र जैसे सुयोग्य शिष्य को प्राप्त कर अपने मन के सभी शुभ संकल्प पूर्ण कर सके, उन सर्वपूज्य अविनाशी मुनि की जय हो ।

इस तरह अब तनिक सन्देह नहीं कि श्रीचन्द्राचार्य श्री अविनाशी मुनि के ही सुयोग्य और प्रिय शिष्य थे तथा उन्हींके हाथों उनके गुरुदेव के शुभ संकल्प सिद्ध हुए ।

श्रीचन्द्र : श्री श्रीचन्द्राचार्य के दिव्य विभूतिमय जीवन के विषय में कितना लिखा जाय ? वे तो साक्षात् भगवान् शंकर के अवतार ही थे । "जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्य" नामक ग्रन्थ में सुख्यात शिक्षाशास्त्री एवं साहित्यकार श्रीसीताराम चतुर्वेदीजी ने उनका ओज और तेज-भरा दिव्य जीवन सरस शब्द-तूलिका से चित्रित किया है और उसीके आधार पर इन पंक्तियों की लेखिका ने भी गुजराती में अपने वाणीरूप रथ्योदक को श्री श्रीचन्द्र की चरित्र-गंगा में प्रवाहित कर पवित्र कर लिया है । यहाँ उसका विस्तार करना ठीक नहीं । हाँ, अग्रिम प्रकरण में उनकी कतिपय रोचक विभूतियों का वर्णन कर उनके 'मात्राशास्त्र' अनुशासन पर विचार किया जायगा । ●

२

श्री श्रीचन्द्र और उनका मात्रा-शास्त्र

आचार्यश्री श्रीचन्द्र भगवान् का अवतार विक्रम संवत् १५५१ में हुआ। उस वर्ष की भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन तलवंडी (पंजाब) में गुरु नानकदेव और देवी श्री सुलक्षणा के गर्भ से उनकी मायिक देह ने जन्म पाया। सद्योजात बालक के मस्तक पर जटा, भाल पर त्रिपुण्ड्र और देह पर भस्म के चिह्न थे, जो उन्हें प्रत्यक्ष शंकरावतार सिद्ध कर रहे थे। आपने चौदह वर्ष की अवस्था में गुरु-पूर्णिमा के दिन अविनाशी मुनि से चतुर्थाश्रम की उदासीन-दीक्षा ली। पूरे डेढ़ सौ वर्ष तक प्रत्यक्ष विविध लीलाएँ अभिनीत कर विश्व-रंग-मंच का यह सूत्रधार वैक्रम संवत् १७०० में चंबा[1] नगरी में रावी-तट पर अन्तर्हित हो गया। आचार्यश्री का 'निर्वाण' नहीं, 'अन्तर्धान' हुआ, अतएव अनेक महात्माओं की मान्यता है कि भगवान् चिरजीवी हैं। अब भी वे विद्यमान हैं और बीच-बीच में हिमालय की गिरि-कन्दराओं में अधिकारी साधु-महात्माओं को दर्शन दिया करते हैं।

प्रियशिष्य ब्रह्मकेतु के माध्यम से अपने अनुयायियों को अन्तर्धान-पूर्व सन्देश देते हुए आचार्यश्री अनुशासित करते हैं :

"१. लोकवासना के क्षुद्र प्रलोभनों में पड़कर त्याग के उच्च आदर्शों को कलंकित न करें।

२. आत्मा की उन्नति और मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें।

३. स्वयं प्रकाश प्राप्त कर अन्धकार में निमग्न साथियों को भी प्रकाश में लायें।

४. गुरुदेव अविनाशी मुनि द्वारा स्थिर किये गये पवित्र लक्ष्य की पूर्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करें। यही आपका परम धर्म है।

५. इस धर्म के रक्षार्थ अहंकार और फलेच्छा त्यागकर निरन्तर लोक-सेवा करते रहें। ध्यान रहे कि यौगिक-क्रिया के शिक्षण का प्रवाह कभी सूखने न पाये।"

---

१. यह पर्वतप्रदेश में एक देशी राज्य था, जो काश्मीर के दक्षिण-पूर्व गुरुदासपुर जिले के उत्तर और काँगड़ा से पश्चिम पड़ता था।

दिव्य देह की दिव्य विभूतियाँ

आचार्य श्रीचन्द्र की देह लौकिक नहीं, दिव्य थी। अतः उनकी कतिपय लोकोपयोगी दिव्य विभूतियों का स्मरण कर उनके 'मात्रा-शास्त्र' का निरूपण किया जायगा। इन विभूतियों से आचार्य के अवतार के उद्देश्य पर अनायास प्रकाश पड़ता है।

मुसलमानी राज्य के समक्ष प्रवल विरोधी पक्ष खड़ा करनेवाले छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी श्री रामदासजी को श्रीचन्द्राचार्य से भेट का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इस भेट में उन्हें आचार्यश्री से उज्ज्वल प्रेरणा का अमृत सुलभ हुआ। यह घटना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की है।[1] श्री पद्मावती देसाई ने 'उदासीन-मुनि-परिचय' ग्रन्थ में इसे उद्धृत किया है, जिसका सार यह है : "समर्थ रामदास को केवल १८ वर्ष की अवस्था में 'टाकली' गाँव में भगवान् श्रीचन्द्र का दर्शन हुआ। उस समय उनका नाम 'नारायण' था। नारायण की तप और वैराग्य की ओर तीव्र अभिरुचि थी। जगद्गुरु श्रीचन्द्र महाराज ने उन्हें उपदेश दिया कि 'एकान्त में योगाभ्यास करने के बदले आप तीर्थाटन करें, देखें कि पूर्वजों के पवित्र तीर्थ-धामों की कैसी दुर्गति हो रही है। आप किसी सुयोग्य क्षत्रिय शिष्य को तैयार करें और उसके द्वारा इस दुःस्थिति का निवारण कर सनातन धर्म की रक्षा करें। फिर भी नारायण में इस ओर उत्साह नहीं दीखा। तब आचार्यश्री ने यह स्पष्ट भविष्य-वाणी करते हुए कि 'कुछ ही दिनों में 'शिवनेर' में आपका यह मनोरथ सफल करने-वाला वालक जन्म लेगा', उन्हें इस कार्य के लिए उत्साहित कर लिया। महा-पुरुषों के वचन कभी अनृत नहीं होते, इसकी साक्षी हमें महाराष्ट्र का इतिहास स्पष्ट देता है।

इसी प्रकार बाप्पा रावल के वंशज वीरवर राणा प्रताप को भी उनके मन्त्री भामाशाह के आग्रह पर भगवान् श्रीचन्द्राचार्य के दर्शन हुए। यह घटना संवत् १६२९ की है। उन दिनों आचार्यश्री उदयपुर के निकट हारीत मुनि के प्राचीन आश्रम में निवास कर रहे थे। राणा से भेट होने पर उन्होंने उसके पूर्वजों के शौर्य की प्रशंसा करते हुए यह भविष्य-वाणी भी की कि 'एक दिन यवन-साम्राज्य का अन्त होकर रहेगा।'

---

१. द्रष्टव्य : 'श्रीतमुनि-चरितामृत' (प्रवाह ७, तरंग १०) तथा 'श्रीचन्द्र-दिग्विजय महाकाव्य' सर्ग १३, श्लोक ४०१–४१६।

श्री श्रीचन्द्राचार्य की दृष्टि कितनी पैनी, कितनी दूरगामी थी और उनमें कितना प्रचण्ड पुरुषार्थ भरा था, यह उनके जीवन के अनेक प्रसंगों से जाना जा सकता है। उन दिनों भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर विधर्मियों का अत्यधिक प्राबल्य था। आपका ध्यान उधर आकृष्ट हुआ और भारतीय सीमा के बाहर भी आपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। आपका यह कार्य अत्यन्त विरल और चमत्कारपूर्ण माना जा सकता है।

काश्मीर में राजा याकूब के मन्त्री का हृदय-परिवर्तन करने के लिए आचार्य-श्री ने यज्ञकुण्ड से जलती लकड़ी उठायी और उसे जमीन में रोप दिया। देखते-देखते वह एकदम हरा-भरा वृक्ष बन गयी, पत्ते फूट आये। यह वृक्ष बाद में 'श्रीचन्द्र-चिनार' नाम से प्रसिद्ध हुआ और श्रद्धालु जन इसके दर्शनार्थ काश्मीर जाने लगे। कल तक वह वृक्ष जीवित था।

यह सर्वानुभूत है कि घोरतम अत्याचारों से पीड़ित लोग जब स्वधर्म के प्रति निरुत्साहित हो जाते हैं, तो ऐसे चमत्कारों से उनकी श्रद्धा पुनर्जीवित हो उठती है। उनके हृदय से आततायियों का भय जाता रहता है। श्री श्रीचन्द्राचार्य किन्हीं तपस्वियों या विद्वानों मात्र के ही गुरु नहीं, जनसाधारण के गुरु—जगद्गुरु थे। साधारण स्तर की जनता को स्वधर्माभिमुख करने के लिए उन्होंने जो मार्ग अपनाया, वह सर्वथा समुचित था।

काबुल में उन्होंने धर्मशाला बनवायी और वहाँ भी धर्म-प्रचार का बहुत बड़ा केन्द्र स्थापित किया। यह धर्मशाला आज भी विद्यमान है और वहाँ स्वामी शंकरानन्दजी रहते हैं। कन्दहार में कामरान द्वारा मारे गये मृग के मृत शरीर में पुनः प्राण-संचार कराकर आचार्य ने अपनी दिव्य शक्तियों का अद्भुत परिचय दिया, जिससे वह कुछ समय के लिए सुधर गया। किन्तु पूर्वजन्म के कुकर्मवश तथा कुमार्गगामी होने के कारण बाद में उसने गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन किया और अन्धा हो गया।

ठठ्ठा, काश्मीर, काबुल, कन्दहार, पेशावर जैसे सीमा-प्रदेशों में धर्म-प्रचार कर देश-धर्म की सुरक्षा करनेवाले, अलौकिक घटनाओं से जनता को प्रभावित करनेवाले और करुणावतार होते हुए भी आततायियों को समुचित दण्ड देने में भी कभी न हिचकनेवाले भगवान् श्रीचन्द्राचार्य का चरित्र जितना दिव्य, उतना ही मननीय भी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जितने भी महापुरुष जगद्गुरुत्व का पद प्राप्त कर चुके हैं, सबके जीवनों में ऐसी अनेक घटनाएं घटीं, जो सामान्य दृष्टि से चमत्कार मालूम पड़ती हैं। वे एक या दो शिष्य-विशेष

तक अपना ध्यान केन्द्रित नहीं रखते। उनके प्रयत्न सभी लोगों के उद्धारार्थ होते हैं। उनके अभ्यास, साधना और आत्मसाक्षात्कार में एक अपूर्व लीलामय साहजिकता दीखती है। उनका लीलाविग्रह किसी विशिष्ट अवतार-कार्य के लिए होता है। अतएव वे कुछ ही समय में वह कार्य पूरा कर लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

इसी प्रकार ऐसे महापुरुषों के जन्म भी किसी-न-किसी प्रकार अद्भुत हीं हुआ करते हैं। जन्म से पूर्व या शैशव में उनके विषय में अनेक भविष्य-वाणियाँ सुनी जाती हैं, जो समय-समय पर सर्वथा सत्य सिद्ध होती हैं। वे आत्मलीन और सर्वांशतः ईश्वरमय होते हुए भी इतनी पैनी और दूरदर्शी व्यावहारिक दृष्टि रखते हैं, जिसके बल पर अत्यल्प काल में अपने निश्चित ध्येय पर पहुँच जाते हैं। ये सभी लक्षण जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। 'श्रौतमुनिचरितामृत'कार ने निम्नलिखित एक ही श्लोक में आचार्यश्री का समग्र चित्र चित्रित कर दिया है :

'आचार्ये वसनं वने निवसनं तुर्याश्रमोद्धारणं
स्मार्तानां च मिथो विवादहरणं श्रीपञ्चदेवार्चनम्।
शाक्तानां शमनं विधर्मिदमनं राणारणोत्साहनं
श्रीश्रीचन्द्रमुनेर्विशुद्धचरितं भव्याय भूयाद् भृशम्॥'

मात्रा-शास्त्र

इस प्रकरण का उत्तरार्ध है, मात्रा-शास्त्र। श्री श्रीचन्द्राचार्यजी के चरित्र-चिन्तन के साथ उनका मात्रा-शास्त्र भी उपस्थित हो जाता है। कारण यह उनकी अमर देन है। दूसरे शब्दों में यह उदासीन-सम्प्रदाय का भाषा-निबद्ध वेद है। मान्यता है कि जो मात्रा-शास्त्र नहीं जानता और उसका नित्य स्वाध्याय नहीं करता, वह सच्चा उदासीन ही नहीं। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है, फिर भी साम्प्रदायिक चरित्र की परिपूर्णता के निमित्त यहाँ संक्षेप में इस पर प्रकाश डालना अनिवार्य हो जाता है।

भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ उलटने पर पता चलता है कि जब-जब भारतीय जन-जीवन के विशाल आकाश पर विविध विपदाओं का घना अन्धकार छा जाता है, तब-तब भारत के सन्त-महात्मा तप, योग और ज्ञानमय सूर्य का उदय कर उस अन्धतमस् को छिन्न-विच्छिन्न करते और चारों ओर शान्ति-सौमनस्य का मंगलमय प्रकाश छा देते हैं।

भगवान् श्रीचन्द्राचार्य के समय भी शान्तिप्रिय भारतीय जनता विधर्मी यवनों के पाशविक अत्याचारों से अत्यन्त त्रस्त हो उठी थी। नित-नयी विपदा का पहाड़ उस पर टूट पड़ता। अधीर जनता को त्राण देने के लिए आचार्यश्री काबुल से नगर ठठ्ठा (सिन्ध) तक तूफानी दौरा किया करते। विशेषतः पंजाब, सिन्ध और अरब की खाड़ी उनका प्रधान कार्यक्षेत्र बना; कारण इन आपत्तियों का उद्गम वहीं से हुआ करता था।

उन्हीं दिनों एक बार आचार्यश्री की अध्यक्षता में एक महती सन्त-सभा हुई, जिसमें दूर-दूर के विभिन्न विचारों के सन्त-महात्मा उपस्थित हुए। सभा में सामयिक समस्याएँ प्रस्तुत हुईं और धर्म-संस्कृति-रक्षा के उपायों पर विचार-विमर्श चला। कुछ सन्तों ने उग्र विचार भी प्रस्तुत किये। अन्ततः सबका समाधान और समन्वय करते हुए आचार्यश्री ने उग्र विचारों को प्रस्तुत समय के अनुपयुक्त बताया और यह परामर्श दिया कि सन्तजन अपने पुरातन आध्यात्मिक पथ से ही अपनी शक्ति विकसित करें और उसीसे जनकल्याण साधें। वहाँ अध्यक्ष-पद से आचार्य ने जो महत्त्वपूर्ण प्रवचन किया, वही यह 'मात्रा-शास्त्र' है। इसमें तात्कालिक प्रश्नों के कुछ मननीय उत्तर भी संकलित हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रथम आचार्यश्री संस्कृत में ही अपना मन्तव्य प्रकट करने लगे। किन्तु अनेक सन्तों ने यह अनुरोध किया कि सर्वसाधारण इससे लाभान्वित नहीं हो पा रहे हैं, तब उन्होंने भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही यह उपदेश दिया।

आचार्यश्री श्रीचन्द्र के इस उपदेश को लिपिबद्ध कर यह प्रथम मात्रा बनी। उन्होंने अन्य भी १२ मात्राएँ रची हैं और उनके नाम से कुल १३ मात्राएँ प्रकाश में आयी हैं। बाद में उनके शिष्यों ने भी जो रचनाएँ कीं, उनका भी नाम 'मात्रा' रखा जाने लगा। उनके शिष्यों (४ धूनें और ६ बखशीसों के अग्रणी सन्तों) में से किसीने २, किसीने ३, तो किसीने ४ मात्राएँ लिखीं। इनमें काशीराम और दक्षिणी गुरदासीजी की मात्राएँ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व की हैं। इन दोनों महापुरुषों ने अपनी-अपनी मात्रा में उदासीन-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीचन्द्र के पूर्व के महात्माओं तथा परवर्ती बालहास आदि मुनियों का इतिहास अंकित किया है। यों सभी मात्राओं को, जो सैकड़ों की तादाद में हैं, संकलित किया जाय, तो एक विपुलकाय ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

आचार्यश्री की इस प्रथम मात्रा पर, जिसे 'मात्रा-शास्त्र' कहा जाता है, अनेक अधिकारी विद्वानों ने संस्कृत में गद्य-पद्यमय श्रुतिमूलक व्याख्याएँ की हैं और महात्मा फलाहारीजी द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है।

प्रस्तुत मात्रा-शास्त्र चार अध्यायों में बाँटा गया है, जो निम्नलिखित हैं : १. परिचयाध्याय, २. योगसम्भाराध्याय, ३. योगचर्याध्याय और ४. आचाराध्याय। इनमें भी प्रथम अध्याय के दो खण्ड हैं : प्रश्नखण्ड, जिसमें एक चौपाई है और उत्तरखण्ड, जिसमें ३ चौपाइयाँ हैं। द्वितीय अध्याय के भी अन्तरंग और बहिरंग, ये दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में १० और द्वितीय में ५ चौपाइयाँ हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम हठयोग खण्ड में २॥ और द्वितीय राजयोग खण्ड में ६॥ चौपाइयाँ हैं। चतुर्थ अध्याय के तीन खण्डों में से पूर्वाचार खण्ड में ४।, पराचार खण्ड में २॥। और उत्तराचार खण्ड में ४ चौपाइयाँ हैं। इस तरह यह ग्रन्थ कुल ३९ चौपाइयों का है।

आचार्यश्री का यह मात्रा-शास्त्र 'सूत्र'-ग्रन्थ कहा जा सकता है। कारण सूत्र के सारे लक्षण[1] इसमें आ जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि इसे 'मात्रा' क्यों कहा गया ?

एक उत्तर है, 'मा=माया तस्यास्त्रायते सा मात्रा' इस व्युत्पत्ति से 'मात्रा' का अर्थ होता है माया से रक्षा करनेवाली ब्रह्म-विद्या[2]। ब्रह्मविद्यारूप

---

१. सूत्र का लक्षण शास्त्रों में यह दिया गया है :

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥'

२. यहाँ प्रश्न उठता है कि जब 'मात्रा' का अर्थ 'ब्रह्म-विद्या' ही है, तो उसका वाचक प्राचीन 'उपनिषद्' शब्द छोड़ यह नया शब्द क्यों गढ़ा गया? समाधान यह है कि मोक्ष के लिए अज्ञान निवर्तनीय है, इस विषय में सभी एकमत हैं, जो अज्ञान-निवर्तकार्थक 'मात्रा' शब्द से सूचित होता है। किन्तु ज्ञानी ज्ञेयरूप हो जाता है या ज्ञेय की समता को पाता है, इस विषय में अनेक मतभेद हैं। अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ ब्रह्मरूपता या ब्रह्मसामीप्यादि नहीं किया जा सकता। उसका सर्वसमर्थित अर्थ केवल इतना ही किया जा सकता है कि 'उपनिषद्' यानी जिज्ञासु का श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समीप जाना। तब तो उपनिषद् शब्द 'ब्रह्म-विद्या' का वाचक नहीं रहा। किन्तु मात्रा-शब्द 'ब्रह्म-विद्या' का वाचक होने में कोई आपत्ति नहीं। संभव है, आचार्यश्री के उक्त सम्मेलन में प्रस्तुत शास्त्र का उपदेश करते समय 'उपनिषद्' शब्द उपस्थित हुआ हो और उस पर मत-मतान्तरों के विवाद को टालने के लिए ही उन्होंने यह 'मात्रा' शब्द उठा लिया हो। इसका समुचित समाधान तो ऊपर के 'वस्तुतः' पक्ष से ही होता है।

'मात्रा' के व्युत्पादक इस ग्रन्थ में भी 'मात्रा' शब्द उपचरित है। अर्थात् गौण प्रयोग होता है।

'मात्रा' शब्द का द्वितीय अर्थ है 'कर्णभूषण'। प्रस्तुत मात्रा-शास्त्र आत्म-जिज्ञासु के कर्णों को सुशोभित करता है। वे कर्ण ही किस काम के, जिन्होंने आत्मस्वरूप-प्रतिपादक शब्द ही न सुने। फिर लौकिक कर्णभूषण केवल बाह्य देह के अलंकार होते हैं। पर यह कर्णभूषण मात्रा-शास्त्र तो जीव का आवागमन-दोष मिटाकर उसे सदा के लिए विभूषित कर देता है। इस तरह यह दूसरा अर्थ भी ठीक बैठता है। इसीलिए आचार्यश्री ने स्पष्ट कहा है :

"ऐसी मात्रा लै पहिरै कोइ।
आवागमन मिटावै सोइ॥"

वस्तुतः इसका रहस्य कुछ और है। बात यह है कि वैसे सभी सम्प्रदायों के सन्तों ने अपनी-अपनी वाणियों की रचना की। किन्तु किसीने यह 'मात्रा' नाम नहीं अपनाया। केवल उदासीन सन्तों ने ही इस नाम को महत्त्व दिया। कारण उदासीन सन्त, श्रौतमुनि वेदों के परम भक्त थे और वेद के एक मन्त्र में यह 'मात्रा' शब्द आता है। ऋग्वेद के १०म मण्डल के ७१वें सूक्त के ११वें मन्त्र में एक वाक्य है : 'यज्ञस्य मात्रां विनिमीत उ त्वः' अर्थात् (त्वः =) एक अध्वर्यु ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा यानी 'इति-कर्तव्यता' का निष्पादन करता है। यहाँ 'मात्रा' शब्द यज्ञ के प्रकार या स्वरूप (प्रयाज, अनुयाज आदि क्रियाकलाप) के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रकृत में जिस वाणी में साधु के कन्था-धारण आदि बाह्य व्यवहारों को प्रतीक बताकर ज्ञान, वैराग्यादि अन्तरंग साधन-कलाप का वर्णन है, वही साधु के वर्तन या आचरण का 'प्रकार' या स्वरूप है। अतः कर्तव्य-प्रकार वाचक वैदिक 'मात्रा' शब्द को उपर्युक्त तात्पर्य से उदासीन सन्तों ने अपनी वाणी के लिए सुनिश्चित कर लिया, जो श्रौतमुनियों की श्रौतता में एक कड़ी और जोड़ देता है। यही 'मात्रा' शब्द का गुरुगम्य रहस्य है।

आइये, अब इन मात्राओं के कतिपय अमृत-कणों से अपनी चित्त-भूमि को सिंचित करें, जिससे वह चरित्र-बोध की सस्य-सम्पत्ति के लिए उर्वरा बन जाय।

बूढ़े सिद्ध तपस्वी बालयोगी आचार्यश्री को प्रायः निर्जन वन में विचरता देखते थे। किन्तु आज उन्होंने अकस्मात् उलटा ही देखा। आज यह न केवल नगर में आ पहुँचा है, वरन् इस विराट् सभा की अध्यक्षता भी कर रहा है। अतएव आश्चर्यचकित हो अपनी वयोवृद्धता से उसे लजाते हुए-से उन्होंने प्रश्न किया:

कहु रे बाल !
किसने मूड़ा किसने मुड़ाया।
किसका भेजा नगरी आया॥ १॥

अर्थात् रे बालक ! बता तुझे किसने मूड़ा यानी किस आचार्य ने दीक्षा दी ? किसने मुड़ाया ? यानी तुझे इस दीक्षा की प्रेरणा किसने दी ? और किसकी प्रेरणा से तू पावन वन छोड़ इस नगरी में आ पहुँचा ?

आचार्य ने प्रत्यगात्मदर्शी-सुलभ धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ तपस्वियों की अवमानना पर ध्यान न देते हुए उत्तर दिया :

सद्गुरु मूड़ा लेख मुड़ाया।
गुरु का भेजा नगरी आया॥ २॥

अर्थात् मेरे दीक्षा-गुरु सद्गुरु हैं, ब्रह्मनिष्ठ अविनाशी मुनि हैं। मुझे 'विधि' ने ही इस चतुर्थाश्रम दीक्षा की प्रेरणा दी। अर्थात् श्रुति कहती है कि 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' यानी जिस समय वैराग्य हो जाय, उसी समय घर से निकलकर 'प्रव्रज्या' ग्रहण करें। उसके लिए एक-एक आश्रम पार कर जाने का कोई बन्धन नहीं। तीसरे प्रश्न का उत्तर है कि मेरे गुरुदेव ने मुझे यहाँ नगरी में भेजा है, यानी उन्हींकी आज्ञा से ही मैं यहाँ आया हूँ।[1]

प्रश्न है कि गुरु ने आचार्य को नगरी जाने की क्यों आज्ञा दी ? वहाँ भेजकर वे शिष्य से कौन-सा अपना काम करवाना चाहते थे ? अग्रिम चौपाई में आचार्यश्री बताते हैं :

चेतहु नगरी तारहु गाँव।
अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव॥ ३॥

अर्थात् नगर और ग्रामवासियों को मोहनिद्रा से जगाओ तथा संसार-सागर से पार कर दो। स्वयं सदैव अलक्ष्य पुरुष का निरन्तर नाम-स्मरण करते रहो। इस तरह उदासियों के लिए आचार्य तीन कर्तव्यों का संकेत करते हैं : १. जनता

---

१. यहाँ ज्ञातव्य है कि आचार्य 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' इसे साधनावस्था तक ही सीमित नहीं मानते। साथ ही 'पलाल इव धान्यार्थी गुरुशास्त्रादिकं त्यजेत्' को वे विधि न मानकर षष्ठ-सप्तम भूमिका के तत्त्वदर्शी की विवशता मात्र मानते हैं। अतः ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की गुरु के आज्ञापालन को निष्ठा उचित ही है।

को जगाना, २. तारना और ३. भगवन्नाम का स्मरण करना, कराना। नाम-स्मरण से वह बल मिलता है, जिससे विद्वान् भलीभाँति जगत् का कल्याण कर सकता है। इसीलिए गुरुदेव ने मुझे यहाँ नगर में भेजा, यह अर्थ तो इस विवरण से स्पष्ट ही है।

राजनैतिक स्तर पर इसका यह अर्थ होता है कि नगरवासियों को, जो प्रायः तरह-तरह के छल-छद्म में लिप्त रहते हैं, सावधान करो। गाँव की भोली-भाली जनता को, जिनके परिश्रम के बल पर नगरी की शोभा निर्भर है—फिर भी जिनका नगरवासी विदेशी विधर्मी शासक उन्मुक्त शोषण किये जा रहे हैं, उन्हें उबारो। इससे आचार्य का अटूट ग्राम-प्रेम झलक उठता है, जो उनकी श्रौतता में एक कड़ी और जोड़ता है। कारण वेद स्वयं कहता है कि गाँव के लोग सर्वथा हृष्ट-पुष्ट रहें, कोई भी रोगी, आतुर न हो—'विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्' (ऋग्वेद १।४४।१०)।

तीसरी आज्ञा आध्यात्मिक है। यानी इस प्रकार लोकसंग्रह करते हुए भी भगवान् के अधिष्ठान को सदा बनाये रखो और वह है, अलक्ष्य पुरुष का नाम-स्मरण।

कोई शिष्य की इस उक्ति में कि गुरु [स्वयं यह काम न कर] शिष्य से यह करवाना चाहता है, उसकी आत्मगौरव की भावना न समझ ले, इसलिए आचार्यश्री आगे कहते हैं :

गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगम का पंथ बताया ॥ ४ ॥

अर्थात् मेरे गुरु दीक्षागुरु अविनाशी मुनि ने लीलामात्र से इस जगत् की सृष्टि की और ईश्वर-प्राप्ति का वेद-शास्त्रसम्मत मार्ग मुझे दिखाया। इतनी महान् सामर्थ्य रखते हैं हमारे गुरुदेव ! 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने' आदि वचन से ईश्वर और गुरु को आचार्य एकरूप मानते हैं तथा ईश्वर का जगल्लीला करना 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (२।१।३३) इस ब्रह्मसूत्र से स्पष्ट है।

परिचयाध्याय के बाद अब योग-संभाराध्याय के कुछ नमूने लीजिये। नाथ-पन्थी किन्हीं सिद्धों के योगसामग्री-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में यह अध्याय आचार्य-श्री ने बताया है। साधु की बहिरंग सामग्री कन्था, टोपी, लँगोटी, सेली, मेखला आदि स्थूल वस्तुओं को अध्यात्म में रँगकर आचार्य ने प्रथम बहिरंग खण्ड में श्रृंखलाबद्ध सुन्दर विन्यास किया है। वे कहते हैं :

ज्ञान की गोदड़ी ॥ ५ ॥

अर्थात् सब ज्ञानों में यह श्रेष्ठ ज्ञान कि 'भेदात्मक विद्वेष का नाशक ब्रह्म स्व-स्वरूप में स्थित है' ही गोदड़ी यानी कन्था है। कन्था शरीर को जाड्य से (जाड़े से) बचाती है तो ज्ञान जाड्य यानी अज्ञान से आत्मा को बचाता है। आचार्यश्री का अभिप्राय है कि इन सब योग-संभारों का धारण योगी, साधक के लिए आवश्यक है, किन्तु इसीसे प्रव्रज्या की इति न समझ लें। उन्हें आध्यात्मिक पदार्थ के प्रतीक के रूप में देखना चाहिए। अर्थात् यदि साधक केवल कन्था डाल जड़वत् बैठे और पूर्वोक्त ज्ञान का अनुसन्धान न करे तो वह कन्था व्यर्थ है। यही क्रम आगे के संभारों में जानना चाहिए।

साधक के लिए जैसे ब्रह्म के स्व-स्वरूप-प्रतिष्ठा का ज्ञान अपेक्षित है, वैसे ही—

खिमा की टोपी ॥ ६ ॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्व सहना भी आवश्यक है। यह क्षमा ही उसकी टोपी है। जैसे टोपी के विना कन्था की शोभा नहीं, वैसे ही द्वन्द्व-क्षमा (सहिष्णुता) के विना ज्ञान व्यर्थ है। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' कहा ही है।

यत का आड़बन्द ॥ ७ ॥

अर्थात् यम-नियम ही शास्त्रीय कटिबन्ध हैं, जो इन्द्रियरूप घोड़ों का नियमन करते हैं।

शील लँगोटो ॥ ८ ॥

अर्थात् धर्मशास्त्रोक्त १३ प्रकार का शील ही कौपीन है।

मर्यादा मेखला लै गले मेली ॥ १५ ॥

भ्रूण-हत्या, ब्रह्म-हत्या, परतल्प-गमन, पाप करके झूठ बोलना, बार-बार दुष्कर्म करना, मद्यपान और चोरी—इन सात बातों से निवृत्ति (बचना) सात मर्यादाएँ हैं। साधक ने सात मर्यादारूपी कफनी[1] गले में डाल रखी है। एक बार लौकिक कफनी न रही, तो भी हर्ज नहीं, पर यह मर्यादारूपी कफनी न रही तो क्या होगा? वेद के शब्दों में सुनिये : 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्' (ऋ० १०।५।६)। अर्थात् ऋषियों ने सात मर्यादाएँ तय कर दी हैं, इनमें एक का भी कोई उल्लंघन करता है तो वह 'अंहुरः' यानी पापी बन जाता है।

---

१. सन्तों की भाषा में मेखला 'कफनी' का पारिभाषिक नाम है।

अब अन्तरंग योग-संभार देखिये :

त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई।
दुःख सुख धूनी देहि जलाई ॥ ३१ ॥

अर्थात् शरीररूप इस धूनी में त्रिगुणात्मक अन्तःकरणरूप चकमक पत्थर पर ध्यानरूप लौह का आघात कर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो और सुख-दुःख और उनके बीज संचित कर्मों को जला डालो (जिससे भावी संसार की संभावना न रहे)। इस तरह योग-संभारान्तर्गत इस धूनी का कितना मार्मिक रहस्य है! 'श्वेताश्वतर' श्रुति भी आचार्य की इस उक्ति की पुष्टि करती है :

'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवित् ॥' (१।१४)

योगसंभाराध्याय का उपसंहार करते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

अमृत प्याला उदक मन दिया।
जो पीवे सो सीतल भया ॥ ३५ ॥

अर्थात् शुद्ध मन अमृत यानी ब्रह्मरस का प्याला है। महात्मा शुद्ध मन से ब्रह्मरस का पान करते हैं। उस प्याले में गुरु ने बोधामृत उँड़ेला है। इसे जो पीता है, वह शीतल, त्रिविध तापों से शून्य, जीवन्मुक्त बन जाता है।

तीसरे योगचर्याध्याय में प्रथम हठयोग खण्ड योगाभ्यासी-गम्य है। साधारण जनों के लिए यहाँ उसके निरूपण में बड़े विस्तार की आवश्यकता होगी। अतः केवल प्राणायामबोधक इस खण्ड की पहली चौपाई ही देखिये।

इतनी छोटी आयु में किस प्रकार सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं, यह कुतूहल हृदय में रखकर सिद्धों ने योगक्रिया-सम्बन्धी प्रश्न पूछे। उन्हींके उत्तररूप में आचार्य ने यह अध्याय बताया है।

इडा में आवे पिंगला में धावे।
सुषमन के घर सहज समावे ॥ ३६ ॥

चौपाई में प्राणायाम की साधारण विधि वर्णित है। अर्थात् इडा नाड़ी द्वारा विधिपूर्वक आकाशस्थित शुद्ध वायु को पिये और कुछ भीतर रोकें (पूरक करें)। भीतर रुकी वायु को पिंगला द्वारा 'धावे' यानी बाहर की ओर प्रवाहित करें (रेचक करें)। तदनन्तर विपरीत गति से वायु का पूरण और रेचन करें। अर्थात् पिंगला से पूरक और इडा से रेचक करें। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुल जाय, तो उन सुषुम्ना के 'घर' यानी सुषुम्ना में वायु को

चढ़ाकर अवरुद्ध करें (कुम्भक करें)। इससे साधक सहजावस्था में स्थित हो जाता है।

निराश मठ निरन्तर ध्यान ॥ ३७ ॥

अर्थात् इस प्रकार आशाविनिर्मुक्त मन-मठ में निवास करता हुआ योगी समाधि द्वारा निरन्तर आत्मा का ध्यान करे।

राजयोग-खण्ड में तो आचार्यश्री मुमुक्षुओं को यह उपदेश देते हुए कि मन के साथ युद्ध कर उसे मारो यानी वश में लाओ, तथा उस पर सवारी कसकर संसाररूप विषम दुर्ग तोड़ दो और अपने अभयपद पर पहुँच जाओ। प्रश्न के उत्तररूप में आचार्य बताते हैं कि मैं ऐसे अभयपद पर पहुँच गया और विजेताओं द्वारा शंख-नगाड़े बजाये गये।

'विषम गढ़ तोड़ निर्भौ घर आया।
नौबत शंख नगाड़ा बाया ॥'

इसी प्रसंग में युद्धोपयोगी आध्यात्मिक उपकरण भी बताते हुए वे कहते हैं :

नाम की पाखर ॥ ४५ ॥

अर्थात् नाम-जप का दृढ़ कवच पहन लो।

पवन का घोड़ा ॥ ४६ ॥

प्राणरूप घोड़े को भलीभाँति वश में कर रखो।

निः कर्म जीन ॥ ४७ ॥

निष्काम कर्मानुष्ठान का जीन उस घोड़े पर डाल दो।

तत्त्व कर जोड़ा ॥ ४८ ॥

परमतत्त्व ईश्वर ही अश्व से जीन जोड़ने की चमड़े की पट्टी (वरत्रा) है।

चतुर्थ आचाराध्याय में आचार्यश्री ने अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार पर प्रकाश डाला है। औदास्य मार्ग की दीक्षा के समय साधक को पूर्ववेष का त्याग और वेषान्तर का ग्रहण करना पड़ता है। इस अध्याय के तीन खण्डों में से प्रथम खण्ड में इसी पूर्ववेष के त्याग का निरूपण है, अर्थात् शिखा, यज्ञोपवीत, धोती, माला, गायत्री आदि पूर्ववेष की बाह्य वस्तुओं को त्याग करने के लिए उनका अन्तरारोप बताया गया है।

दूसरे खण्ड में छापा, पीताम्बर, मृगछाला आदि अन्य सम्प्रदायों के चिह्नों को उनके बाह्य रूप में धारण न कर आन्तरिक रूप में उनके धारण का समर्थन किया है। इस तरह अपनी साम्प्रदायिक वेष-भूषा धारण का निर्देश करते हुए भी पराचारनिन्दा से दूर रहने का प्रशंसनीय मार्ग अपनाया गया है।

तृतीय उत्तराचार खण्ड में वेषान्तर-ग्रहण बताया गया है। अर्थात् स्व-सम्प्रदाय का वेष तोड़ा (जटा बाँधने का धागा), चूड़ा (तोड़ा से बँधा अँगूठी जैसा साम्प्रदायिक चिह्न-विशेष), पीतल या लोहे की जंजीर उदासीन महात्मा धारण करें, यह बताया गया है। किन्तु अन्त में यह भी कहा गया है कि सिर पर जटाजूट धारण करे या मुण्डन कर परमहंस होकर विचरण करना चाहें तो वैसा करने की भी छूट है। इसका कारण भी श्रौत ही है। श्रुति में 'कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च' (यजुः १६।२९) दोनों रूप मिलते हैं। आइये, इस अध्याय की भी एक चौपाई का नमूना देखें।

उन दिनों प्रायः नया साधु मिलने पर उससे तीन प्रश्न पूछने की प्रथा थी। आचार्य से भी सन्तों ने वैसे ही प्रश्न किये। वे तीन प्रश्न हैं : १. तुम्हारा गुरु कौन है ? २. तुम्हारा वेद क्या है ? ३. तुम्हारी विद्या कौन-सी है ? प्रश्नों का निर्देश छोड़कर एक ही चौपाई में श्री आचार्य ने तीनों का उत्तर दिया है, साथ ही अपने भक्ति-ज्ञान समुच्चयवाद के सिद्धान्त का भी सूचन कर दिया है। देखिये :

गुरु अविनाशी सूषम वेद
निर्वाण विद्या अपार भेद ॥ ५७ ॥

अर्थात् मेरे गुरु अविनाशी मुनि हैं। मेरा वेद वेदों में सूक्ष्म (सूषम) वेद सामवेद है।[1] मेरी विद्या (छान्दोग्य-उपनिषद् के ७म अध्याय में उक्त) 'निर्वाण-विद्या' है। इसीको वहाँ 'भूमविद्या' कहा गया है, जिसका उपदेश श्री सनत्कुमार ने नारदजी को दिया। छान्दोग्य सामवेद की उपनिषद् मानी गयी है। इसलिए

---

१. ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या विभिन्न तीन मतों के अनुसार निम्नलिखित है : १०४६७, १०५८० और १०५८९। वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र १९७५ हैं। अथर्ववेद के मन्त्र ६००० हैं। किन्तु सामवेद कौथुमी शाखा के केवल १८१० मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेदों में सामवेद आकारकृत सूक्ष्म है। अतः सूषम वेद से सामवेद का ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार साम गानप्रधान होने से और गान में मन्द्र (सूक्ष्म, गंभीर) स्वर को ही प्रथम स्थान दिया जाने से उसके अंगो सामवेद का सूक्ष्म शब्द से ग्रहण उचित ही है। तीसरा समर्थन यह भी किया जा सकता है कि भगवान् ने विभूति-योग में 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर अपनी विभूतियों में सामवेद की गणना की है। सूक्ष्म की विभूति सूक्ष्मतर ही होगी, स्थूल नहीं, यह स्पष्ट है। इस दृष्टि से भी सामवेद को 'सूक्ष्म' कहना ठीक है।

सामवेदी आचार्य की विद्या निर्वाण-विद्या होना और छान्दोग्य का उपनिषद् होना उचित ही है। अपार भेद = सामवेद के भेद अपार हैं। 'सहस्रवर्त्मा: सामवेद:' सामवेद की हजार शाखाएँ बतायी जाती हैं। अत: इस वेद को 'अपार भेद' कहना शाखाबाहुल्यकृत ही समझना चाहिए।

यहाँ ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त तीन प्रश्नों के उत्तर में आचार्य ने 'गुरु अविनाशी' बताया है और प्रारम्भ में 'किसका भेजा नगरी आया ?' के उत्तर में 'गुरु अविनाशी खेल रचाया' कहा गया है। अत: प्रश्नभेद से पुनरुक्ति नहीं है।

प्रकारान्तर से इसका यह भी अर्थ होता है कि गुरु अविनाशी सूक्ष्म और स्वसंवेद्य ब्रह्म का साक्षात्कार किये हुए हैं। अतएव उन्होंने हमें भी अभय पद प्राप्त करा दिया है। इसी सूक्ष्मतत्त्व को जानने की विद्या 'परा' निर्वाण-दायिनी विद्या नाम से कही गयी है। उसके साध्यांश में किसी प्रकार का भेद न होने पर भी साधनांश में अपार भेद है।

तात्पर्य यह कि उस विद्या का साध्य एक मोक्ष ही है, किन्तु उसका साधन कोई ज्ञान मानता है, कोई कर्म तो कोई भक्ति आदि। आचार्यश्री भक्ति-ज्ञान-समुच्चयवादी हैं, यही सूचित करने के लिए कहा है, 'अपार भेद।'

इस संक्षिप्त विवेचन से पाठकों को मात्रा-शास्त्र की रूपरेखा समझ में आ गयी होगी। यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि आचार्य ने इसमें कोई नयी बात नहीं कही, प्रत्युत श्रुत्युक्त आत्मविज्ञान की ही सारी प्रक्रिया अपने अनुभव के आलोक से प्रकाशित कर दी है। उदासीन साधुओं के लिए, जो विशुद्ध आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए चल पड़े हैं, यह कितनो उपादेय है, यह पृथक् बताने की आवश्यकता नहीं।

बड़ा ही वह शुभ अवसर रहा, जब मुनियों की सभा में आचार्य से यह प्रश्न पूछा गया, जिसके उत्तर में उन्होंने अपने अनुभव का सार इस मात्रा-शास्त्र के रूप में संसार के सम्मुख प्रकट किया। आचार्य के शब्दों में जो इस 'मात्रा-शास्त्र' का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेगा, तत्त्व-साक्षात्कार कर वह आवागमन के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जायगा।

आचार्य श्रीचन्द्र के परिचय के प्रसंग में उनके मात्रा-शास्त्र का निरूपण न करना उनके परिचय को अधूरा छोड़ना होगा। अतएव इस प्रकरण में संक्षेप में इसका वर्णन करने के बाद अब अग्रिम प्रकरण में आचार्य श्रीचन्द्र के उत्तरवर्ती तीन सौ वर्षों की मुनि-परम्परा का वर्णन किया जा रहा है। उसके बाद प्रस्तुत चरित्र का श्रीगणेश होगा। ●

३

तीन सौ वर्षों के पन्द्रह परवर्ती आचार्य

जगद्गुरु आचार्य भगवान् श्रीचन्द्र के आठ प्रमुख शिष्य हुए : १. अलिमत्त मुनि (अलमस्त), २. गोविन्ददेव, ३. पुष्पदेव, ४. वालहास मुनि, ५. सोमदेव, ६. भक्त भगवान्, ७. कर्ता हरराय और ८. गुरुदत्तजी (बाबा गुरुदत्ता)। इनमें भी प्रथम चार शिष्य आचार्य की सेवा में अधिक रहे, अतः वे उदासीन-सम्प्रदाय में विशेष आदरणीय हैं।

सम्प्रदाय की कुल १० शाखाएँ हैं[1] : चार अग्निकुण्ड (धूने) और छह पुरस्कार (बक्सीसें)। चार धूनों के नाम ये हैं : १. अलमस्त धूना, २. गोविन्ददेव धूना, ३. पुष्पदेव धूना, ४. बालहास धूना। और छह बक्सीसें

---

१. इनमें सात शाखाएँ प्रधान हैं। उदासीनों में दो अखाड़े हैं : १. पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन और २. पंचायती नया अखाड़ा उदासीन। बड़े अखाड़े में चार महन्त उदासीन होते हैं : दो धूनों के (अलमस्त धूना और बालहास धूना) और दो बक्सीसों के (भक्त भगवान् और मीहां साहब)। गोविन्द साहब धूने का साधु भी महन्त हो सकता है।

पंचायती नया अखाड़ा उदासीन में भी चार महन्त होते हैं। इस अखाड़े का केवल गुरु संगतदेव शाखा से सम्बन्ध है।

प्रतीत होता है कि उदासीन-सम्प्रदाय के आदिपुरुष सनकादि की दृष्टि से ही 'चार' संख्या को प्रधानता दी गयी है। अथवा श्रौत-सम्प्रदाय होने के कारण चार वेदों के प्रतीक रूप में 'चार' संख्या रखी गयी हो।

इस तरह चार धूनं और पाँच बक्सीसों का सम्बन्ध बड़ा अखाड़ा उदासीन से है और नया अखाड़ा उदासीन में केवल एक बक्सीस का सम्बन्ध है। मीहां साहब बक्सीस का गोविन्ददेव धूने से सम्बन्ध है।

मीहाँ साहब के पाँचवें स्थान में निर्वाण प्रीतमदासजी हुए, जिन्होंने संवत् १८४३ में उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा (पंच-परमेश्वर) की व्यवस्थित रूपरेखा बनायी। अखाड़े की स्थापना तो जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य के रहते ही हो चुकी थी। संवत् १८४१ में अमृतसर सरोवर में जल लाने के लिए श्री प्रीतमदासजी ने नहर का निर्माण करवाया था।

ये हैं : १. भक्त भगवान्, २. मोहां साहब (गुरु रामदेव या मेघमुनि), ३. गुरु संगतदेव (सच्ची दाढ़ी या सत्यश्मश्रू), ४. वक्सीस सुस्थिरानन्द (सूतरानन्द या सुथरे शाह), ५. दीवाना वक्सीस और ६. अजीतमल वक्सीस[1]।

प्रस्तुत चरित्रनायक का सम्बन्ध वालहास-शाखा से है। अतः उसी शाखा के गत तीन सौ वर्षों के १५ परवर्ती आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है। ज्ञातव्य है कि इनमें प्रथम पाँच विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में, छह उन्नीसवीं शताब्दी में और चार बीसवीं शताब्दी में हुए। इन आचार्यों के नाम निम्नलिखित हैं :

"[1]वालाहासः [2]पूर्णदासो [3]दयालुर्दास एव च।
[4]मानदासस्तथा [5]सेवादासः प्रोक्तस्तु पञ्चमः।
अष्टादशशताब्द्यां वै जाता एते मुनीश्वराः॥
[6]दयारामो गुरुः श्रीमान् [7]दासो नारायणस्तथा।
[8]नन्दाजी [9]गुरुदासश्च [10]भगवद्दास एव च॥
[11]भक्तरामौ महातेजाः षडैते मुनयोऽमलाः।
ऊनविंशशताब्द्यां वै सम्भूता लोकशिक्षकाः॥
[12]श्यामदासो महाज्ञानी [13]गोपोरामस्ततः परम्।
[14]वैद्यः श्रीसुन्दरो दासो [15]रामानन्दो यतीश्वरः॥
अस्मच्चरित्रनेतॄणां यो गुरुः प्रथितो भुवि।
प्राप्य विंशशताब्दि वै चत्वारो मुनयोऽभवन्॥
अष्टादशशताब्दीत आविंशशतमध्यगाः।
एते पञ्चदशाचार्या वालहासमतानुगाः॥"

वालहास मुनि : प्रस्तुत शाखा के प्रवर्तक श्री वालहास मुनि कमलासन या अलिमत्त मुनि के अनुज थे, जो भगवान् श्रीचन्द्राचार्य के दिव्यशक्ति-सम्पन्न अधिकारी शिष्य थे। आप अलि (भ्रमर) की तरह भगवद्ध्यानरूप मधु के पान से मत्त रहते, अतएव आपका 'अलिमत्त' (अलमस्त) नाम पड़ा। अलिमत्त मुनि के अनुज श्री वालहास मुनि का जन्म संवत् १६२१ माघ शुक्ला १०मी को काश्मीर के श्रीनगर में हुआ। इनके पिता गौड़ ब्राह्मण श्री हरदत्त कौल और माता श्री प्रभावती थीं। आप संवत् १६५० से पंजाब में जगद्गुरु श्रीचन्द्रा-

---

१. इनके विवरण के लिए द्रष्टव्य : श्रौतमुनि-चरितामृत।

चार्य की सेवा में रहने लगे और उसी वर्ष कार्तिक पूर्णिमा को आपने आचार्य से उदासीन-सम्प्रदाय की दीक्षा ली।

वस्तुतः इनका 'बालहास' नाम तो एक अद्‌भुत घटना से पड़ा। पहले का नाम था 'बालकृष्ण'। जिस विद्यालय में भगवान् श्रीचन्द्र ने वेद-वेदांग का स्वाध्याय किया, वहीं बालकृष्ण ने भी शिक्षा पायी। वे अत्यन्त कुशाग्रमति, विनम्र और गंभीर-प्रकृति थे। शास्त्रीय विषयों की चर्चा में बड़े कुशल थे। दार्शनिक सिद्धान्तों के गूढ़तम प्रश्न इतने सहज सुलझा देते कि दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती। कभी-कभी घण्टों एक ही जगह ध्यानस्थ बैठ कितने ही जटिल प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ निकालते। आपके सहपाठी छात्र आपकी इतनी तीव्र बुद्धि देख चकित थे। आपसे एक ही पूर्वपक्ष के अनेक समाधान सुनकर आपके आचार्य भी गद्‌गद हो उठते।

एक दिन की बात है। किसी बड़े ऊँचे मकान की छत पर बैठ बालकृष्ण किसी गहन विषय पर सोच रहे थे। बहुत देर बाद उठकर उसी विचार की धुन में इधर-उधर टहलने लगे। दुर्दैववश पैर फिसला और धड़ाम से एकदम नीचे आ गिरे और गिरने के साथ ही आपके प्राण-पखेरू उड़ गये।

साथी छात्र शोक-विह्वल हो गये। उन्होंने जाकर भगवान् को यह दुःखद समाचार सुनाया। शीघ्र विश्वास न हुआ और भगवान् बोल उठे : 'नहीं, वह मरा नहीं है, आप लोगों से विनोद में श्वास रोके पड़ा होगा।' सहपाठी छात्रों ने कहा : 'गुरुदेव, आज्ञा दें तो उसका शव यहाँ ले आयें। फिर तो विश्वास हो जायगा न ?' भगवान् ने आज्ञा दी और साथी बालकृष्ण का शव उठा लाये।

इधर बालकृष्ण की माता प्रभावती को जब इनके गिरने का समाचार मिला, तो उसने मन-ही-मन तय कर लिया कि 'यदि मेरा बाल सही-सलामत रहा तो इसे मुनि को सौंप दूँगी। बालकृष्ण तो कब से भगवान् की सेवा में पहुँचना चाहते थे, किन्तु माता की आज्ञा न मिलने से अब तक रुके रहे।

छात्रों ने शव भगवान् के समीप रखकर कहा : 'देखिये भगवन्, इसका शरीर तो बल्कुल ठण्डा पड़ गया है।' भगवान् ने कहा : 'वृथा अभद्र क्यों बोल रहे हो ? देखो, बाल तो आप लोगों की बातें सुन-सुनकर हँस रहा है। जरा मुँह की ओर तो निहारो।' और सचमुच बालकृष्ण मुस्करा रहा था।

साथियों के हर्ष का ठिकाना न रहा। माता भी भगवान् के पास दौड़ी-दौड़ी आयी और यह दृश्य देख 'बालहास' कहकर आँसू बहाती हुई अपने लाड़ले के गले लिपट गयी। दूसरे ही क्षण सभी भगवान् के चरणों पर नत-मस्तक थे। तभी से इनका 'बालहास' नाम पड़ा।

फिर क्या था ? माता ने अपनी संकल्पित आज्ञा की वैखरी से पुष्टि कर दी। वालहास का मार्ग उन्मुक्त हो गया, उसका चिरमनोरथ पूर्ण हुआ। बार-बार विनम्र प्रार्थना करने पर भगवान् ने भी उसे अपना लिया।

आचार्य बालहास मुनि जगद्गुरु की आज्ञा से संवत् १६९४ में चैत्र शुक्ला ९मी रामनवमी के दिन करतारपुर मठ के अध्यक्ष बने। किन्तु चार ही वर्ष बाद अपने एक शिष्य श्री लालदास को उस स्थान का महन्त बनाकर स्वयं पंजाब, हरिद्वार होते हुए देहरादून आ बसे। संवत् १७१७ में आप ब्रह्मलीन हुए।

अभी तक देहरादून में आपकी समाधि है, जहाँ नित्य-नियम से पूजा-अर्चा हुआ करती है।

बाबा पूर्णदास : श्री बालहास मुनि के सर्वप्रथम शिष्य पूर्णदासजी हुए। वे अपने गुरु की सेवा में देहरादून में ही जमे रहे, कहीं नहीं गये। वहीं उनका देहावसान भी हुआ। उनकी समाधि भी देहरादून में बनी है। इन पंक्तियों की लेखिका को गुरु और शिष्य दोनों की समाधियों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त है।

श्रेष्ठ सेवक गुरु रामराय और उनकी परम्परा

देहरादून में आचार्य बालहास मुनि के अनेक सेवक बनें। सप्तम सिखगुरु हररायजी के ज्येष्ठ पुत्र गुरु रामराय आचार्य की कीर्ति सुन दर्शनार्थ आये और अत्यन्त प्रभावित हो उनसे दीक्षा की प्रार्थना की। उचित अधिकारी देख मुनि-राज ने उन्हें अनुगृहीत किया।

गुरु रामराय अत्यन्त शक्तिशाली थे। देहली के बादशाह औरंगजेब की उन पर विशेष श्रद्धा थी। एक बार इनके पिता गुरु हररायजी को बादशाह ने देहली बुलाया। किन्तु वे स्वयं नहीं गये और अपने पुत्र रामराय को प्रतिनिधि बनाकर भेजा। सिख-इतिहास लिखता है कि इन्होंने वहाँ पहुँचकर बादशाह औरंगजेब को ७२ चमत्कार दिखलाये, जिनसे वह अत्यन्त प्रभावित हुआ। किन्तु इनकी अनुपस्थिति में विरोधियों ने उल्टी-सीधी कहकर पिता का मन पुत्र पर से हटा दिया। रामराय को इसका पता चला और उन्होंने ऐसे विक्षेप-स्थल कीर्तपुर में पिता के पास वापस न जाने का तय किया। वे देहली से सीधे देहरादून चले आये।

गुरु रामराय पहले से दिव्य-शक्ति-सम्पन्न थे ही। अब आचार्य बालहास मुनि के निकट रहकर उन्होंने योग-साधना में भी विशेष प्रगति पा ली। तत्कालीन जनता पर देहली की घटनाओं से उनका प्रभाव था ही, गुरुदेव बालहास की कृपा ने उसमें चार चाँद लगा दिये। यह घटना सोने में सुगन्धि का काम कर गयी।

३

देहरादून में रामराय के अनुयायियों ने 'दरबार गुरु रामराय' की स्थापना की। गुरु रामरायजी निःसन्तान थे। अतः उनके पश्चात् उनकी धर्मपत्नी माता पंजाब-कुँवरी ने बालहास-शाखा के ही एक सन्त को गोद लेकर दरबार की महन्ती सौंप दी। तब से 'दरबार गुरु रामराय' के महन्त बालहास-शाखा के ही होते आये हैं। इसी दरबार के सुप्रख्यात महन्त स्वर्गीय लछमनदासजी महाराज हुए, जो परोपकारी, बाल-ब्रह्मचारी, शिष्टता की मूर्ति एवं उदार-चरित थे। पंजाब के सभी राजा-महाराजा उनके शिष्य थे।

गुरुदासजी : पूर्णदासजी के बाद परम्परा के ६ आचार्यों का विवरण उपलब्ध नहीं है। हाँ, बालहास मुनि से ९वें आचार्य श्री गुरुदासजी के सम्बन्ध में अनेक अद्भुत वृत्तान्त मिलते हैं। वे विशिष्ट सिद्ध पुरुष थे। उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र सिन्ध का शिकारपुर बनाया। १९वीं शताब्दी के इन महात्मा की स्मृति में वहाँ 'खटवाली धर्मशाला' बनी है।

ये प्रायः खाट पर ही बैठते और लेटे रहते। इसीलिए इनका नाम 'बाबा खटवाला' पड़ गया।[1] महाराज कहीं पैरों से चलकर नहीं जाते थे। प्रेमी, भक्त उन्हें खाट पर ही लिवा जाते।

कुटिया में गंगा का प्रादुर्भाव

महात्मा गुरुदास का एक अद्भुत चमत्कार प्रसिद्ध है। हरिद्वार में कुम्भ पर्व पड़ रहा था। कुम्भ के लिए हरिद्वार जाती भक्त-मण्डली को देख महात्माजी के सेवक सन्त के मन में विचार उठा कि यदि गुरुदेव आज्ञा दें तो मैं भी कुम्भ नहा आऊँ। उन दिनों शिकारपुर से हरिद्वार जाने के लिए ट्रेन आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी। अतएव बेचारा दुविधा में पड़ गया। सोचने लगा कि जाऊँगा तो गुरु-सेवा में विघ्न पड़ेगा और न जाऊँगा तो मेरा कुम्भ का स्नान रह जायगा।

सर्वान्तर्यामी गुरुदेव मन की समझ गये। बोले : 'क्यों घबड़ा रहा है। जनता भले ही कुम्भ नहाने हरिद्वार जाय। तेरे लिए तो यहीं गंगा माता आ जायगी।'

लोग हरिद्वार चल दिये। सन्त गुरुदेव की सेवा में ही लगा रहा। जब कुम्भ पर्व का दिन आया, तो गुरुदेव ने कहा : 'जा, कुटिया में नहा आ।'

---

१. अब भी इनके उत्तराधिकारी इसी नाम से पुकारे जाते हैं। जिस खाट पर श्री गुरुदासजी सोया करते, जनता उसे पूजती है। श्रद्धालु उस खाट के पाये के धोवन से अपने अनेक उपद्रव एवं व्याधियाँ दूर कर लेते हैं।

शिष्य कुटिया में पहुँचा तो देखता ही रह गया। भागीरथी का पावन प्रवाह कुटिया को हर की पौड़ी के रूप में परिवर्तित कर रहा था। गुरु की अद्‌भुत सामर्थ्य और असीम कृपा से गद्‌गद हो सन्त ने उस जल-प्रवाह में गोता लगाया और कुम्भ-स्नान से अपने को कृतार्थ कर लिया। सन्त के स्नान के बाद कुटिया पुनः पूर्ववत् हो गयी।

यात्रा से वापस लौटने पर लोग महाराज के दर्शनार्थ आये। सेवाधारी सन्त भीतर किसी विशेष कार्य में व्यस्त था। उसे महात्मा के पास न पाकर आये हुए भक्त पूछने लगे : 'क्या आपके सेवाधारी सन्त अभी नहीं लौटे? मेष-संक्रमण के दिन तो उन्हें हम लोगों ने हरिद्वार में कुम्भ-स्नान करते देखा था।' महाराज मुस्कराये। भीतर बैठा सेवाधारी सन्त साश्चर्य गद्‌गद और पुलकित हो उठा!

जिस कुटिया में गंगा माता का प्रादुर्भाव हुआ था, श्रद्धालु जनता ने वहाँ श्री गंगा माता की मूर्ति प्रतिष्ठापित कर दी है। जो भावुक किसी कारणवश कुम्भ पर गंगा-स्नानार्थ नहीं पहुँच पाते, वे कुटिया में स्थित गंगामूर्ति के पाँव पखार-कर उसी जल के प्रोक्षण से कुम्भ-स्नान का समाधान मान लेते हैं। महात्मा गुरुदासजी महाराज सिन्ध के बच्चे-बच्चे की जबान पर थे।

भगवान्‌दास : महात्मा गुरुदासजी के शिष्य और परवर्ती आचार्य-परम्परा के १०वें आचार्य श्री भगवान्‌दासजी देहरादून में ही रह गये। वे सिन्ध नहीं गये। सम्भव है, वे वहाँ अपने दादा-गुरु और परम्परा से ८वें आचार्य श्री नन्दाजी की सेवा में लगे रहे हों। आप भी १६वीं शताब्दी में हुए।

भक्तरामजी : भगवान्‌दासजी के शिष्य और परम्परा से ११वें आचार्य श्री भक्तरामजी १९वीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य हैं। आपने ५०-६० सन्तों को लेकर चारों धाम की यात्रा की। अपने दादा-गुरु श्री गुरुदासजी और गुरु भगवान्‌दासजी की तरह आप भी अमरनाथ की यात्रा में जाते हुए मटन (मार्तण्ड-नगर) में ठहरे थे।

भक्तरामजी देहरादून से पंजाब गये और वहाँ राजगढ़ (लुधियाना) गाँव में उदासीन-आश्रम की स्थापना की। आपके समय इस आश्रम में सैकड़ों भजनानन्दी, निर्वाण सन्त रहा करते थे।

श्यामदासजी : विक्रम की २०वीं शताब्दी में श्री भक्तरामजी के शिष्य और परम्परा से १२वें आचार्य महाराज श्यामदासजी हुए। वयोवृद्धों से सुना जाता है कि आप शरीर से बड़े ही हृष्ट-पुष्ट थे। साथ के सन्तों को भजन के साथ

आप व्यायाम की भी शिक्षा देते।[1] श्यामदासजी महाराज की समाधि लुधियाना के राजगढ़ गाँव में है। वहाँ की जनता अब भी सश्रद्ध उसे पूजती है। श्यामदासजी तपस्वी, योगी और चमत्कारी सन्त थे।

गोपीरामजी : बीसवीं सदी के दूसरे महात्मा और परम्परा से १३वें आचार्य श्री श्यामदासजी के शिष्य महात्मा गोपीरामजी भी साधारण प्रतापी न थे। लगभग २५० निर्वाण सन्त उनके साथ रहा करते। पंजाब के मालवा, दुआवा, माझा आदि स्थानों में इनकी जमात घूमती रहती। लाखों की संख्या में इनके सेवक थे। वहाँ ऐसा एक भी गाँव न था, जो गोपीरामजी की कीर्ति से परिचित न हो। उनका नाम सुनते ही लोगों के मुख पर प्रसन्नता छा जाती और हृदय में प्रेम हिलोरे लेने लगता।

सुन्दरदासजी वैद्य : परम्परा में १४वें आचार्य और श्री महात्मा गोपीरामजी के शिष्य महात्मा श्री सुन्दरदासजी वैद्य हुए। उन दिनों एक ओर विदेशी शासक अपने शस्त्र-वल पर निःशस्त्र भारतीयों का दमन कर रहे थे, तो दूसरी ओर ईसाई मिशनरी चिकित्सा, सेवा और विद्या के व्याज से भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति को जड़-मूल उखाड़ फेंकने तथा सबको ईसाई वनाने के कूट प्रयत्न में सक्रिय थे। जगहं-जगह उनके दवाखाने, सेवालय स्थापित थे और उनके माध्यम से वे अपनी यह दुरभिसन्धि सफल करना चाहते थे। महाराज सुन्दरदासजी का कार्यकाल इन्हीं दिनों पड़ता है।

वैसे तो संवत् १९१४ (सन् १८५७) के विद्रोह के बाद जब भारतीय जनता विदेशी शासकों से बुरी तरह त्रस्त हो उठी, तो तभी से कतिपय उदासीन महात्माओं ने तरह-तरह के कार्यों से उसे बचाया और धर्म-प्रचार का कार्य करते रहे। आपने मठ में निःशुल्क पाठशालाएँ चलायीं और पढ़े-लिखे सन्तों को प्रान्तीय भाषाएँ, हिन्दी, उर्दू सिखाने के काम में लगा दिया। कुछ सन्तों ने आयुर्वेदिक पद्धति की चिकित्सा द्वारा जनसाधारण की सेवा शुरू कर दी, तो कुछ रामायण, गीता, भागवत, पुराण आदि की कथाएँ सुनाते जनता को धर्म-पथ पर

१. यह भी पता चलता है कि आप साथ के सन्तों को 'गतका' आदि खेल भी सिखाते थे। पंजाब में 'गतका' एक प्रकार की शस्त्र-विद्या है, जिसका ज्ञाता पुरुष अकेले ही सैकड़ों विरोधियों का सामना कर सकता है। इस विद्या का अभ्यासी सैकड़ों लठवन्दों की लाठियों को रोकता हुआ अपनी लाठी से उन्हें पीटता है। अपने पर दूसरे की एक भी लाठी नहीं लगने देता। वकरीद आदि त्योहारों पर सरेआम गो-घातक विधर्मियों से गो-माता को बचाने के निमित्त गो-भक्त सन्तों के लिए उन दिनों यह विद्या उपादेय मानी जाती थी।

बनाये रहे। महात्मा श्री सुन्दरदासजी वैद्य का इस दिशा में, विशेषकर मिशनरियों के षड्यन्त्र से जनता को सतर्क कर बचाने में बहुत बड़ा हाथ रहा।

आप उच्च कोटि के महात्मा होने के साथ ही अनुकरणीय चरित, स्वनामधन्य, वैद्य, साहित्य-मर्मज्ञ और विविध भाषा-विशारद भी रहे। आपने राजगढ़ (लुधियाना) से ४ कोस दूर गाँव राजवाना में कुटिया (डेरा) बनायी और वहीं से अपने सारे कार्यों के सूत्र चलाते रहे। लगातार ६० वर्षों के अथक प्रयत्न से आपने जनता को विधर्मियों के कुचक्र से खूब बचाया। आपके पास सैकड़ों की संख्या में सन्त जन रामायण, गीता आदि धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते। मठ में आसपास के गाँवों के बालक हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और गुरुमुखी सीखते। आप स्वयं तो रुग्णों की चिकित्सा करते ही थे, कितने ही सन्तों को भी आयुर्वेद का सफल चिकित्सा-क्रम सिखाकर जगह-जगह भेजते और वहाँ उनसे रुग्ण-सेवा का कार्य चलाते।

मठों को स्कूल का रूप देने से मिशनरियों की स्कूल-योजना निकम्मी पड़ गयी। यही कारण है कि पंजाब में ईसाई मिशनरी स्कूल जोर न पकड़ पाये। इसी प्रकार गरीब रुग्ण जनता को अमूल्य औषधि मिलने से मिशनरी अस्पतालों के काम भी एकदम ढीले पड़ गये। इधर धर्म-प्रचारकों के व्याख्यानों एवं उपदेशों से भी ईसाइयों द्वारा परिचालित भ्रान्त विचारधाराओं पर बहुत कुछ रोक लगी।

रुग्ण व्यक्ति जरा भी उपकृत होने पर सदा के लिए अपने उपकर्ता का ऋणी बन जाता है। यही सोचकर ईसाई मिशनरियों ने दलित जातियों को धर्मच्युत करने के लिए सुनियोजित अस्पतालों की व्यवस्था की थी। उनकी इस दुरभिसन्धि को ताड़कर गुरुदेव सुन्दरदासजी ने दो सौ साधु वैद्य तैयार किये और विभिन्न प्रान्तों में गरीब जनता की सेवा के लिए उन्हें भेज दिया।

इन्हीं वैद्य-सन्तों में अन्यतम स्वामी श्री घनानन्दजी थे, जिन्होंने अहमदाबाद के अखण्डानन्द-आश्रम में निवास कर जनता की पर्याप्त सेवा की। आप यशस्वी, मिलनसार और पीयूषपाणि वैद्य थे। आपके ही पुरुषार्थ से खँड़हर के रूप में पड़ा अखण्डानन्द-आश्रम आज कांकरिया रोड पर नव्य-भव्य आश्रम 'वेद-मन्दिर' के रूप में विराज रहा है।

गुरुदेव स्वामी सुन्दरदासजी मधुर-प्रकृति थे। सुदृढ़ शरीर और वह भी सात फुट से ऊँचा! मानो अपर भीमसेन हों। कटुवाक्य तो बोलना जानते ही न थे। कदाचित् कभी किसी पर रोष आ ही जाय, तो मौन धारण कर लेते। प्रथम साक्षात्कार में ही अपनी सुमधुर, आश्वासनभरी श्रुतिप्रिय वाणी से वे रोगियों का आधा रोग दूर कर देते। फिर अपने यहाँ उन्हें पुत्रवत् रखकर, दुर्लभतम

औषधियों एवं उपचारों से नीरोग बनाते और रोते को हँसाते हुए बिदा देते। आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में भी महात्मा सुन्दरदासजी वैद्य की अपूर्व और व्यापक सेवाओं से इतिहास सदा उनका स्मरण करता रहेगा।

स्वामी रामानन्दजी : बालहास-शाखा के १५वें आचार्य और हमारे चरित्र-नायक के गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी का जन्म लुधियाना नगर के निकट सतलज नदी के तटवर्ती नत्थूमाजरा गाँव में संवत् १९१३ की फाल्गुन शुक्ला १३शी के दिन हुआ। आपके पिता सारस्वत ब्राह्मणकुलीन परम तपस्वी श्री गोपाल-देव थे और माता थीं साध्वी श्री दयादेवी। आपका जन्म-नाम वासुदेव शर्मा था। दैवयोग से बहुत ही छोटी अवस्था में वासुदेव के माता-पिता स्वर्गवासी हो गये। अन्य पारिवारिकों के संरक्षण में रहकर पूर्वसंस्कारवश अद्भुत स्मरण-शक्ति-सम्पन्न वासुदेव ने अति शीघ्र संस्कृत-हिन्दी का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। सुमधुर और शुद्ध संस्कृत श्लोक-पाठ में तो वह पाँचवें वर्ष से ही सुख्यात हो गया था। एकाएक पूर्व-संस्कार जाग पड़े और वासुदेव स्वतः साधना में लग गया। वैराग्य उदित हो जाने पर पारिवारिक जीवन का कोई आकर्षण रह भी नहीं गया।

गाँव के पास ही राजगढ़ में पूर्ववर्णित महात्मा गोपीरामजी का निवास था। घर से उदास हो वासुदेव उनके सत्संग में बैठने लगा। उसकी चेष्टाओं से महात्मा-जी को निश्चय हो गया कि यह होनहार बालक है। भविष्य में निश्चय ही यह सिद्ध पुरुष होगा। वे अत्यन्त स्नेह और सम्मान के साथ वासुदेव को अपने सत्संग में बिठाने लगे। इस तरह अति बाल्यकाल से वासुदेव गोपीरामजी महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। उस पर उनकी विशेष कृपा थी। उन्होंने वासुदेव को इतनी वाक्शक्ति दी कि वह ४५ मिनट में समग्र गीता का और २४ घंटे में श्रीमद्भागवत का समग्र पारायण कर लेता।

यहीं रहते हुए बालक वासुदेव महात्मा गोपीरामजी के शिष्य परम तपस्वी, निष्कामसेवी महात्मा सुन्दरदासजी वैद्य के कार्यों से अत्यन्त प्रभावित था। वह उनमें भी अपार श्रद्धा रखता। अतएव परम गुरुदेव गोपीरामजी ने उसे वैद्यजी से ही दीक्षा लेने को आज्ञा दी और केवल ११ वर्ष की आयु में वासुदेव महात्मा सुन्दरदासजी वैद्य से उदासीन-दीक्षा से दीक्षित हुए। दीक्षा के बाद वासुदेव शर्मा 'स्वामी रामानन्द' बन गये।

स्वामी श्री रामानन्दजी ने गुरुदेव वैद्यजी की सेवा कर उनसे अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किया। पश्चात् उनकी आज्ञा लेकर काशी पधारे। काशी में आपने व्याकरण,

न्यायादि षट्शास्त्रों का अध्ययन किया। कुछ ही दिनों में वे संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित माने जाने लगे।

अनेक विलक्षण, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक शक्तियों पर विशिष्ट अधिकार रखते हुए भी परम गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी ने अपने को लोकैषणा और वित्तैषणा से सदैव अछूता रखा। तीसरी एषणा तो आपको जन्म से छूकर नहीं गयी। यश, मान, धन, प्रसिद्धि की भावनाओं को आपने पास फटकने तक नहीं दिया। आपका जीवन अत्यन्त सरल और सादा था।

हिन्दुओं के वैदिक संस्कारों को लुप्त होते देख आपका निर्मल हृदय व्यथित हो उठा। तत्काल आपके मन ने भारत की दशा सुधारने का दृढ़ संकल्प कर लिया। फिर क्या था? पंजाब, सिन्ध, कराची, मुल्तान आदि प्रान्तों, शहरों में घूम-घूमकर धर्म-प्रचार प्रारम्भ कर दिया। साथ ही कुछ व्यक्तियों को सुयोग्य, कार्यकुशल, विद्वान् बना अखिल भारत में व्यापक धर्म-प्रचार कराने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए आप स्थान-स्थान पर विद्यालयों, पुस्तकालयों तथा धर्म-प्रचार-केन्द्रों की स्थापना एवं संघटन के भगीरथ-प्रयत्न में जुट गये।

उन्हीं दिनों, जब कि परम गुरुदेव रामानन्दजी को कुशल, विद्वान् कार्यकर्ताओं की अत्यन्त आवश्यकता थी, एक होनहार बालक के रूप में हमारे पूजनीय गुरुदेव उनके सम्पर्क में आये। स्वयं ही माता और पिता दोनों की भूमिकाएँ अपनाकर अधिकारी कोटि में पहुँचाये हुए अपने इस प्रिय शिष्य में परम गुरुदेव रामानन्दजी अपनी लक्ष्य-सिद्धि के आसार व्यापक रूप में प्रतिफलित देख अति प्रसन्न और निश्चिन्त हो गये।

अपना अवतार-कार्य पूरा समझकर आपने संवत् २०००, मार्गशीर्ष कृष्णा ११शी मंगलवार के दिन प्रातः ६ बजे पद्मासन लगाया और ॐकार की दिव्य ध्वनि करते हुए ब्रह्मलीन हो गये।

इस तरह महात्मा बालहास मुनि की परम्परा के १५ आचार्यों का संक्षिप्त जीवन-परिचय यहाँ पूरा होता है। भगवान् श्रीचन्द्राचार्य से गणना करने पर अब तक १६ आचार्य होते हैं। इसके बाद—

'ततः सप्तदशस्थाने योगी गङ्गेश्वरो गुरुः।
बालहासस्य शाखायां जातो मुनिरुदारधीः॥'

अर्थात् भगवान् श्रीचन्द्राचार्य से १७वें स्थान पर, बालहास मुनि की शाखा में, उदारचेता, मननशील योगिराज हमारे पूजनीय गुरुदेव श्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज का अवतार हुआ है, जिनकी बोधप्रद और पथ-प्रदर्शक जीवन-लीलाओं का वर्णन अग्रिम प्रकरणों में किया जायगा।

४

जन्म तथा शैशव

किसी भी देश की वास्तविक सम्पत्ति वहाँ के सन्तजन होते हैं। विश्व-कल्याणार्थ जब जो धर्म आवश्यक होता है, उसका आदर्श उपस्थित करने के लिए स्वयं परात्पर ब्रह्म तत्कालीन सन्तों के रूप में अवतार लेते हैं। इसीलिए शास्त्रों में सन्तों को भगवान् का 'नित्यावतार' कहा गया है।

भगवान् के साथ उनके पार्षद भी लोक-कल्याणार्थ शरीर धारण करते हैं। अज्ञानी जनों को वे जनमते और मरते दिखाई पड़ते हैं, पर वास्तव में वे जन्म-मरण से रहित हैं। पृथ्वी पर अवतीर्ण हो वे स्वयं सात्त्विक जीवन बिताकर दूसरों को सत्य-मार्ग पर लाते हैं। उनके दिव्य जन्म-कर्म साधारण जीवों की समझ में आ ही नहीं सकते। ऐसे महापुरुष सदैव होते आये हैं, आज हैं और भविष्य में भी होंगे। संसार-सागर में डूबते-उतराते अगणित असहाय जीवों की दुर्दशा देख उस अहैतुक करुणा-वरुणालय का हृदय द्रवित हो उठता है। फलस्वरूप वह उनके उद्धारार्थ किसी सत्पुरुष के रूप में धराधाम पर उतर आता है। यह दृश्य-जगत् उस लीलामय भगवान् की क्रीड़ा-स्थली है। वह जब जिस रूप में चाहता है, अपनी इस विहार-भूमि में रमण करता है। प्रिय भक्तों को अपनी मधुर लीलाओं का रसास्वादन कराने और पतित-पामरों का उद्धार करने के लिए वह विभिन्न रूपों में अवतरित होता है। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदि समस्त भारतीय प्राचीन वाङ्मय इन अवतारों की गौरव-गाथाओं से भरे हैं। अवतार सनातन-धर्मरूप सहस्रशाख घनच्छायी महापादप के अमृतमय पक्व फल हैं।

सनातन कुल-परम्परा

इसी अवतार-धारा में उस अलक्ष्य, अव्यपदेश्य, भूमा भगवान् ने सनत्कुमार से जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य तक १६५ विभूतियों के रूपों में आविर्भूत हो सनातन-धर्म, आर्य-संस्कृति तथा सदाचार की सुदृढ़ रक्षा की। इन्हीं विश्ववन्द्य विभूतियों की सनातन कुल-परम्परा में जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र से १६वें स्थान में हमारे परम गुरु (दादा-गुरु) स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज हुए और १७वें स्थान

में चरित्र-नायक हमारे आराध्य-चरण, उदासीन-सन्त-शिरोमणि, सनातन वेद-मूर्ति, सद्गुरु स्वामी श्री गंगेश्वरानन्दजी महाराज विराजमान हैं। इस प्रकरण से यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर उन्हींका पावन चरित्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

आदर्श दम्पती

विक्रम की वीसवीं सदी के द्वितीय चरण की बात है। आधुनिक मान्यता के अनुसार वेदों की आविर्भाव-स्थली और परम पावन पंचनद (पंजाब) के पूर्वी भाग में किसी अज्ञातनामा स्थान पर अतिपवित्र विप्र-कुल के पण्डित श्री रामदत्तजी और साध्वी सरला देवी निवास करते थे। रामदत्तजी थे तो गृहस्थ, पर उनका सारा जीवन ऋषि-तुल्य बीतता। सदैव शास्त्राध्ययन, गायत्री-जप, ध्यान और साधु-सेवा में लगे रहते। अतिथि के लिए उनका घर 'अपना घर' था। साध्वी सरला भी आराध्य पतिदेव का छाया-सा अनुसरण करतीं। रामदत्तजी का परिवार धन-धान्य, जमीन-जायदाद, बाग-बगीचा, भृत्य-वाहन आदि से अत्यन्त सुसम्पन्न था। अतः जीविका की विशेष चिन्ता न होने से पण्डितजी अपना उत्कट अध्यात्मानुराग साकार करने में ही सचेष्ट रहते।

घर सब प्रकार से भरा-पूरा होने पर भी वास्तविक 'गृहरत्न' के बिना शून्य-सा लगता। माता सरला देवी की गोद चिरकाल तक सूनी ही रह गयी। दम्पती को 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह वचन शल्य-सा चुभता। पण्डित रामदत्तजी अपने और पूर्वजों के पुरुषार्थ से देव-ऋण एवं अतिथि-ऋण तो चुका सके; पर तृतीय ऋण से मुक्ति उनके हाथ की न थी। कुछ अन्तराय आड़े आ जाते। इसी कारण वे सदैव अन्तर से उदासीन रहते।

स्वामी रामानन्द से वरदान

संवत् १९३६ की बात है। हरिद्वार का कुम्भ पर्व था। स्वाभाविक धर्मानुरागवश माता सरला देवी और पण्डित रामदत्तजी दम्पती कुम्भ-स्नानार्थ हरिद्वार आये। तब तक वीतराग सन्त श्री स्वामी रामानन्दजी महाराज की अलौकिक शक्तियों की अच्छी ख्याति हो चुकी थी। रामदत्त दम्पती दर्शनार्थ शिविर में पधारे और उन्होंने अर्घ्य, पाद्य आदि से स्वामीजी की पूजा की। महाराजश्री को अपनी दिव्य-दृष्टि से समझते देर न लगी कि ये परम अधिकारी दम्पती हैं। मुख-मुद्रा से उनका जिज्ञासा-भाव पहचानकर स्वामीजी ने तत्काल एकान्त कर दिया। फिर दोनों की खुलकर चर्चा हुई।

श्रुति-शास्त्रों के परिनिष्ठित विद्वान् श्री रामदत्तजी ने अपने अभिलषित का उपक्रम वैदिक भाषा से ही किया। आपने ऋग्वेद की उन ऋचाओं को प्रस्तुत किया, जिनमें कहा गया है कि 'ऋषि विद्वान् पुत्र की कामना करते थे (१-७३-८), वे ऐसा पुत्र चाहते, जो कान में सुवर्ण और कण्ठ में मणि धारण करता हो (१-१२२-१४), वीर पुत्रों में उनकी विशेष रुचि रही (१-१२५-३, ९-९७-२१—२६), वे उत्साही, जनप्रिय एवं विद्याध्ययन-दक्ष पुत्र की कामना करते (१-१४९-११), देवताओं के निकट बल्वान्, हव्यवाहक, बड़े-बड़े यज्ञ करने-वाले एवं सत्यवलविशिष्ट पुत्र की याचना करते (४-११-४), अपने कार्य से पिता, पितामह आदि की कीर्ति में चार चाँद लगानेवाले पुत्र की कामना करते (५-२५-५), वे अपने मानव-हितैषी पुत्र की सर्वथा रक्षा के इच्छुक थे' (७-१-२१)।

स्वामीजी महाराज साभिप्राय कही हुई विशेषार्थक ऋचाओं से पण्डितजी का अभिप्राय ताड़ गये। वीच में ही रोकते हुए उन्होंने कहा : 'चिन्ता न करें, निकट भविष्य में साध्वी सरला की दक्षिण कुक्षि से ऐसा ही पुत्ररत्न प्रकट होगा।' महाराज ने उन्हें इसके लिए एक दिव्य उपासना का प्रकार भी वतलाया। रामदत्त दम्पती गुरुदेव के चरणों पर नत-मस्तक थे। देह पर अष्टविध सात्त्विक भाव उमड़ रहे थे। आचार्यश्री ने पण्डितजी को गले लगाया और माता सरला के आँचल में श्रीफल डाल दोनों को सस्नेह विदा दी।

जन्म

हरिद्वार से घर लौटने पर दम्पती ने स्वामीजी महाराज द्वारा उपदिष्ट विधि के अनुसार कठोर साधना की। उपासना के तेज और महात्मा के सत्य-संकल्प से कुछ ही दिनों वाद साध्वी सरला देवी ने लोक-कल्याणकारी गर्भ धारण किया। गर्भ के तेज से देवी शुक्लपक्षीय शशी-सी उत्तरोत्तर षोडश कलाओं से सुशोभित होने लगीं। अन्ततः नौ मास पूर्ण होने पर संवत् १९३८ पौष शुक्ला ७मी, मंगलवार, उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्र, तदनुसार दिनांक २७ दिसम्बर सन् १८८१ के शुभ दिन लोकमाता सरला देवी ने लोकोद्धारक पुत्र का प्रसव किया।

पण्डित रामदत्तजी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने बाल-विग्रह के रूप में भगवान् शंकर को ही अपने घर आविर्भूत माना। सद्योजात बालक का जात-कर्म-संस्कार हुआ और ब्राह्मणों एवं सेवकादि वर्गों को उपहार दिये गये। ग्यारहवें दिन नामकरण-संस्कार सम्पन्न हुआ और 'चन्द्रेश्वर' नाम रखा गया।

दैवज्ञ का भविष्य-फल

पण्डित लक्ष्मणदत्तजी पण्डित रामदत्तजी के अनन्य मित्र थे, जो ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते। उन्होंने जब बालक चन्द्रेश्वर की जन्म-पत्रिका तैयार की, तो उनके मुख पर खेद-मिश्र हर्ष की रेखाएँ उभर पड़ीं। खेद इसलिए कि बालक की कुण्डली में साधारण गृहस्थ की तरह अपने प्रिय मित्र पण्डित रामदत्तजी का प्रजातन्तु अविच्छिन्न बनाये रखने का योग नहीं था। और हर्ष इसलिए कि वह अपनी ब्रह्मनिष्ठता से न केवल रामदत्तजी के दश पूर्व और दश अपर कुलों, प्रत्युत देश और समस्त विश्व के उद्धार का भी योग रखता था। बालक के ग्रहयोगों से सुस्पष्ट हो रहा था कि वह एक महाविभूति होगा और उसकी कीर्ति दिग्-दिगन्त तक फैलेगी। वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी से दीक्षित यति बनकर साधना एवं ब्रह्मनिष्ठा के अपूर्व तेज से सुशोभित होगा और समग्र जीवन विश्वकल्याणार्थ समर्पित कर देगा।

पण्डित रामदत्तजी ने जब यह फल सुना, तो उनकी भी क्षणभर लक्ष्मणदत्तजी की-सी स्थिति हुई।

बालक का विकास, माता का देहावसान

बालक चन्द्रेश्वर शुक्ल-चन्द्र-सा विकसित हो चला। उसकी तेजस्वी प्रशान्त मुख-मुद्रा और अतिसुडौल, सुन्दर गौर काया देख सभी बरबस आकृष्ट हो उठते और उसे दिव्य विभूति मानने लगते। चन्द्रेश्वर की मातामही तो उसे 'ईश्वर का भेजा चाँद' ही कहतीं।

बालक चन्द्रेश्वर दो-तीन वर्ष का हुआ होगा कि अकस्मात् उसे जननी से सदा के लिए बिछुड़ना पड़ा। संभव है, भावी विरक्त जीवन के लिए ममता का यह बहुत बड़ा केन्द्र पहले से ही उद्ध्वस्त कर देने का विधि का कोई संकेत हो। अब विवशतः मातामही ही बालक चन्द्रेश्वर का पालन-पोषण करने लगीं।

लोकोत्तर बाल-लीलाएँ

महापुरुषों की बाल-लीलाएँ भी लोकोत्तर हुआ करती हैं। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' बालक चन्द्रेश्वर बचपन से ही एकान्तसेवी था। आँगन में, बगीचे में खेलते-खेलते कभी-कभी दूर जंगल पहुँच जाता। एकान्त में बैठना उसे बहुत पसन्द था।

एक दिन की बात है। बालक चन्द्रेश्वर घर के सामने, उस पार के एक जंगल में पहुँचकर किसी वृक्ष की छाया में सो गया। वृक्ष की छाया हटी तो मानो

किसीके संकेत से पेड़ पर बैठा मोर नीचे उतरा और पंखों का छाता बना मीठी नींद सो रहे चन्द्रेश्वर पर छाया करता रहा। बहुत देर बाद जब घरवालों को बालक की सुधि आयी तो खोज होने लगी। बगीचे में न मिलने पर पण्डितजी सामने के जंगल में ढूँढ़ते पहुँचे। वहाँ सुखशय्या-सी जमीन पर उसे निर्भीक और शान्त-भाव से मीठी नींद लेता और ऊपर से मोर-पंख का छाता तना देख पिता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। दूर से मालूम पड़ता, मानो मयूर-पिच्छधारी मुरली-मनोहर ही सो रहे हों। पण्डितजी ने उसे जगाया और अपने साथ घर ले आये।

पण्डित रामदत्तजी ने ५ वर्ष की आयु तक बालक चन्द्रेश्वर से शब्द-रूपावली, समास-चक्र, धातु-रूपावली आदि कण्ठस्थ करा लिये। पाँचवें वर्ष अक्षर-ज्ञान भी करा दिया। वह कोई साधारण बालक तो था नहीं। देखते-देखते उसने आश्चर्य-जनक प्रगति कर ली और अब वह अच्छी तरह पढ़ने-लिखने लगा।

शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्मवर्चस् की कामना होने पर ब्राह्मण बालक का ५वें वर्ष उपनयन किया जाय। वैसे गर्भ से ८वें वर्ष या जन्म से ८वें वर्ष ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत किया जाता है। रामदत्तजी ने देखा कि बालक हर बात तत्काल ग्रहण कर लेता है। उसकी वाणी और मेधा भी सक्षम है। अतः उसमें और निखार लाने के लिए पिता ने उसका शीघ्र यज्ञोपवीत कर देना उचित समझा।

चन्द्रेश्वर के इतने शीघ्र उपनयन करने का एक और भी हेतु पण्डित राम-दत्तजी के अन्तर में निहित था। वे सोचते थे कि 'इसी मिष से गुरुदेव श्री रामा-नन्दजी का दर्शन होकर चिरकाल से अपूर्ण साध पूरी हो सकेगी, जिनकी कृपा से चन्द्रेश्वर जैसा दिव्य बालक पुत्ररूप में हमें प्राप्त हुआ। चन्द्रेश्वर की माँ बालक के जन्म-दिन से ही चाहती थी कि अपना लाल स्वामीजी के चरणों में 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द' कहकर सौंप दूँ। किन्तु विधि के विधान ने उसे यह सौभाग्य सुलभ न होने दिया। पारिवारिक प्रपंच में फँसकर अब तक मैं भी उसे पूरा न कर सका। अतएव उपनयन के अवसर पर आशीर्वादार्थ उन्हें आमन्त्रित कर उनके प्रति सश्रद्ध कृतज्ञता प्रकट की जाय।'

फिर क्या था! जोरों से तैयारियाँ चल पड़ीं। स्वामीजी महाराज को भी साग्रह, सादर निमन्त्रित किया गया। उन्होंने भी पधारने की स्वीकृति दे अनु-गृहीत किया।

नियत शुभ दिन चन्द्रेश्वर का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता ने गायत्री-उपदेश दे गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी के चरणों पर उसे समर्पित कर दिया।

स्वामीजी ने बालक को उत्संग पर बिठा मूर्धावघ्राण[1] किया और अपने अमृत-मय कर-कमल उसके सारे शरीर पर फेरकर वरदहस्त से आशीर्वाद दिया। सान पर तरसकर हीरा और भी चमक उठा।

पण्डित रामदत्तजी का भाव-भरा सात्त्विक आतिथ्य स्वीकार कर स्वामीजी महाराज दूसरे ही दिन चल पड़े। जाते समय चन्द्रेश्वर से कहते गये कि गीता, विष्णु-सहस्रनाम का पारायण तथा द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करते रहना। दिव्य बालक चन्द्रेश्वर ने इसे हृदय में रख गुरुदेव को साष्टांग प्रणाम किया।

ब्राह्मण बालक चन्द्रेश्वर अब नित्य सन्ध्यादि के साथ स्वामीजी महाराज के उपदेशानुसार गीता और विष्णु-सहस्रनाम का पारायण एवं जप करने लगा। इसी बीच पिता ने उसे रुद्री भी सिखा दी। दिव्य बालक को थोड़ी-सी प्रेरणा देते ही तत्काल उसके सारे पूर्व-संस्कार जाग उठते। प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक गुण वह देखते-देखते हस्तगत कर लेता।

सत्य-स्वप्न

शिवरात्रि का दिन था। परम शिवभक्त रामदत्तजी इस दिन निर्जल उप-वास रखते और रातभर जागकर चार प्रहर रुद्राभिषेक और पूजन द्वारा भगवान् आशुतोष को सन्तुष्ट करते। पण्डितजी नित्यकर्म से निवृत्त हो बैठे थे कि चन्द्रेश्वर बगिया के तालाब से कमल के फूल तोड़ लाया और पूजार्थ पिता के सामने रख-कर कहने लगा कि 'आज आपकी ही तरह निर्जल व्रत रखूँगा, मुझे तनिक भी न रोकिये।' बालक का दृढ़ साहस देख पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। सचमुच चन्द्रेश्वर ने उस दिन निर्जल उपवास कर पिता के साथ भूतभावन की श्रद्धा-भक्ति से उपासना की।

रात्रि में अनेक वैदिक ब्राह्मणों के साथ पण्डित रामदत्तजी ने शिवरात्रि की चतुर्याम पूजा की। विद्वान् ब्राह्मणों की गम्भीर वेदध्वनि के बीच बालक चन्द्रे-श्वर का मोहक कलकण्ठ भी स्पष्ट सुनायी पड़ता।

चतुर्थ प्रहर के अभिषेक, पूजन के बाद पण्डितजी ने ब्राह्मणों का पूजन कर यथाशक्ति दक्षिणा देकर उन्हें बिदा दी। रात्रि-जागरण के कारण वे थोड़ा विश्राम लेने लगे कि उन्हें नींद आ गयी। वे स्वप्न देखने लगे : अभिषेक से स्नापित और षोडशोपचार से समलंकृत शिवलिंग के स्थान पर चन्द्रेश्वर ही हाथ जोड़े खड़े हैं और उनके दर्शनार्थ योगेश्वर श्रीकृष्ण उपस्थित हैं। वे उन्हें नमस्कार कर रहे

---

१. सिर सूँघना, जो प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अतिस्नेहास्पद के प्रति हार्दिक स्नेह-प्रदर्शन का बाह्य भाव है।

हैं। दूसरे ही क्षण वाण (लिंग) के स्थान पर स्थित चन्द्रेश्वर भी उन्हें सश्रद्ध प्रणाम कर रहे हैं। पण्डितजी यह देख आश्चर्यचकित हो रहे हैं। उन्हें ऐसा देख शंकरस्वरूप बालक कह रहा है : 'पिताजी, क्या सोच रहे हैं ?

'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।'

दोनों अन्तरात्माएँ अभिन्न हैं। अनन्त शास्त्रज्ञान का यही चरम लक्ष्य है कि हरि, हर में अभेद-बुद्धि हो जाय। अधिक न सोचिये और उठिये........।'

इसी बीच पण्डितजी के कानों में बालक चन्द्रेश्वर की मधुर लौकिक वाणी गूँज उठी : 'पिताजी, उठिये, बहुत सो चुके।' और वे हड़बड़ाकर उठ बैठे। सामने बालक को महारात्रि पार करके भी अखण्ड जागृत देख पिता ने गोद में उठा लिया। उसकी ओर देख-देख वे इस अद्भुत स्वप्न पर आश्चर्य करने लगे। चन्द्रेश्वर बार-बार पूछता : 'पिताजी, क्या सोच रहे हैं ?' पर पण्डितजी टाल गये और कहने लगे : 'चलो, घर चलकर जल पियें।'

इस घटना ने पण्डितजी की आँखें खोल दीं। वे समझ गये कि बालक साधारण नहीं, प्रभु का अवतार है और हम पर अनुग्रह के लिए हमारा पुत्र बना है। किन्तु कुछ ही देर बाद पुत्र-मोह ने प्रज्ञा पर आवरण डाल दिया। फिर भी इस घटना से परम शैव पण्डितजी भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण के भी अनन्य भक्त बन गये।

शास्त्र-श्रवण

वेद का स्वाध्याय, जप, तप, हवन पण्डितजी के दैनिक जीवन के अंग थे। उनसे अवकाश मिलने पर वे बालक चन्द्रेश्वर को शास्त्र का स्वाध्याय कराते और भगवान् कृष्ण की दिव्य-लीलाएँ सुनाते। इन लीला-कथाओं के माध्यम से उन्होंने चन्द्रेश्वर को श्रीमद्भागवत, गर्गसंहिता, हरिवंश, महाभारत का सारा सार समझा दिया।

इन पौराणिक कथाओं को सुनने से अब बालक चन्द्रेश्वर भगवान् कृष्ण के प्रेम से ओतप्रोत हो गया। स्वामी रामानन्दजी महाराज का गीता-विष्णुसहस्र-नाम-पारायण और द्वादशाक्षरी मन्त्र-जप का आदेश अब दिन-रात दो घण्टे छोड़कर अखण्ड रूप में कार्यान्वित होने लगा। पण्डितजी क्षणभर कोमल काया के मोह में पड़ते, पर पुनः सतर्क हो बाल-साधक की साधना में विघ्न डालने का विचार त्याग देते।

बालक की योगेश्वर श्रीकृष्ण में इतनी अभूतपूर्व लौ देख पण्डितजी ने उसे लेकर भगवान् कृष्ण की नित्यविहार-स्थली वृन्दावन की यात्रा की सोची। उधर

उनका भी चित्त वृन्दारण्य-विहारी, नित्यशक्ति राधिका के रमण की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो चला था। चन्द्रेश्वर के लिए तो यह मनोवाञ्छित ही हाथ लग गया।

एक दिन पण्डितजी अपने प्रिय मित्र लक्ष्मणदत्तजी के पास पहुँचे और उन्हें अपना अभिप्राय बताकर कहा कि 'इसमें अब देर नहीं, 'शुभस्य शीघ्रम्।' कल ही चला। लौटने तक आपको मेरा घर-द्वार सँभालना होगा, सारी व्यवस्था देखनी होगी। कह नहीं सकता कि कब तक लौटूँगा।'

ज्योतिषीजी बालक चन्द्रेश्वर के ग्रह-योगों से पूर्ण परिचित थे। पण्डित रामदत्तजी द्वारा वृन्दावन-यात्रा के लिए निर्धारित मुहूर्त का भी गणित से फलादेश देख ज्योतिषीजी ने उनको अनुमति दे दी। वे बालक चन्द्रेश्वर के सिर पर हाथ रखकर बोले : 'बेटा, इस मुहूर्त पर यात्रा करने से तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण होंगे। तुम संसार के जीवों को कल्याण-पथ पर ले जाओगे। उन्हें अन्धकार से प्रकाश के अनुगामी बनाने में निश्चय ही श्रीहरि तुम्हारे सहायक होंगे। इस अकस्मात् निर्धारित यात्रा-मुहूर्त का शुभ-फल वृन्दावन पहुँचने से पहले ही तुम्हें मिल जायगा। किसी दैवी संविधान से लोकोत्तर अभीष्ट का लाभ होगा। उसके बाद तुम्हें घर से सदा के लिए विरति हो जायगी। किन्तु न चाहते हुए भी एक बार पुनः गाँव लौटना पड़ेगा। जाओ वत्स ! 'शिवास्ते पन्थानः सन्तु !' अपने प्राणाधिक प्रिय मित्र के एकमात्र जीवनाधार को विदा देते हुए ज्योतिषीजी की आँखें छलछला उठीं। उन्होंने बालक को गले लगा बड़े कष्ट से विदा दी।

सन्तरामजी के आश्रम में

नियत समय पर पिता-पुत्र वृन्दावन की ओर चल पड़े। पण्डितजी अपने लाड़ले को वृन्दावन-विहारी की ललित-लीलाएँ सुनाते रास्ता तय कर रहे थे।

मार्ग में एक सुरम्य आश्रम पड़ा, जिसमें एक वयोवृद्ध तपस्वी, फलाहारी ब्रह्मचारी निवास करते थे। उनका नाम था, श्री सन्तरामजी महाराज। पण्डित रामदत्तजी इस आश्रम में बहुत बार आ चुके हैं। फलाहारीजी के प्रति वे अपार श्रद्धा और अनुराग रखते। फिर मार्गस्थ इस पावन तीर्थ को त्याग आगे कैसे बढ़ सकते ?

पिता-पुत्र सन्त-सेवी महात्मा के चरणों में पहुँचे और उन्हें अभिवादन किया। महात्मा ने तुरन्त दोनों को उठा गले लगाया। कहने लगे : 'रामदत्त, वर्षों से नहीं मिले। कल ही तुम्हारा स्मरण हो आया कि अकस्मात् आज पिता-पुत्र से भेंट हो गयी। कुछ दिन ठहर जाओ। फिर न जाने, कब भेंट हो। अब कभी-

कभी अपनी जीवन-लीला संवरण कर लेने की इच्छा जाग उठती है। किन्तु आश्रम में नित्य दर्शन देनेवाले तरह-तरह के सन्त-महात्माओं को देखकर रुक जाता हूँ। सोचने लगता हूँ, शरीर भगवान् ने सन्त-सेवा और जप-ध्यान के लिए दिया है। वह व्रत तो अब भी अस्खलित चल रहा है। फिर देहोत्सर्ग को इतनी त्वरा क्यों ? अस्सी वर्षों का यह दीर्घ-जीवन इस प्रक्रिया में कैसे बीत गया, इसीका आश्चर्य होता है।'

बालक चन्द्रेश्वर वयोवृद्ध महात्मा के हृदयोंद्‌गार एकनिष्ठ हो सुन रहा था, मानो महर्षि कश्यप के उपदेश भगवान् वामन सुन रहे हों।

पण्डित रामदत्तजी ने यात्रा का उद्देश्य वताया। उनके सस्नेह आग्रह पर वे कुछ दिन वहाँ रुक गये। देखते-देखते सप्ताह बीत गया।

आश्रम में नित्य अनेक सन्त, महात्मा, विद्वान्, योगी पधारते और आश्रम की ओर से उनकी हर प्रकार की सेवा होती। यह देख चन्द्रेश्वर में भी सन्त-सेवा की उत्सुकता जाग उठी। वह बड़े प्रेम से आश्रम की छोटी-बड़ी सेवाओं में हाथ बँटाने लगा। बाहर से आये महात्माओं के पैर पखारना, भोजनोत्तर उनकी जूठी पत्तलें उठाना, विना कहे आश्रम में झाड़ू लगाना, गौओं को घास डालना, रात में सोते समय महात्मा फलाहारीजी महाराज के पैर दवाना आदि तरह-तरह के सेवा-कार्यों में वह रम गया।

बालक का यह अनुराग लक्ष्य कर महात्मा फलाहारीजी ने पण्डितजी से एक मास और रुक जाने का आग्रह किया। पण्डितजी भी उसे टाल न सके।

इस तरह कुछ दिन वीत गये। एक दिन चन्द्रेश्वर एकान्त में बैठा था कि उसे वृन्दावन-विहारी के दर्शन की लालसा अनावरणीय हो उठी। भावावेश में उठकर वह पिताजी के निकट आया और शीघ्र-से-शीघ्र वृन्दावन चलने का बाल-हठ पकड़ बैठा। पिताजी के निश्चित उत्तर न देने पर उसने मुँह लटका दिया। यह देख पिताजी पसीज गये और उन्होंने महात्माजी के चरण छूकर वृन्दावन जाने की आज्ञा माँगी। इसी प्रसंग में एकान्त पाकर एक दिन उन्होंने प्रस्तुत यात्रा की प्रेरणा का मूल स्रोत और पिछली अलौकिक घटनाएँ भी उन्हें कह सुना दीं।

सारा वृत्तान्त सुनकर महात्मा सन्तरामजी अति सन्तुष्ट हुए। उन्होंने चन्द्रेश्वर को अपने पास बुलाया और सिर पर हाथ फेरते हुए बोले : 'वत्स ! जल्दी न करो। आखिर यह आश्रम भी वृन्दावन से अलग नहीं। मैं भी वृन्दावन-विहारी के दर्शनार्थ जाने की बार-बार सोचता हूँ। किन्तु अपने विहार से जगती को पावन करनेवाले, बिहारीजी के प्रेषित ये सन्तजन जब आश्रम में पधारते रहते हैं, तो वह संकल्प स्थगित हो जाता है। हृदयाकाशस्थ श्रीहरि समझाने

लगते हैं कि जहाँ सन्त, वहीं मैं हूँ। सन्तों के नित्य-कीर्तन में भगवत्सान्निध्य अनिवार्यतः रहता है, यह उन्होंने श्रीमुख से देवर्षि नारद से कहा है :

'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'

इसलिए कुछ दिन और रुककर मेरे साथ सन्त-सेवा का सौभाग्य पाओ। विना सन्तों के अनुग्रह के विहारीजी कभी नहीं मिलते। सन्तों के रूप में पधारे शत-शत विहारीजी का कुछ दिन यहीं नित्य दर्शन करो।'

तपस्वी की समाहित वाणी चन्द्रेश्वर के निर्मल चित्त में घर कर गयी। उसकी वृन्दावन-गमन की उत्कण्ठा शान्त हुई और पूज्य पिता के साथ पुनः वह आश्रम की सेवाओं में जुट गया। तपस्वी सन्तरामजी महाराज का उत्तरोत्तर वालक के प्रति आकर्षण वढ़ता गया।

एक दिन तपस्वीजी ने समाधि में चन्द्रेश्वर के पूर्वजन्म और भावी जीवन की संभावनाओं का आकलन किया। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विशेषतः विश्वकल्याणार्थ ही इस वालयोगी का पुनर्जन्म हुआ है। यह भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष साक्षात्कार का पूर्ण अधिकारी है। यदि इस पर यह अनुग्रह कर दूँ, तो मेरा तप वढ़ेगा ही, उसके ह्रास की तनिक भी संभावना नहीं।

समाधि से व्युत्थित होने पर पूज्य फलाहारीजी ने वालक चन्द्रेश्वर को एकान्त में वुलाया और कहा कि 'देखो, योगवल से तुम्हारे विषय में सव-कुछ जान चुका हूँ। तुम पर अनुग्रह करते मुझे हार्दिक आनन्द हो रहा है। आज से तीन दिनों तक रात्रि में सावधान रहना। इस वीच तुम्हारे लिए समाधि में रहूँगा। चौथे दिन मिलूँगा। मेरी प्रार्थना और तुम्हारे जन्मान्तर के सत्प्रभाव से वे करुणा-वरुणालय तुम पर अवश्य अनुग्रह करेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण तुमसे यहीं मिलेंगे, जिन्हें खोजने वृन्दावन जाने के लिए इतने उतावले हो रहे हो। किसी भी प्रकार इष्टदेव का अपमान न हो, इसका पूरा ध्यान रखना। पूजा के लिए दुग्ध, फल, पुष्पादि सँजोये रहना।'

तपस्वीजी पण्डितजी से इतना ही कहकर कि 'आज से चौथे दिन आपसे मिलूँगा', समाधिशाला में चले गये।

भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह

तपस्वीजी के शक्तिपात से वालक चन्द्रेश्वर इतना गंभीर बन गया कि उसके पिताजी भी इस योजना का इशारा तक न पा सके। महात्माजी के आदेशानुसार चन्द्रेश्वर उसी दिन से दूध, फल, फूल आदि सिरहाने रखकर उनकी समाधि-

४

शाला के निकटस्थ कमरे में अकेला सोने लगा। इस बीच उसने भोजन से अरुचि बता दो अहोरात्र और तीसरा दिन भी बिना खाये, बिना सोये बिता दिये।

यही अन्तिम रात्रि थी, जिससे इष्टदेव के अनुग्रह की आशा जुड़ी हुई थी। बाल-मन अधीर होने लगा—'देखें, महात्माजी का वचन सत्य सिद्ध होता है या हमारा दुरदृष्ट और युग-प्रभाव इसमें रोड़े अटकाता है।' अभिनव नामदेव बाल-हठ पकड़े बैठ गया कि अपने हाथों अपने आराध्य को खिलाकर ही खाऊँगा।

विचार-सागर में तरंगों पर तरंगें उठ रही थीं। यामिनी तीन पहर डाक-कर चौथे में पैर रखने जा रही थी। बालक की कोमल आशा-लता पर तुषारपात का भय अब घना होने लगा। प्रभु-मिलन की उत्कण्ठा तीव्रतर से तीव्रतम कोटि पर पहुँच चुकी थी। अशरण-शरण भी जब शरणागत की कसौटी कर लेते हैं, तभी अपना अनुग्रह किया करते हैं। बालक उत्कण्ठा के वैश्वानर से शुद्ध काञ्चन बना जा रहा था। फिर भी उसका धैर्य अडिग रहा।

ब्राह्म मुहूर्त और रामजी का पहर। घड़ी की छोटी सूई चार पर पहुँच रही थी। निशाकान्त अपनी प्रेयसी के निकटवर्ती वियोग से व्यथित हो अपनी सारी तेजोनिधि दिनमणि के हवाले कर पश्चिम-सागर में डूब जाने के लिए उतावला हो रहा था। भगवान् दिवाकर 'हरिप्रबोधिनी' (एकादशी) को अपने उदय से प्रबोधित करने के लिए अनूरु अरुण को अपना सप्ताश्व रथ सज्ज करने का आदेश दे चुके थे कि एकाएक चन्द्रेश्वर की हृत्तन्त्री के तार बज उठे। उसके स्वरों से अभ्यागत की कटि-स्थित क्षुद्र-घण्टिकाओं के स्वर संवाद करने लगे। बालक के शरीर में अद्भुत दिव्य विद्युत् की एक लहर दौड़ पड़ी और उसकी कनीनिकाएँ दिव्य हो उठीं। दूसरे ही क्षण उसके दिव्य चक्षुओं के सामने नित्य नूतन, निर्जित-कोटि-कन्दर्प, दिव्य तेजोमय विग्रह पीताम्बर पहने और मुरली हाथ में लिये साकार खड़ा हो गया। अपने आराध्य को देख उसका कण्ठ रुँध गया, आँखें चौंधियाने लगीं और शरीर अष्टविध सात्त्विक भावों से आप्लावित हो उठा। उसे समाधि लग गयी।

अपने बाल भक्त की यह स्थिति देख परम करुणावतार प्रभु ने अपना तेज सँवारा और अमृतमय करों से उसे प्रबुद्ध करते हुए बोले : 'वत्स, तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के तप, योग और भक्ति से अति सन्तुष्ट हूँ। प्रिय भक्त सन्तराम के आग्रह पर तुम पर अनुग्रह करने को उपस्थित हूँ, 'वरं ब्रूहि' !'

भगवान् के अमृतमय कर-स्पर्श और संजीवनी वाणी से ध्रुव-निश्चयी बालक चन्द्रेश्वर प्रबुद्ध हो उठा और उसने प्रभु की पूजा कर स्वयं को उनके चरणों पर समर्पित कर दिया। अपने 'पतीनां पतिः' को पाकर उसकी वाणी मुखरित हो

उठी : 'नाथ, बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी अनन्त तपश्चर्या और योग-धारणा, समाधि से दुर्लभ आपका दिव्य दर्शन मुझ जैसा अबोध बालक जो पा रहा है, वह एकमात्र आपके उदार अनुग्रह और तपस्वीजी की निरुपधि कृपा का ही फल है। दयामय, इससे बढ़कर और क्या वरदान चाहिए ? अब यह पूर्ण तृप्त है, इसे किसी प्रकार की समीहा नहीं।'

बालक की निःस्पृहता से अति प्रसन्न हो पुनः भगवान् मधुर स्वर में बोले : 'वत्स ! मेरा दर्शन अमोघ होता है। वह कभी निष्फल नहीं जाता। तुम्हारे कुछ न चाहते हुए भी यह वरदान देता हूँ कि 'तुम्हारे सारे संकल्प अनायास पूर्ण होते रहेंगे, मेरी दिव्य शक्तियों एवं षडैश्वर्यों से सदैव सम्पन्न रहोगे और व्यापक लोक-संग्रह करते हुए अपार सुयश प्राप्त करोगे। अन्त में मेरी ज्योति में मिलकर अमर हो जाओगे।'

चन्द्रेश्वर ने देखा कि उस दिव्य विग्रह से एक परम उज्ज्वल ज्योति निकलकर उसके मस्तक-द्वार से भीतर प्रविष्ट हो गयी और वह विग्रह अन्तर्धान हो गया। चन्द्रेश्वर का रोम-रोम परिचालित हो उठा। श्रान्त बालक को सुख की नींद आ गयी। उस दिन बहुत देर तक पिता के जगाने के बाद कहीं चन्द्रेश्वर की नींद टूटी। पूर्व-संगृहीत समस्त पूजा-संभार वहाँ से लुप्त हो चुका था।

पण्डित रामदत्तजी को घटना का कोई पता न चल सका। चौथे दिन महात्मा फलाहारीजी समाधिशाला से निकले और सीधे चन्द्रेश्वर के पास पहुँचे। बालक की मुख-मुद्रा पर दिव्य आनन्द और कृतज्ञता के भाव स्पष्ट झलक रहे थे। उसने तपस्वीजी का चरण-स्पर्श किया, पर कृतज्ञता से कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। महात्मा बालक की भावोर्मियों को समझ गये और स्वयं भी मौन आशीर्वाद दे चले गये।

थोड़ी देर बाद पण्डित रामदत्तजी को बुलाकर उन्होंने कहा कि 'बालक बहुत दिनों से वृन्दावन का हठ पकड़े हुए है। अतः अब आप इसे लेकर जा सकते हैं।' पण्डितजी ने दूसरे ही दिन जाने का तय किया।

माता का प्रकोप

किन्तु 'अपने मन कछु होत है, बिधना के कछु और।' दूसरे दिन चन्द्रेश्वर का शरीर ज्वर से तप रहा था। अतः यात्रा स्थगित करनी पड़ी। तीसरे दिन ज्वर और भी तीव्र हो गया। तत्काल तरह-तरह के उपचार किये गये, पर लाभ कुछ नहीं हुआ। रात में सारा शरीर माता के दानों से भर आया। आँखों पर भी वे व्याप्त हो गयीं। पूरे पन्द्रह दिनों तक बालक चन्द्रेश्वर का शरीर माता

के उग्र प्रकोप और ज्वर से पीड़ित रहा। पण्डितजी अपने प्राणप्रिय बालक की दयनीय दशा देख अत्यन्त दुःखी हुए। पर क्या करते ? दैव के अधीन जो थे। नेत्रों में अत्यधिक गर्मी चढ़ आने से बालक की लौकिक ज्योति सदा के लिए चल बसी। अन्तःस्थ दिव्य ज्योति से वह अभिभूत हो गयी। पण्डितजी और भी विह्वल हो उठे।

महात्माजी ने उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए कहा कि 'पण्डितजी, शान्त होइये। हर सम्भव चिकित्सा करने पर भी यह अप्रिय प्रसंग घटित हुआ, तो इसे विधि का विधान ही मानिये। सन्तोष कीजिये कि इसमें भी प्रभु का कोई मंगलमय संकेत ही होगा। वे दयाघन कभी किसीका अहित नहीं करते। उन्होंने लौकिक चक्षुओं के बदले इसे दिव्य चक्षु प्रदान कर दिये हैं। इसे प्रभु का प्रकोप न समझकर वरदान ही मानिये।'

ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त तपस्वी के वचनों ने पण्डितजी के तप्त हृदय को कुछ शान्ति दी। अनेक मूल्यवान् उपचार हुए और कुछ ही दिनों में बालक स्वस्थ हो गया। उसके लौकिक चक्षुओं का स्थान प्रज्ञामय चक्षुओं ने ले लिया। जो विश्व के द्रष्टव्य अचक्षु, अप्राण, अमना को देख चुके, अब उन चक्षुओं के रहने का कोई अर्थ न था। कारण उससे बढ़कर विश्व में कोई दर्शनीय ही नहीं है। यही सब सोच प्रकृति ने उन्हें वापस ले लिया हो।

ब्रह्मनिष्ठ तपस्वीजी ने पुनः समझाने का प्रयत्न किया : 'पण्डितजी ! सच तो यह है कि भगवान् की तरह भक्त की माया भी साधारण जन की समझ में नहीं आ सकती। भक्त चन्द्रेश्वर के संकेत पर ही भगवान् की ओर से यह घटना घटी है। कबीरदासजी भी तो कहते हैं :

'नयना भीतर आव तू नयन झाँप तोहे लूँ।
ना मैं देखूँ और को ना तोहे देखन दूँ॥'

फिर भी पण्डित रामदत्तजी को अपने लाड़ले की यह अवस्था बड़ी कष्टकर हुई। उन्हें तपस्वीजी के संकेत का स्पष्ट अर्थ-बोध नहीं हो सका।

तब तपस्वीजी ने वास्तविक तथ्य प्रकट करने का उचित अवसर समझा और बताया : 'पण्डितजी, अब अपने हृदय से बालक चन्द्रेश्वर की चिन्ता निकाल डालिये।' बालक के भगवद्दर्शन का विवरण बताते हुए उन्होंने आगे कहा कि 'भगवान् की दिव्य-ज्योति से सम्पन्न 'तुम्हारा' कहा जानेवाला यह पुत्र भक्ति एवं ज्ञान के अवतार सनत्कुमारादि आचार्यों का ज्वलन्त प्रतीक होगा। इसके द्वारा जो जन-कल्याण संभाव्य है, उसे समय ही बतायेगा। रामदत्त ! तब हम न होंगे,

पर हमारी समस्त तपस्या का सुकृत इस बालक के साथ रहेगा। इस पर केवल अपना ही स्वत्व मानकर व्यर्थ मोह के शिकार मत बनो।'

तपस्वी की ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनुगृहीत वाणी ने रामदत्तजी को पण्डित लक्ष्मणदत्तजी की भविष्यवाणी का स्मरण करा दिया। भविष्य के उज्ज्वल प्रकाश में उनके हृदय से वर्तमान के विषादमय बादल छँट गये।

वृन्दावन में

तपस्वीजी के आज्ञानुसार आखिर एक दिन पण्डित रामदत्तजी बालक के साथ वृन्दावन जाने के लिए प्रस्तुत हुए। विदा देते समय बालक चन्द्रेश्वर के मस्तक पर अपना वरद-हस्त रखकर तपस्वीजी ने कहा: 'वत्स! मेरे जप, तप एवं सदाचारपूर्ण जीवन का सारा सुकृत तुम्हारे साथ रहेगा। किसी प्रकार अपने को असहाय या अपूर्ण होने की स्वप्न में भी कल्पना न करना। तुम्हारे द्वारा प्रभु अत्यन्त व्यापक लोककल्याण-कार्य करवायेंगे।' महात्मा के आशीर्वाद का पाथेय ले पिता-पुत्र वृन्दावन की ओर चल पड़े।

पण्डित रामदत्तजी ने अपने पुत्र के साथ वृन्दावन की सीमा में प्रवेश किया। वृन्दावन की वीथियों में पदार्पण करते ही बालक चन्द्रेश्वर इतना आनन्द-विभोर हो उठा, मानो त्रिलोकी का साम्राज्य मिल गया हो!

सर्वप्रथम पिता-पुत्र कलिन्द-नन्दिनी के तट पर पहुँचे और उसमें गोता लगाया। स्नान के बाद निकट ही कदम्ब-तरु की छाया में आसन लगा बालयोगी अपने आराध्य के अलक्ष्य रूप का ध्यान करने लगा। पण्डितजी भी अपने आह्निक से निवृत्त हो रहे थे। ध्यानस्थ बालक ऐसा लग रहा था, मानो बालयोगी श्री शुकाचार्य ही भागवत-भावनाएँ लिये श्रीकृष्ण प्रभु के साक्षात्कार में शान्त, समाहित बैठे हों।

आह्निक से निवृत्त हो पिताजी पुत्र को ले श्री बाँकेबिहारीजी के मन्दिर में आये। अपने भावभरे ज्ञान-चक्षुओं से मुनि-मानस-विहारी बिहारीजी का साक्षात्कार कर बालक चन्द्रेश्वर पैदल चलने और अब तक भूखे-प्यासे रहने की सारी ग्लानि भूल गया। उसका मुख-मण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। यह देख पण्डितजी का हृदय कुछ हल्का हुआ।

अब पिता-पुत्र बाँकेबिहारीजी के मन्दिर के निकट ही एक सन्त के आश्रम में रहने लगे। वहाँ प्रतिदिन चन्द्रेश्वर को भजन, कीर्तन और भगवान् की नित्य-नूतन लीलाओं की रसभरी कथाएँ सुनने को मिलतीं। महायोगेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के रंग में रँगे सन्तजनों के सत्संग में वह इतना तल्लीन रहता कि

समय पर खाना-पीना भी भूल जाता। वर्षभर वहाँ निवास कर चन्द्रेश्वर ने श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धों का पुण्य श्रवण और मनन पूरा कर लिया।

इतने में वृन्दावनवासी महात्माओं में हरिद्वार-कुम्भ की चर्चा चल पड़ी। पण्डितजी सन्तों के साथ हरिद्वार जाना चाहते थे। किन्तु बालक चन्द्रेश्वर भगवान् कृष्ण की नित्य-लीलास्थली से इतना आसक्त था कि क्षणभर भी उसका वियोग उसे सह्य न था। विवशतः पण्डितजी को अपना विचार स्थगित रखना पड़ा।

आकाश-वाणी

एक दिन रात्रि में शयन करते हुए चन्द्रेश्वर ने स्वप्न देखा कि गगन-मण्डल से कोई दिव्याकृति अनन्त में अलक्ष्य रहकर उसे सम्बुद्ध कर रही है : 'वत्स ! यमुना मेरी नित्या शक्ति महारानी है और गंगा मेरे चरण से निर्गत नीराकार ब्रह्मद्रव है, जो मेरा ही प्रवहमाण रूप है। प्रति बारह वर्ष बाद कुम्भ-पर्व पर एकत्र होनेवाले तपस्वी, सन्त-महात्मा, योगिजन देवदूत हैं। तुम इस परम मङ्गल महोत्सव में क्यों नहीं भाग लेते ?

'फिर, एक रहस्य सुनो। भले ही पूर्वसुकृतवश किसी बड़भागी भक्त को मेरे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाय। किन्तु बिना सद्गुरु के ज्ञान सम्भव नहीं और बिना ज्ञान के मुक्ति भी असम्भव है। तुम उस अवसर पर हरिद्वार जाओ। वहाँ तुम्हें जीवन के कर्णधार सद्गुरु का लाभ होगा।'

एकाएक बालक का स्वप्न टूटा। यह दैवी आदेश मिलते ही उसका मन बदल गया। उसने पिताजी को जगाकर कहा कि 'कल ही हरिद्वार चलिये।' वे बालक के इस आकस्मिक हृदय-परिवर्तन का रहस्य जान न सके। फिर भी उन्हें हरिद्वार जाने की खुशी ने प्रफुल्लित कर दिया।

दूसरे दिन प्रातः पिता-पुत्र बिहारीजी को प्रणाम कर हरिद्वार के लिए चल पड़े।

हरिद्वार-कुम्भ

हरिद्वार पहुँचकर पण्डित रामदत्तजी ने अपने एक मित्र के घर गंगा-किनारे निवास किया। कुम्भ-पर्व के कारण भारत के कोने-कोने से श्रद्धालु जनता गंगा-तट पर आ जुटी थी। हिमालय की हिमाच्छादित कन्दराओं में कठोर साधना करनेवाले योगी, तपस्वी कुम्भ के निमित्त नीचे उतर आये थे। स्थावर और जंगम तीर्थों के इस संगम में स्नान कर भारतीय जनता जीवन कृतार्थ कर रही थी। जगह-जगह सन्त-महात्माओं के शिविर लगे थे, जहाँ से कीर्तन, भजन और

दुर्लभ उपदेशों की सरस्वती भागीरथी के अविच्छिन्न प्रवाह की तरह भावुकों का आन्तर मल क्षालित कर रही थी। स्थान-स्थान पर यज्ञशालाएँ और वेद-शास्त्र-पुराणपरायण के मण्डप वने थे, जहाँ शत-शत विद्वान् वैदिक, शास्त्री, पौराणिक होम-हवन, महायाग, वेद-शास्त्र-पारायण और पुराण-पाठ करते। यज्ञशालाओं से निकले सुगन्धित धूम से वातावरण एक विलक्षण दिव्य सौगन्ध्यसम्पन्न हो जाता। वेद-शास्त्र-पाठ की गम्भीर ध्वनि से गूँज उठता। साधारण जनता के मनोविनोद के भी विविध सात्त्विक आयोजन अपने-अपने स्थान पर सुशोभित हो रहे थे।

बालक चन्द्रेश्वर पिताजी के साथ नित्य भागीरथी में स्नान करता और सारा दिन महात्माओं के सत्संग में विताता। कुछ दिनों तक यही कार्यक्रम चलता रहा। पण्डित रामदत्तजी ने इस भीड़ में स्वामी रामानन्दजी महाराज की खोज की। किन्तु उनके निवास का पता न चल सका। भीड़ से वचकर धारणा-ध्यान के लिए इस वार उन्होंने अपने निवासार्थ एक निर्जन एकान्त स्थल चुना था और वहीं रहते थे। वैसे मेले में उनके सम्प्रदाय की ओर से सन्त-सेवादि की अलग व्यवस्था थी ही।

पिताजी चन्द्रेश्वर को लेकर अपराह्णोत्तर नीलधारा के निर्जन पवित्र तट पर पहुँचते और वहाँ उसे तरह-तरह की कथाएँ सुनाते। अँधेरा होते ही उधर से ही मित्र के घर चले जाते। अव यह उनका नित्य का क्रम बन गया।

एक दिन की घटना है। इसी नीलधारा के निर्जन पवित्र तट पर विद्वान् पिता पुत्र के प्रश्न पर गंगा के आविर्भाव और माहात्म्य की कथा सुना रहे थे कि तटवर्ती पर्णकुटी से एक महात्मा निकले। कुछ दूर बैठे पिता-पुत्र पर दृष्टि पड़ते ही महात्माजी ने वहीं से आवाज लगायी : 'कहो रामदत्त, कब आये?' चिरपरिचित प्रेमभरी ध्वनि कानों में पड़ते ही पण्डितजी ने उधर देखा और पुत्र को ले जल्दी-जल्दी उनकी ओर दौड़ पड़े। महात्माजी पुनः पर्णकुटी में प्रविष्ट हो गये और अपने आसन पर विराजे। पिता-पुत्र ने पर्णकुटी में प्रवेश कर साष्टांग प्रणाम किया। महात्मा का प्रश्न था : 'चन्द्रेश्वर कहाँ है और यह कौन है?'

चन्द्रेश्वर को देखे आज ५ वर्ष हो गये, इस बीच उसमें वहुत कुछ परिवर्तन हो गया और दिनमणि भी अस्ताचल पधार चुके थे। अतः लौकिक दृष्टि से महात्माजी चन्द्रेश्वर को पहचान न सके। पण्डित रामदत्तजी ने बालक को उनके चरणों पर समर्पित कर सारा दुःखद वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा : 'महाराजश्री को यहाँ कितना ढूँढ़ा, पर कहीं पता नहीं चला। अपार अनुग्रह है कि आज भगवान् ने ही भक्त को ढूँढ़ निकाला।'

स्वामी रामानन्दजी यह दुःखद घटना सुन अत्यन्त विस्मित हुए। बालक के

सिर पर अपना वरद-हस्त रखते हुए उन्होंने पण्डितजी को सान्त्वना दी। अपने जीवन के कर्णधार का स्पर्श पाते ही बालक की विचित्र दशा हो गयी। वह लोकोत्तर आनन्द में झूमने लगा। स्वामीजी ने पूछा : 'गीता, विष्णुसहस्रनाम का पारायण और द्वादशाक्षरी मन्त्र-जप तो करते हो न?' बालक ने कहा : 'गुरुदेव, वह तो जीवन का अंग बन गया है। उसने तो मेरे जीवन में एक विलक्षण क्रान्ति ला दी।'

बालक कामदुघा को छोड़ना ही नहीं चाहता था। काफी अन्धकार हुआ देख स्वामीजी ने पण्डितजी को अपने पास ही रह जाने को कहा। रात में बहुत देर तक महाराज उनसे पारिवारिक और आध्यात्मिक, तरह-तरह की वार्ता करते रहे। बालक अपने परिवार के साथ एक वीतराग महात्मा का इतना लगाव देख गद्‌गद हो अहोभाग्य मानने लगा।

दूसरे दिन प्रातः पिता-पुत्र ने भागीरथी में स्नान किया और नित्यविधि से निवृत्त हुए। तदनन्तर महाराज द्वारा प्रदत्त दुग्ध का आहार ग्रहण कर पिताजी ने अपने मित्र के घर जाने की आज्ञा माँगी। किन्तु स्वामीजी ने उनसे कहा कि 'कुम्भ के अन्तिम स्नान तक आप लोग यहीं मेरे पास रहें। आपके लिए निकट ही दूसरी पर्णकुटो तैयार है।' रामदत्तजी गुरुदेव का स्नेहभरा आग्रह टाल न सके।

अब वापस जाने का समय आया। पिताजी ने महाराज से आज्ञा माँगी। किन्तु बालक चन्द्रेश्वर उनके साथ घर लौटने को तैयार न था। उसने स्वयं को मन से स्वामीजी को समर्पण कर दिया था। वह करबद्ध प्रार्थना करने लगा : 'गुरुदेव, अब वापस जाना नहीं चाहता। श्रीचरणों में ही मुझे अनन्तानन्त सुख है। अपनी छत्रच्छाया में आश्रय दे दीक्षित कीजिये।' किन्तु स्वामीजी महाराज अभी दीक्षा देने के लिए सहमत न थे।

उधर पिता भी अपने एकमात्र आधार को छोड़ कैसे जा सकते थे? अब उनमें केवल पितृत्व ही थोड़े था, माता ने भी स्वर्ग सिधारते समय अपनी ममता जो सौंप दी थी। पिता उसे किसी तरह छोड़ने के लिए राजी न थे। एक विचित्र समस्या खड़ी हुई।

दीर्घदर्शी स्वामीजी कुछ सोचकर योगमुद्रा में बोले : 'अच्छा पण्डितजी, अभी यही उचित होगा कि तुम बालक चन्द्रेश्वर को अपने साथ वापस घर ले जाओ। जिस मुहूर्त पर इसने घर छोड़ा है, उसके फलस्वरूप यह एक बार घर अवश्य लौटेगा।' स्वामीजी के इस प्रातिभ ज्ञान और पण्डित लक्ष्मणदत्तजी के ग्रह-गणित के फलादेश की एकवाक्यता पर पिता-पुत्र दोनों स्तब्ध थे।

चन्द्रेश्वर ने स्वामीजी के पादपद्मों में अपना सिर नवाया। उसका हृदय अब अपना नहीं रह गया था। आँखों से विरहाश्रुओं की धारा स्वामीजी महाराज के चरण धो रही थी। महाराज ने प्रेमभरा हाथ उस पर फेरा और अपने कर-कमल से बालयोगी के आँसू पोंछते हुए कहा : 'वत्स, रोओ मत। शीघ्र ही हम दोनों पुनः मिलेंगे। विधाता ने तुम्हारा और हमारा मिलन दीर्घकाल तक लिखा है।'

पण्डितजी प्रणाम कर प्रसन्नता के साथ पुत्र को ले अपने गाँव पंजाब की ओर चल पड़े।

५

गायत्री और पंचदेवोपासना

पुनः गृहागमन

पण्डित रामदत्तजी बालक चन्द्रेश्वर को ले श्री स्वामी रामानन्दजी के पास से घर के लिए लौटे तो सही, किन्तु उनके हृदय में एक उलझन पैदा हो गयी। रास्ते में वे गहरे विचार में पड़ गये। सोचने लगे :

बालक स्वामीजी के पास ही रहना चाहता था। स्वयं स्वामीजी की भाव-भंगिमा देखते हुए भी यही लगता कि वे इसे अपने पास रखना चाहते हैं, यद्यपि अभी दीक्षित करने के पक्ष में नहीं हैं। अवश्य ही उन्होंने पण्डित लक्ष्मणदत्तजी का फलादेश अपने प्रातिभ ज्ञान से दुहराते हुए मुझे बालक को घर ले जाने का आदेश दिया। फिर भी मन कहता है कि तूने ठीक वैसा ही किया, जैसे अपने यज्ञ-सम्पादन के लिए राम को माँगनेवाले विश्वामित्र को महाराज दशरथ ने बालक कहकर पहले अस्वीकार कर दिया था। बाद में महाराज दशरथ को तो गुरु वसिष्ठ मिल गये, उन्होंने राम की दिव्यता का परिज्ञान कराकर उनका मोह मिटा दिया और दशरथ ने महर्षि को अपने किशोर-युगल सौंप दिये। किन्तु मुझे कौन-से वसिष्ठ मिलेंगे ? कौन मुझे सत्य की ओर ले जायगा ?

चन्द्रेश्वर कोई साधारण बालक थोड़े ही था ? अब भगवान् के अनुग्रह से उसकी सामर्थ्य और भी उद्‌बुद्ध हो उठी थी। बालयोगी ने पिता को कुछ चिन्तित, मौन और सोचते हुए-से जानकर सहज भाव से मधुर स्वर में कहा : 'पिताजी, इतने विचार में क्यों डूब रहे हैं ? क्या सोच रहे हैं ? आपको चाचा लक्ष्मणदत्तजी वसिष्ठ के स्थान पर प्राप्त हैं ही।'

पण्डितजी बालक के ये अलौकिक वचन सुन स्तब्ध रह गये। उन्हें दिव्य पुत्र के प्रति लौकिक पुत्रवत् माया-मोह रखनेवाले स्वयं पर तरस आया। वे महात्मा फलाहारीजी की असीम कृपा और सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा स्वामी रामानन्दजी के प्रत्येक रहस्यमय वचनों पर विचार करते हुए अपने गाँव पहुँचे।

बहुत दिनों से घर छोड़ा था, इसलिए आने के साथ पण्डितजी अनेक पारि-वारिक उलझनों में फँस गये। पण्डित लक्ष्मणदत्तजी के पास चन्द्रेश्वर को छोड़ वे दिनभर इन्हीं कार्यों में व्यस्त रहते।

जब वे कार्य से निवृत्त हो स्वस्थ बैठते, तो उन्हें लगता, कोई उनसे कह रहा है कि 'रामदत्त, चन्द्रेश्वर को मुझे वापस दे दो। फलाहारी सन्तरामजी का वरदान स्मरण करो। यह तुम्हारा बालक नहीं, सारे देश का उद्धारक महापुरुष है। मैं अपना शेष जीवन इसके स्वाध्याय, ज्ञान-यज्ञ, उपासना तथा योगानुसन्धान कराने में बिताना चाहता हूँ। विधाता ने मेरी सृष्टि इसीलिए की है कि सद्गुरु-रूप से चन्द्रेश्वर में ज्ञान की ज्योति जगाऊँ।'

पण्डित रामदत्तजी को समझते देर न लगती कि यह सन्देश पूज्य रामानन्दजी का ही है। अब उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया कि निकट भविष्य में चन्द्रेश्वर का सदा के लिए वियोग अनिवार्य है। स्वामीजा के इस सन्देश की प्रतिध्वनि उनके हृदयाकाश में सदैव गूँजती रहती।

इधर बालक चन्द्रेश्वर भी निरन्तर जप, तप, ध्यान में ही लगा रहता। विष्णुसहस्रनाम, गीता और द्वादशाक्षरी मन्त्र-जप की उसका साधना इन दिनों तीव्रतम हो गयी थी।

आखिर एक दिन पण्डित रामदत्तजी ने अभिन्न-हृदय लक्ष्मणदत्तजी के समक्ष अपना हृदय खोल ही दिया। बोले : 'शास्त्रीजी, चन्द्रेश्वर की जन्म-कुण्डली के के अनुसार इन दिनों कैसे ग्रहयोग चल रहे हैं ?' शास्त्रीजी तो गणित से निश्चय कर ही चुके थे कि चन्द्रेश्वर का जन्म लोक-कल्याणार्थ हुआ है। वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी से ही यति-दीक्षा लेगा और भारत के कोने-कोने में घूमकर सनातन वैदिक-धर्म का विस्तार करेगा। अनन्त ऐश्वर्य और ज्ञानप्रभा से विद्योतित हो भारतीय ऋषि-मुनियों की श्रेणी में उच्चपद पायेगा। फिर भी यह सारा फल पिता को बताने में उन्हें बड़ा संकोच हो रहा था। मातृविहीन और अपने एकमात्र वंश-तन्तु का वियोग कौन लौकिक पिता सह सकता है? अतएव ज्योतिषीजी उत्तर देने से कन्नी काट गये।

पण्डित लक्ष्मणदत्तजी विषम समस्या में पड़ गये। इधर ग्रहयोग की अनिवार्यता और उधर प्राणप्रिय मित्र का स्नेह! दैवज्ञ होते हुए भी मित्र-प्रेमवश उन्होंने एक बार दैव से झगड़ने की विफल चेष्टा की। चन्द्रेश्वर को ज्योतिष, गणित, स्मृति-शास्त्र पढ़ाने का उपक्रम बाँधा, ताकि उसका मन विरक्ति से कुछ मुड़े। किन्तु उनमें किसी भी प्रकार उसका मन नहीं लग पाया। वह अहर्निश विरक्ति और स्वामी रामानन्दजी की ओर ही आकृष्ट रहता।

अन्ततः एक दिन ज्योतिषीजी ने सारा धैर्य बटोरकर अपने मित्र से कहा : 'ऐसा योग दीखता है कि चन्द्रेश्वर कुछ समय के लिए हम लोगों से बिछुड़े। स्वयं तो हम उसे कहीं नहीं भेजेंगे, किन्तु योगायोग से यदि स्वामीजी स्वयं इसे

लेने आ जायँ तो आप न रोकिये।' ज्योतिषीजी यह दुःखद प्रसंग वहीं रोक किसी काम के बहाने निकल गये।

पण्डित रामदत्तजी मन को समझाने लगे कि अभी तो हम लोग हरिद्वार-कुम्भ से लौटे हैं। संभव नहीं कि स्वामीजी इतनी जल्दी आयें और हमारे चाँद का विछोह हो। आगे की देखी जायगी। पण्डितजी पुनः पूर्ववत् अपने काम में लग गये।

सद्गुरु और सच्छिष्य

अधिकारी शिष्य को सद्गुरु-प्राप्ति की जितनी उत्कण्ठा रहती है, यथार्थ-श्रद्धा-सम्पन्न शिष्य पाने की उससे कई गुनी उत्कण्ठा सद्गुरु को होती है। सतत विश्व-कल्याण में रत, त्यागी, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष ऐसे अनेक गुणशील उत्तराधिकारी चाहते रहते हैं, जो परम्परागत धर्म, संस्कृति और चारित्र्य की रक्षा करें। कर्म, भक्ति, ज्ञान, शौर्य, देश-प्रेम के सदुपदेशों से राष्ट्र को उन्नति-पथ पर अग्रसर करें। साधु-सन्तों की सेवा और अतिथि-सत्कार की प्रतिष्ठा बढ़ायें। दीन-दरिद्र और पतितों का उद्धार करें। महामोह के घोर अन्धकार में भटकते दुःखी, कृपण जीवों को अपने ज्ञान-दीप के उज्ज्वल प्रकाश का सम्बल दे शाश्वत वैदिक सन्मार्ग पर लायें। संक्षेप में देश, समाज और राष्ट्र के ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस् के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकें। चरित्र-नायक चन्द्रेश्वर में इन सब सद्गुणों की स्वरूपयोग्यता थी। अतः किसी भी लोक-संग्राहक ब्रह्मनिष्ठ का इसकी ओर आकर्षण स्वाभाविक था।

जकाराः पंच दुर्लभाः !

'जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्च दुर्लभाः॥'

आचार्यों ने कहा है कि १. जननी, २. जन्मभूमि, ३. पुण्यसलिला जाह्नवी, ४. जनार्दन और ५. जनक पिता—संसार में इन पाँच जकारों में से एक-एक भी अत्यन्त दुर्लभ होता है, किन्तु सद्गुरु में पाँचों एक साथ जुट जाते हैं। देखिये :

जब कोई जिज्ञासु सविधि, सच्चे अर्थ से सद्गुरु से दीक्षा लेता है, तो शास्त्रानुसार वह उसका 'पुनर्जन्म' है। उसका नाम भी बदल जाता है। इस तरह गुरुदेव स्पष्ट ही जननी हो गये। सिवा इसके भारतीय सन्त-वाङ्मय के अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि सन्त जन अपने इष्टदेव और सद्गुरु को 'मैया', 'माँ',

'माउली' कहकर पुकारा करते हैं। वहाँ गुरु का जननी रूप स्पष्ट निखर उठता हैं।

इसी तरह शास्त्रों ने सन्त-महात्माओं को परात्पर परब्रह्म का नित्यावतार माना है। तब गुरु परब्रह्म से अभिन्न है, यह अलग से सिद्ध करना नहीं पड़ता।

फिर, परब्रह्म सच्चिदानन्द तत्त्व पर ही अखिल विश्व आधृत है। वही उसका एकमात्र अधिष्ठान या आधार है। इसीलिए प्राणिमात्र की आधार-भूमि भगवान् भूमा और उन्हींके रूप सद्‌गुरु अर्थतः जन्मभूमि सिद्ध होते हैं।

भूमण्डल पर अवतीर्ण भागीरथी जाह्नवी अपने अमल जल में निमज्जन करनेवाले प्राणी का वाह्य मल धो डालती और उसे ऐहलौकिक सुख एवं पारलौकिक मोक्ष प्रदान करती है। इसी तरह वाग्-गंगा के रूप में ज्ञानमय सद्‌गुरु भी सांसारिक जनों का आन्तरिक मल धो देता है, अभिलाषियों की अभिलाषाएँ पूरी करता और मुमुक्षुओं को कैवल्य तक पहुँचाता है।

पिता का कर्तव्य है, बालकों का पोषण करना। मित-हित आहार देकर उसका शरीर स्वस्थ और पुष्ट बनाना। मन शुद्ध और स्थिर करना तथा पर्यायतः आत्मसुख सुलभ कराना। आध्यात्मिक पिता सद्‌गुरु भी शिष्य को पहले उतना ही ज्ञान का आहार देता है, जिससे उसका शरीर-स्वास्थ्य बना रहे। फिर धीरे-धीरे उसके मन का स्वास्थ्य साधता है और अन्ततः उस आत्म-स्वरूप की उपलब्धि कर देता है, जिसके लिए श्रुति कहती है, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३-५)।

संक्षेप में अध्यात्म के रंगमंच पर सद्‌गुरु और सच्छिष्य की यह युति राष्ट्र के भावी मंगल की नान्दी हुआ करती है।

श्री स्वामी रामानन्दजी को भी चन्द्रेश्वर बिना चैन कहाँ? उनके अवतार का एक मुख्य ध्येय उसका निर्माण जो था। वे एक ऐसा शिल्पकार बनाना चाहते थे, जो रूप-विहीन मूर्ति में रूप भर दे, विकलांग को सर्वांग-सुन्दर बना दे, धर्म को विभूषित कर दे और रूपराशि में दिव्य रूप डाल दे। चन्द्रेश्वर में इन बातों की स्वाभाविक योग्यता थी। अतएव वे उसे पाने के लिए अति उत्कण्ठित हो उठे।

स्वामीजी का गृहागमन

आखिर एक दिन हरिद्वार से पंजाब की ओर मुड़ते हुए स्वामीजी अकस्मात् पण्डितजी के गाँव आ पहुँचे। प्रातःकाल का समय था वह। पण्डितजी स्नानादि से निवृत्त हो पूजा-गृह में प्रवेश कर रहे थे कि एकाएक उनकी दृष्टि गोपुर के भीतर

प्रविष्ट अपने गुरुदेव पर आकृष्ट हो गयी। तुरन्त वे उधर दौड़ पड़े। उन्होंने हाथ के कमण्डल के जल से वहीं उनके चरण धोये, तीर्थ को सिर चढ़ाया और हाथ पकड़कर सादर सीधे पूजा-गृह में ले आये। वहाँ उन्हें भव्य आसन समर्पित किया। गुरुदेव आसन पर विराजे। पता पाकर पण्डित लक्ष्मणदत्तजी और बालक चन्द्रेश्वर भी वहाँ उपस्थित हो गये। उनका चरण-स्पर्श कर दोनों एक ओर बैठ गये।

कुशल-वृत्त के पश्चात् पण्डितजी महाराज की भिक्षा आदि के व्यवस्थार्थ घर चले गये। हृत्कमल के विकासक सूर्य को पा चन्द्रेश्वर खिल उठा। स्वामीजी ने बालक को अपने पास बुलाया और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा : 'कहो बेटा, कैसा स्वास्थ्य है ? प्रसन्न हो न ?'

चन्द्रेश्वर अपने इष्टदेव के दर्शनानन्द में मग्न था। उसने नम्रता से कहा : 'प्रभो, आपकी दया से पूर्ण स्वस्थ हूँ। आपके दर्शन से अपार तृप्ति मिलती है। अब आप मेरे ही पास रहेंगे न ?'

बालक के भावुक वचन सुन स्वामीजी का हृदय भी मातृतुल्य स्नेह से भर आया। उन्होंने कहा : 'हाँ-हाँ, क्यों नहीं ? सदैव तेरे साथ रहूँगा।'

महाराज के गर्भितार्थ शब्द बालक कैसे समझे ? फिर भी उसके अन्तर में छिपी गुरु-सान्निध्य की भावना को इन वचनों ने बहुत बल दिया। पण्डित लक्ष्मण-दत्तजी ने गुरुदेव को बालक की सारी दिनचर्या कह सुनायी।

पण्डित रामदत्तजी ने महाराज के भोजन की पूरी व्यवस्था कर उनका पूजन किया और भोग चढ़ाया। उनके भोजन के बाद सबने प्रसाद पाया।

स्वामीजी तीन दिन रह गये। चन्द्रेश्वर दिन-रात उन्हींके निकट बैठा रहता। बड़ी देर से नन्हें मुन्ने को छोड़कर गयी ममतामयी पुनः हाथ लगने पर जैसे वह उससे लिपट जाता है, बालक चन्द्रेश्वर का भी ठीक यही हाल रहा। उसकी सारी निराशा आशा में परिणत हो गयी। विषाद के क्षितिज पर आनन्द की किरणें बिखर गयीं। बड़े सौभाग्य और पुण्य-पुञ्ज से प्राप्त सद्गुरुरूप मरकत-मणि को कौन अभागा हाथ से खो देगा ?

बालक का यह हाल देख पितृ-हृदय पुनः विचलित हो उठा। वह अपने लाड़ले का अपने से अलग होना स्वीकार नहीं कर रहा था।

पण्डित लक्ष्मणदत्तजी ने भी बालक को बहुत समझाने का यत्न किया, पर वे भी असफल रहे। अन्ततः निरुपाय हो उन्होंने रामदत्तजी से कहा : 'पण्डितजी, कुछ दिनों के लिए चन्द्रेश्वर को स्वामीजी के साथ हरिद्वार भेज दें, ताकि उनका मन भी निराश न हो।'

पण्डितजी भलीभाँति समझते थे कि बालक एक बार निकल जाने पर पुनः कभी हाथ न लगेगा। फिर भी यह मानकर कि उसके आध्यात्मिक जीवन के उदय का ग्रहयोग आ ही गया है, उन्होंने जैसे-तैसे हृदय को ढाढ़स बँधाया और गुरुदेव से इतनी ही प्रार्थना की कि 'चन्द्रेश्वर को शीघ्र उदास-दीक्षा न दी जाय।'

स्वामीजी ने आश्वासन देते हुए कहा : 'पण्डितजी, इसकी चिन्ता न करें। जब तक पूर्ण परिपक्वता, अधिकार, त्याग-वैराग्य-सम्पन्नता न आये, तब तक दीक्षा दी ही कैसे जा सकती है ? आप भी कुम्भ के अवसर पर अवश्य आयें।'

गृह-त्याग

चौथे दिन प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त हो बालक जल्दी से तैयार हो गया। स्वामी रामानन्दजी महाराज भी अपने दैनिक उपासनादि से निवृत्त हुए। पण्डित रामदत्तजी ने सविधि पूजन कर उनकी भिक्षा करायी। बालक ने जाने की उत्सुकता में जैसे-तैसे कुछ खाया।

इसके बाद पण्डितजी ने बालक को प्रस्थान करते हुए गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी के साथ कर दिया। पिता की आँखें डबडबा आयीं। चन्द्रेश्वर ने पूज्य पिताजी और चाचा लक्ष्मणदत्तजी को साष्टांग प्रणाम किया। दोनों मित्रों की आँखों से गंगा-यमुना वह पड़ीं। प्रिय पुत्र को उठा पिता ने छाती से लगाया और सिर पर हाथ फेरते हुए कहा : 'चाँद, मेरे यहाँ तो घना अँधेरा ही किये जा रहा है। पर जा, स्वामीजी की असीम अनुकम्पा से भारत का भाग्य-सूर्य बन और देश का कोना-कोना अपनी दिव्य प्रभा से आलोकित कर दे। अब से तेरा 'कभी का' पिता इसी अमर आशा पर अपना शेष जीवन बितायेगा।'

चन्द्रेश्वर ने कहा : 'पिताजी, आपका आदेशात्मक पावन आशीर्वाद शिरोधार्य है। आप जिस महान् लक्ष्य से अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणों में सौंप रहे हैं, उन्हींके वरद-हस्त से वह उसे सफल करने में स्वप्न में भी प्रमाद न होने देगा। गुरुदेव की शक्ति अकल्प्य है। आप शान्त हो निश्चिन्त हो जायें।'

गाँव के सभी लोग बाल-योगी के गृह-त्याग की वार्ता सुन तत्काल उसके अभिनन्दनार्थ आ जुटे। लोकोत्तर बालक का अलौकिक कार्य देख सबके मुख-मण्डल पर गर्वभरा और हर्ष-शोकमिश्र आश्चर्य की रेखाएँ स्पष्ट खिंच गयी थीं।

स्वामी रामानन्दजी महाराज बालक को साथ ले मायापुरी के लिए चल पड़े। वातावरण में एक विलक्षण स्तब्धता छा गयी।

हरिद्वार में आगमन

दूसरे ही दिन स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज हरिद्वार में नीलधारा के रम्य तट पर अपनी कुटिया में बालक चन्द्रेश्वर के साथ आ पहुँचे।

उन्होंने क्रमशः चन्द्रेश्वर का मन अभ्यास में लगाया। उसे गीता एवं उपनिषदों का ज्ञान कराया। कभी-कभी बाल्यावस्था की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के स्वरूप चन्द्रेश्वर को घर और पिता की याद आ जाती और वह कुछ देर के लिए अनमना हो उठता। किन्तु स्वामीजी के सुत-निर्विशेष स्नेह और दिव्य सान्निध्य में वह मोह-लहरी क्षणभर में विलीन हो जाती।

स्वामीजी महाराज ने देखा कि चन्द्रेश्वर पढ़ते-पढ़ते कभी एकदम उदास हो जाता है। शास्त्रों के दृढ़ संस्कारार्थ कुछ धारणा भी अभी अपेक्षित है। उन्होंने उपाय का अन्वेषण किया और उसके समुचित सन्निवेश से चन्द्रेश्वर को लोकोत्तर धारणा-सम्पन्न बनाने का तय किया।

गायत्री-अनुष्ठान और वर-प्राप्ति

स्वामीजी चन्द्रेश्वर को शास्त्र-ग्रन्थों के अध्यापन के साथ-साथ कथा-कहानी के रूप में भी जब-तब अनेक शास्त्रीय रहस्यों से परिचित कराते रहते।

इसी प्रसंग में एक दिन उन्होंने अपने लाड़ले को ब्रह्म-गायत्री का संक्षिप्त रहस्य समझाया। कहा :

गायत्री-माहात्म्य : 'वत्स ! आज तुम्हें सम्पूर्ण शास्त्रों का एक रहस्य बताता हूँ। वैसे तू जानता ही होगा कि हमारी आर्य-संस्कृति का मूल आधार वेद है और उसका प्राणपद है, ब्रह्म-गायत्री-मन्त्र। उपनयन करके तुम्हारे पूज्य पिता ने तुम्हें जिसका मन्त्र-उपदेश दिया है और जिसे तुम प्रतिदिन प्रातः-सायं सन्ध्या के समय जपते हो, वही 'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' यह 'ब्रह्म-गायत्री' मन्त्र है। किन्तु नित्य जपते हुए भी क्या तुमने कभी इसके अर्थ और रहस्य पर ध्यान दिया है ?'

महाराज ने आगे कहा : 'देखो, यह मन्त्र ऋग्, यजुः और साम तीनों वेदों में मिलता है। इसमें अपनी बुद्धि की प्रेरणा के लिए ब्रह्म का तेज अपने में धारण करने की माँग की गयी है। इसे 'वेदमाता' कहते हैं। ब्राह्मण और त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का यह परम धन है। शौनकीय ऋग्विधान

में तो यहाँ तक कहा है कि सप्त व्याहृतियों से सम्पुटित[1] गायत्री-मन्त्र का एक लाख जप किये विना कोई भी वेद-मन्त्र सिद्ध नहीं होता :

'प्रथमं लक्षगायत्रीं सप्तव्याहृतिसम्पुटाम् ।
ततः सर्वैर्वेदमन्त्रैः सर्वसिद्धिश्च विन्दति ।।'

यदि ब्राह्मण इसी एक वेदमाता को सिद्ध कर लेता है, तो उसे जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं होती ।'

गुरुदेव ने कहा : 'वत्स, गायत्री की महिमा कितनी गाऊँ ! गीता तो जानता ही है । वहाँ विभूति-योग में 'गायत्री छन्दसामहम्' पढ़ा है न ? देख, भगवान् क्या कहते हैं । संसार में मेरी जितनी विभूतियाँ हैं, उनमें वेदों के बीच 'गायत्री' मेरी विभूति है । अर्थात् गायत्री भगवान् का साक्षात् रूप है ।

श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ करते हुए भगवान् वेदव्यास ने 'सत्यं परं धीमहि' जो कहा, वह गायत्री की ओर ही उनका संकेत है । इसीलिए कहा गया है कि यह ग्रन्थ वेदार्थ से परिपुष्ट गायत्री-मन्त्र का भाष्य ही है :

'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ।'

हिन्दू-संस्कृति का सर्वस्व श्रुति, स्मृति और पुराण हैं । श्रुति में तो यह ब्रह्म-गायत्री निर्गुण है । स्मृति (गीता) में इसका सगुण रूप प्रकट होता है और पुराणों में तो यह अप्राकृत भूमिका पर नित्य-नूतन दिव्य देवियों के रूप में विराजित है । इसकी जितनी महिमा गायी ज़ाय, थोड़ी ही है ।'

विषय का उपसंहार करते हुए स्वामीजी ने कहा : 'संक्षेप में मैंने तुम्हें गायत्री का यह रहस्य इसलिए बताया कि इसकी उपासना में तुम्हारी रुचि बढ़े और तुम सबसे पहले इसका एक पुरश्चरण कर डालो । शास्त्रों में बताया है कि किसी मन्त्र की सिद्धि उसके पुरश्चरण से होती है । 'पुरश्चरण' का अर्थ है, जो मन्त्र जितने अक्षरों का हो, उतने लाख बार सविधि व्रतस्थ हो उसका जप करना । ब्रह्म-गायत्री के २४ अक्षर हैं । अतः इस मन्त्र के २४ लाख जप से एक पुरश्चरण होता है ।'

बालक चन्द्रेश्वर ध्यान से यह गुरुगम्य रहस्य सुनता रहा । उसने कहा : 'गुरुदेव, बड़ा अनुग्रह हुआ, जो ब्रह्म-गायत्री के इस रहस्य से विनीत को अवगत

---

१. सप्त व्याहृतियाँ ये हैं : भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् । इनके सम्पुट का अर्थ है, मन्त्र से पहले इनका उच्चारण, बीच में मूल मन्त्र-पाठ और अन्त में पुनः इन्हीं सातों का विलोम-क्रम से उच्चारण ।

कराया। यह तो ऐसा ही हुआ कि स्वयं हरिण के पास कस्तूरी है, पर वह उसकी सुगन्ध पा उसे ख़ोजने वन-वन भटकता है। नाथ ! यदि आप मुझे इतना रहस्य न वताकर केवल गायत्री-पुरश्चरण का आदेश मात्र देते, तो भी दास गुरुदेव के अक्षर-अक्षर का पालन करने के लिए सदैव प्रस्तुत है। फिर यह तो वहुत ही बड़ा अनुग्रह हुआ। आदेश दें कि यह साधना कहाँ और किस विधि की जाय ?'

गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी ने चन्द्रेश्वर को पुरश्चरण की सारी विधि समझा दी और ज्वालामुखी-पीठ (होशियारपुर के सन्निकट) इस उपासना के लिए उपयुक्त स्थान वताया। स्वामीजी की सेवा में केशव नामक प्रौढ़ वय के एक ब्रह्मचारी रहते थे। उन्हींको साथ दे महाराज ने चन्द्रेश्वर को उक्त अनुष्ठानार्थ वहाँ जाने की आज्ञा दी।

शुभ मुहूर्त में गुरुदेव को नमस्कार कर ब्रह्मचारी केशवजी के साथ चन्द्रेश्वर ज्वालामुखी की ओर चल पड़ा। नियत स्थान पर पहुँचकर उसने सद्गुरु का स्मरण कर उनके बताये क्रम से गायत्री-पुरश्चरण अनुष्ठान का श्रीगणेश किया। ब्रह्मचारीजी चन्द्रेश्वर की सारी आवश्यक व्यवस्था बड़े स्नेह से किया करते।

दिन वीतते देर नहीं लगती। तीन वर्ष बीत गये। फलाहार और सविधि व्रत में रहकर चन्द्रेश्वर ने ब्रह्म-गायत्री का २४ लाख जप पूरा कर लिया। पुरश्चरण की साङ्गता के लिए होम, तर्पण, मार्जन के विकल्प में दशांश जप भी पूरा हो गया। फलस्वरूप चन्द्रेश्वर में अब अपूर्व अद्भुत तेज झलकने लगा।

भगवान् भी सविधि साधना का फल विना दिये नहीं रहते और वह सर्वाङ्ग-पूर्ण होने पर फल भी उतने ही शीघ्र दीखने लगता है। जिस दिन यह अनुष्ठान पूर्ण हुआ, उसी दिन रात में वेदमाता गायत्री ने चन्द्रेश्वर को दर्शन दिया। कोमल वय के वालक की कठोर तपस्या से प्रसन्न हो पराम्वा ने दो वरदान दिये। उन्होंने कहा : 'वत्स, तुम्हारी कठोर साधना से वशीभूत मैं एक वर यह देती हूँ कि विद्याभ्यास के समय स्मृति, मेधा और धारणा-शक्ति विलक्षण तीव्र होकर अल्प समय में ही तुम समस्त वेद-शास्त्रों के परिनिष्ठित विद्वान् बन जाओगे। दूसरे वर से तुम्हें देवों का पूर्ण प्रसाद प्राप्त होगा और तुम भारत में सनातन वैदिक-धर्म के प्रसार द्वारा अनन्तानन्त कीर्ति-ऐश्वर्य प्राप्त करोगे।'

चन्द्रेश्वर एकाएक जाग उठा। ममतामयी पराम्वा के दो वरों को स्मरण कर उसका हृदय गुरुदेव श्री रामानन्दजी के प्रति कृतज्ञता से भर गया। वह मन ही मन गुरुदेव को वार-वार अभिवादन करने लगा।

उपासना पूरी हो जाने से दूसरे ही दिन चन्द्रेश्वर वहाँ से ब्रह्मचारीजी के साथ हरिद्वार के लिए चल पड़ा।

हरिद्वार-आगमन और पितृ-दर्शन

हरिद्वार में पहुँचकर चन्द्रेश्वर ने गुरुदेव की वन्दना की। गले लगाते हुए गुरुदेव की आँखों से सच्छिष्य की सफलता पर प्रेमाश्रु उमड़ आये। चन्द्रेश्वर ने अनुष्ठान का विस्तृत विवरण और साक्षात्कार की घटना बतायी, तो वे प्रेम-विभोर हो गये। वास्तव में गुरु के सन्तोष में ही शिष्य की पूर्णता है।

अब चन्द्रेश्वर कुछ समय तक सद्गुरु के निकट रहकर शास्त्राध्ययन करने लगा। इसी बीच एक दिन पण्डित रामदत्तजी वहाँ पधारे। करीब चार वर्ष बाद प्राणप्रिय पुत्र का मुख देख उन्होंने अपने को धन्य माना। उनकी धन्यता तब और बढ़ गयी, जब स्वामीजी ने उसकी दुष्कर गायत्री-पुरश्चरण उपासना का हाल सुनाया। क्रमशः एक-एक अध्यात्म-सोपान पर आरोहण कर रहे पुत्ररूप अपनी आत्मा को देख किस पिता को धन्यता न मालूम होगी?

बालक का मन अब शास्त्राभ्यास में भलीभाँति एकाग्र हो गया था। घर का सारा आकर्षण जाता रहा। पण्डितजी कुछ दिन तो पुत्र-प्रेमवश साथ रहे, पर बाद में स्वामीजी की आज्ञा ले अपने घर चले गये।

अब चन्द्रेश्वर की शास्त्र-जिज्ञासा उत्तरोत्तर उत्कट हो चली। स्वामीजी का अधिक-से-अधिक सान्निध्य प्राप्त कर उसने उसका सर्वांगीण समाधान पा लिया। जिज्ञासु, उत्कण्ठित, अधिकारी शिष्य को पाकर कामधेनु की तरह सद्गुरु सदैव अमृत पिलाने के लिए सन्नद्ध रहते ही हैं।

पंचदेव-उपासना

२

वाद-कथा के प्रसंग में एक दिन गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी ने कहा कि 'चन्द्रेश्वर, द्विज के लिए सर्वप्रथम आवश्यक गायत्री-उपासना तो तूने कर ली और शास्त्र का स्वाध्याय भी अच्छी तरह चल रहा है। किन्तु लौकिक-पारलौकिक उत्कर्ष के लिए इसके साथ पञ्चदेवों की उपासना आवश्यक है। इसलिए उसे भी सम्पादित कर लो।'

शिष्य ने जिज्ञासा की : 'गुरुदेव, शास्त्रों में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, किम्बहुना, परब्रह्म तक कहा है। इस तरह जब समग्र देव-तत्त्व यहीं एकत्र सुलभ है, तो मुझे अपने से क्यों वियुक्त किया जा रहा है? फिर, गणपति, देवी, सूर्यादि

देव तो ऐहलौकिक फलदाता हैं। पारलौकिक कैवल्य के इच्छुक मुझ साधक के लिए गुरुदेव इन उपासनाओं की क्यों आवश्यकता मानते हैं ?'

शिष्य का उच्चतम भूमिका का प्रश्न सुन सद्गुरु अत्यन्त प्रमुदित हुए। फिर भी वे शिष्य के माध्यम से जगत् को क्रमिक विकास के निरापद राजमार्ग से निर्वाण-पथ पर लाना चाहते थे। साथ ही उन दिनों इन देवों के उपासकों में परस्पर अज्ञानकृत जो तर-तमभाव और विग्रह व्याप्त था, उसे मिटाना भी चाहते थे। अतएव इस प्रसंग से उन्होंने चन्द्रेश्वर को पञ्चदेवोपासना का रहस्य समझाना उचित समझा। बोले :

'वत्स, यह सच है कि गुरु ही सब कुछ है, किन्तु उसका भी यह कर्तव्य होता है कि लोक-संग्रहार्थ उन-उन देवताविषयक अपनी प्राचीन मान्यताओं को सुरक्षित रखे। गीता में भगवान् क्या कहते हैं ?

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सिदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥'

भगवान् श्रीमुख से कहते हैं कि बड़ों के पद-चिह्नों पर संसार चलता है। अतः यदि बड़े ही विधिविहित कर्म-मार्ग का विलोप करते हैं, तो उनके सिर लोक-हत्या का पाप चढ़ जाता है।

फिर, गुरु के प्रति यह भावना एक प्रकार से निर्गुण भावना ही है और उसकी समग्र सिद्धि के लिए भी यह सगुण पञ्चदेवोपासना आवश्यक होती है। अन्यथा अत्यन्त कठिन निर्गुण-उपासना में विघ्न-बाधाओं की, अस्थिरता-प्रयुक्त प्रमादों की आशंकाएँ रहती हैं।

फिर, देख ही रहे हो कि आज भी कई जगह शिव-उपासक विष्णु से विरोध करते हैं और विष्णु-उपासक शिव से द्वेष। आवश्यकता है कि पंचदेवों के वास्तविक स्वरूप से सारी धार्मिक जनता को परिचित कराकर उनसे इन सभी देवों की अभेदोपासना करायी जाय। जानते ही हो कि 'यः क्रियावान् स पण्डितः'— जो उपदेश्य का विचार कर स्वयं आचरण करता है, उसी पण्डित का उपदेश कुछ बल रखता है। इसलिए भी तुम्हें पञ्चदेव-उपासना करनी ही चाहिए। कल मैं पञ्चदेवोपासना का आध्यात्मिक रहस्य बतलाऊँगा। चलो, अब सायं-सन्ध्योपासना का समय हो गया। मैं भी स्नानादि के लिए जा रहा हूँ।'

दूसरे दिन पुनः वाद-गोष्ठी प्रारम्भ हुई। गुरु उच्च आसन पर अधिष्ठित थे और जिज्ञासु शिष्य नीचे बैठा उनका पाद-संवाहन कर रहा था।

गुरुदेव ने कहा : 'पञ्चदेव-पूजा का मुख्य उद्देश्य है—सुख, शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति। इससे चित्त में उत्तम विचारों का उदय, शरीर में दिव्य शक्ति का संचार और स्वभाव में स्वाधीनता की अनुभूति होती है। फलतः मन ब्रह्म की ओर लगता है। विभिन्न देवता ब्रह्म के अंश से प्रसूत हैं। ब्रह्म तो अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अशरीरी है। उसे वे ही जान सकते हैं, जो सांसारिक बन्धनों, लोक-व्यवहारों और फलाशाओं से रहित हैं। सामान्य जन ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसने किसी प्राणी-पदार्थ या देवादि को देखा ही नहीं, वह उसके स्वरूप को हृदय में अंकित कैसे कर सकता है? यही बात ब्रह्म के सम्बन्ध में भी है। अतएव निराकार ब्रह्म को हृदयंगम करने के लिए साकार ब्रह्म की उपासना करना राजमार्ग है।'

गुरुदेव ने आगे कहा : 'फिर, देवता चाहे एक हो या अनेक (वैसे तो तैंतीस करोड़ गिनाये गये हैं), उपास्य, मूर्त और सर्वमान्य साकार ब्रह्म के रूप में पाँच ही देव प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में कहा है कि सभी कर्मों में इनकी उपासना करनी चाहिए। इससे प्राणी कभी पीड़ा नहीं पाता, खेद का अनुभव नहीं करता :

> "आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
> पञ्चदैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्॥
> एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गां गणाधिपम्।
> भास्करं च धिया नित्यं स कदाचिन्न खिद्यते॥'

गणेश, सूर्य, देवी, शंकर और विष्णु के पूजक कभी दीन नहीं बनते और उनका यश, पुण्य और नाम सदैव अमर रहता है।'

स्वामी रामानन्दजी बोले : 'वत्स चन्द्रेश्वर! एक ही देव ने विभिन्न अवसरों पर विभिन्न लीलाएँ कीं, इसलिए उसके ये पाँच रूप दीखते हैं। वास्तव में पाँचों में एक ही तत्त्व अनुस्यूत है। यह कैसे? और प्रत्येक का क्या महत्त्व है? सावधान होकर सुनो।

गणपति : भारतीय संस्कृति में प्रत्येक कार्य का आरम्भ 'श्रीगणेशाय नमः' (श्री गणेश के वन्दन के साथ) से होता है। इसलिए भाषा में भी किसी कार्य

---

१. यहाँ 'अंशांशिभाव' वास्तविक अभीष्ट नहीं, ब्रह्माभिन्न उसकी शक्ति के आपेक्षिक विकास की अपेक्षा से ऐसा कहा गया है।

के प्रारम्भ को 'श्रीगणेश' कहा जाता है। गजानन विघ्नेश्वर हैं और हैं, ऋद्धि-सिद्धि के भर्ता। उनके पूजन से एक-एक कर विघ्न भाग जाते और ऋद्धि (समृद्धि) और सिद्धि दौड़ी आती हैं। वे मंगलमूर्ति साक्षात् प्रणव या ॐकार के आकार हैं। प्रणव को उलटकर खड़ा करो, तो श्रीगणेशजी की दो आँखें और सूँड बन जायगी। उनके श्रीविग्रह के ध्यान, जप और आराधना से मेधा तीव्र होती है, कारण वे बुद्धि के अधिष्ठाता हैं।

शंकर : भगवान् शंकर के अनेक नाम-रूप हैं, अनन्त चरित्र हैं, जिसकी सूची देने पर एक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा। भारत में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ भगवान् शंकर का लिंग न मिलता हो। उनका मुख्योपासना-विग्रह लिंग-मूर्ति ही है। अनादि ऋषि-परम्परा से सुप्रतिष्ठित लिंगोपासना श्रुति, स्मृति और पुराणों द्वारा भी अनुमोदित है। लिंग-विग्रह शिव का शक्ति-समन्वित प्रतीक है, जो साधक को उस परम पुरुष में मिला देता है। भोले बाबा इतने उदार और इतने दयालु हैं कि देते समय वे किसी प्रकार का संकोच नहीं करते और झट सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे सर्वविद्याओं के ईशान हैं।

विष्णु : श्रुति के प्रतिपाद्य भगवान् श्री विष्णु हैं। उनके अन्य सभी रूप भी श्रुतिसम्मत हैं। भगवान् विष्णु परम शैव, परम शिवाचार्य हैं, तो भगवान् शंकर परम वैष्णव, परम वैष्णवाचार्य। दोनों परस्पर अभिन्न हैं। हरि, हर का अभेद शास्त्रों में स्थान-स्थान पर वर्णित ही है। हिन्दू-संस्कृति में ये ही दो प्रमुख आराध्य हैं, एक यज्ञस्वरूप हैं तो दूसरे तपःस्वरूप। भगवान् विष्णु यज्ञरूप हैं, 'यज्ञो वै विष्णुः' तो भगवान् शंकर तपोमूर्ति। यज्ञ और तप का समन्वित रूप ही तो भारतीय संस्कृति है!

महाशक्ति : श्रुतियों ने बार-बार शक्ति और शक्तिमान् का अभेद गाया है। सृष्टि-काल में वही एक परम तत्त्व परम पुरुष और परा शक्ति के रूपों में द्विधा विभक्त हो जाता है। पर-पुरुष त्रिरूप अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करता है, तो उसकी संगिनी परा-शक्ति भी लक्ष्मी, गौरी, सरस्वती त्रिरूपा बन जाती है। जैसे पर-तत्त्व विभिन्न होकर भी अभिन्न है, वैसे ही परा-शक्ति के नित्यरूप दुर्गा, रमा, सीता, राधा आदि भी परस्पर अभिन्न हैं।

नवदुर्गाओं के रूप में उसी आदिशक्ति की आराधना की जाती है। वही शाकम्भरी और वही भ्रामरी है। वही कुल-कुण्डलिनी और वही योगमाया है। आश्विन और चैत्र के नवरात्रों में भारतीय जनता बड़ी श्रद्धा के साथ इनकी उपासना करती है। 'सप्तशती' इनकी पवित्र गाथा है, जो मार्कण्डेय-पुराण में ग्रथित है, जिसके पाठ से अभ्युदय, निःश्रेयस् सिद्ध होते हैं। मातृ-शक्ति के

आँचल में बालक के सभी अपराध क्षमा हो जाते हैं। विश्व में 'कुपुत्र' तो सुनाई देते हैं, पर 'कुमाता' कहीं नहीं। फिर इस कलियुग में तो शास्त्रकारों ने गौरी और गणेश को सद्यःसिद्धिकर बताया है : 'कलौ चण्डी-विनायकौ।'

सूर्य : शास्त्रों की आज्ञा है कि 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' अर्थात् स्वास्थ्य के लिए भगवान् सूर्यनारायण की शरण लें। उनकी उपासना से समस्त रोग—हृद्रोग, नेत्ररोग और ग्रह-पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं। उपासक की समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं। श्रुति कहती है : 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' अर्थात् भगवान् सूर्य स्थावर, जंगमात्मक इस सृष्टि की आत्मा हैं। भला अपनी आत्मा को कौन भूल सकता है ? यही कारण है कि भारत के कर्मनिष्ठ द्विज अनादिकाल से इन्हें प्रातः-सायं अर्घ्याञ्जलि देते आ रहे हैं। दृश्य सूर्य-मण्डल तो इनका स्थूल निवास है। विश्व में कोटि-सूर्य-मण्डल हमारे गगन को, आकाश-गंगा को चमकाते हैं। इन सभी सूर्यों के अधिष्ठाता सवितृ-मण्डल के मध्यवर्ती श्री नारायण ही भगवान् सूर्यनारायण के रूप में ध्येय हैं। वे साक्षात् परब्रह्म हैं।'

अपने प्रवचन का समारोप करते हुए गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी ने कहा : 'चन्द्रेश्वर, तुम्हें यह पञ्चदेवोपासना उनके तत्तत् सिद्धपीठों में जाकर करनी चाहिए।'

चन्द्रेश्वर महाराज की पीयूष-वर्षा से सराबोर हो गया। 'जो आज्ञा !' कहकर उसने उनके चरण छुए।

इस समय बालक चन्द्रेश्वर केवल १४-१५ वर्ष का होगा। अभी-अभी तो वह ३ वर्ष कठोर गायत्री-पुरश्चरण करके लौटा है। फिर भी गुरुदेव की आज्ञा होने से उसने तत्काल पञ्चदेव-उपासना का भी निश्चय कर लिया। स्नेह के स्रोत सद्गुरु ने भी इस उपासना के लिए सारी आवश्यक व्यवस्था करवा दी। योजनानुसार संवत् १९४८ में प्रथम विष्णु की उपासना प्रारम्भ हुई।[1] उपासना के साथ अनायास तीर्थाटन भी हो जाता है। स्वामीजी ने ब्रह्मचारी और एक अन्य सेवक को भी चन्द्रेश्वर के साथ कर दिया।

गुरुदेव को प्रणाम कर चन्द्रेश्वर प्रथम बदरीनारायण के लिए चल पड़ा। भगवान् विष्णु के विभिन्न पीठों में पहुँचा और लगातार तीन वर्षों तक एकान्त

---

१. वैदिक-सिद्धान्तानुसार विष्णु एवं सूर्य एक देववर्गीय हैं। 'द्यु' या स्वर्गनिवासी देवताओं में उनकी गणना है। अतएव गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि द्वादश आदित्यों में मैं विष्णु हूँ : 'आदित्यानामहं विष्णुः।' इसीलिए विष्णु-उपासना के पश्चात् सूर्योपासना का निर्देश है।

में रहकर उनकी आराधना की। इस यात्रा में उसने बदरीनारायण के अतिरिक्त वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण के, अयोध्या में भगवान् राम के और द्वारिका में श्री द्वारिकाधीश के दर्शन किये।

पहली धर्म-यात्रा और उपासना पूरी कर चन्द्रेश्वर संवत् १९५० में प्रयाग-कुम्भ पर गुरुदेव के निकट पहुँचा। दो-चार दिन वहाँ विश्राम किया और पुनः उनके आदेशानुसार सूर्योपासना के लिए चल पड़ा। वह काश्मीर के मार्तण्डनगर (मटन) पहुँचा। वहाँ श्री सूर्य-मन्दिर में आसन लगाकर ढाई वर्ष तक कठोर उपासना की। अल्पाहार ले दिनभर अपनी साधना में लगा रहा।

संवत् १९५२ के श्रावण मास में नासिक-गोदावरी का कुम्भ पड़ रहा था। चन्द्रेश्वर नासिक पहुँचा और वहाँ गुरुदेव के दर्शन कर उनकी आज्ञा से भगवान् शंकर की उपासना में लग गया। आठ मास तक नासिक में ही पुण्यसलिला गोदावरी के तट पर भगवान् त्र्यम्बकेश्वर की उपासना हुई। बीच में शिवालय में घृष्णेश, श्रीशैल पर मल्लिकार्जुन, डाकिनी स्थान में श्री भीमशंकर और सेतुबन्ध में भगवान् रामेश्वर के भी दर्शन किये। संवत् १९५४ के आरंभ में दारुकावन-स्थित भगवान् नागेश्वर के दर्शन किये।

इसके वाद चन्द्रेश्वर उज्जैन पहुँचा। वहाँ महाकालेश्वर और फिर ॐकारेश्वर ज्योतिर्लिंग के दर्शन किये। वहाँ भी कुछ समय रहकर उपासना की। पश्चात् वाराणसी में श्री विश्वेश्वर और जसीडीह (बिहार) में श्री वैद्यनाथ के दर्शन किये। इस तरह संवत् १९५२ से १९५६ तक शिवोपासना का क्रम चलता रहा। जसीडीह से जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) और भुवनेश्वर की यात्रा करते हुए अर्ध-कुम्भी पर प्रयाग में चन्द्रेश्वर पुनः गुरुदेव के दर्शनार्थ उपस्थित हो गया।

अब गुरुदेव ने गणेश और शक्ति की शेष दो उपासनाएँ पूरी करने का आदेश दिया। चन्द्रेश्वर काशी पहुँचा। वहाँ रहकर उसने दो वर्ष तक ढुण्ढिराज गणपति की उपासना की और उसके वाद भगवती आद्याशक्ति की उपासना का क्रम चल पड़ा।

भगवती आद्याशक्ति की विभिन्न मूर्तियों की उपासना एवं दर्शन के सिलसिले में चन्द्रेश्वर काश्मीर के शारदापीठस्थ सरस्वती देवी के, ज्वालामुखी में दुर्गा के और काँगड़ा में नगरकोटवासिनी देवी के दर्शन एवं उपासनाएँ कीं। इस तरह शक्ति-उपासना भी पूर्ण हो गयी।

इस प्रकार संवत् १९४८ से १९६० तक बारह वर्षों में अपने गुरुदेव श्री रामानन्दजी के आदेश पर चन्द्रेश्वर ने देश के सभी प्रमुख देव-स्थानों की यात्रा, दर्शन एवं पञ्चदेवों की उपासना पूरी कर ली।

अब वह २२ वर्ष का पूर्ण युवा बन गया। सतत तप, संयम और उपासना से युवा-योगी चन्द्रेश्वर का देदीप्यमान मुख-मण्डल देखते ही लगता कि निश्चय ही यह कोई अधिकारी पुरुष है। जिस पर आत्म-कृपा, ईश्वर-कृपा, गुरु-कृपा और शास्त्र-कृपा हो जाय, उसकी उज्ज्वलता में पूछना ही क्या? अपने दिव्य तेज से चन्द्रेश्वर अपना नाम सार्थक कर रहा था। गायत्री और पञ्चदेवों की उपासना से उसका स्वाभाविक तेज निखर उठा। सद्गुरु ने अपने अलौकिक शिष्य का आकार निर्माण कर लिया। अब उसमें प्राण और आत्मा भरना शेष था। ●

६

योग-साधना और दीक्षा

हरिद्वार-कुम्भ

संवत् १९६० में हरिद्वार का पूर्ण-कुम्भ था। चन्द्रेश्वर का मन उदासीन-सम्प्रदाय की प्रव्रज्या के लिए अब अत्यन्त उत्सुक हो उठा। बारह वर्ष की उपासना के पश्चात् जब वह इस अवसर पर हरिद्वार में गुरुदेव के निकट पहुँचा, तो उससे रहा नहीं गया। एक दिन एकान्त पाकर उसने सद्गुरु से इसके लिए साग्रह करबद्ध प्रार्थना की।

गुरुदेव ने समझाया : 'वत्स ! अगले कुम्भ-पर्व पर तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण हो जायगी। तब तक हिमालय की कन्दराओं में एकान्त में निवास कर योग-साधना भी पूरी कर लो। मैं तुमसे सर्वसाधारण मुनि की तरह केवल आत्म-कल्याण मात्र साधने की अपेक्षा थोड़े ही रखता हूँ। चाहता हूँ कि आज वैदिक सनातन धर्म-सूर्य पर तरह-तरह की विपत्तियों के जो बादल छा गये हैं, अपने उज्ज्वल ज्ञान-तपोरूप वज्र से तुम उन्हें छाँटकर पुनः इस कर्म-भूमि पर उसका प्रकाश फैला दो। इसीके लिए मेरा यह सुनियोजित प्रयास चल रहा है। सोचता हूँ कि ईश्वरानुग्रह और उपासना से निर्मित तुम्हारे दिव्य शरीर में योग-साधना का प्राण संचरित होने के बाद ही दीक्षात्मक आत्म-स्वरूप प्रतिष्ठित करूँ। इसलिए अभी शीघ्रता न करो और योग-साधना में जुट जाओ।'

योग : धर्मानुष्ठान का अनुपेक्ष्य साधन

सचमुच योग भारतवर्ष की अमूल्य निधि है। दर्शन-शास्त्र महर्षियों की योग-विद्या का ही एक चमत्कार है। समस्त विद्याएँ उनकी योगाभ्यासजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के ही मधुर-मनोहर फल हैं। एकाग्रता, समाधि और योग, तीनों प्रायः एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। शास्त्रों में सभी धर्मों का साधन योग माना गया है। श्रुति में भी इसके अनेक अंग यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।[1] वहाँ

---

१. इस सम्बन्ध में कुछ श्रुति-वाक्य ये हैं : 'सत्यं ब्रह्मणि ब्रह्म तपसि', 'तेन सत्येन क्रतुरस्मि', 'अस्तेयमसत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च', 'एतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति', 'क्षमा सत्यं दमस्त्रयो धर्मस्कन्धाः', 'यत्तपोदानमार्जवमहिंसा' आदि।

परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में योग के अंगों का उल्लेख है। उपनिषदों में तो व्यापक रूप में वर्णन है।[1] उपनिषत्सार-सर्वस्व गीता में तो 'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि से यह स्पष्ट वर्णित है। महाभारत और पुराणादि में भी योग का विपुल वर्णन है।

महर्षि पतञ्जलि ने तो अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा इन्हीं सब तत्त्वों का साक्षात्कार कर एक सर्वाङ्गपूर्ण सार्वभौम दर्शन प्रकाशित किया। उसका नाम है 'योग-दर्शन'। इसमें योग का लक्षण, फल और उसके साधनों का समग्र निरूपण कर क्रियात्मक योग के बाह्य एवं आन्तर साधनों का भी सूत्ररूप में निरूपण है। क्रियायोग के वे साधन सार्वभौम हैं। पातञ्जल योग-दर्शन के आज भी पाश्चात्यों तक आदर पाने का यही मुख्य रहस्य है।

दूसरी दृष्टि से भी योग की उपयोगिता और अनिवार्यता स्पष्ट है। देखिये, पुत्रवत्सला श्रुतिमाता मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए आदेश देती है कि 'धर्मं चर'—धर्म का अनुष्ठान करो। यह अनुष्ठेय धर्म तीन अंगों में विभक्त है: १. यज्ञ, २. दान और ३. तप। इनमें प्रथम स्थान 'यज्ञ' का है। वह भी तीन प्रकार का है: १. कर्म-यज्ञ, २. उपासना (जप) यज्ञ और ३. ज्ञान-यज्ञ। इनमें उपासना-यज्ञ की बात अनूठी है। प्रेम या भक्ति ही इसका प्राण है और योग है, शरीर। शरीर के विना शरीरी आत्मा का कोई भी भोग कभी नहीं सधता। तब उपासना का कोई भी अंग विना योग की सहायता के कैसे सध सकता है?

बात यह है कि किसी जलाशय की तरह जब मानव-अन्तःकरण विविध वृत्ति-तरंगों से चंचल हो उठता है, तो सर्वव्यापक, हृदय-विहारी परमात्मा छिप जाते हैं। यही उनका मनुष्य से दूर होना है। इसी प्रकार क्रिया-विशेष से वे ही वृत्ति-तरंगें शान्त होकर जब हृदय में प्रभु का प्राकट्य होने लगता है, तो वही परमात्मा का समीप होना है। सर्वव्यापक परमात्मा में इसके अतिरिक्त समीपता या विप्रकृष्टता हो ही नहीं सकती। इस तरह शान्त चित्त में परमात्मा के प्रादुर्भावरूप उक्त सामीप्य का सम्पादक क्रिया-कलाप ही 'उपासना' कहलाती है और उसका चित्त-शान्ति के साधक योग के बिना सधना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

रहा ज्ञान-यज्ञ। वह भी योग के विना आत्मलाभ कराने में समर्थ नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् का एक प्रसिद्ध वचन है: 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः,

---

१. द्रष्टव्य: श्वेताश्वतर-उपनिषद् का 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' आदि मन्त्र। कैवल्योपनिषद् का 'विविक्तदेशे सुखासनस्थः' इत्यादि मन्त्र।

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (२-४-५)। इसका अर्थ है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मदर्शन करें। इनमें श्रवण का अर्थ है, श्रुति-वचनों से आत्मतत्त्व को सुनना और मनन है, युक्तियों द्वारा उसे मन में बैठाना। किन्तु तीसरी साधना निदिध्यासन तो 'ध्यान' का ही पर्याय-शब्द है, जो योग-मन्दिर का सप्तम सोपान है। इस तरह निश्चित है कि ज्ञान-यज्ञ भी योग के बिना सध नहीं सकता।

यही कारण है कि योगी याज्ञवल्क्य लिखते हैं :

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥'

अर्थात् यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि धर्मों में परम धर्म है, योग द्वारा आत्मतत्त्व का दर्शन, आत्म-साक्षात्कार।

फिर, कर्म-यज्ञ की दृष्टि से भी विचार करें, तो 'एकाग्रता' के अपर पर्याय योग के बिना कौन-सा काम सफल होता है ?

सारांश, मानव के उत्तरोत्तर प्रगतिशील उत्थान के साधन कर्म-उपासना और ज्ञान-यज्ञों की योग के बिना साङ्गता ही नहीं होती। सम्भव है कि यही सब सोच-विचार कर सद्गुरु श्री रामानन्दजी ने चन्द्रेश्वर को योग-साधना का आदेश दिया हो।

योग : संक्षिप्त रूपरेखा

यह 'योग' शब्द संस्कृत के 'समाधि' और 'संयमन' वाचक 'युज्' धातु से भावार्थक 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। इस तरह 'योग' शब्द का अर्थ होता है, समाधि और चित्त-संयमन या चित्त-निरोध।[1] यह समाधि चित्तवृत्ति-निरोध की एक क्रियात्मक शैली है।

दूसरी दृष्टि से देखें, तो अविद्याग्रस्त जीव स्वयं को परब्रह्म परमात्मा से भिन्न-सा मानता है। यह भिन्नता, यह द्वितीयत्ता ही सर्वविध भय की जननी है। इसे मिटाकर जहाँ से यह निकल पड़ा है, उसी ब्रह्म में, पुनः पहुँचा देना 'योग' है। सुतराम्, जीव का परमात्मा में लय ही 'योग' है। 'विष्णु-पुराण' में कहा है :

---

१. वैसे देखा जाय तो शास्त्रों में अनेक अर्थों में 'योग' शब्द प्रयुक्त है। जैसे प्रेम, ज्योतिषशास्त्रोक्त योग, आराधना, ब्रह्मसंयोग, अप्राप्त की प्राप्ति, कर्म में कुशलता आदि। किन्तु प्रकृत में चित्त-संयमन और समाधि अर्थ हो अभि-प्रेत है।

'योगः संयोग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ।'

इस योग की चार क्रिया-शैलियाँ महर्षियों ने तत्तत् ग्रन्थों में बतायी हैं, जो क्रमशः १. मन्त्र-योग, २. हठ-योग, ३. लय-योग और ४. राज-योग[1] नाम से प्रसिद्ध हैं।

'मन्त्र-योग' का अर्थ है, शास्त्रोक्त नाम-मन्त्रों का जप या भगवद्रूप के ध्यान द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध कर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने का प्रकार। इसके स्पष्टीकरण में कहा जा सकता है कि यह दृश्य जगत्-प्रपंच नाम-रूपात्मक ही है। जीव इन्हीं नाम-रूपों में फँसकर बद्ध होता है। जागतिक अनुभव है कि मनुष्य जहाँ से गिरता है, उसी भूमि का सहारा ले उठ भी सकता है। उठने के लिए वह आकाश का सहारा कभी नहीं लेता। इसी आधार पर नाम-रूपों का सहारा लेकर वह मुक्त भी हो सकता है, यदि वे दिव्य हों। इन्हीं दिव्य नाम-रूपों के आधार पर चित्त-निरोध का शास्त्रोक्त क्रिया मन्त्र-योग है।

शारीरिक क्रिया-कलापों से चित्त-वृत्ति का निरोध कर मुक्ति-मार्ग पर पहुँचना 'हठ-योग' है। दोनों प्रारंभिक होने से और उनमें भी हठ-योग केवल 'घटशुद्धि'-कारी क्लेशावह प्रकार होने से ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए अनावश्यक है।

तृतीय 'लय-योग' का अर्थ है, शरीर में स्थित षट्चक्रों के भेदन द्वारा उत्थित कुल-कुण्डलिनी को ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचाकर वहाँ स्थित परमात्मा में लय कर देना, जिससे वहिर्मुखी वृत्तियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जायँ।

'राज-योग' है, केवल बुद्धि के सहारे ब्रह्म के विचार द्वारा चित्त-वृत्तियाँ शान्त कर मुक्ति प्राप्त करना।

योग की इस चतुर्विध क्रिया-शैलियों में निम्नलिखित आठ बातें सहायक या अंग मानी गायी हैं: १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. ध्यान, ७. धारणा और ८. समाधि। योग-शास्त्र में इनके लक्षण, प्रकार, इनकी साधना में आनेवाले विघ्न, उनके परिहार के उपाय आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

संक्षेप में इन अष्टांगों के स्वरूप निम्नलिखित हैं:

१. यम: अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का अस्वीकार)।

---

१. योग के साधन होने से इनमें भी गौण रूप में 'योग' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे, अभीष्ट का साधन होने से 'भोजन मेरा अभीष्ट है' यह कहा जाता है।

२. नियम : शौच (आन्तर और बाह्य शुद्धि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (भगवान् में अविचल भक्ति और सब कर्मों को उसे समर्पित कर देना)।

३. आसन : जिससे शरीर को सुख, मन को स्थिरता और आत्मा को प्रसन्नता प्राप्त हो, वे शारीरिक चेष्टाएँ।

४. प्राणायाम : पूरक, कुम्भक और रेचक नाम की तीन क्रियाएँ।[1]

५. प्रत्याहार : इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को त्यागते हुए चित्त के स्वरूप का अनुकरण।

६. धारणा : अन्तर्जगत् के स्थान-विशेष में चित्त को स्थिर करना, वहाँ अपना अधिकार जमाना।

७. ध्यान : ध्येय वस्तु में मन की एकतानता साधना।

८. समाधि : स्वरूपशून्य और ध्येयमात्र की स्फूर्ति से युक्त ध्यान अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय इस त्रिपुटी की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मिट जाना।

योग के सभी प्रकारों में इन आठों का रहना अनिवार्य है। अतएव ये योग के सार्वभौम अंग माने गये हैं।

पीछे संकेत किया जा चुका है कि चार प्रकार के योगों में राज-योग और लय-योग ही मुमुक्षु के लिए विशेष उपादेय हैं। इनमें से राज-योग के शास्त्रों में १६ अंग बताये गये हैं, जिनमें पहले सात अंग दार्शनिक-सम्मत सप्त-भूमियों की दृष्टि से हैं,[2] जो विचार-प्रधान हैं। फिर दो अंग हैं, दो प्रकार की धारणाएँ—प्रकृति-धारणा और ब्रह्म-धारणा। तीन अंग हैं, त्रिविध ध्यान—विराट्-ध्यान, ईश-ध्यान और ब्रह्म-ध्यान। और अन्तिम चार अंग हैं, चतुर्विध समाधि—१. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत, जिनके ध्यातव्य विषय क्रमशः स्थूल भूत, सूक्ष्म भूत, इन्द्रिय और अहंकार तादात्म्यापन्न पुरुष हैं। इस प्रकार राजयोग के (७ + २ + ३ + ४ = १६) सोलह अंग हुए।

सचमुच चारों योगों में राज-योग राजा है। इसमें द्वैतभाव तो रहता नहीं, पर साधक को सूक्ष्म रूप से 'सच्चिदानन्द' भाव का रसास्वादन होता रहता है। इसमें किये जानेवाले ध्यान की विशेषता यह है कि ध्यानान्तर से हानि नहीं

१. पूरक = वायु को भीतर खींचना। रेचक = वायु को बाहर निकालना। कुम्भक = पूरित या निस्सारित वायु को रोकना।

२. इन सप्त-भूमियों के नाम हैं : १. ज्ञानदा, २. संन्यासदा, ३. योगदा, ४. लीलोन्मुक्ति, ५. सत्पदा, ६. आनन्दपदा और ७. परात्परा (चित्पदा)।

होती। मन्त्र, हठ या लय-योग में एक ही प्रकार के ध्यान पर विशेष कटाक्ष रहता है, किन्तु राज-योग में त्रिविध ध्यान हितकर होते हैं। अर्थात् 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', 'मैं ही दृश्य का द्रष्टा हूँ' और 'मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हूँ' आदि भाव इसमें हुआ करते हैं। इसका रहस्य जीवन्मुक्त गुरु ही बता सकते हैं। यह ध्यान सध जाने पर निर्विकल्प समाधि सहज प्राप्त होती है।

राज-योग से अपेक्षाकृत न्यून लय-योग है। सृष्टि-क्रिया से यह लय-क्रिया सर्वथा विपरीत होती है। शास्त्रीय शब्दों में कहना हो तो 'अनुलोम से सृष्टि तो विलोम से लय' होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर से प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्त्व आदि उत्पन्न होते हैं। किन्तु लय-दशा ठीक इससे विपरीत होती है। अर्थात् सविकार प्रकृति का ईश्वर-तत्त्व में विलय हो जाता है। योगशास्त्र में सृष्टि और लय का कारण अन्तःकरण ही माना गया है। जैसे अन्तःकरण की वृत्तियों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध होकर सृष्टि का विस्तार होता है, वैसे ही उन वृत्तियों के निरोध से यह लयस्वरूप मुक्ति-पद प्राप्त होता है। संक्षेप में लय-योग का यही रहस्य है।

इस लय-योग के नौ अंग बताये गये हैं : १. यम, २. नियम, ३. स्थूलक्रिया, ४. सूक्ष्मक्रिया, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. लयक्रिया और ९. समाधि। इनमें आठवीं लयक्रिया ही इस योग का प्रमुखतम अंग है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि सूक्ष्म-क्रियारूप अंग के साथ स्वरोदय-साधना का, प्रत्याहार के साथ नादानुसन्धान क्रिया का और धारणा के साथ षट्चक्र-भेदन क्रिया का सम्बन्ध है।

शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं : १. इडा, २. पिङ्गला और ३. सुषुम्ना। मेरुदण्ड के वाम भाग में स्थित चन्द्रस्वरूपिणी नाड़ी 'इडा' कहलाती है। दक्षिण भाग में स्थित सूर्यस्वरूपिणी नाड़ी पिङ्गला है। और चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी, त्रिगुणमयी 'सुषुम्ना' मध्य भाग में विराजित है। भ्रू-मध्य के ऊपर जहाँ इडा और पिङ्गला आ मिलती हैं, मेरुमध्य-स्थित सुषुम्ना का भी वहीं मिलन होता है। अतएव यह स्थान 'त्रिवेणी' कहलाता है। शास्त्र में इन तीनों नाड़ियों को गंगा, यमुना और सरस्वती के रूप में रूपित किया गया है। यथा :

'इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥'

त्रिवेणी में जो योगी योग-बल से अपनी आत्मा को स्नान कराता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

'त्रिवेणी योगः स प्रोक्तो तत्र स्नानं महाफलम् ।'

इस शास्त्रवचनानुसार उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार मूलकन्द से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत सुषुम्ना नाड़ी की छः ग्रन्थियाँ हैं, जो 'षट्चक्र' नाम से कही जाती हैं। योग-क्रिया द्वारा मूलाधार में स्थित निद्रित कुल-कुण्डलिनी को जागृत कर इन षट्चक्रों के भेदन द्वारा सुषुम्ना-पथ में प्रवाहित करते हुए ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्रदल कमलस्थित परमशिव में लय कर देना ही लय-योग का प्रधान उद्देश्य है। संक्षेप में योग का सर्वजन-सुबोध यही रूप बताया जा सकता है।

उत्तराखण्ड की ओर

गुरुदेव से योग का यह मर्म अवगत कर चन्द्रेश्वर ने उन्हें सभक्ति प्रणाम किया और योग-साधना के लिए उत्तराखण्ड की ओर चल पड़ा। ऋषीकेश, वसिष्ठगुफा, उत्तरकाशी, गंगोत्री, यमुनोत्री आदि तथा हिमालय के अन्यान्य पुण्य प्रदेशों की गिरि-कन्दराओं में कुछ दिन कन्द-मूल पर, तो कुछ दिन अप्-भक्षण, वायु-भक्षण कर उसने गुरूपदिष्ट प्रक्रिया से दस वर्ष तक कठोर योग-साधना की। संवत् १९६० से १९७० तक इस युवा-योगी ने प्रकृति के शान्त-एकान्त अञ्चल में, हिमालय के शुभ्र शिखरों और वनस्थली के हरीतिम क्रोड़ में योग के शास्त्र एवं गुरुगम्य सभी रहस्यों का प्रायोगिक साक्षात्कार प्राप्त कर लिया।

अब इस दिव्य युवा में एक नवीन प्राण-संचार हो गया। शास्त्रोक्त परा और अपरा, सभी सिद्धियाँ उसके अधीन हो गयीं। 'मधुमती' भूमिका पार कर अब वह तृतीयावस्था में भी पदार्पण कर चुका था। नित्यसिद्ध अवतारी महापुरुषों की लीलाएँ कुछ और ही हुआ करती हैं। चन्द्रेश्वर में भी वे अब पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो गयीं। वह अब साधारण बालक या युवा नहीं रहा। हाँ, 'वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा' की तरह उसे युवक कह सकते हैं।

योग-साधना पूर्ण कर योगी चन्द्रेश्वर दो वर्ष तक विभिन्न तीर्थों की यात्रा करते रहे। उसके बाद संवत् १९७२ में हरिद्वार-कुम्भ के अवसर पर वे हिमगिरि से नीचे उतर आये।

दीक्षा का प्रथम कुम्भ

पूर्ण-कुम्भ के प्रसंग से सद्गुरु श्री रामानन्दजी महाराज हरिद्वार में ही थे। हिमगिरि से उतरकर चन्द्रेश्वर गुरु-आदेश की पूर्ति के उल्लास में उनके निकट

पहुँचकर चरणों में गिर पड़े। सद्गुरु ने उन्हें उठाकर गले लगाया। अनेकानेक कठोर साधनाओं की कसौटियों में उत्तरोत्तर खरा उतरकर आज चन्द्रेश्वर को सफलता की चरम चोटी चूमते देख गुरुदेव उन्हें प्रेमाश्रुओं से नहलाने लगे।

चन्द्रेश्वर का एक ही प्रश्न था : 'गुरुदेव, अब मुझे कब दीक्षा देंगे ?'

गुरुदेव ने कहा : 'अब कोई देर नहीं वत्स! शुभ मुहूर्त देखता हूँ और तुम्हारी चिरकामना पूर्ण किये देता हूँ।' चन्द्रेश्वर को सद्गुरु के वचन अमृत-वृष्टिवत् लगे।

गुरु और दीक्षा का रहस्य

योगी चन्द्रेश्वर भलीभाँति जानते थे कि गुरु-तत्त्व क्या है और उनसे दीक्षा पाने का कितना अलौकिक, आध्यात्मिक गौरव है।

गुरु-तत्त्व : भारतीय अमर वाङ्मय में गुरु-गरिमा से करोड़ों पृष्ठ रँगे पड़े हैं। अपौरुषेय वेद भी गुरु-शिष्य के अमर सम्वन्ध का वर्णन करते हुए गुरु-गरिमा गाते हैं। देखिये :

'न तं तिग्मं च न त्यजो न द्रासदभि तं गुरुः।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो
व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥'

(ऋग्वेद ८-४७-७)

अर्थात् सूर्य के समान प्रतापी और परोपकारी योगादि चमत्कारों से ख्यातिप्राप्त गुरुदेव जिस प्रिय शिष्य को लौकिक-पारलौकिक भोग-मोक्ष प्राप्त करा देते हैं, उस गुरु-आज्ञाकारी, गुरु-भक्त को, भले ही वह तीक्ष्ण-प्रकृति हो, क्रोध कभी नहीं धर दबाता। केवल क्रोध ही नहीं, उसका कारण काम और काम की भी अवान्तर जाति लोभ और उनके सहचर मोह, मद, मत्सर भी उस साधक को आक्रान्त नहीं कर पाते। शिष्य-संरक्षण के गुरुदेव के प्रकार सचमुच सुन्दरतम होते हैं।

गुरु शब्द के अर्थ : इस प्रसंग में व्याकरण, निरुक्त एवं पुराण-शास्त्र-वचनों के अनुसार 'गुरु' शब्द के अर्थ का विचार प्रासंगिक होगा। व्याकरण-पद्धति के अनुसार यह 'गुरु' शब्द

धातु-अंक	धातु	अर्थ	गण
५७५	गुर्वी	उद्यमने	भ्वादि परस्मैपदी
९६२	गॄ	सेचने	,, ,,
१२९	गॄ	निगरणे	तुदादि ,,
२६	गॄ	शब्दे	क्र्यादि ,,
१७४	गॄ	विज्ञाने	चुरादि आत्मनेपदी

इन पाँच धातुओं से बना है। इसलिए इसकी व्युत्पत्तियाँ (विग्रह) भी पाँच हैं। यथा :

(१) 'गूर्वति उद्यच्छति' अर्थात् जो साधक को संसार-सागर से पार करने का उद्योग करता है।

(२) 'गरति शिष्यदक्षिणकर्णे गुरुमन्त्रामृतं सिञ्चति शिष्यहृदि समुद्भूतां वैराग्यलतां प्रेमलतां वा वर्धयितुं स्वोपदेशैः सिञ्चति' अर्थात् शिष्य के दक्षिण कर्ण में जो गुरु-मन्त्ररूप अमृत का सिञ्चन करता है। अथवा शिष्य के हृदय में उत्पन्न वैराग्य-लता या प्रेम-लता के विकासार्थ उपदेशरूपी जल से सिञ्चन करता है।

(३) 'गिरति सविलासामविद्यां ग्रसते, संसृतिं समूलघातमपहन्ति' अर्थात् कार्य-सहित अविद्या को जो भक्षण करता है, यानी मूलसहित संसार का विनाश कर देता है।

(४) 'गृणाति ब्रह्मतत्त्वम् उपदिशति' अर्थात् जो ब्रह्म-तत्त्व का उपदेश करता है।

(५) 'गारयते विजानाति स्वयं परान् विज्ञापयति चेति गुरुः' अर्थात् जो स्वयं ब्रह्म को जानता है तथा दूसरों को उसका बोध कराता है। स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार करके जो दूसरों को भी उसका साक्षात्कार कराने के लिए सचेष्ट रहता है, वह गुरु है।

'गुरुर्गूढरुतो भवति गूढं रौति इति वा' इस निर्वचन के अनुसार गुरु वह है, जिसकी उक्ति गूढ़ हो या जो गूढ तत्त्व का उपदेश दे।

शास्त्रवचनों के अनुसार 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : 'गुरु' पद के 'गु' अक्षर का अर्थ है, अन्धकार और 'रु' का अर्थ है, तमोनाशक। इस तरह 'जो अज्ञानरूप तम का नाशक है', वह 'गुरु' कहलाता है। 'गुरु' शब्द का प्रथम वर्ण 'गु' माया आदि गुणों का प्रकाशक है और 'रु' मायाजनित भ्रान्ति के नाशक अद्वितीय ब्रह्म का बोधक है। इसलिए ('गु') सगुण-अवस्था और ('रु') निर्गुण-अवस्था को प्रतिपन्न कर 'गुरु' शब्द बना है। 'ग'कार का अर्थ है सिद्धिदाता, 'र'कार का अर्थ है, पापहर्ता और 'उ'कार का अर्थ है शिव। इस तरह गुरु शब्द से सिद्धिदाता शिव और पापहर्ता शिव (ग + उ + र + उ = गुरु) ऐसा अर्थ बोधित होता है। निष्कर्ष यह कि जिस महापुरुष की कृपा से अज्ञानान्ध जीव ज्ञान-नेत्र प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र से छूट जाय, वही 'गुरु' है :

'गुकारस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥'
'गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः ।
रुकारो द्वितयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविमोचकः ॥'
'गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ॥'

गुरु-महिमा के सम्बन्ध में कौन-से शास्त्रीय वचन दिये जायँ और कौन नहीं, समझ में नहीं आता । प्रत्येक वचन में एक-एक रहस्य भरा है । तन्त्र-शास्त्र में भगवान् शिव अपनी प्राणप्रिया पार्वतीजी से कहते हैं कि 'महेश्वरी, अपार संसार-समुद्र से पार पाने के लिए गुरुचरण-सरोजरूपी नौका ही एकमात्र अवलम्बन है :

'संसारापारपाथोधेः पारं गन्तुं महेश्वरि ।
श्रीगुरोश्चरणाम्भोजनौकैवैकाऽवलम्बनम् ॥'

अन्यत्र लिखा है कि सारे ब्रह्माण्ड में जितने तीर्थ हैं, सभी निरन्तर गुरुदेव के चरण-कमलों में निवास करते हैं ।

'ब्रह्माण्डभारमध्ये तु यानि तीर्थानि सन्ति वै ।
गुरोः पादतले तानि निवसन्ति हि सन्ततम् ॥'

'गुरु-गीता' कहती है कि गुरु में मनुष्य-बुद्धि, मन्त्रों में अक्षर-बुद्धि और प्रतिमा में पाषाण-बुद्धि रखनेवाला नरक का भागी होता है ।

'गुरौ मानुषबुद्धिं तु मन्त्रे चाक्षरभावनम् ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥'

गुरुदेव की महिमा कहाँ तक गायी जाय ? संसार में उसकी उपमा नहीं । उन्हें पारस-मणि कहें, जो लोहे-से जड़मति शिष्य को सोना बना देता है, तो वह भी ठीक नहीं बैठता । पारस अपने स्पर्श से लोहे को सोना तो बना देता है, पर उसे पारस नहीं बनाता, जिसका स्पर्श होने पर संसार का सारा लोहा सोना बन जाता है । इसके विपरीत गुरुदेव तो शिष्य को स्व-स्वरूप बना देता है । गुरुदेव शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर विधाता की अमिट विपरीत रेखा भी मिटा देने की सामर्थ्य रखते हैं ।

दीक्षा : ऐसे लोकोत्तर तत्त्व सद्गुरु की कृपा और अधिकारी सच्छिष्य की श्रद्धा, दोनों पवित्र धाराओं का संगम ही 'दीक्षा' पदार्थ है । दूसरे शब्दों में 'दीक्षा' है, गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्म-समर्पण । एक की कृपा और दूसरे की

श्रद्धा के अतिरेक से ही 'दीक्षा' सम्पन्न होती है। 'दान' और 'क्षेप' ही दीक्षा का मर्म है। गुरु अपने ज्ञान, शक्ति एवं सिद्धि का दान कर शिष्य के अन्तःस्थ अज्ञान, पाप एवं दारिद्रय का जो क्षय करता है, उसे निकाल बाहर करता है, वही 'दीक्षा' कही जाती है। उसका माध्यम होता है, गुरु की ऋतम्भरा प्रज्ञा से निकला शब्द-विशेष, मन्त्र।

गुरु-गीता में कहा है कि ब्रह्माण्ड के साथ ईश्वर का जैसा सम्बन्ध है, क्रिया-योग के साथ गुरु का भी वैसा ही सम्बन्ध है। दीक्षा-विधान में ईश्वर कारण-स्थल है, तो गुरु कार्य-स्थल। अतः गुरु ब्रह्मरूप है :

'यादृगस्तीह सम्बन्धो ब्रह्माण्डस्येश्वरेण वै।
तथा क्रियाख्ययोगस्य सम्बन्धो गुरुणा सह ॥
दीक्षाविधावीश्वरो वै कारणस्थलमुच्यते।
गुरुः कार्यस्थलं चातो गुरुर्ब्रह्म प्रगीयते ॥'

सभी साधकों के लिए दीक्षा अनिवार्य है, कारण बिना दीक्षा के सिद्धि का मार्ग अवरुद्ध रहता है। शास्त्रों में कहा है :

'दीक्षामूलो जपः सर्वो दीक्षामूलं परं तपः।
सद्गुरोराहिता दीक्षा सर्वकर्माणि साधयेत् ॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
न फलन्ति ध्रुवं तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥
इह दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥'

अर्थात् दीक्षा सम्पूर्ण जपों का मूल है और सर्वविध तपश्चर्याओं का भी मूल दीक्षा है। सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा सम्पूर्ण कर्मों को सफल बनाती है। जो बिना दीक्षा ग्रहण किये, जप, पूजादि क्रिया-कलाप करते हैं, उनके सभी कर्म पत्थर पर बोये बीज की तरह निष्फल, व्यर्थ हो जाते हैं। दीक्षा-विहीन मनुष्य द्वारा किया गया कोई भी कर्मानुष्ठान कभी सिद्ध नहीं होता और न उसे सद्गति ही मिलती है। अतएव हर प्रयत्न से गुरु से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

दीक्षा एक दृष्टि से गुरु की ओर से आत्मदान, ज्ञान-संचार या शक्तिपात है, तो दूसरी दृष्टि से है, शिष्य में सुषुप्त ज्ञान एवं शक्तियों का उद्बोधन। दीक्षा से शरीर की सारी अपवित्रता नष्ट हो जाती है और देह शुद्ध होकर उसे देव-पूजन का वास्तविक अधिकार प्राप्त होता है।

शिष्य के अधिकार-भेद से ही मन्त्र और देवता का भेद होता है। चतुर वैद्य रोगी के काल, अग्नि, वय, बल आदि का विचार करके ही किसी औषधि की, उसकी मात्रा की योजना करता है। ठीक इसी तरह सद्‌गुरु भी साधक के पूर्वजन्मीय संस्कार, वर्तमान जन्म की वासनाएँ तथा उसकी योग्यता जानकर ही तदनुकूल मन्त्र और देवता का निर्णय करता है। फलतः उससे शिष्य का उत्तरोत्तर विकास होता है, ह्रास की शंका तक नहीं रहती। शिष्य सद्‌गुरु द्वारा दीक्षित मन्त्र की साधना, अनुष्ठान करता है, तो अति स्वल्पकाल में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो मूल पुरुष परमात्मा से ही क्रमशः ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु आदि की परम्परा चली आ रही है और पूर्व-पूर्व का ज्ञान अपर-अपर में संक्रान्त होकर वर्तमान में गुरु-शिष्य में वह अक्षुण्ण हो जाता है। इसीका नाम 'सम्प्रदाय' है, जब कि भ्रमवश आज की भाषा में 'सम्प्रदाय' और 'साम्प्रदायिक' का बड़ा ही विकृत अर्थ किया जाता है। इस साम्प्रदायिक ज्ञान की प्राप्ति गुरु से ही सम्भव है। कारण मूल शक्ति क्रमशः उसीमें उद्‌बुद्ध होती आयी है। गुरु की दीक्षा से शिष्य के अन्तर में उस शक्ति का जागरण अति सुलभ हो जाता है। अतएव देखा जाता है कि कभी-कभी अत्यन्त उत्कृष्ट भक्ति, व्याकुलता और श्रद्धा-विश्वास होते हुए भी किसी-किसीको उतना भगवत्कृपानुभव नहीं होता, जितना कि किसी साम्प्रदायिक गुरु से दीक्षित साधारण शिष्य को हो जाता है। श्रुति भगवती कहती है :

'आचार्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्टं प्रापत्।'

औदास्य-दीक्षा के विशेष तत्त्व

योगी चन्द्रेश्वर गुरु और दीक्षा का यह समग्र रहस्य और महत्त्व भलीभाँति जानते थे। अतः उन्हें यह सब समझाने की आवश्यकता ही न थी। हाँ, औदास्य-दीक्षा के कुछ विशेष तत्त्वों का परिज्ञान कराना शेष था। अतएव दीक्षा से पूर्व पहले दिन आचार्य श्री रामानन्दजी महाराज ने चन्द्रेश्वर को उनका उपदेश दिया। उन्होंने कहा :

'चन्द्रेश्वर, औदास्य-दीक्षा के समय साधक को पूर्व-वेष का परित्याग कर सन्त-वेष धारण करना पड़ता है। वास्तव में वेषों का यह त्याग-ग्रहण साम्प्रदायिक आचार मात्र है। दीक्षा के समय आचार्य जिस विद्या का उपदेश करते हैं, वही सबसे प्रमुख है, उसीसे साधकों का उद्धार होता है। यह विद्या कल तुझे प्रदान की जायगी। हाँ, पूर्व-वेष-भूषा का त्याग और सन्त-वेष-धारण का क्या रहस्य है, इसे सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो।

जिन वस्तुओं का बाह्य त्याग होता है, उनका भीतर आरोप किया जाता

हैं। यज्ञोपवीत हो ले लो। यज्ञोपवीत त्यागते समय कहा जाता है : 'यज्ञोपवीत बहिर्न निवसेः. त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रं परमं पवित्रं यशोबले ज्ञानं वैराग्यं मेधां प्रयच्छ' (नारद० उप० ४) अर्थात् 'हे यज्ञोपवीत, अब तू बाहर मत रह, अन्दर प्रविष्ट हो निरन्तर, परम पवित्र, यश, बल, ज्ञान, वैराग्य और आत्मबुद्धि प्रदान कर, उन्हें बढ़ाता रह।'

यहाँ शंका होती है कि 'यज्ञोपवीत भीतर किस रूप में प्रविष्ट किया जाय ?' आचार्यश्री अपने 'मात्रा-शास्त्र' में इसका समाधान करते हैं : 'अखण्ड जनेऊ।' अर्थात् अखण्ड ब्रह्म को ही यज्ञोपवीत रूप में भीतर आरोपित करना चाहिए। श्रुति ने भी कहा है :

'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद् योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥
बहिः सूत्रं त्यजेद् विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद् यः सचेतनः।
धारणात् तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥'

(नारद० उप० ३।७७–८१)

अर्थात् शिखासहित शिर का मुण्डन कर बाह्य यज्ञोपवीत त्याग देना चाहिए और सदैव भीतर विराजमान अखण्ड ब्रह्म के रूप में उसकी भावना करनी चाहिए। वास्तविक सूत्र तो वही परब्रह्म है, जिसने समस्त प्रपंच को अपने में उसी तरह पिरो रखा है, जिस तरह एक धागे में अनन्त मणियाँ पिरोयी जाती हैं। इस पावन ब्रह्मसूत्र के धारण से योगी सदैव पवित्र रहता है।

वस्तुतः बाह्य यज्ञोपवीत उस ब्रह्म-महासूत्र का एक प्रतीक है। अन्तिम ध्येय के सूचनार्थ द्विजाति के संस्कारों में उसे मुख्य स्थान प्राप्त है। किन्तु जब साधक अपने उस परम ध्येय तक पहुँच जाता है, तब प्रतीक की आवश्यकता ही क्या ? अतएव चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही वह इन सब पूर्व-प्रतीकों को त्याग देता है और वास्तविक सूत्र का अपरोक्ष दर्शन करता हुआ कहता है :

'त्वयि सर्वमिदं प्रोतं जगत्स्थावरजंगमम् ।
बोधे नित्योदिते शुद्धे सूत्रे मणिगणा इव ॥'
(योगवा०, उप० २९-४७)

अर्थात् भगवन्, सब कुछ यह स्थावर-जंगमात्मक जगत् नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप तुझमें उसी प्रकार पिरोया हुआ है, जिस प्रकार किसी धागे में मणियाँ ।

अब धोती का आरोप देखो । आचार्यश्री कहते हैं : 'निर्मल धोती ।' महात्माओं की धोती उनके मन की निर्मलता ही है । किन्तु सब कोई यह धोती धारण नहीं कर सकते । उसके लिए कठोर तप आवश्यक है । योग-वासिष्ठ (उप० ४३-३१) में कहा गया है कि ईश्वर-पूजन और वैराग्यजनक कठोर तपों से कुछ काल पश्चात् चित्त निर्मल होता है । निर्मल चित्त में ही ब्रह्मविद्या का संचार संभव है, मलिन में नहीं ।

इस तरह साधक के निर्मल चित्त ने दयालु आचार्य अति गोपनीय दीक्षा-मन्त्र का उपदेश अधिकारियों के लिए देते हैं : 'सोऽहं जाप ।'

आचार्यश्री लौकिक शिखा का गुरु-मन्त्र में आरोप करते हुए कहते हैं : 'सिखा गुरु-मन्त्र ।' पर वह भी कैसा ? हरिनाम-समन्वित गायत्री : 'गायत्री हरिनाम ।' निश्चल आसन पर बैठकर इस गायत्री का जप करना चाहिए ।

अब बाह्य तिलक का भीतर आरोप करते हुए आचार्यश्री कहते हैं : 'तिलक संपूर्ण ।' अर्थात् चन्दन-तिलकरूप सुगन्ध से जैसे शरीर सुगन्धित होता है, वैसे ही समग्र विश्व को वासित करनेवाले ब्रह्म की ही तिलक के स्थान पर भावना करनी चाहिए ।

अन्त में पूजा का रहस्य समझाते हुए आचार्यश्री कहते हैं : 'पूजा प्रेम ।' अर्थात् बाह्य पूजा परमेश्वर के अंश-विशेष विष्णु आदि से सम्बन्ध रखती है । वह उस व्यापक परमेश्वर को प्रसन्न कर सकती है या नहीं, यह सन्देहास्पद है । किन्तु विश्वरूप परमात्मा का प्रेम ऐसी पूजा है, जिससे वह निश्चय ही प्रसन्न होगा । इस तरह बाह्य पूजा का आरोप आन्तरिक प्रेम में किया जाता है ।'

दीक्षा के साम्प्रदायिक रहस्य के निरूपण का उपसंहार करते हुए गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी ने कहा : 'वत्स, इन सब बातों से केवल एक ही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापक ब्रह्म ही हमारे समक्ष नित्य-नूतन लीला कर रहा है । विवेक द्वारा यह रहस्य समझकर प्राणिमात्र में समदृष्टि रखना और प्रेम से उनकी सेवा करना सच्ची साधना है, विश्वम्भर को रिझाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है । परम-पिता परमात्मा की सेवा को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाकर जो उसके विविध रूप जीवमात्र की निष्काम भाव से आजीवन सेवा करता है, वह सचमुच

महाभाग और कृतकृत्य हैं। परमपिता की प्रसन्नता ही मानव-जीवन का महा-प्रसाद है। जिसने उसे पाया, उसने अमरता पा ली।'

इस प्रकार कतिपय साम्प्रदायिक तत्त्वों पर प्रकाश डालने के वाद सद्गुरु श्री रामानन्दजी ने कहा कि 'चन्द्रेश्वर, यह मैंने साधारण भूमिका के रूप में सम्प्रदाय के कुछ वैशिष्ट्य वताये। अव कल दीक्षा के वाद सव कुछ जान जायगा।'

दीक्षा-ग्रहण

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में सद्गुरु श्री स्वामी रामानन्दजी महाराज और चन्द्रेश्वर नित्य-कर्म से निवृत्त हो आसन पर समासीन हो गये। सम्प्रदायानुसार औदास-दीक्षा के सभी पूर्वकृत्य सम्पन्न हो चुके थे।

अव चन्द्रेश्वर ने सनकादि चार आचार्यों एवं पाँचवें सद्गुरु श्री रामानन्दजी स्वामी का अंगुष्ठ धोकर तीर्थ ग्रहण किया। पश्चात् सवका सविधि पूजन कर सवको साष्टांग प्रणाम किया। सद्गुरु ने अपने पास बिठाकर कर्ण में दीक्षा दी।

अधिकारी शिष्य की दीक्षा में सनकादि प्रमुख गुरुओं ने प्रत्यक्ष आविर्भूत हो आशीर्वाद दिया : 'वत्स ! आज से तुम उदासीन-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। हम लोगों ने हंसावतार से यह उदासीन-प्रव्रज्या पायी और उसी सम्प्रदाय के अभ्युत्थान के लिए श्री रामानन्द के माध्यम से तुममें उसे संक्रान्त कर रहे हैं। सम्प्रदाय की उन्नति और प्रतिष्ठा के लिए आजन्म प्रयत्नशील रहना।'

चन्द्रेश्वर ने 'ओम्' कहकर सादर स्वीकृति के साथ पुनः पञ्च गुरुओं को साष्टांग नमस्कार किया।

सद्गुरु रामानन्दजी महाराज ने विधि के अनुसार दीक्षा के साथ 'चन्द्रेश्वर' का दीक्षा-नाम 'गंगेश्वर' रख दिया। अव से चन्द्रेश्वर 'गंगेश्वरानन्द'[1] वन गये।

---

१. यह 'गंगेश्वर' नाम भी एक इतिहास रखता है। चन्द्रेश्वर जव पिता के साथ वृन्दावन के आनन्द में मग्न थे और वहाँ से हरिद्वार-कुम्भ भी जाना नहीं चाहते थे, तो एक दिन रात में उन्हें स्वप्न में किसी दिव्य पुरुष ने आकर कहा कि 'गंगा ईश्वर का तेज है, तुम्हें हरिद्वार जाना ही चाहिए।' यह घटना पीछे वर्णित है। उसी समय जगने के साथ चन्द्रेश्वर के दिमाग में उपर्युक्त वाक्य गूँज उठा। उसने पिताजी से अकस्मात् पूछा कि 'व्याकरण-शास्त्र के अनुसार गंगा + ईश्वर पद जोड़ने से कैसा रूप बनता है?' पिताजी ने कहा : 'गंगेश्वर।' फिर वालक के आग्रह पर उन्होंने उस समय गंगा की महिमा भी वतायी थी। संयोग की वात है कि आज वही नाम हमारे चरित्र-नायक को मिला।

७

शास्त्र-शिक्षा और शास्त्र-प्रचार

काशी में शास्त्राभ्यास

यों तो सदगुरु-निर्दिष्ट समस्त साधनों के अनुष्ठान से स्वामी गंगेश्वरानन्दजी के अन्तःकरण में सभी विद्याएँ स्फूर्त हो चुकी थीं। सभी योगसिद्धियाँ उन्हें आत्मसात् हो गयी थीं। ज्ञान-साधन विवेक, वैराग्य, शम-दमादि पूर्णतः संसिद्ध हो चुके थे। अब केवल आदर्श-रक्षार्थ गुरुदेव श्री रामानन्दजी ने उन्हें शास्त्र के विशिष्ट अध्ययन के लिए काशी जाने की आज्ञा दी। स्वामी गंगेश्वरानन्दजी भगवान् कृष्ण को अपना जीवनाराध्य मानते हैं। जैसे सनातन शिष्य-परम्परा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण उज्जैन में गुरु सान्दीपनि के आश्रम में अध्ययनार्थ पधारे, वैसे ही आपने भी अध्ययनार्थ हरिद्वार से काशी के लिए प्रस्थान किया।

काशी में पहुँचकर स्वामी श्री गंगेश्वरानन्दजी ने प्राचीन शिष्य-मर्यादा का पूर्ण पालन करते हुए तीन वर्ष तक विभिन्न विद्वानों से व्याकरण, न्याय, वेदान्त, मीमांसा, काव्य आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन किया और स्वल्प अवधि में उनमें पारंगत हो गये। आपके सभी विद्या-गुरु—(व्याकरण के) स्व० श्री हरिनारायण त्रिपाठी (तिवारीजी), (नव्य न्याय के) स्व० महामहोपाध्याय श्री वामाचरण भट्टाचार्य, (प्राचीन न्याय के) स्व० महामहोपाध्याय श्री अम्बादास शास्त्री, (काव्य के) स्व० महामहोपाध्याय श्री देवीप्रसाद कवि-चक्रवर्ती एवं (वेदान्त के) स्व० श्री काशीनाथ शास्त्री—आपकी विलक्षण प्रतिभा देख आश्चर्यचकित थे।

एक दिन की बात है, स्वामीजी ने अपने व्याकरणाध्यापक श्री तिवारीजी से पूछा : 'पाणिनि के 'षष्ठी स्थाने योगा' इस सूत्रस्थ 'स्थान' पद का क्या परिष्कार है ?' आचार्य ने हँसकर कहा : 'स्वामीजी, इसके लिए बारह वर्ष काशी की सीढ़ियाँ तोड़नी होंगी।' आप मौन रह गये। रात्रि में विभिन्न सम्बद्ध ग्रन्थों का परिशीलन कर जब आप ध्यानावस्थ हुए, तो उक्त परिष्कार स्वतः स्फुरित हो गया। फिर क्या था ? प्रातः आपने त्रिपाठीजी को उसे यथावत् सुना

दिया और उसका ठीक-ठीक समन्वय भी कर दिखाया।[1] त्रिपाठीजी आपकी अतुलनीय प्रतिभा पर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें निश्चय हो गया कि अवश्य ही ये कोई विभूति हैं। इनकी यह प्रज्ञा एकमात्र उपासना का ही फल हो सकता है।

साधारणतया पूरे १२ वर्ष तक काशी में रहकर कठिन श्रम करने के वाद ही कोई किसी शास्त्र में प्राविण्य पाता है। फिर भी इतना प्रकाण्ड विद्वान् नहीं वनता। किन्तु स्वामीजी ने ढाई वर्ष की अभ्यास-साध्य 'सिद्धान्त-कौमुदी' ढाई मास में इससे पूर्व अपने सद्‌गुरु से ही पूरी कर ली थी। अव इन तीन वर्षों में से डेढ़ वर्ष में व्याकरण-महाभाष्य, मञ्जूषा आदि सभी टीकाग्रन्थ अभ्यस्त कर लिये। शेष समय में न्याय, वेदान्त, मीमांसादि अन्यान्य शास्त्रों पर भी अधिकार पा लिया। उदासीन-सम्प्रदाय की प्रस्थानत्रयी के चान्द्रभाष्यादि साम्प्रदायिक निबन्ध तो आपने अपने सद्‌गुरु से ही पढ़े थे। अव आप काशी के अच्छे-अच्छे विद्वानों के साथ शास्त्रीय विषयों पर चर्चा, विचार करने लगे।

'शास्त्रार्थ' काशी की अपनी विशेष परम्परा है। उन दिनों आज जैसी विश्वविद्यालयों की परीक्षाएँ विशेष प्रचलित न थीं। इनी-गिनी परीक्षा-संस्थाएँ थीं भी, तो उनका विशेष महत्त्व न था। विद्यार्थी तभी 'पण्डित' कहलाता, जव वड़ी-वड़ी सभाओं में चोटी के विद्वानों के समक्ष शास्त्रार्थ-परीक्षा में सोलह आने खरा उतरे। वैसे उन दिनों वाहर से अनेक भावुक गुणग्राही श्रीमान् काशी पधारते और प्रायः नित्य ही अच्छे-अच्छे पण्डितों को वुला शास्त्रार्थ, शास्त्र-चिन्तन सुनते। विद्वज्जन अपने-अपने प्रतिभाशाली चुने छात्रों को लेकर पहुँचते

---

१. उक्त परिष्कार आर उसका समन्वय इस प्रकार है : 'स्थानं चात्र प्रसङ्गः प्रसङ्गपदार्थश्च — वृत्तिविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्टसाधनत्वप्रकारकभ्रम-विषयत्वप्रकारकज्ञानीय-विशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताकेष्टसाधनत्वप्रकारक-प्रमाविषयत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता। स्थानपदार्थतावच्छे-दकवृत्तित्वान्वयिनिरूप्यनिरूपकभावश्च षष्ठ्यर्थः। तथा च 'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्' इत्यादौ दर्भनिरूपितवृत्तित्ववती या विशेष्यतावच्छेदकतावच्छे-दकता तादृशावच्छेदकताकं यत् 'दर्भकरणकं प्रस्तरणम् इष्टसाधनत्वप्रकारकभ्रम-विषयः' इत्याकारकज्ञानम्, तादृशज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकं यत् प्रस्तरणत्वं तद-वच्छिन्नविशेष्यताकमिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकं यज्ज्ञानं 'शरकरणकं प्रस्तरणमिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयः' इत्याकारकम्, तादृशज्ञानीयविशेष्यता-वच्छेदकतावच्छेदकता शरेष्विति लक्षणसमन्वयः।

और शास्त्र-चर्चा से सबको सन्तुष्ट करते। अन्त में आगत श्रीमानों की ओर से यथाशक्ति विद्वानों की सम्भावना, पूजा हुआ करती। इसीलिए उन दिनों प्रायः प्रत्येक छात्र अपना-अपना विषय पूरा उपस्थित रखता कि जाने कब कैसा मौका पड़ जाय।

उन दिनों काशी के गुरु-गृहों में भी प्रायः शास्त्रार्थ चलते। वर्ष के अनेक विशेष अवसरों पर विभिन्न उत्सव-स्थलों पर भी विद्वान् जुटते और शास्त्रार्थ छिड़ जाते। ऐसे स्थानों में नागपञ्चमी के दिन नागकुँआ और श्रावण के चार मंगलवारों को दुर्गाकुण्ड, बहुत बड़े शास्त्रार्थ के अखाड़े माने जाते। वैसे प्रतिदिन वहाँ की कम्पनी-बाग में भी शास्त्रार्थ-व्यसनी विद्वान् आ जुटते।

स्वामीजी सोत्साह इन शास्त्रार्थ-केन्द्रों पर पहुँचते और बड़े-बड़े मनीषियों तक को अपना लोहा मनवा देते। इस कारण काशी के छात्र और विद्वन्मण्डल में शीघ्र ही आपकी काफी प्रसिद्धि हो गयी। आप पूरे शास्त्रार्थी पण्डित माने जाने लगे।

प्रमुख कतिपय शास्त्रार्थ

इसी बीच संवत् १९७४ (सन् १९१८) का प्रयाग का कुम्भ पड़ा। गंगा और यमुना के विशाल तटों पर पूर्वप्रथानुसार देश के विभिन्न सम्प्रदायों के शिविर लगे और उनमें अन्न-सत्र, कथा-कीर्तन, शास्त्र-चर्चा आदि कार्य चलने लगे। देश के ख्यातिप्राप्त विद्वान्, सन्त, महन्त भी जुटे थे। स्वामीजी भी अपने सतीर्थ्य-वर्ग के साथ वहाँ पहुँचे और उन्होंने अनेक शास्त्रार्थों एवं शास्त्र-चर्चाओं में भाग लेकर सर्वत्र अपने वैदुष्य की धाक जमा दी। इनमें से कुछ शास्त्रार्थ निम्नलिखित हैं :

१. श्री अर्जुन मुनि के साथ महाभाष्य का शास्त्रार्थ।

२. यावज्जीवन नव्यन्याय के अभ्यासी श्री ललितागिरि के साथ विरक्त-मण्डल की उपस्थिति में न्याय के खण्ड-ग्रन्थों (प्रकरण-ग्रन्थों) में शास्त्रार्थ।

३. मण्डलेश्वर श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी के सान्निध्य में तत्कालीन सुयोग्य विद्वान् स्वामी जयेन्द्रपुरीजी, भागवतानन्दजी, स्वरूपानन्दजी आदि के साथ 'पञ्च-लक्षणी' के प्रथम लक्षण पर शास्त्रार्थ। ज्ञातव्य है कि स्वामी श्री गोविन्दानन्दजी न्यायशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्हें इस पारस्परिक शास्त्रार्थ से अत्यन्त सन्तोष हुआ। पण्डित हरिप्रकाशजी इन शास्त्रार्थों में आपका सहयोग देते रहे।

४. श्री स्वामी पूर्णानन्दजी उदासीन की छावनी में स्वर्गीय बच्चा झा जी के प्रमुख शिष्य पण्डित लक्ष्मीनाथ झा के साथ 'पञ्चलक्षणी' के प्रथम लक्षणगत

'पर्याप्ति-निवेश' पर गम्भीर विचार। इस अवसर पर श्री स्वामी पूर्णानन्दजी एवं स्वयं पूज्य वच्चा झा जी भी आपकी अद्भुत कल्पना पर अत्यन्त प्रभावित हुए।

इस तरह स्वामीजी के लिए विद्यार्जन के चतुर्विध प्रकारों में पहला प्रकार अच्छी तरह सध गया। शेष तीन प्रकार[1] वाकी थे। अतः आप काशी में रहकर छात्रों को शास्त्र-ग्रन्थ भी पढ़ाने लगे। आपकी शास्त्रार्थ करने की सहज वृत्ति वहीं तृप्त हो सकती थी। अतएव आपने कुछ दिन काशी रहना उचित समझा।

पंजाब की शास्त्री-परीक्षा

वहीं एक बार स्वामीजी के हृदय में यह भावना जाग उठी कि जिस प्रकार स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि ने देश-विदेश में सनातन-धर्म और आर्य-संस्कृति का व्यापक प्रचार किया, उसी प्रकार हमें भी भारत के राजा-महाराजाओं एवं विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का गौरव वढ़ाना चाहिए।

क्रमशः भावना ने जोर पकड़ा और इसकी पूर्ति के लिए आपने पंजाव-विश्व-विद्यालय की शास्त्री परीक्षा देने की सोची। वहाँ यह सुविधा थी कि शास्त्री-परीक्षोत्तीर्ण छात्र केवल अंग्रेजी लेकर वी० ए० तक कर सकता है। अतः आप सन् १९१९ के जून महीने में काशी से पंजाव पहुँचकर कपूरथला के रणधीर कॉलिज में प्रविष्ट हुए। वहाँ पण्डित कृष्णदत्तजी संस्कृत-विभाग के मुख्य अध्यापक थे। उन्होंने आपको सहर्ष भर्ती कर लिया। फिर तीन महीने के लिए कॉलेज की छुट्टियाँ हो गयीं। आप शास्त्रीय पुस्तकों का अध्ययन तो पहले ही कर चुके थे। केवल अनुवाद और निवन्ध आदि का अभ्यास शेष था। उसकी प्रक्रिया भी आपने शास्त्री-उत्तीर्ण श्री संसारचन्द्र आदि छात्रों की संगति से अवगत कर ली।

पण्डित कृष्णदत्तजी स्वामीजी पर विशेष प्रसन्न रहने लगे। कहते कि 'हम लोग आपको क्या पढ़ायें ? आप ही वर्षों तक नयी-नयी बातें समझा सकते हैं।' पण्डितजी अनुभव करते कि ये हमारे कॉलेज के योग्यतम विद्यार्थी हैं, जिनके द्वारा भविष्य में कॉलेज का नाम उज्ज्वल होगा।

कभी-कभी स्वामीजी मानव-सुलभ स्वभाव का अनुसरण कर अपने अध्यापक से कहते कि 'यह मैं काशी चला। शास्त्री-परीक्षा वड़ी कठिन है। इसे कैसे उत्तीर्ण कर पाऊँगा ?' मुख्य अध्यापक हँसते हुए उत्तर देते : 'अव तक जो छात्र इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके, क्या वे स्वर्ग से उतरे हुए थे ? मैंने आज तक कितने ही छात्रों को पढ़ाया। किन्तु उनमें एक भी आप जैसा प्रतिभाशाली नहीं मिला।

---

१. महाभाष्य में विद्यार्जन के चार प्रकार बताये गये हैं : १. अध्ययन, २. बोध, ३. आचरण और ४. प्रचारण।

निश्चित कहता हूँ कि आप अच्छे अंकों से पास होंगे।' भगवान् के नित्यावतार सन्तों को मानव-विग्रह धारण करने पर मानव-सुलभ कुछ लीलाएँ करनी हो पड़ती हैं।

सन् १९२० में १७ मार्च से २३ मार्च तक यह 'शास्त्री' परीक्षा चली। स्वामीजी ने सभी प्रश्न अत्यन्त सन्तोषजनक रूप में हल किये। इन दिनों परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी भी साथ थे। स्वामीजी का वाचन, अनुवाद, निवन्ध-लेखन आदि कार्य स्वयं वे सम्पन्न करते। अव तक के विवरण से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि श्री रामानन्दजी महाराज स्वामीजी के गुरुदेव ही नहीं, माता, पिता और गुरु तीनों की समष्टि, त्रिदेव थे। उन्हें अपने मनोनीत शिल्पकार को हर संभव प्रयत्न से, लौकिक दृष्टि से भी सर्वांगपूर्ण वनाना जो था।

परीक्षा के कुछ मास पूर्व ही स्वामीजी को काशी से सूचना मिल चुकी थी कि वहाँ उदासीन संस्कृत विद्यालय और अन्न-क्षेत्र पुनः चालू हो गया और आप सीधे यहाँ पधारिये। शास्त्री-परीक्षा पूरी होते ही गुरुदेव की आज्ञा पाकर आपने काशी के लिए प्रस्थान कर दिया।

काशी में अन्न-क्षेत्र और विद्यालय

काशी के उदासीन संस्कृत विद्यालय और अन्न-क्षेत्र की भी लम्बी कहानी है। स्वामीजी के मित्र कुलपति कृष्णानन्दजी की प्रेरणा पर सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित स्वामी श्री पूर्णानन्दजी, पाकपट्टण के स्वामी श्री आत्मानन्दजी, साधुवेला के स्वामी श्री हरिनामदासजी और मण्डलेश्वर श्री अरविन्दानन्दजी (कमलदासजी) आदि ने उन्हें सर्वविध सहयोग दिया और फलस्वरूप संवत् १९७४ में ही काशी में विद्यार्थियों के लिए एक अन्न-क्षेत्र चालू हो गया। पण्डित हरिप्रकाशजी उसके प्रमुख थे। वाद में रुग्ण होने के कारण वे पंजाव चले आये। अन्न-क्षेत्र चालू करते समय उन्होंने उसके साथ विद्यालय की भी रूपरेखा बनायी थी, किन्तु उनके चले जाने से वह धुँधली-सी पड़ गयी। यथासमय सहायता न मिलने से वाद में अन्न-क्षेत्र भी रुक गया।

अव पुनः स्वामी कृष्णानन्दजी ने स्वामी श्री पूर्णानन्दजी तथा आत्मानन्दजी से अनुरोध किया कि किसी भी प्रकार अन्न-क्षेत्र और विद्यालय चालू किये जायँ। उनकी अत्यन्त आवश्यकता है। अन्त में उन्हें साथ ले कुलपतिजी ने पंजाव, सिन्ध और संयुक्त प्रान्त का व्यापक दौरा किया।

सन् १९१९ में ननकाना जन्म-स्थान के महन्त श्री नारायणदासजी, ननकाना मालसाहव के महन्त कृपारामजी, साधुवेला के महन्त हरिनामदासजी, दरवार

गुरु रामराय, देहरादून के महन्त श्री लक्ष्मणदासजी और अन्यान्य सम्प्रदायों के सुप्रतिष्ठित महन्तों के सहयोग से विपुल धन-राशि एकत्र हुई और उससे काशी में उदासीन संस्कृत विद्यालय की स्थापना की गयी। अन्न-क्षेत्र भी पुनः चालू हो गया।

विद्यालय में पण्डित काशीनाथजी मुख्याध्यापक नियुक्त हुए। कुछ विद्वान् स्वेच्छा से अवैतनिक रूप में भी अध्यापन करने के लिए प्रस्तुत हुए। पण्डित परमानन्दजी गुजरानवाला और पूज्य वच्चा झा के सुपुत्र पण्डित जगदीश झा भी वहाँ आकर पढ़ाने लगे। विद्यालय के मुख्य संचालक स्वामी श्री पूर्णानन्दजी और सहायक संचालक कुलपति स्वामी श्री कृष्णानन्दजी नियुक्त किये गये।

उदासीन विद्यालय में अध्यापन

स्वामीजी विद्यालयवालों की प्रार्थना स्वीकार कर पंजाब से काशी पधारे। यह देख उनका मित्र-मण्डल स्वामी असंगानन्दजी आदि अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आपको विभिन्न दर्शनों का शास्त्रार्थ-प्रक्रिया से पूर्ण अभ्यास तो था ही। शास्त्री-परीक्षा के प्रसंग से अनुवाद, निवन्धादि का समुचित मनन हो जाने से अव आप संस्कृत में प्रौढ़ वार्तालाप और धारा-प्रवाह व्याख्यान भी करने लगे।

भरत मिश्र से शास्त्रार्थ-विजय

सन् १९२० के मई मास में विद्यालय का ग्रीष्मावकाश होने पर वहाँ के २० विद्वानों को लेकर, जो अभी पढ़ ही रहे थे, स्वामीजी काशी से पूरब की ओर घूमने निकले। वलिया, सरयू-तटवर्ती माझन गाँव, कचनार, रिविलगंज आदि होते हुए आप लोग छपरा पहुँचे।

छपरा में महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार पाण्डेय (जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के प्रिन्सिपल थे) के पट्टशिष्य श्री भरत मिश्र अद्वैत वेदान्तियों को अपने पाण्डित्य से परेशान कर रहे थे। उनका पक्ष था कि 'संसार ब्रह्म का परिणाम है, विवर्त नहीं।' रिविलगंज से वहाँ के निवासी वयोवृद्ध स्वामी श्री विशुद्धानन्दजी भी मण्डली के साथ हो लिये। आपस में इस स्थिति पर विचार हुआ और तुरन्त ही सबकी ओर से एक शास्त्रार्थ-घोषणा-पत्र निकाला गया। पण्डित रामावतार पाण्डेयजी सुयोग्य विद्वान् होते हुए भी शास्त्रार्थ में उतने पटु न थे, अतएव वे वहाना वनाकर छपरा से काशी चले गये।

इसी बीच पण्डितजी के पट्टशिष्य श्री भरत मिश्र शास्त्रार्थ की नियत तिथि से पूर्व एक दिन परीक्षा के लक्ष्य से एकाएक मण्डली के निवास-स्थान पर आ

पहुँचे। सभी साथी विद्वान् बाहर घूमने गये थे। केवल एकाकी स्वामी गंगेश्वरानन्दजी ही वहाँ थे। पण्डितजी को आते देख कुछ लोग भी वहाँ कौतूहलवश इकट्ठा हो गये। भरत मिश्रजी ने आने के साथ ही धाक जमाने के लिए संस्कृत में ही बोलना शुरू कर दिया। स्वामीजी को यह समझते देर न लगी। मण्डली का प्रभाव जमाये रखने के लिए आपने भी संस्कृत में उन्हें उत्तर दिया और बताया कि 'विद्वान् तो सब बाहर गये हैं। मैं कोई विद्वान् नहीं, केवल उनके संसर्ग से सुन-सुनकर कुछ संस्कृत बोल लेता हूँ। तब तक आप मेरे साथ विचार करें। कुछ ही देर में वे लोग आ जायँगे। फिर दिल खोलकर उनसे शास्त्रार्थ कर सकते हैं।'

भरत मिश्र ने सोचा—ठीक है, यह प्रज्ञाचक्षु क्या बोल पायेगा? यथाविधि शास्त्र का अध्ययन तो किया ही न होगा। चलो, इसी पर अपनी धाक जमा दें।

विद्वत्ता का अभिमान बहुत बुरा होता है। वास्तव में वह विद्या ही नहीं, जो मानव को अभिमानी या गर्वीला बनाये। इतिहास में सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं कि किसीको किसी प्रकार का अभिमान हो जाने पर भगवान् ऐसी कोई विधि बैठाते हैं कि अभिमानी पानी-पानी हो जाता है। भरत मिश्रजी के भी अनुचित गर्व को खर्व करने का उसका कुछ संकेत दिखाई पड़ा।

पण्डितजी शास्त्रार्थ के लिए पलथी लगाकर बैठ गये। कुछ उपस्थित सज्जनों ने, जिनमें कुछ शास्त्रविद् भी थे, आपत्ति उठायी कि शास्त्रार्थ नियत तिथि पर, वादी-प्रतिवादी-नियमानुसार तथा लेखबद्ध होना चाहिए। किन्तु मिश्रजी इसे अपने कौशलपूर्ण उत्तर से टाल गये कि 'ये तो महात्मा हैं और मैं हूँ गृहस्थ। महात्मा गुरुस्थानीय होते हैं और गुरु-शिष्य का तो केवल तत्त्व-जिज्ञासा से ही विचार चलता है।'

अब अनौपचारिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। भरत मिश्रजी का पूर्वपक्ष 'अनिर्वचनीय ख्याति' के खण्डन में था। स्वामीजी ने अनेक तर्कों एवं प्रमाणों से उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन कर 'अनिर्वचनीय ख्याति' की सुन्दर स्थापना कर दी। आरंभ में तो मिश्रजी के पूर्वपक्ष सानुप्रास, ललित शब्दावली में हुए। किन्तु ज्यों-ज्यों पूर्वोत्तर पक्षों की शृङ्खला बँधती गयी, उनके भण्डार में शब्दों का दारिद्र्य हो चला। आखिर भण्डार खूट गया। पहले वे पूर्वपक्ष की स्थापना में काफी समय लेते, किन्तु अब तो संक्षेप में ही उसे रखकर मौन हो जाते।

आखिर उन्होंने कहना शुरू किया कि 'शास्त्रार्थ हिन्दी में होना चाहिए, जनता संस्कृत नहीं समझती।' जनता इतनी मूढ़ थोड़े ही थी! उसने सीधे पूछा कि 'जब आप आरम्भ में संस्कृत झाड़ने लगे थे, तो क्या उस समय जनता उसे समझ जाती थी? अपनी अशक्ति को चतुराई से छिपाने का विफल प्रयास न

कीजिये।' फिर भी मिश्रजी संस्कृत छोड़ हिन्दी में ही बोलने लगे। तब जनता ने स्पष्ट कह दिया कि 'मिश्रजी, आप निगृहीत हो गये, पराजित हो गये।'

जैसे कोई नौसिखुआ शान से घोड़े पर चढ़ने जाय और गिर पड़ने पर यह कहे कि 'मैं तो उतरने की नयी कला दिखा रहा था', ठीक इसी तरह मिश्रजी ने भी कहा : 'वैध शास्त्रार्थ तो गुरुदेव रामावतारजी से परामर्श के बाद होगा। यह तो वाग्-विनोद मात्र था। इसमें हार-जीत की बात ही क्या ?' यह कहकर वे जनता और स्वामीजी के उत्तर की प्रतीक्षा न कर पलायन कर गये। बार-बार बुलाने पर भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे समझ गये कि जब विद्वानों का सामान्य साथी यह प्रज्ञाचक्षु इतना शास्त्र-निपुण है, तो विद्वानों से मैं क्या मुकाबला कर सकूँगा ?

उस दिन विद्वन्मण्डली कुछ दूर चली गयी थी। जब वह देर से पहुँची और उसने सारा किस्सा सुना, तो सभी स्वामीजी को धन्यवाद देने लगे। उन्होंने उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और इसे उनके द्वारा अपना उदार गौरव माना।

विद्वन्मण्डली की छपरा में पूरी धाक जम गयी। मण्डली के विद्वानों ने वहाँ 'विवर्तवाद' पर अनेक मार्मिक व्याख्यान दिये। अद्वैतवाद की विश्वासी जनता ने हार्दिक सन्तोष व्यक्त किया।

वयोवृद्ध योगिराज श्री ईश्वरदास सन्त के आमन्त्रण पर विद्वन्मण्डली छपरा से निकट स्थित उनके ग्राम सीतलपुर पहुँची। कुछ दिन वहाँ निवास कर सभी काशी वापस लौट आये।

प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि

सीतलपुर में स्वामीजी के साथ सर्वश्री स्वामी असंगानन्दजी, जीवन्मुक्तजी, ईश्वरानन्दजी, भूरिश्रवा तथा साथ की विद्वन्मण्डली थी। वहाँ वयोवृद्ध ईश्वरदासजी ने आपकी 'मुख्य मण्डलेश्वर' के रूप में पूजा की। यह देख जीवन्मुक्तजी आदि कुछ साथियों ने आपत्ति की कि 'हम सब समकक्ष हैं, फिर आपने यह कैसे किया ?' त्रिकालदर्शी योगिराज वयोवृद्ध ईश्वरदासजी ने हँसते हुए कहा :

'समझ-बूझकर यह कदम उठाया गया है। आप नहीं जान सकते, पर मैं जानता हूँ कि स्वामी गंगेश्वरानन्दजी भगवद्-विभूति हैं। इनके द्वारा उदासीन-सम्प्रदाय का महान् अभ्युदय होगा। कुम्भ-पर्वों पर उज्जैन, प्रयाग, हरिद्वार और गोदावरी-तट नासिक में भविष्य में इनके द्वारा विशाल शिविरों के आयोजन द्वारा धर्म-प्रचार हुआ करेगा, विराट् अन्न-सत्र, ज्ञान-सत्र, यज्ञ-याग और व्यापक सन्त-सेवा होती रहेगी। ये अनेक आश्रम, मन्दिर, विद्यालय स्थापित करेंगे। अनेक ग्रन्थों

के निर्माण, व्याख्यान, प्रवचन आदि के माध्यम से इनके द्वारा जनता का ज्ञान-भण्डार भरा जायगा। इस तरह अनेक सार्वजनिक सेवाओं द्वारा ये उदासीन-सम्प्रदाय के कीर्ति-समुज्ज्वल शिखर पर स्वर्णकलश बिठाने का उज्ज्वल कार्य करेंगे। मेरा दृढ़ मत है कि ये निकट भविष्य में उदासीन-सम्प्रदाय के मुकुट-मणि होंगे।'

ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रसूत यह योगि-वाणी सुन सभी स्तब्ध रह गये।

गोदावरी-कुम्भ

संवत् १९७७ के गोदावरी-कुम्भ के अवसर पर नासिक-त्र्यम्बकेश्वर में काशिक उदासीन संस्कृत विद्यालय के कुलपति श्री पूर्णानन्दजी ने अन्न-सत्र खोला। विद्यालय के सभी अध्यापकों एवं छात्रों को भी उन्होंने वहाँ आमन्त्रित किया। गुरु महाराज[1] स्वामी श्री गंगेश्वरानन्दजी यों तो काशी में न्याय, व्याकरण, वेदान्त, साहित्य का पाठन पहले से ही करते थे। पंजाब की शास्त्री-परीक्षा के प्रसंग से उनका ऋगादि वेदों एवं वेदांग निरुक्त आदि का भी गंभीर अध्ययन हो गया। अब विद्यार्थी आपसे निरुक्त और वेद भी पढ़ने लगे। गुरु-कृपा से अत्यल्प अवधि में आप उच्च कोटि के वेद-मर्मज्ञ बन गये। अब आपके जीवन में वैदिक-साहित्य का स्थान सर्वप्रमुख हो गया और उसका पठन-पाठन एवं मनन जीवन का अनिवार्य लक्ष्य बन गया।

विद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के साथ गुरु महाराज भी नासिक पधारे। वहाँ त्र्यम्बक-क्षेत्र के परशुराम-मन्दिर में 'वेद-गौरव' पर आपके व्याख्यान होने लगे। त्र्यम्बक की विद्वन्मण्डली आपकी अस्खलित वाग्धारा और सुपुष्ट विषय-निरूपण शैली पर अत्यन्त प्रभावित हुई। आपके अनुरोध पर स्वामी पूर्णानन्दजी ने 'वसन्त-पूजा' का आयोजन किया, जिसमें उच्च कोटि के अनेक वैदिकों ने भाग ले सुमधुर वेदपाठ सुनाया। इसी अवसर पर पद, क्रम, जटा, घन प्रभृति वेद-विकृतियों पर भी विशेष विचार हुआ और अन्त में समागत विद्वानों का द्रव्य, वस्त्रादि से सादर सत्कार किया गया।

बम्बई में

नासिक-कुम्भ के पश्चात् अगस्त में गुरु महाराज बम्बई पधारे। जिस दिन आप वहाँ पहुँचे, उसी दिन लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हुआ था। आपके साथी विद्वानों ने उनकी महायात्रा में भाग लिया। वहाँ एक सप्ताह ठहरकर विद्वानों, सन्तों के साथ आप काशी लौट आये।

---

१. अब से चरित्र-नायक 'गुरु महाराज' नाम से सम्बुद्ध किये जायँगे।

असहयोग-आन्दोलन को प्रोत्साहन

काशी में कुछ दिनों तक शास्त्र-चर्चा चलती रही। श्री स्वामी पूर्णानन्दजी के विशेष आग्रह पर गुरु महाराज ने व्याकरणतीर्थ, वेदान्ताचार्य तथा अन्य भी कई परीक्षाओं के फार्म भर दिये, किन्तु ईश्वरेच्छा कुछ और ही थी। असहयोग-आन्दोलन की धारा में राष्ट्र-भक्ति से आप्लावित हो आपने सभी सरकारी परीक्षाओं से असहयोग करना उचित समझा।

उन दिनों काशी का वातावरण कुछ इसी प्रकार का था। भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी भी गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र वन गयी थी। उनके प्रमुख सहयोगी महामना मालवीयजी, डॉक्टर भगवानदास, शिवप्रसाद गुप्त आदि का तो यह घर ही था। जव-तव लाला लाजपतराय जैसे देश के कितने ही चोटी के नेता भी यहाँ पहुँचते रहते। सबके राष्ट्रभक्तिपूर्ण प्रभावशाली व्याख्यानों से यहाँ अपूर्व जागृति थी।

इसी सिलसिले में सन् १९२१ की फरवरी के अन्तिम सप्ताह में होनेवाली गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, वनारस की परीक्षाओं से छात्रों को रोकने के लिए एक 'संस्कृतच्छात्र असहयोग-समिति' भी बनी, जिसके अध्यक्ष थे, ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमपुरीजी और मन्त्री अखिलानन्द उदासीन, जो गुरु महाराज के विशेष कृपा-पात्र छात्र थे।

समिति के तत्त्वावधान में सरकारी परीक्षाओं के वहिष्कार के लिए अनेक सभाएँ हुईं। परीक्षा-केन्द्रों पर धरने दिये गये। यह आन्दोलन बड़े उग्र रूप में चला। फलस्वरूप संस्कृत के प्रायः सभी छात्रों ने उस वर्ष परीक्षा का वहिष्कार कर दिया। समिति के आठ सदस्य सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार हुए, जिनमें तीन थे सन्त और पाँच ब्राह्मण। सन्तों में स्व० प्रेमपुरी, अखिलानन्द तथा इन्द्रानन्द उदासीन और ब्राह्मणों में शिवदत्त और स्व० चन्द्रशेखर 'आजाद' के नाम उल्लेख्य हैं।

उज्जैन-कुम्भ पर व्यापक शास्त्र-चर्चा

इसके कुछ ही दिनों वाद सन् १९२१ की अप्रैल में (संवत् १९७८) उज्जैन-कुम्भ-पर्व आया। श्री स्वामी पूर्णानन्दजी के अनुरोध पर श्री स्वामी असंगानन्दजी आदि सहपाठियों के साथ गुरु महाराज भी उज्जैन पधारे। स्वामी पूर्णानन्दजी ने श्री स्वामी हंसदेवजी के आग्रह पर अपना अलग शिविर न बनाकर उन्हींके शिविर में निवास किया। आपके साथ रहनेवालों में पूज्य गुरुदेव के अतिरिक्त सर्वश्री स्वामी कृष्णानन्दजी, विरक्त शंकरानन्द, पं० परमानन्द गुजरानवाला, पं० हरि-

प्रकाशजी, पं० जीवन्मुक्तजी, पं० रतनदेवजी, स्वामी असंगानन्दजी आदि के नाम उल्लेख्य हैं। वहाँ आप लोगों की ओर से शास्त्रार्थ के लिए आह्वान-पत्र (नोटिस) प्रचारित किया गया।

उक्त पत्र को पढ़कर उज्जैन के अतिरिक्त मध्यभारत के प्रमुख नगर इन्दौर, रतलाम, भोपाल, ग्वालियर आदि के प्रतिष्ठित विद्वान् अवधूत हंसदेवजी के सभा-मण्डप में जुटे। अन्य प्रान्तों के भी कुछ विद्वानों ने इसमें भाग लिया। फिर क्या था ? न्याय, व्याकरण, वेद, वेदान्त, मीमांसा आदि विभिन्न शास्त्रों में लगातार शास्त्रार्थ चलते रहे। इन शास्त्रार्थों में गुरु महाराज की अलौकिक प्रतिभा, विषय के समुपस्थापन की अनुपम शैली और वाक्-पटुता से उपस्थित विद्वद्वर्ग अति सन्तुष्ट हुआ। सभी मुक्तकण्ठ से आपकी प्रशंसा करने लगे।

शास्त्रार्थ-विजय

इसी बीच एक दिन स्थानीय (उज्जैन-स्थित) विनोद-मिल के मालिक लालचन्द जैन ने सन्त-मण्डली को अपने घर आमन्त्रित किया। वहाँ उज्जैन के एक प्रख्यात शास्त्रीजी पधारे थे। गुरु महाराज का शास्त्रार्थ में सुयश फैल चुका था। उपयुक्त अवसर देख शास्त्रीजी ने एक पूर्वपक्ष वेद-विषयक और दूसरा साहित्य-विषयक, अलंकार के लक्षण को लेकर उपस्थित कर दिया। श्री स्वामी हंसदेवजी तथा पूर्णानन्दजी ने गुरु महाराज से कहा कि आप इसका समाधान करें। आपने तत्काल दोनों का इतना सारगर्भ समाधान कर दिया कि शास्त्रीजी मन्त्र-मुग्ध हो गये। गद्‌गद हो चरण-स्पर्श करते हुए उन्होंने कहा : 'आप तो साक्षात् वृहस्पति, सरस्वती के पुत्र या भगवान् शंकर हैं। लालचन्दजी का अति कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृपा से सन्त-समाज और आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।'

मध्यभारत के विद्वानों में यह विशेषता पायी गयी कि वे सन्तों के प्रति परम श्रद्धालु और प्रकृति के सरल होते हैं। किसी भी सम्प्रदाय के सन्त विद्वान् के साथ होनेवाले शास्त्रार्थ को वे सदैव वाद-कथा तक मर्यादित रखते हैं, कभी उसे वितण्डा का रूप नहीं आने देते।

इस प्रकार गुरु महाराज ने विभिन्न प्रान्तों के बड़े-बड़े विद्वानों के साथ वेद और शास्त्र के विभिन्न विषयों पर अनेक शास्त्रार्थ एवं शास्त्र-चर्चाएँ कीं, जिनमें वे सदैव विजयी रहे।

शास्त्रार्थ के लाभ

एक दिन एक स्नेही सहपाठी आपसे पूछ बैठा कि 'विरक्त साधु होकर शास्त्रार्थ के प्रपंच में क्यों पड़ते हैं ?'

गुरु महाराज प्रश्नकर्ता का भाव समझ गये। आपने कहा : 'भाई, क्या तुम इसका लक्ष्य वाचिक जय-पराजय मात्र समझते हो ? शास्त्रार्थ के ऐसे क्षुद्र लक्ष्य की तो मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता। वास्तव में इस दिशा में मेरे झुकाव के कई लाभप्रद कारण हैं। देखो, शास्त्रार्थ से परस्पर विद्या-विलास का आनन्द तो मिलता ही है, जो विद्वानों का बहुत बड़ा शिष्ट, स्वस्थ मनोरंजन है। इसके अतिरिक्त इस माध्यम से विभिन्न सम्प्रदायों का परस्पर मिलन होता है और संघटन भी बन आता है। साथ ही अधिकारी और अनधिकारी की परीक्षा हो जाती है। फलस्वरूप यदि कोई वास्तविक अधिकारी साधनहीन होने के कारण अपना विकास न कर पाता हो, तो उचित सहायता दे उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है। इससे सनातन-धर्म और वैदिक-संस्कृति की ठोस रक्षा होती रहती है। साथ ही सर्वसाधारण को महान् विभूतियों के दर्शन, सान्निध्य, सत्संग और सेवा का सुअवसर भी प्राप्त होता रहता है। इन्हीं सब लाभों से मेरा इस ओर झुकाव है।'

गुरुदेव के ये उदार आदर्श सुन सहपाठी स्नेही पानी-पानी हो गया।

यही सबसे बड़ी देश-सेवा

यद्यपि राष्ट्र-भक्ति से उद्वेलित गुरु महाराज का हृदय राष्ट्र के राजनैतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने के लिए अति उत्सुक था और तत्कालीन स्थिति भी इसके लिए अत्यधिक प्रेरित कर रही थी, किन्तु सम्प्रदाय के वयोवृद्ध सन्त और दूरदर्शी राष्ट्रिय नेताओं ने आपसे यही अनुरोध किया कि आप भारतीय संस्कृति के उद्धारार्थ प्राचीन शास्त्रों के तत्त्वों के परिशीलन में ही लगे रहें। अनुभवी वयोवृद्धों का यही अभिप्राय रहा कि आप अपनी अनुपम प्रतिभा द्वारा शास्त्र-परिशीलन से भारतीय संस्कृति एवं सनातन-धर्म की जितनी उन्नति, जितना उत्थान कर सकेंगे, राजनैतिक क्षेत्र में उतरकर उतनी देश-सेवा नहीं कर सकते।

वैशाखी पूर्णिमा को उज्जैन-कुम्भ की पूर्णाहुति कर आप काशी पहुँचे, तो आपके स्नेही पूर्वोक्त असहयोग-समिति के सदस्य तीन मास का कारावास भोगकर बाहर आ गये थे। उन्होंने भी आपको यही परामर्श दिया कि आप शास्त्र-परिशीलन ही करते रहें। यही सबसे बड़ी देश-सेवा है। सबका एकमत होने पर गुरु महाराज ने अपनी राष्ट्र-भक्ति की धारा भारतीय संस्कृति के उत्थान की ओर मोड़ दी।

राजधानी में

काशी में कुछ दिन रहने के बाद गुरु महाराज को उनके परम गुरुदेव (दादा-

गुरु) वैद्यराज सुन्दरदासजी महाराज के दर्शन की उत्कण्ठा हुई और आप सीधे उनके स्थान राजवाना (जिला लुधियाना, पंजाब) पहुँचे। वहाँ गुरुदेव श्री रामानन्दजी तथा कुलपति श्री कृष्णानन्दजी भी पहुँचे हुए थे। महीनेभर आपने वहीं सद्गुरु श्री रामानन्दजी के श्रीमुख से एकादश उपनिषदों का स्वाध्याय किया।

स्वामी शान्तानन्दजी से भेंट

राजवाना से श्री गुरु महाराज जगराँव गाँव—जो देशभक्त लाला लाजपतराय की कर्म-भूमि और प्रसिद्ध विद्वान् पंचनदीय सुदर्शनाचार्य की जन्मभूमि है—होते हुए ३० जून सन् १९२१ को मोगा के निकट 'नत्थूवाला' गाँव आये। जगराँव में आप श्री स्वामी शान्तानन्दजी से मिलने गये थे, पर स्वामीजी उन दिनों राजयोग की साधना में व्यस्त थे, अतः भेंट न हो सकी। आगे ये ही स्वामीजी आपके दक्षिण-हस्त बन गये। पता पाकर स्वामी शान्तानन्दजी नत्थूवाला में आपसे मिलने आये। वार्ता के प्रसंग में उन्होंने प्रस्थानत्रयी और दर्शनशास्त्र के अध्ययनार्थ कुछ समय साथ रहने की इच्छा व्यक्त की। गुरु महाराज ने सहर्ष स्वीकार किया और फिर वे पुनः अपनी तपःस्थली को लौट गये।

श्री हरिनारायणदासजी के सान्निध्य में

अब श्री गुरु महाराज अपने गुरुदेव के साथ संगरूर शहर से चार कोस दूर स्थित कुनरा गाँव में पधारे। वहाँ वयोवृद्ध महात्मा, योगिराज और अनेक शास्त्रवेत्ता श्री हरिनारायणदासजी उदासीन रहते थे। वे आपके पूज्य गुरुदेव के परम श्रद्धेय एवं गुरुकल्प थे। आपने सभक्ति उनका दर्शन-अभिवादन किया और उन्हें चित्सुखी, खण्डन-खण्ड-खाद्य, अद्वैतसिद्धि तथा प्रस्थानत्रयी के कतिपय प्रसंग सुनाये। सुनकर महात्माजी अति प्रसन्न हो उठे।

श्री हरिनारायणदासजी इतने उत्कट विद्यानुरागी थे कि परम गुरुदेव रामानन्दजी से कहने लगे : 'मुझे अफीम का मावा और चाय पिला दो और चश्मा ला दो। पण्डितजी के साथ बैठ वेदान्त के कतिपय सुगूढ़ ग्रन्थों का पुनः थोड़ा मनन कर लूँ, श्रवण तो किया ही हुआ है।' विद्या का व्यसन अद्भुत होता है। उसका आनन्द वही बता सकता है, जो उस दिव्य व्यसन में डूब गया हो।

श्री स्वामी रामानन्दजी ने कहा : 'महाराज, आप तो साक्षात् विद्यावारिधि हैं। आप जैसे विद्वान् तपस्वी के संकल्पमात्र से मूर्ख पण्डित बन जाता है। फिर यह लीला क्यों ?'

महात्माजी का आशीर्वाद

कुनरावाले महात्माजी प्रातः ४ बजे ही उठ जाते और नित्य-कर्म से निवृत्त

हो ९ बजे तक भगवदाराधन में लगे रहते। उनकी कृपामयी दृष्टि ने गुरु महाराज में सोने में सुगन्धि ला दी। महात्मा ने हृदय से प्रसन्न हो कहा : 'बेटा, अपने प्रातिभ ज्ञान से मैं समझ गया कि तेरी इस अद्भुत शास्त्र-सिद्धि का क्या रहस्य है ? बचपन में सिद्ध सुरतराम उदासीन की समाधि को परिक्रमा और नमस्कार कर यही प्रार्थना करता था न ? उन्हींका यह महान् प्रसाद है। मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि सनातन-धर्म का प्रचार, उदासीन-सम्प्रदाय की कीर्ति बढ़ाने और विद्वान् महात्माओं के निर्माण में तेरी यह विद्या काम आये। तू उदासीन-सम्प्रदाय का पूजनीय सुहृद्-शिरोमणि बनेगा।'

सम्प्रदाय के इस उदीयमान दिनमणि की सुविधा के लिए महात्माजी ने परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी को २००) और दो टीन घी सुपुर्द कर कहा कि 'सुनाम के निकट छाजली गाँव में पुरानी बारादरी, विद्वान् तपस्वी श्री शुद्ध-प्रकाश उदासीन और उनके मित्र वृद्ध स्वामी रामानन्दजी की तपोभूमि है। वहाँ गंगेश्वर को ले जाओ और लगातार दो वर्ष तक संस्कृत-वाङ्मय के अधीत, अनधीत सभी ग्रन्थों का पुनःपरिशीलन करा दो। मेरे दिये द्रव्य से आवश्यकतानुसार पुस्तकादि खरीदो और इसका पूरा ध्यान रखो। होनहार युवक के मस्तिष्क में किसी प्रकार भी विकृति न आने पाये, इसके लिए इसे घी और दूध खूब पिलाया करो।'

महात्मा हरिनारायणदासजी के आशीर्वाद और अतुल स्नेह से गुरु महाराज को अनुभव होने लगा कि शरीर में किसी दिव्य शक्ति का संचार हो रहा है। तपस्वीजी के आज्ञानुसार आप गुरुदेव रामानन्दजी के साथ छाजली जाने के लिए तैयार हो गये। प्रस्थान के समय महात्माजी ने आपके सिर पर हाथ रखा और प्रेमभरी दृष्टि से कुछ क्षण मुख निहारते रहे। सन्तों के संकल्प, दृष्टि, स्पर्श और उपदेश-आशीर्वाद से साधक में शक्तिपात के वर्णन शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

छाजली में शास्त्र-परिशीलन

श्री स्वामी रामानन्दजी गुरु महाराज को लेकर छाजली आये। श्री स्वामी शान्तानन्दजी भी कुछ दिनों के लिए वहाँ पहुँच गये। मण्डली के मुख्य सदस्य वैराग्य-मूर्ति स्वामी अर्जुनदेवजी भी अचानक घूमते-घूमते वहाँ आ गये। वे सन् १९१४ से ही गुरु महाराज से परिचित थे। उन्होंने आपसे न्यायदर्शन, योगभाष्य और उसकी तत्त्व-वैशारदी व्याख्या, पञ्चदशी, वेदान्त-परिभाषा एवं अद्वैत-कौस्तुभ पढ़ा। स्वामी शान्तानन्दजी ने आरम्भ में तर्कसंग्रह-दीपिका और उसकी टीका नीलकण्ठी तथा मुक्तावली और उसकी व्याख्या दिनकरी का स्वाध्याय किया

और अर्जुनदेवजी के साथ न्यायदर्शन भी सुना। फिर उपनिषद्-भाष्य, गीता-भाष्य तथा ब्रह्मसूत्र-भाष्य का भी स्वाध्याय किया। इस तरह गुरु महाराज ने दो वर्ष तक उच्च कक्षा के दार्शनिक वाङ्मय का व्यापक मनन कर अधीत ग्रन्थों की पुनरावृत्ति कर ली।

स्वामी शान्तानन्दजी परोपकारी, सेवाभावी, 'सर्वभूतहिते रताः' सिद्धान्त के पूर्ण अनुगामी और समदर्शी महात्मा थे। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। अध्ययन तो निमित्तमात्र था। वैसे वे स्वयं सभी ग्रन्थों को अच्छी तरह लगा लेते।

छाजली-आश्रम में गाँव से रोज भिक्षा आती। भिक्षा-पात्र में यदृच्छा से समर्पित रूखे-सूखे भोजन से सभी सन्त उदर-पूर्ति कर सन्तुष्ट और मस्त रहते। शान्तानन्दजी से यह देखा नहीं गया। जंगल में गुरु महाराज के पास खण्डन-खण्ड-खाद्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर जब वे वापस लौटते, तो अपने हाथों आपके लिए ताजा, स्वादु भोजन पकाते। प्रतिदिन साथ में कुछ मिष्टान्न भी बनाते। गुरु महाराज को जब इसका पता चला, तो उन्होंने यह कहकर निषेध किया कि 'खास मेरे लिए ऐसा न किया करें, जब कि शेष सभी सन्त भिक्षा-पात्र पर ही निर्वाह करते हैं। साधु को यथालाभ सन्तुष्ट रहना शास्त्र का आदेश है।' फिर भी प्रेम-मूर्ति शान्तानन्दजी कब माननेवाले थे? प्रत्युत्पन्नमति महात्मा ने आपका समाधान करते हुए कहा: 'महाराज, विद्याभ्यासी सन्त के लिए इस नियम का अपवाद है। वह नियम तो तुरीयातीत, अवधूत, आरूढ़-अवस्था के मुनियों के लिए है।'

स्वामी शान्तानन्दजी बड़े कुशल वक्ता और कथावाचक के रूप में भी प्रसिद्ध थे। छाजली की जनता बहुत दिनों से आपसे कथा-प्रवचन और धर्मोपदेश का अत्याग्रह कर रही थी। परोपकारी सन्त पिघल गया। गये तो थे पढ़ने, पर अब कथा-प्रवचन में लग गये। रामचरित-मानस की रसमयी कथा आरम्भ हो गयी। श्रीमद्भागवत की कथा भी लोगों को सुनायी गयी। श्लोकों का पद-पदार्थ, विशेष पद्यों के अनूठे भाव लोगों को बलात् आकृष्ट कर लेते।

अब तो दूर-दूर के गाँवों के लोग भी आश्रम में जुटने लगे। सुनाम से राज-कर्मचारी, राजकीय अधिकारी नायब, नाजिम आदि भी दर्शनार्थ आने लगे। गुरु महाराज का तो वे दर्शन मात्र करते और वार्तालाप आदि स्वामी शान्तानन्दजी से ही हुआ करता। गुरु महाराज को बताया जाता कि अमुक-अमुक व्यक्ति पधारे हैं, फिर भी आप सबसे निःस्पृह हो मौन बैठे रहते। कारण उन दिनों केवल शास्त्र-परिशीलन ही आपके जीवन का लक्ष्य था। प्रतिदिन भोर में ३ से ६ बजे तक, फिर प्रातः ७ से ११ बजे तक, अपराह्ण में ३ से ५ बजे तक और रात्रि में ८ से ११ बजे तक नियमतः शास्त्र-स्वाध्याय चलता। गुरुदेव रामानन्दजी की तो पूर्ण

दया थी ही। वे स्वयं आपको पुस्तक सुनाते। इसी प्रसंग में गुरु महाराज कठिन पंक्तियों पर टिप्पणी भी कर दिया करते। संवत् १९७९ (सन् १९२२) के अन्त तक यह क्रम चलता रहा।

चित्त में नया कूड़ा मत भरो

उन दिनों पंजाब में नवीन सिखों का अकाली-आन्दोलन तेजी पर था। धीरे-धीरे उन्होंने सन्तों एवं सनातन सिखों के प्रायः सभी धर्मस्थान छीन लिये। कभी-कभी इस आन्दोलन के इतने उग्र समाचार सुनायी पड़ते कि गुरु महाराज का चित्त भी स्वाध्याय से विचलित हो उठता। किन्तु जब वे वहाँ से डेढ़ कोस दूर अरण्यवासी, वयोवृद्ध, तपोनिष्ठ, ब्रह्मवेत्ता महात्मा कर्मप्रकाशजी उदासीन की सेवा में पहुँचते, तो वे सारा क्षोभ मिटा पुनः आपका चित्त लक्ष्य में समाहित कर देते। वे कहते : 'समाचार-पत्र मत पढ़ा करो। अनन्त जन्मों का कूड़ा-करकट अन्तः-करण में भरा ही पड़ा है, अब नया भरने का प्रयास क्यों करते हो ?'

महात्माजी समझाते : 'पण्डितजी, संसार स्वप्न का खेल है। जब यहाँ के अगणित बड़े-बड़े राज्य और ऐश्वर्य मिट गये, तो इन छोटे-छोटे डेरों के चले जाने पर इतना क्षोभ क्यों ? क्या गौड़पाद का अजातवाद भूल गये ? संसार के पदार्थ जब उत्पन्न ही नहीं हुए, तो उनके मिटने की बात क्या ? 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'— ज्ञात-दशा में द्वैत का अस्तित्व ही कहाँ रहता है ?'

गुरु महाराज पर बचपन से ही इस तरह समय-समय पर अनेक सिद्ध-महापुरुषों की निरुपधि कृपा-वर्षा होती आ रही है। इस प्रसंग में अत्रिमुनि की कृपा[1]

---

१. यह चरित्रनायक के बचपन की कहानी है, जब वे चन्द्रेश्वर थे। चन्द्रेश्वर उस समय करीब ५ वर्ष का रहा होगा।

ये अत्रिमुनि बालब्रह्मचारी स्वयम्भू सन्त थे। किस सम्प्रदाय के थे, यह तो पता नहीं चलता। हाँ, उनकी आयु करीब ८० वर्ष की रही होगी। कृपा-दृष्टि मात्र से सबकी मनोकामनाएँ पूरी कर देते। उन्हें वाक्-सिद्धि थी। धूरी जंकशन के निकट किसी छोटे-से गाँव की श्मशान-भूमि में पीपल के नीचे उनकी कुटिया थी। वे आजीवन उसीमें रहे। लोग उनकी मनौतियाँ मानते। मनोरथ पूरा होने पर सेवा में उपस्थित होते और जलेबी आदि का प्रसाद बाँटते।

बालक तो 'मधुर-प्रिय' होता ही है। चन्द्रेश्वर भी प्रसाद के लोभ से वहाँ पहुँचता। मुनिजी बड़े प्रेम से उसे पास बुलाते और अपने सेवकों से कहते कि 'इसे दुगुना प्रसाद दो। इस बालक द्वारा भविष्य में देश, जाति और धर्म की अत्यधिक सेवा होगी।'

भुलायी नहीं जा सकती। फिर वीतराग तपोमूर्ति सन्तरामजी की कृपा ने तो आपको अपने इष्टदेव से ही मिला दिया था।

कर्मप्रकाशजी की योग-सिद्धियाँ

गुरु महाराज पर महात्मा कर्मप्रकाशजी की भी कम कृपा नहीं रही। आपको उनके जीवन के कई अलौकिक चमत्कार देखने को मिले।

साँप से डर क्यों ? : रात का समय और रेती का टीला ! एक दिन की बात है, गुरु महाराज योगिराज के साथ वहीं लेटे हुए थे। साथ में एक-दो सन्त रहे। एकाएक फूत्कार की आवाज आयी। समझते देर न लगी कि आसपास कहीं साँप घूम रहा है। तथ्य तो यह था कि साँप महात्माजी के वक्षःस्थल पर निर्भय लेटा था, पर अँधेरे में पता ही न चला। गुरु महाराज को थोड़ा भय लगा और आपने कुछ पीछे हटने की चेष्टा की।

महाराज ने मुस्कराते हुए कहा : 'पण्डितजी, घबराते क्यों हो ? तुम तो 'शिवोऽहम्' जपा करते हो न ? क्या कोई देव अपना मुक्ताहार मिलने पर घबराता है ? आखिर शिव-विभूषण सर्प शिव को छोड़ कहाँ जाय ?' महाराज की इस अहिंसक वाणी से आपका डर जाने कहाँ भाग गया !

जूताचोर गीदड़ : जूतों की कहानी भी कम अद्भुत नहीं। एक दिन सुनाम के एक सज्जन महाराज के दर्शनार्थ आये। उपदेश सुनने के बाद लौटने लगे तो जूते गायब ! जूते अच्छे थे और सज्जन भी बहुत बड़े अधिकारी। इसलिए कुछ हलचल मची।

सन्तों ने महाराज से कहा : 'प्रभो, आपके दरबार में चोरी की संभावना कहाँ ? आश्रम में पैर रखते ही सारी दुर्वृत्तियाँ सागर में लवण की तरह गल जाती हैं। परस्पर स्वाभाविक वैरी भी एक घाट पानी पीते हैं। मोर के छत्ते के नीचे साँप धूप से छाँह पाता है। बिल्ली की गोद में मूसा माँ की गोद की तरह खेलता है। इसे देख पुरातन ऋषि-आश्रम याद हो आते हैं। फिर जूते कैसे गायब हो गये ?'

महाराज हँसते हुए बोले : 'किसी पागल गीदड़ की करतूत होगी।' और वे तुरन्त एक टीबे पर चढ़ गये। जोर से उच्च स्वर से पुकारने लगे : 'रे पगले गीदड़ ! अतिथि का तो सत्कार करना चाहिए। उसे सताना पाप है। बेचारा कण्टकाकीर्ण अरण्य से घर कैसे लौटेगा ?'

सन्तों ने पीछे मुड़कर देखा, तो जूते अपने स्थान पर पड़े हैं। गीदड़ ऐसी चालाकी से उन्हें वहाँ रख गया कि किसीको पता तक न चला।

कौए की शिकायत : महात्माजी पशु-पक्षियों की भाषा जानते और कभी-कभी उनसे बातचीत भी करते। यह कोई अनहोनी बात नहीं। योग-दर्शन के विभूतिपाद में महर्षि पतञ्जलि जाने कबके कह चुके हैं कि 'शब्द, अर्थ और उनके प्रत्यय यानी ज्ञान का परस्पर अध्यासवश घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो योगी उसके एक भाग शब्द पर संयम कर लेता है, उसे सभी जीवों की भाषा का अनायास ज्ञान हो सकता है।'[1]

एक बार महाराज आश्रम से तीन कोस दूर खड़ियाल गाँव की एक झाड़ी में, वन्यभूमि में चले गये। उनके पार्श्ववर्ती किसी अदूरदर्शी सन्त ने आश्रमस्थित कौओं का घोंसला तोड़ डाला। कौए झाड़ी में पहुँच महाराज के समक्ष 'काँव-काँव' करने लगे। गुरु महाराज उनके साथ थे। आपने पूछा : 'योगिराज, कौए क्या कह रहे हैं?' महाराज ने उत्तर दिया : 'पण्डितजी, उस पागल सन्त सेवाराम ने इनका घोंसला तोड़ डाला, इसलिए ये मेरे पास शिकायत कर रहे हैं।' आप कुतूहलवश जब आश्रम में सेवाराम के पास पहुँचे, तो पता चला कि सचमुच यही बात थी।

महात्मा ६० वर्षों तक उसी जंगल में रहे, पर किसीको एक पक्की ईंट तक न लगने दी। उनके त्याग की तो बात ही न पूछिये।

राजमाता उलटे पैर लौटी : एक बार वर्तमान पटियाला-नरेश श्री यादवेन्द्र सिंह की माता महाराज के दर्शनार्थ आयीं। उन्होंने प्रार्थना की कि 'दासी को कुछ सेवा का सुअवसर दिया जाय।'

महाराज अपने आश्रम में देवियों का आना पसन्द नहीं करते थे। विश्व को आत्मवत् माननेवाले महापुरुषों की किसी वर्ग-विशेष पर क्रूर दृष्टि तो सम्भव नहीं। केवल आदर्श-रक्षा के लिए यह नियम था। एक बार चर्चा के प्रसंग में उन्होंने गुरु महाराज से इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया। कहने लगे : 'पण्डितजी, देवियाँ तो जगज्जननी की प्रतीक हैं। किन्तु हर किसीके चित्त में उनके प्रति जगदम्बा की भावना होना सहज नहीं। इनके दर्शन से किसी असंयमी को तो बिजली की-सी चमक लगती है और बिजली लगनेवाले का उपचार कितना कठिन होता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।' इसी विचार से वे आश्रम में देवियों को आने से रोकते रहे।

योगिराज को राजमाता का आना भी खटक रहा था। सेवा बतलाना तो

---

१. 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।' (योगदर्शन, ३-१७)

दूर, अति आग्रह करने पर महाराज ने स्पष्ट कह दिया : 'बेटी, मेरी सेवा तो यही है कि फिर यहाँ कभी न आना। सन्त के निवास से पड़ोसी किसानों को हर्ष होना चाहिए। खेतों के बीच किसीका पैदल चलना उन्हें असह्य होता है। तू तो मोटर, लारी, रथ, घुड़सवार सब कुछ साथ लायी हो। जिस किसान के खेत से गुजरी होगी, वहाँ पगडण्डी क्या, बहुत विशाल मार्ग बन गया होगा। किसान की हरी-भरी लहराती खेती उजड़ गयी होगी। क्या तेरे इस आने से मेरा आश्रम उस किसान के लिए दुःखदायी न हुआ होगा ? यदि तुझे अपने राज-पाट का गर्व हो, तो तेरा इलाका छोड़ अभी खड़ियाल चला जाऊँगा, जो केवल तीन कोस दूर, अंग्रेजी इलाका है।' बेचारी राजमाता 'क्षमस्व' कहकर प्रणाम करके उलटे पैरों चली गयी।

गुरु महाराज को जब-तब इस तरह के सिद्ध सन्त-महात्मा और दिव्य विभूतियों का सत्संग मिलता रहता। वे उनकी सेवा और शिक्षा से पर्याप्त लाभ उठाते। शैशव से ही यह क्रम चला आ रहा है। वास्तव में अवतारी महापुरुषों का समग्र जीवन दिव्य लीलामय ही होता है। लोक-संग्रहार्थ उन्हें त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अनुरूप विभिन्न उपाय काम में लाने पड़ते हैं, ताकि प्राणिमात्र अपने-अपने पूर्व-संस्कार, विचार और अधिकारानुसार विहित मार्ग पर अग्रसर हों और जीवन के वास्तविक लक्ष्य तक पहुँचें। संसार इन विभूतियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलकर निःसन्देह श्रेय पाता है। वहाँ पतन का भय ही नहीं रहता। इस तरह पूर्वजों की पुरातन प्रणाली का अनुसरण करते हुए गुरु महाराज ने अपना समग्र त्याग-तपोमय जीवन आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थान में समर्पित कर दिया।

उदासीन-सम्प्रदाय की महासभा

सन् १९२२ की बात है। मार्च महीने में हरिद्वार (कनखल, नये अखाड़े की छावनी, चेतनदेव-कुटिया के समीप) में उदासीन-सम्प्रदाय की ओर से एक विराट् महासभा का आयोजन हुआ। सभा की अध्यक्षता गुरु-मण्डलाध्यक्ष स्वामी आत्मस्वरूपजी ने की और स्वागताध्यक्ष थे, महन्त निहालदास। सभा में सम्प्रदाय के प्रायः सभी सन्त-महन्तों ने सक्रिय भाग लिया। पधारनेवालों में निम्नलिखित महानुभावों के नाम उल्लेख्य हैं : सर्वश्री महन्त हरिनारायणदास, हजाराबाग, लखनऊ, स्वामी हरिनामदासजी, महन्त साधुबेला, सक्खर (सिन्ध), महन्त लक्ष्मणदासजी, दरबार गुरु रामराय, देहरादून, स्वामी पूर्णानन्दजी, कुलपति उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, पं० हरिप्रकाशजी, पं० रामस्वरूपजी (सम्पादक, 'सन्त-समाचार'), पं० विष्णुदासजी, लताला, श्री सन्तोषानन्दजी। इनके

अतिरिक्त अमृतसर के सभी अखाड़ों के महन्त तथा उत्तर प्रदेश, विहार और पंजाव के कितने ही प्रसिद्ध महन्त उपस्थित थे।

हजारावाग के महन्तजी के साथ श्री महेशचरण सिनहा भी पधारे थे, जो गुरुकुल काँगड़ी में प्राध्यापक रह चुके थे और जिन्होंने इंग्लैण्ड, अमेरिका में विद्याध्ययन के लक्ष्य से कुछ समय विताया था। वे देशभक्त हिन्दू-जाति के हितैषी और सामयिक योग्य विद्वान् थे। उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य, प्राध्यापक एवं स्नातकों को भी इस सभा में आमन्त्रित किया था।

यह देख पण्डित विष्णुदासजी ने भी उचित समझा कि ज्वालापुर महाविद्यालय के आचार्य, विद्वान् एवं स्नातक भी इसमें भाग लें। फलतः उन्होंने उन्हें भी निमन्त्रित कर दिया।

इस प्रकार सर्वश्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वामी सत्यानन्द, आचार्य रामदेवजी, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य नरदेव शास्त्री तथा पण्डित पूर्णानन्दजी जैसे आर्य-समाज के अन्य भी प्रतिष्ठित विद्वान् इस महासभा में उपस्थित थे।

सभा में पं० हरिप्रकाशजी तथा स्वामी श्री हरिनामदासजी के अनुरोध पर गुरु महाराज ने हिन्दू-धर्म पर संस्कृत में भाषण प्रारम्भ किया। निरुक्त-पद्धति[1] से 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या करते हुए आपने कहा :

'हिनस्ति यस्तु दुर्वृत्तान् सदा साधून्नमस्यति।
दुग्धे याचककामांश्च तं हिन्दुं चक्षते बुधः॥
प्रपेदे लक्ष्यतां रामोऽभिरामोऽखिलविष्टपे।
विरामो दैत्यसम्पत्तेरवतीर्य भुवि प्रभुः॥
छिन्नग्रीवं दशग्रीवं सुग्रीवं चाभिषेकितम्।
विधाय पुरुषश्रेष्ठो भारद्वाजं मुनिं नमन्॥
पापमारुतवेगेनोत्पाटितं सुकृतद्रुमम्।
स्थापयिता यथापूर्वं स हिन्दुरिति गीयते॥
चक्रेऽसिवीरः सुतरां दयालु-
धर्मस्य रक्षां स्वशिरो वितीर्य।
आर्येषु म्लेच्छापसदेन नित्यं
राजेन्द्रप्रस्थे परिपीडितेषु॥'

---

१. 'हिन्दुः कस्मात् ? हिंसनात्, नमनात्, दोहनात्। हिन्दुः निहितद्रं भवतीति वा।'

अर्थात् जो दुष्टों का नाश करता है, साधु-महात्माओं को नमस्कार करता है और याचकों के मनोरथ पूरे करता है, विद्वान् उसे 'हिन्दू' कहते हैं। ● अखिल भूमण्डल में परम सुन्दर, पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी इस लक्षण के आदर्श लक्ष्य बने। ● कारण उन्होंने पृथ्वी पर अवतीर्ण हो दैत्यलक्ष्मी का नाश कर दिया, दुष्ट दशकण्ठ की दश ग्रीवाएँ काट डालीं, वालि-निर्वासित सुग्रीव को पुनः राज्याभिषिक्त किया और इतना सब करते हुए भी वे भारद्वाज मुनि के चरणों में नतमस्तक हुए। ● पाप-रूपी झंझावात से उत्पाटित-प्राय धर्म-वृक्ष को पुनः जो पूर्ववत् समारोपित कर दे, वह 'हिन्दू' कहा जाता है। ● (इसका आदर्श उपस्थित करते हुए) अत्यन्त दयालु गुरु तेगबहादुर (असि-वीर) ने अपना सिर देकर भी धर्म की रक्षा की, जब कि दिल्ली में म्लेच्छाधम बादशाह औरंगजेब द्वारा नित्य ही आर्यजन तरह-तरह से पीड़ित किये जाते थे।

आर्य-विद्वानों के साथ शास्त्र-विनोद

आर्य-समाज के विद्वान् आपका अद्भुत वैदिक पाण्डित्य देख अत्यधिक प्रसन्न हुए। किन्तु पण्डित इन्द्रजी ने अपने भाषण में कुछ ऐसी बात कह दी, जिसमें उनकी शास्त्रार्थ-उत्कण्ठा स्पष्ट व्यक्त हो गयी।

गुरु महाराज पद्मासन लगा बैठ गये और इन्द्रजी से कहने लगे : 'पण्डितजी, मुझे व्याख्यान का शौक नहीं। फिर भी आपकी उत्कण्ठा है तो कोई बात नहीं। प्रेम से शास्त्रार्थ होने दीजिये। यहाँ अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् उपस्थित हैं ही। यह तो विद्वत्सभा का भूषण ही है।'

निःसन्देह इन्द्रजी वैदिक साहित्य और मूर्ति-पूजा-निराकरण आदि आर्य-सामाजिक सिद्धान्तो पर प्रौढ़ शास्त्रार्थ करते थे। किन्तु दार्शनिक शास्त्रार्थ उनके लिए टेढ़ी खीर थी। आर्य-समाज के विद्वन्मण्डल के बार-बार प्रोत्साहित करने पर भी स्वयं वे शास्त्रार्थ के लिए उद्यत नहीं हुए और आर्य-समाज के वयोवृद्ध पण्डित पूर्णानन्दजी गुरु महाराज से शास्त्रार्थ करने के लिए सामने आये। किन्तु दार्शनिक विषयों में वे भी अधिक समय तक टिक न पाये, यद्यपि निःसन्देह उनका उत्साह प्रशंसनीय रहा।

अब आर्य-समाजी विद्वानों ने प्रस्ताव रखा कि हमारी ओर से पण्डित ईश्वर-चन्द्रजी शास्त्रार्थ करें। उन दिनों वे गुरुकुल काँगड़ी में दर्शन के प्राध्यापक थे और काशी में रहते गुरु महाराज के सहाध्यायी भी रहे। अतएव इस प्रस्ताव से असम्मति प्रकट करते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः।' पण्डित पूर्णानन्दजी के साथ ही मेरा शास्त्रार्थ उचित होगा। वे

वयोवृद्ध हैं, तो मैं आश्रम-वृद्ध। युवक ईश्वरचन्द्र से हमारा शास्त्रार्थ समुचित नहीं होगा।'

पण्डित विष्णुदासजी की आर्य-समाज के प्रमुख व्यक्तियों से प्रगाढ़ मैत्री थी। ईश्वरचन्द्रजी के अत्यधिक आग्रह पर पण्डितजी ने गुरु महाराज से कहा कि 'कृपया इनके साथ शास्त्रार्थ किया जाय। यह शास्त्रार्थ तो केवल विद्वद्-विनोद है। किसीकी जय-पराजय की तो कोई बात ही नहीं है।'

विष्णुदासजी ने घड़ी रख ली और दस मिनट का समय निर्धारित कर दिया। पण्डित ईश्वरचन्द्रजी ने अपने पूर्वपक्ष में अद्वैतवाद का खण्डन कर द्वैतपक्ष की स्थापना की। उनकी संस्कृत भाषण-शैली सुन्दर रही। द्वैत-मत के 'न्यायामृत' आदि और अद्वैत-मत के 'भामती', 'खण्डन' आदि निबन्ध उन्हें अभ्यस्त थे। गुरु महाराज ने अपने उत्तरपक्ष में अद्वैत-सिद्धि, चित्सुखी, भामती, खण्डन आदि ग्रन्थों के आधार पर द्वैत-मत का सविशेष निरसन कर अद्वैत-मत की प्रतिष्ठापना कर दी। दोनों के मार्मिक तर्क-वितर्कों से विद्वन्मण्डली में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। 'साधु, साधु' से पण्डाल गूँज उठा। शास्त्रार्थ उत्तरोत्तर रोचक बनता गया। वह वाद-कथा तक ही सीमित रहा। दोनों ओर से जल्प और वितण्डा को सतर्कता से बचाया गया।

दो बार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में ४० मिनट बीत गये। अब ईश्वरचन्द्रजी की वाग्धारा दुर्बल हो चली। दस मिनट की जगह पाँच मिनट में ही उन्होंने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया। पण्डित विष्णुदासजी ताड़ गये। वे अनुभवी और दूरदर्शी थे। किसी भी आमन्त्रित अतिथि का अपमान अनुचित समझकर उन्होंने आर्य-समाजी मित्रों से परामर्श कर घोषित किया कि 'स्वामीजी के उत्तर के बाद शास्त्रार्थ समाप्त हो जायगा। भय है कि यह विवाद का रूप धारण न कर ले। केवल विद्वानों के मनोरंजनार्थ ही यह शास्त्रार्थ आयोजित है और वादी-प्रतिवादी दोनों अपने-अपने कौशल के लिए धन्यवादार्ह हैं।[1] उत्तरपक्षी ने भी अनेक तर्क एवं युक्तियों से द्वैत-मत को छिन्न-विच्छिन्न कर अद्वैत-मत की सुपुष्ट स्थापना कर दी है। अतः एक दृष्टि से विषय पूरा हो जाता है।'

आर्य-समाज के संचालक आचार्य रामदेवजी आदि को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

---

१. श्री विष्णुदासजी का यही प्रयत्न रहा, फिर भी महाविद्यालय की पार्टी चाहती थी कि गुरुकुल-पार्टी पराजित हो, कारण दोनों में पहले से अनबन थी। आखिर उन्होंने अपने पत्र 'भारतोदय' में प्रकाशित भी करवा दिया कि 'उदासीन सभा में गुरुकुल की हार।'

वे सोचने लगे कि आर्य-समाजी स्नातक तैयार करने के लिए हम लोग कितनी सुन्दर व्यवस्था किये हुए हैं। कितनी सुविधाएँ दी जाती हैं। विद्याप्रेमी, धनी-मानी आर्य जब-तब फल-मेवों की टोकरियाँ और मिठाइयों के डिब्बे भेजते रहते हैं। निवास और भोजनादि की तो बात ही क्या ? इतना सब कुछ होते हुए भी एक नेत्रहीन साधु का मुकाबला करने के लिए हमारा एक भी स्नातक सामने नहीं आता। स्नातक क्या, आर्य-विद्वान् तक समर्थ नहीं हो रहे हैं। काशी में इन साधुओं के निवासादि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं। फिर भी यह सन्त अपनी अलौकिक प्रतिभा से कितनी उच्च कोटि का पण्डित बन गया है। धन्य हैं इनके गुरु रामानन्दजी, जिन्होंने अति परिश्रम से भारतीय दर्शन एवं वेदों का पूर्ण विद्वान् शिष्य तैयार किया। इन्हें देख महर्षि दयानन्दजी के गुरु ब्रजानन्दजी की स्मृति ताजी हो जाती है।

साधुराम (सर्वानन्दजी) की शरणागति

इसी महासभा में आपकी प्रतिभा और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन से 'साधुराम' नामक एक स्वयंसेवक अत्यधिक प्रभावित हो उठा। वह पंजाबी और हिन्दी पढ़ा था। सभा में उसने सन्तों की हृदय से पर्याप्त सेवा की।

महासभा के अधिवेशन के बाद साधुराम गुरु महाराज के चरणों में पहुँचा और प्रार्थना करने लगा कि 'मेरी संस्कृत पढ़ने की उत्कट इच्छा है। चाहता हूँ, आजीवन आपकी सेवा में रहूँ। कृपया अपनी शरण ले लें।'

श्री हरिप्रकाशजी, सन्तोषानन्दजी आदि सभी साथियों ने भी साधुराम की साधुता की प्रशंसा की और गुरु महाराज से साग्रह अनुरोध किया कि इस होनहार युवक को उदासीन-दीक्षा दे अपना शिष्य बना लिया जाय।

फलस्वरूप संवत् १९८० (सन् १९२२) की चैत्र शुक्ल प्रतिपद् को नवयुवक साधुराम उदासीन-सम्प्रदाय की वैदिक-दीक्षा से दीक्षित हुआ और उसका नाम 'सर्वानन्द' हो गया। ये ही स्वामी सर्वानन्दजी महाराज आगे चलकर गुरु महाराज की कृपा से उन्हींकी प्रतिमूर्ति विद्वान् और प्रियतम शिष्य हुए।

छाजली की अनोखी पाठशाला

उदासीन महासभा का कार्य सम्पन्न कर गुरु महाराज पुनः छाजली चले आये। उन दिनों वहाँ कुछ और भी साधु एवं ब्राह्मण इकट्ठे हो गये थे, जिनमें सुदर्शन मुनि, सर्वानन्दजी, ब्रह्मदेवजी आदि सन्त तथा सीताराम (भविष्य में गुरु-मण्डलाध्यक्ष रामस्वरूपजी), जगदीश, मंगल-मुकुन्द, ब्राह्मण बालक कपूरदास भी थे। स्वामी शान्तानन्दजी सभी सन्तों और ब्राह्मणों को लिखना-पढ़ना सिखाते

और लघु-कौमुदी, गीता, विष्णुसहस्रनाम आदि कण्ठस्थ करवाते। महन्त हरिवनजी के शिष्य रामवनजी शान्तानन्दजी से रामचरित-मानस पढ़ते।

स्वामी शान्तानन्दजी ने गुरुदेव श्री रामानन्दजी से कहा कि आप प्रथमा के इन सब छात्रों को लघु-कौमुदी, रघुवंशादि पढ़ाया करें। स्वयं वे तर्क-संग्रह, पञ्च-तन्त्रादि पढ़ाते। कई सन्त गुरुदेव रामानन्दजी से सिद्धान्त-कौमुदी भी पढ़ते। पाठशाला सुन्दर चल पड़ी। छात्र-संख्या ४०-५० तक पहुँच गयी।

जब प्रथम कक्षा के छात्र उच्च कक्षा-योग्य हो जाते, तो फिर गुरु महाराज उन्हें पढ़ाने लगते। आपने यहाँ साहित्यशास्त्र के माघ (शिशुपालवध), किराता-र्जुनीय, नैषध-चरित, कादम्बरी, काव्यप्रकाश आदि; व्याकरण-शास्त्र के सिद्धान्त-कौमुदी, प्रौढ़-मनोरमा, शेखर आदि और न्याय-शास्त्र के तर्कसंग्रह-दीपिका, नील-कण्ठी, मुक्तावली, दिनकरी, पञ्चलक्षणी, सिद्धान्त-लक्षण आदि ग्रन्थ पढ़ाये।

पाठशाला की विशेषता यह थी कि यहाँ नकदी खर्च एक पाई का नहीं था। उन दिनों पुस्तकें सस्ती थीं और वर्ग भी नीचे के थे। आगे जब उच्च वर्ग चले, तो उनकी भी पाठ्य-पुस्तकें ५-७ रुपयों से अधिक की नहीं पड़ती थीं। वहाँ के एक सेठ वैश्य नत्थूराम प्यारेलाल तथा सुनाम के सेठ स्वरूपचन्द आदि धनी-मानी विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित पुस्तकें खरीद दिया करते। भोजन के लिए गाँव के किसान गेहूँ, घी, चीनी आदि खाद्य-वस्तुएँ इकट्ठी कर देते। पाठशाला को कभी किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई नहीं पड़ी। सन् १९२४ के अन्त तक यह प्रबन्ध सुन्दर ढंग से चलता रहा।

स्वामी शान्तानन्दजी की कल्पना थी कि इस एकान्त ग्रामीण प्रदेश में ही कुछ होनहार बालक तैयार किये जायें। नगरों का वातावरण पाश्चात्त्य संस्कारों से कलुषित रहता है। अतः प्राचीन संस्कृति के सच्चे प्रेमी यहाँ सरलता से तैयार किये जा सकते हैं।

गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी भी रुग्ण थे। उनका भी यहाँ से कहीं अन्यत्र जाने का विचार नहीं था। अतः वे भी शान्तानन्दजी के मत की पुष्टि करते रहे।

किन्तु गुरु महाराज का मत कुछ भिन्न था और वीतराग अर्जुनदेव, त्रिवेणी-दास (उपनाम धन्वन्तरि) उनके समर्थक थे। आपका विचार था कि साथ-साथ कुछ देशाटन भी किया जाय। अध्यापन के अतिरिक्त प्रवचन द्वारा भी जनता-जनार्दन की प्रत्यक्ष सेवा की जाय।

आपके परम गुरुदेव वैद्य सुन्दरदासजी भी आपको देशाटन का परामर्श दिया करते। उनका कहना था कि 'बेटा, अपने सम्प्रदाय के स्वामी केशवानन्दजी आदि सभी विद्वानों ने मण्डली के साथ चारों धाम की यात्राएँ कीं। वे सब अब वयो-

वृद्ध हो गये हैं, वहुत-से तो चल बसे हैं। सम्प्रदाय की मण्डलेश्वर-प्रथा विलुप्त-सी होती जा रही है। इसलिए तुम इस प्राचीन 'मण्डली-प्रथा' में नवजीवन भरो।'

परम गुरुदेव के परामर्श से आपको वहुत वड़ा प्रोत्साहन मिला। किन्तु दुर्भाग्यवश इसी वर्ष संवत् १९८२ (सन् १९२५) में उस महापुरुष का अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। अतः गुरु महाराज मण्डली-सहित राजवाना आये। वहाँ आपने परम गुरुदेव के भण्डारा आदि में भाग लिया। आसपास के गाँवों की जनता और सन्त-मण्डल विशाल परिमाण में उपस्थित था। सबके बीच वहाँ की गद्दी के अध्यक्ष गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज निर्वाचित हुए।

गुरु महाराज ने शिवरात्रि राजवाना में ही मनायी। फिर आप मण्डली-सहित संगरूर के निकट सुनाम कसबे में आये। वहाँ साधुराम की समाधि में ठहरे, जहाँ एक मास सत्संग होता रहा।

मण्डली का आरम्भ

मण्डली का आरम्भ संवत् १९८२ (सन् १९२५) के फाल्गुन मास में सुनाम में हुआ। तत्कालीन सेवकों में सेठ स्वरूपचन्द प्यारामल, मूलचन्द चक-वाल-निवासी, अजितराम प्रमुख थे। वहाँ सुनाम के अफसर और पटियाला राज्य के नायब भी आपके दर्शनार्थ आते।

मण्डली की सिन्ध-यात्रा

संवत् १९८३ की चैत्र शुक्ल प्रतिपद् को मण्डली ने सिन्ध की ओर प्रस्थान किया। मण्डली में ३० सन्त थे। वैशाखी तक आप लोग सिन्ध में साधुवेला के महन्त श्री हरिनामदासजी के पास ठहरे।

यहाँ के महन्तजी, कोठारी हरिदास मण्डली के सन्तों से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते। उन्होंने मण्डली के प्रस्थान से पूर्व अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित किया। कहने लगे : 'पण्डितजी, यदि साधुवेला में जनता के अधिक यातायात से विक्षेप होता हो, तो दरिया के उस पार रोहड़ी तपोवन में मण्डली के ठहरने की व्यवस्था कर दी जाय। वहाँ सन्तों का पठन-पाठन शान्ति से चले और कुछ दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखे जायें। किन्तु गुरु महाराज को तो देशाटन की तीव्र इच्छा थी। अतः आपका उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जा सका।

सक्खर से गुरु महाराज मण्डली-सहित हैदराबाद (सिन्ध) पधारे। वहाँ भक्त कोटूमल के बगीचे में तीन मास तक निवास हुआ। मण्डली को सेवा में सर्वश्री वीरूमल मुखी, गोपालदास (वसियामल कम्पनी के मैनेजर), सेठ लोकू-मल, ताराचन्द गंगाराम, त्रिलोकचन्द, मूलचन्द हाथीरामाणी आदि प्रतिष्ठित

प्रेमी भक्त सदैव तत्पर रहते। वहाँ श्री स्वामी शान्तानन्दजी की श्रीमद्भागवत-कथा और गुरु महाराज के सनातन-धर्म पर प्रवचन होते रहे। यहाँ आपकी महन्त मनोहरदास (ठिकाना ईश्वरदास), महन्त श्रीकृष्ण, महन्त गुरुदास मुखी-घिटीवाले, महन्त धर्मदासजी आदि सन्तों से भेट-मुलाकात हुई।

श्रावण मास के अन्त में गुरु महाराज मण्डली के साथ कराची पहुँचे। उन दिनों वहाँ बहुत वर्षा हुई। कराची में आप साधुवेला स्थान पर ठहरे।[1] यहाँ सर्वश्री सेठ ऊधोदास ताराचन्द, बोधाराम वेदान्ती, सिविलदास हरगुणदास, चेलाराम दलुराम आदि स्थानीय सज्जन विशेष सेवा करते रहे।

आश्विन कृष्णपक्ष में मण्डली कराची से पीरगोठ आयी। वहाँ आप लोग चेटूमल के कुएँ पर डेढ़ महीने रहे। मण्डली की सेवा में सर्वश्री हरिचन्द आवत-राम, केवलराम भाई, जिज्ञासु सन्त नारायणदासजी आदि भक्तजन लगे रहे। यहाँ के महन्त आत्मप्रकाश उदासीन सन्त-प्रेमी और उदार-प्रकृति थे। वे भी मण्डली से विशेष स्नेह करते। भाई नारायणदास, ईश्वरदास, सीतलदास आदि जिज्ञासु सम्प्रदाय के सन्तों ने खूब शास्त्र-विचार किया। सभी लोग आध्यात्मिक वार्तालाप का अपूर्व लाभ उठाते रहे।

गुरु महाराज की इस मण्डली के देशाटन से जनता में एक नया उत्साह, नयी चेतना और नयी प्रेरणा प्रस्फुटित हो गयी। अद्भुत प्रतिभा और अतुल व्यक्तित्व से आपके सम्पर्क में आनेवाले सभी विद्वान् सन्त-महन्त, छात्र और गृहस्थ अत्यधिक प्रभावित होते। जहाँ-जहाँ आप पधारते, प्रकृति माता नव पल्लवित हो प्रकाश, उत्साह और आनन्द के सुमन बिखेरती। दीपावली तक सन्त-मण्डली यहीं रही।

दीपावली के बाद मण्डली शिकारपुर आयी। वहाँ की प्यारा-संगत में होली तक निवास हुआ। इन दिनों शिकारपुर के सर्वाधिक सम्पन्न एवं धर्मप्रेमी सज्जनों में सर्वश्री द्वारकादास मुखी, उनके भ्राता दुलेराम, परसराम, सिविलदास नारायणदास, वेरामल के तीनों पुत्र, केवलराम, जुहारमल और परशुराम तथा चारों भाई, बजाज लुनिन्दा सिंह, नारायण सिंह, जस्सासिंह, चेलासिंह प्रमुख माने जाते। ये सभी मण्डली के धर्म-प्रचार में भाग लेते। द्वारकादास, जयसिंह, टावर-मल हिन्दूजा, माधोदास तलेजा, ऊधोदास रहेजा, माधोदास मेण्डा, हासासिंह ऑनरेरी मजिस्ट्रेट आदि यहाँ के सभी सेठ मण्डली की प्रेमपूर्वक सेवा में रहे।

---

१. यह साधुवेला पृथक् ट्रस्ट स्थान था, साधुवेला सक्खर-सिन्ध की शाखा नहीं। इस स्थान के महन्त उन दिनों सन्त साधुराम थे।

श्री केशवानन्दजी का देहोत्सर्ग

शिकारपुर में ही संवत् १९८३ के फाल्गुन में मण्डली को तार मिला कि उदासीन-सम्प्रदाय के भारत-विख्यात महात्मा महामहोपाध्याय स्वामी श्री केशवानन्दजी महाराज ब्रह्मलीन हो गये। मण्डली के संचालक स्वामी शान्तानन्दजी के वे परम गुरु थे। यों स्वाध्याय में विघ्न पड़ने के कारण मण्डली ने इस बार कुम्भ पर हरिद्वार जाने का विचार स्थगित रखा था। किन्तु अब यह नया प्रसंग खड़ा हो जाने से अपनी मण्डली के साथ गुरु महाराज को हरिद्वार जाना ही पड़ा।

८

लोक-संग्रह का प्रथम चरण

[संवत् १९८४ से १९९१ तक]

प्रस्तुत चरित्र के प्रथम प्रकरण में सुयत्न मुनि के संक्षिप्त परिचय के प्रसंग में वताया जा चुका है कि सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय इन मुनि-महाराज ने देश-विदेश में धर्म-प्रचारार्थ 'मण्डल' या 'मण्डली' के संगठन की प्रथा चलायी। इसके अनुसार चुने हुए धर्मसेवी, विद्वान् शिष्यों के मण्डल देश-विदेश में भेजे जाते। हर तीसरे वर्ष अधिक मास में वे एक स्थान पर जुटते और अपने-अपने किये धर्म-कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते। उस अवसर पर सभी मण्डलों के प्रधान 'महामण्डलेश्वर' उनके कार्यों का परीक्षण कर प्राप्त अनुभव के आधार पर उचित सुधार एवं परिष्कार के साथ अग्रिम धर्म-प्रचार-कार्य की रूपरेखा वना देते। तदनुसार ये मण्डल और मण्डलियाँ पुनः अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए निकल पड़तीं। वड़ा साधु-संघ 'मण्डल' कहलाता, जब कि छोटा साधु-संघ 'मण्डली' नाम से पुकारा जाता।

सचमुच सुयत्न मुनि-महाराज की चलायी यह प्रथा देश के लिए बहुत बड़ा वरदान है। धर्मप्रधान भारत देश का लोकसंग्रह-कार्य जव-तव भगवान् या उनकी विभूतियाँ ही करती आयी हैं। यहाँ की मान्यता है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थात् धर्म का तत्त्व बड़ा ही गूढ़ होता है। उसका था-पता चलता ही नहीं। एक समय जो कर्तव्य धर्म सिद्ध होता है, वही दूसरे समय धर्म नहीं रह जाता, अधर्म वन जाता है। ऐसे नाजुक तत्त्व को ठीक-ठीक समझना 'महाजन' अर्थात् श्रुत्युक्त वैदिक-मार्ग का तत्त्व जानकर उससे रेखामात्र भी क्षुण्ण न होकर चलनेवाले पुरातन धर्मनिष्ठ पुरुषों के ही वश की बात है। यही कारण है कि शास्त्रकार हमें स्पष्ट आदेश देते हैं :

'येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति ॥'

अर्थात् हमारे पिता-पितामह जिस सन्मार्ग पर चले, उस मार्ग पर चलकर हम निश्चय ही अपनी अन्तिम मंजिल पहुँच जायँगे, कभी नहीं गिरेंगे।

सुयत्न मुनि की इस मण्डली-प्रथा के लोकोत्तर लाभ देख आगे बौद्धों ने भी अपने संघ और संगीतियाँ चलायीं। दूसरे शब्दों में ये 'जंगम-विद्यापीठ' थीं। गाँव-गाँव, टोले-टोले पहुँचकर अशिक्षित, अज्ञ जनता के प्रबोधन, शिक्षण का जितना व्यापक कार्य बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाएँ नहीं कर सकतीं, नहीं कर पातीं, ये मण्डलियाँ हँसते-खेलते सम्पन्न कर लेतीं।

इसके लिए नगर-कल्प बड़ी-बड़ी इमारतों का जाल नहीं बिछाना पड़ता और न वहाँ शिक्षा देनेवालों के हजारों के वेतनक्रम (ग्रेड) बनाने पड़ते हैं। शिक्षार्थियों के अनुशासन-रक्षार्थ पुलिस का बड़ा जाल नहीं बिछाना पड़ता। सच तो यह है कि शासन नहीं, गाँववालों से—लोकतान्त्रिक सत्ता के केन्द्रस्थानीय लोक से—रूखी-सूखी रोटी ससम्मान प्राप्त कर उसी पर जीवन-यात्रा चलानेवाली, कांचनमुक्त, पदयात्री मण्डली के ये विद्वान्, सन्त जहाँ जाकर शिक्षा देते, वह अनुशासन की नींव पर ही खड़ी होती। इसी मण्डली ने अपने प्रचार-कार्य से भारतीय संस्कृति के आदर्श प्रतीक और देश-धर्म के लिए सर्वस्व समर्पित करनेवाले अनेक नरवीर प्रस्तुत किये हैं। सस्ती, सुलभ और चिर-लाभ की यह प्रथा चिर-पुरातन होकर भी चिर-नूतन होने का दावा रखती है। आवश्यकता है, समझदार इसकी ओर ध्यान दें और देश के पुरातन स्वर्णिम गौरव को पुनः लौटाने के लिए हर संभव उपाय से इसे प्रोत्साहित करें।

हाँ, तो हमारे चरित्र-नायक ने अपने दादा-गुरु श्री वैद्य सुन्दरदासजी महाराज से प्रोत्साहन पाकर संवत् १९८२ के फाल्गुन मास में सुनाम (पंजाब) में पुनः इस 'मण्डली' का संगठन किया और स्वयं उसका नेतृत्व करते हुए देश के कोने-कोने में लोक-संग्रह और धर्म-प्रचार के कार्य में जुट गये। गुरु महाराज के लोक-संग्रह-कार्य का यह प्रथम चरण था। मण्डली की यह धर्म-यात्रा कुछ दिन सिन्ध में चली कि सम्प्रदाय के भारत-विख्यात विद्वान् महात्मा महामहोपाध्याय स्वामी श्री केशवानन्दजी के देहोत्सर्ग के प्रसंग में उसे कुछ दिनों के लिए सिन्ध का कार्य आधा ही छोड़ हरिद्वार आ जाना पड़ा।

मण्डली के नायक हमारे पूज्य गुरु महाराज अपने दलबल के साथ हरिद्वार के भीमगोडा में स्वामी श्री पूर्णानन्दजी के शिविर में ठहरे। महन्त साधुवेला का शिविर भी सन्निकट था। अतः दोनों शिविरों में आपके कथा-प्रवचन होते रहते।

यहाँ आप लगभग डेढ़ मास ठहरे। चैत्र शुक्ल प्रतिपद् संवत् १९८४ को नव-वर्ष का गंगा-स्नान हुआ। वैशाखी पर्व और हरिद्वार कुम्भ-पर्व का भी स्नान किया गया।

पुनः सिन्ध-यात्रा पर

गुरु महाराज अपनी मण्डली को ले हरिद्वार से छाजली आये। वहाँ आप महन्त स्वामी अखण्डानन्दजी और उनके गुरुबन्धु वैद्य स्वयंप्रकाशजी के पास ठहरे।

दीर्घकाल तक कहीं एक जगह न ठहरने का नियम होने से आप वहाँ से शीघ्र बहावलपुर राज्य में आये। वहाँ भक्त पुष्करदास और महन्त स्वामी आत्म-स्वरूपजी से मिले।

वहाँ से आप सक्खर आये और मीठी-संगत में ठहरे। यहाँ एक मास निवास और धर्म-प्रचार हुआ।

सक्खर से आप कराची आये। सेठ रोचीराम ठाकुरदास के बँगले में निवास हुआ। सेठ ऊधोदास ताराचन्द ने मण्डली की सारी व्यवस्था की। रोचीराम के पिता ठाकुरदास और ऊधोदास में मित्रता थी। यहाँ लगभग डेढ़ मास मण्डली का निवास और धर्म-प्रचार हुआ।

कराची से गुरु महाराज जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य के धूने की यात्रा के लिए नगरठट्ठा पहुँचे। वहाँ के महन्त श्री गुरुमुखदासजी से वार्तालाप हुआ। दीवान नारायणदास, दीवान चेलाराम ठट्ठावाले कराची से मण्डली के साथ थे। दीवान हरिचन्द ने नगरठट्ठा में मण्डली का स्वागत किया।

नगरठट्ठा से आप बिलोचिस्तान पधारे। वहाँ क्वेटा के विरक्त-आश्रम में ठहरे। यहाँ सर्वश्री मोतीराम, किसनचन्द, ईश्वरदास, खूबचन्द, भीखचन्द आदि सेठ सेवा में रहे। नवरात्र बिलोचिस्तान में ही हुआ।

नवरात्र के बाद विजयादशमी के दिन मण्डली शिकारपुर पहुँची। सर्दी से गरम प्रदेश में आने के कारण गुरु महाराज का शरीर कुछ रुग्ण हो गया। इससे सन्तों के स्वाध्याय में भी कुछ विक्षेप हुआ। आपकी चिकित्सा वैद्य सेठ देऊराम करते रहे।

ईर्ष्यालुओं ने मुँह की खायी

मण्डली की इस धर्म-यात्रा से इधर के प्रदेश में सनातन-धर्म का खूब गौरव होने लगा। यह देख टिलूराम आर्यसमाजी चिढ़ गये। उन्होंने छेड़खानी शुरू की। पूरे शिकारपुर शहर में प्रचार कर दिया कि आपका सनातन-धर्म-प्रचार निराधार है। आर्यसमाज शास्त्रार्थ के लिए तैयार है। भीतर ही भीतर संघर्ष चलता रहा।

अन्ततः प्रीतम-धर्मसभा के मुख्य कार्यकर्ता चेटूराम, राधाकृष्ण आदि ने सहयोग देकर सभा के तत्त्वावधान में अखिल भारतवर्षीय आर्यसमाज को शास्त्रार्थ का

चैलेंज दिया। शास्त्रार्थ के विषय अवतार-वाद, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध आदि रखे गये। किन्तु इस शास्त्रार्थ में सनातन-धर्म से ईर्ष्या रखनेवालों को मुँह की खानी पड़ी। शास्त्रार्थ-मंच पर कुछ ही देर में उनकी बोलती बंद हो गयी।

इस विरोध का लाभ यह हुआ कि भविष्य में सनातन-धर्म के स्थायी प्रचार के निमित्त शिकारपुर में 'सनातन-धर्म-युवक-सभा', साधुवेला, सक्खर में सिन्ध-विलोचिस्तान सनातन-धर्म-प्रतिनिधि-सभा तथा लाड़काना आदि स्थानों में भी सनातन-धर्म-युवक-सभाएँ स्थापित हो गयीं।

शरीर कुछ स्वस्थ होने पर कार्यवश गुरु महाराज लाहौर पधारे। वहाँ के 'ट्रिव्यूनल' में उदासीन-सम्प्रदाय और सिखों के बीच जो मुकदमा चल रहा था, उस सम्बन्ध में हीरादासजी आदि अमृतसर के महन्तों ने आपसे वार्ता की। आपने अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा ट्रिव्यूनल, न्यायालय में यह सिद्ध किया कि उदासीन सिख नहीं हैं।

संवत् १९८५ में आप दमदमा, मोगा, अमृतसर आदि शहरों में घूमते हुए हैदरावाद के श्यामनगर आये। यहाँ सेठ गंगाराम त्रिलोकचन्द ने मण्डली की सेवा की। यहाँ सनातन-धर्म-सभा संघटित थी, जिसके संचालक किसनचन्द लेखराज, पोहूमल व्रदर्स थे।

वेदस्थापक-मण्डल

सनातन-धर्म-सभा में गुरु महाराज के रास-लीला और वेद-गौरव पर प्रवचन हुए। लोगों के उत्साह पर एक 'वेदस्थापक-मण्डल' संगठित हुआ। मण्डल के मुख्य कार्यक्रम १. वेदों का प्रचार, २. प्रतिवर्ष वेद भगवान् की सवारी निकालना और ३. वेद-मन्दिरों की स्थापना तय हुए। गुरु महाराज ने सभा में वेदों की स्थापना और उनकी पूजा एवं वेद-पाठ के लिए गुजराती पण्डित श्री मणिशंकरजी को नियुक्त किया। सिन्ध-हैदराबाद और कराची में वेदों के शानदार जुलूस निकाले गये। इन सब कार्यक्रमों को करते हुए ६ महीने सन्त-मण्डली हैदरावाद रही।

आश्विन के शारदीय नवरात्र के अवसर पर ४० साधुओं की मण्डली के साथ गुरु महाराज बीकानेर गये। वहाँ कार्तिक पूर्णिमा तक निवास रहा। पण्डित रतनदेवजी से भेंट हुई। उनके प्रभाव से वहाँ के सेठों ने मण्डली की अच्छी सेवा की। मण्डली सेठ डूँगरमल राठी के यहाँ ठहरी। बीकानेर के विद्वानों के साथ गुरु महाराज की उल्लेख्य शास्त्र-चर्चा हुई। श्री केशरीदत्त नामक एक पण्डितजी के साथ न्याय और व्याकरण-शास्त्र में शास्त्रार्थ भी हुए, जिनमें पण्डितजी पराजित हुए।

यहाँ से मण्डली श्री शान्तानन्दजी के साथ छाजली गयी और गुरु महाराज स्वास्थ्य-सुधार के लिए सेमाग्राम में वैद्य श्री निरञ्जनानन्दजो के पास आये। आपके साथ श्री अर्जुनदेव, आत्मानन्दजी विरक्त, सर्वानन्दजी एवं सुदर्शन मुनि थे।

सन् १९२८ में स्वास्थ्य सुधरने पर दशनामी स्वामी राघवानन्दजी की प्रार्थना पर आप आर्यसमाज से शास्त्रार्थ से लिए बरेटा ग्राम के समीप कुलरी ग्राम आये। शास्त्रार्थ में आर्य-समाजियों की बुरी तरह हार हुई।

वहाँ से छाजली, सुनाम आदि होते हुए संवत् १९८५ चैत्र कृष्ण १३ महा-वारुणी-पर्व पर गुरु महाराज हरिद्वार पहुँचे। यहाँ चेतनदेव कुटिया के महन्त श्री प्रभुदासजी के पास ठहरे। यहाँ कई विद्वानों से शास्त्रार्थ भी हुए।

सम्प्रदाय के इतिहास का आलेखन

इस तरह गुरु महाराज द्वारा मण्डली का संगठन कर धर्म-प्रचार और लोक-संग्रह का कार्य बड़े सुचारु रूप में चल रहा था। इस कार्यक्रम से जनता का ध्यान सम्प्रदाय की ओर विशेष आकृष्ट हुआ। जब-तब उसके द्वारा सम्प्रदाय के परम्परागत इतिहास की माँग होने लगी। इसके लिए ऐसा कोई सुव्यवस्थित अद्यतनीय ग्रन्थ सुलभ न था। अवश्य ही महाराजश्री अपने प्रवचनों में जब-तब इस पर भी प्रकाश डाला करते, किन्तु उतने से सभीकी साम्प्रदायिक इतिहास-सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त नहीं हो रही थी। गुरु-मण्डल के अध्यक्ष श्री आत्म-स्वरूपजी, पण्डित विष्णुदास लताला, अखाड़े के सेक्रेटरी बाबा धर्मदासजी आदि महापुरुषों का इस ओर ध्यान गया और उन्होंने गुरु महाराज से ऐसा कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने का साग्रह अनुरोध किया। आपको भी बात जँच गयी और यह कार्य करने का निश्चय किया गया।

तदनुसार संवत् १९८६ के चैत्र शुक्ल से उदासीन-सम्प्रदाय के एक प्रामा-णिक ऐतिहासिक ग्रन्थ का निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। ग्रन्थ का नामकरण 'श्रौत-मुनि-चरितामृत' किया गया। ग्रन्थ-लेखन-कार्य हरिद्वार की चेतनदेव-कुटिया में हुआ। ज्येष्ठ पूर्णमा तक ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय प्रवाह लिख लिये गये।

तदनन्तर श्री स्वामी आत्मस्वरूपजी के आग्रह से वयोवृद्ध महात्मा श्री हरि-नारायणदासजी मण्डली को अपने स्थान बाग बाबा हजारा, लखनऊ ले गये। मण्डली आषाढ़ से मार्गशीर्ष तक वहीं ठहरी। इस बीच गुरु महाराज ने 'श्रौत-मुनि-चरितामृत' के आगे के पाँच प्रवाह, तृतीय से सप्तम तक लिख दिये। इस तरह यह ग्रन्थ तैयार हो गया।

यहाँ मण्डली में ६० साधु थे। सर्वश्री रामनारायण शास्त्री, पं० श्यामदास,

पं० विष्णुदास लताला, पं० रामस्वरूपजी, पं० हरिप्रकाश, पं० बुद्धिप्रकाश, पं० रतनदेव, स्वामी शान्तानन्दजी, वेदान्ती स्वामी असंगानन्दजी, हंसमुनिजी आदि विद्वानों का इस कार्य में गुरु महाराज को पूरा सहयोग मिला। महन्त हरिनारायणदासजी महाराज ने ग्रन्थ-निर्माण और मण्डली की सेवा में उदारता-पूर्वक हजारों रुपये व्यय किये।

ग्रन्थ-निर्माण-कार्य पूरा कर मार्गशीर्ष में गुरु महाराज ने अयोध्या की यात्रा की। वहाँ राणोपाली उदासीन-आश्रम में ठहरे।

प्रयाग-कुम्भ

अयोध्या से गुरु महाराज प्रयाग पहुँचे। संवत् १९८६ (सन् १९३०) में प्रयाग कुम्भ-पर्व पर आप गंगापार, शतनाग के पास विरक्त सन्त एवं अवधूतों की झोपड़ियों के निकट कुटिया बनवाकर रहे।

गुजरात की ओर

प्रयाग-कुम्भ के अवसर पर पेटलाद (गुजरात) के सेठ रमणलाल दातार गुरु महाराज का दर्शन कर अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने आपसे पेटलाद चलने का साग्रह अनुरोध किया। उसे स्वीकार कर आपने माघ पूर्णिमा का अन्तिम स्नान कर पेटलाद के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में दो-चार दिन बरहानपुर के उदासीन-आश्रम, नागझिरी के महन्त श्री चरणशरणदासजी के पास ठहरे।

संवत् १९८६ की शिवरात्रि पेटलाद में हुई। संवत् १९८७ का नव-वर्ष-दिवस (चैत्र शुक्ल प्रतिपद्) भी पेटलाद में ही मनाया गया। भावुक सेठ के आग्रह पर आषाढ़ तक वहीं निवास हुआ। जनता को नित्य ही सरस कथा-प्रवचन का सुन्दर लाभ मिलता रहा। वह आपको छोड़ना ही नहीं चाहती थी। यहाँ भक्त छोटालाल, काशीराम, भक्त सेठ रमणलाल दातार, चन्दूलाल टी० पारिख आदि की सेवाएँ विशेष उल्लेख्य हैं।

आषाढ़ में डाकोर की यात्रा हुई। वहाँ भगवान् रणछोड़राय के दर्शन हुए। मास्टर गिरिजाशंकर शास्त्री आदि के साथ उल्लेख्य आध्यात्मिक चर्चा भी हुई।

संवत् १९८७ की आषाढ़ शुक्ला एकादशी को मण्डली नड़ियाद में सन्तराम-मन्दिर में पहुँची। मन्दिर के महन्त श्री जानकीदासजी के प्रेमवश मण्डली का चातुर्मास्य यहीं सम्पन्न हुआ।

नड़ियाद में श्री रतिभाई पटेल गुरु महाराज से मिले। उन्होंने आपसे अहमदाबाद पधारने का आग्रह किया। इससे पूर्व पेटलाद में ही श्री मोतीलाल हीराभाई आपको अहमदाबाद के लिए आमन्त्रित कर गये थे। उन्हें उज्जैन-कुम्भ

पर (संवत् १९७८ में) आपका दर्शन एवं परिचय प्राप्त हुआ था। अतः कार्तिक शुक्ला एकादशी तक चातुर्मास्य पूरा कर मण्डली अहमदाबाद पहुँची। वहाँ एलिस ब्रिज स्थित मोतीबाग में सभी ठहरे।

सन्तराम शताब्दी-महोत्सव

इधर नड़ियाद में महन्त जानकीदासजी ने माघ शुक्लपक्ष में सन्तराम शताब्दी-महोत्सव का विराट् आयोजन किया। महन्तजी ने गुरु महाराज से भी इस उत्सव में भाग लेने का अत्याग्रह किया। फलस्वरूप अहमदाबाद से पुनः नड़ियाद आना पड़ा। वहाँ आप एक सप्ताह रहे। इस बीच सेठ गोकुलभाई दीवान से भेंट हुई और उन्होंने आपसे जामनगर पधारने की प्रार्थना की।

माघ शुक्ल पूर्णिमा को शताब्दी-महोत्सव पूर्ण हुआ। इसमें पाँच लाख जनता ने सोत्साह भाग लिया।

अहमदाबाद में

फाल्गुन कृष्ण प्रतिपद् को गुरु महाराज पुनः अहमदाबाद पधारे। तेजस्वी प्रतिभा, प्रेमपूर्ण नम्र व्यवहार, सदैव प्रसन्न मुख-मुद्रा और लोकोत्तर वैदुष्य से अहमदाबाद की जनता आपके प्रति उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकृष्ट हो चली। आपके सान्निध्य में वह अपना सारा सांसारिक दुःख भूल जाती।

अहमदाबाद में वकील फूलशंकर सुन्दरलाल देसाई आपसे दीक्षित हुए। वहीं शिवरात्रि कर आपने द्वारिका-यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

मार्ग में जामनगर ठहरे। वहाँ गोकुलभाई दीवान, परशुरामभाई आदि प्रमुख राजकीय व्यक्तियों से भेंट हुई। आनन्द-बाबा संस्थान के अध्यक्ष और काठियावाड़ के प्रमुख नरेशों के गुरु श्री स्वामी रामप्रसादजी से भी भेंट-मुलाकात हुई।

होली पर मण्डली गोमती द्वारिका और बेट द्वारिका पहुँची। वहाँ भगवान् रणछोड़रायजी के दर्शन हुए।

द्वारिका से जामनगर लौटने पर महाराज जामसाहब रणजीतसिंहजी ने गुरु महाराज के दर्शन किये। वहाँ से पोरबन्दर, गिरनार और प्रभास-क्षेत्र की यात्राएँ हुईं।

पुनः सिन्ध में

संवत् १९८८ (सन् १९३१) की चैत्र शुक्ल प्रतिपद् को पण्डित गुरुदत्तजी के साथ गुरु महाराज वेरावल से स्टीमर द्वारा कराची पधारे। वहाँ ऊधोदास ताराचन्द के बँगले में निवास हुआ।

चैत्र शुक्ल रामनवमी को गुरु महाराज कराची से हैदराबाद पधारे, जहाँ वेदस्थापक-मण्डल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव में भाग लिया। यहीं आपकी जगन्नाथपुरी के शंकराचार्य ब्रह्मलीन श्री भारतीकृष्ण तीर्थजी से भेंट हुई। उत्सव में वेद भगवान् की भव्य सवारी निकाली गयी।

हैदराबाद से गुरु महाराज पुनः कराची आये और सन् १९३१ की कराची-कांग्रेस में दर्शक के रूप में भाग लिया। वहाँ आपकी पण्डित मदनमोहन मालवीयजी से वार्ता हुई। उन्हीं दिनों कराची सनातन-धर्म-सभा के तत्त्वावधान में वहाँ के रामबाग में सभा आयोजित हुई, जिसमें महामना मालवीयजी और आपके सनातन-धर्म-रहस्य पर मननीय प्रवचन हुए। वहाँ से पुनः आप हैदराबाद चले आये।

सिन्ध-विभाजन का विरोध

इसी वर्ष कांग्रेस ने सिन्ध-प्रदेश को बम्बई प्रान्त से अलग करने का प्रस्ताव पास किया। सिन्धी पंचायतों के शिष्ट-मण्डल नेहरूजी आदि प्रमुख नेताओं से मिले और सिन्ध-विभाजन के संभाव्य दुष्परिणामों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट कराया। किन्तु नेताओं ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और उन्हें निराश ही लौटना पड़ा। हैदराबाद, कराची, लाड़काना, सक्खर आदि नगरों में विभाजन के विरोध में विराट् सभाएँ हुईं। गुरु महाराज ने भी कई सभाओं में भाषण दिये। उन दिनों आपने भाषणों में स्पष्ट कहा था कि 'सीमान्त प्रदेशों को मध्य-वर्ती शासन से अधिकाधिक सम्बद्ध बनाये रखने पर ही उन प्रदेशों की सुरक्षा बनी रहती है।' आज पाकिस्तान बनने के बाद सिन्ध के हिन्दुओं पर जो बीती, उसे देखते हुए गुरुदेव के ये बोल कितनी चेतावनी और कितनी क्रान्तदर्शिता से भरे थे, यह सुस्पष्ट हो जाता है।

श्री सर्वानन्दजी ब्यावर से मण्डली लेकर सिन्ध-हैदराबाद आ गये। और श्री स्वामी शान्तानन्दजी भी थानकोट से यहाँ पहुँचे।

विद्यालय के लिए कोष-संग्रह

अब गुरु महाराज श्री सर्वानन्दजी को साथ लेकर काशी के उदासीन संस्कृत विद्यालय के लिए कोष-संग्रहार्थ निकले। प्रथम आपने हैदराबाद के उदासीन महन्तों से धन-संग्रह किया। वहाँ से माझन आये। महन्त धर्मदासजी से भेंट हुई। उन्होंने उदारतापूर्वक विद्यालय-कोष में सहायता दी। फिर आप शिकारपुर गये। काशी से विद्यालय के कुलपति श्री स्वामी पूर्णानन्दजी को बुला लिया गया। गुरु महाराज की प्रेरणा से वहाँ पेसूमल विशनदास और उनकी बहन

भागुमाँ, जुहारमल वेरामल आदि सेठों ने स्वामी श्री पूर्णानन्दजी की सेवा में विद्यालय के लिए विपुल द्रव्य अर्पण किया। अब तक अनेक नगरों से संगृहीत धन भी श्री सर्वानन्दजी ने श्री पूर्णानन्दजी को सौंप दिया।

श्री स्वामी पूर्णानन्दजी गुरु महाराज के साथ शिकारपुर से हैदराबाद आये और वहाँ से सीधे काशी चले गये, कारण विद्यालय-भवन का काम पूरा नहीं हुआ था। इसके पूर्व काशी के टेढ़ीनीम मुहल्ले में किराये के मकान में विद्यालय चलता था। गुरु महाराज ने विद्यालय के लिए यह सहयोग स्वामी कृष्णानन्दजी और स्वामी पूर्णानन्दजी के साग्रह अनुरोध पर दिया।

हैदराबाद से गुरु महाराज कराची पधारे। गुरुमण्डलाध्यक्ष श्री स्वामी आत्मस्वरूपजी के देहावसान का तार मिलने से श्री स्वामी शान्तानन्दजी हरिद्वार चले गये। मण्डली कराची से शिकारपुर आयी और सर्दीभर वहीं रही।

सन् १९३२ (संवत् १९८८) की मार्च में गुरु महाराज मण्डली को लेकर महावारुणी के स्नान के लिए हरिद्वार पधारे। नवसंवत् १९८९ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान वहीं हुआ। मण्डली के कुछ सदस्य यहीं रह गये और कुछ को लेकर श्री सर्वानन्दजी छाजली चले गये।

'श्रौतमुनि-चरितामृत' का प्रकाशन

इधर गुरु महाराज स्वामी असंगानन्दजी और धर्मावतार सन्तराम-सम्प्रदाय के सन्त माधवदास के साथ हरिद्वार से निकले और मुरादाबाद के झखड़ी गाँव में श्री अवधूतजी के दर्शन कर नड़ियाद (गुजरात) आये। वहाँ सन्तराम-मन्दिर में ठहरे। यहीं से 'श्रौतमुनि-चरितामृत' के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया गया। पुस्तक का मुद्रण अहमदाबाद में होनेवाला था। अतः निम्नलिखित व्यक्ति अहमदाबाद पहुँचे : सर्वश्री हंसराज शास्त्री (संप्रति हंसमुनि, महन्त राजगृह) और स्वामी रामस्वरूपजी सम्पादक के शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्वाश्रम के पण्डित मुन्शीराम शर्माजी)। ये लोग वहाँ रहकर पुस्तक का संशोधन आदि कार्य करने लगे। श्री फूलशंकर वकील और डॉक्टर जमीयतराम ने सभी विद्वानों का सब प्रकार से समुचित प्रबन्ध किया। प्रकाशन का काम ठीक चलने लगा।

इसी बीच श्री सर्वानन्दजी छाजली से मण्डली लेकर नड़ियाद आ गये। यहाँ डॉक्टर जमीयतराम ने महाराज से मण्डली सहित सूरत पधारने की प्रार्थना की। तदनुसार सब लोग सूरत आकर हंसबाग में ठहरे। अवधूत हंसदेवजी भी वहाँ थे। यहाँ नाथाभाई, बालाभाई जरीवाला, भजेराम (प्रभुदास रेशमवाला) एवं अन्य वयोवृद्ध वेदान्तियों की भक्त-मण्डली ने सन्तों की विशेष सेवा की। वहाँ

से सर्वानन्दजी कुम्भ के प्रवन्ध के लिए श्री कपूरदास के साथ बम्बई होते हुए नासिक आये। उनकी सूचना मिलने पर सन्त-मण्डली भी नासिक के लिए रवाना हुई।

नासिक-कुम्भ

संवत् १९८९ में नासिक का कुम्भ-पर्व था। इस अवसर पर भाई पेसूमल विशनदास ने वहाँ रामजी मिस्त्री के बँगले के पास एक बँगला किराये पर लिया और वहीं सन्त-मण्डली को ठहराया गया। नियमानुसार अन्न-क्षेत्र भी आरंभ हुआ। सेठ चन्दूलाल टी० पारिख ने भी उल्लेख्य सेवा की। पास में ही अवधूत हंसदेवजी रामजी मिस्त्री के बँगले में ठहरे हुए थे। त्र्यम्वक में स्वामी पूर्णानन्दजी आदि कई महात्माओं के क्षेत्र चलते रहे।

इस अवसर पर अनेक त्यागी, विरक्त, ज्ञानी महापुरुषों से गुरु महाराज की आत्मचर्चा हुई। आपके सुललित प्रवचन भी होते थे, जिनसे जनता अत्यन्त आकृष्ट हुई। शास्त्रार्थ तो आपका स्वभाव ही होने से यहाँ भी उसकी कमी नहीं रही। कई अच्छे-अच्छे विद्वानों के साथ जमकर शास्त्रार्थ हुए।

कुम्भ की समाप्ति पर श्री स्वामी पूर्णानन्दजी त्र्यम्वक से नासिक पधारे और गुरु महाराज के पास ठहरे। वहाँ अकस्मात् उनका देहावसान हो गया। इस घटना से पूरा सम्प्रदाय अत्यन्त खिन्न हो गया। उस समय अवधूत हंसदेव प्रभृति अनेक महात्मा भी वहाँ उपस्थित थे।

नासिक-कुम्भ पूरा करके गुरु महाराज बम्बई पधारे। वहाँ वालकेश्वर-स्थित जमनादास रामदास डोसा के बँगले में ठहरे। तीन मास तक यहीं निवास हुआ। इस बीच गीता, दर्शन, पुराणादि पर अनेक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण प्रवचन होते रहे।

बम्बई से गुरु महाराज मण्डली के साथ सूरत आये और सर्दीभर वहीं निवास हुआ। यहाँ सेठ ठाकोरभाई, नाथाभाई जरीवाला, चुनीभाई रेशमवाला आदि गृहस्थ-मण्डली ने सन्तों की प्रेम-भाव से उल्लेख्य सेवा की।

सन् १९३३ (संवत् १९८९) की ३१ जनवरी को मण्डली वापस पावरा के सन्तराम-मन्दिर में आयी। वहाँ से अहमदाबाद गयी। वहाँ सेठ मंगलदास गिरिधर के बँगले में निवास हुआ। यहाँ टंकशाला में गुरु महाराज के प्रवचन होते रहे। शिवरात्रि अहमदाबाद में ही मनायी गयी और इसी बीच 'श्रौतमुनि-चरितामृत' छपकर तैयार हो गया।

अहमदाबाद से गुरु महाराज इन्दौर पधारे। अब चारों ओर आपके वैदुष्य-पूर्ण सन्त-स्वभाव और अमृत-मधुर कथा-प्रवचन का व्यापक प्रचार हो गया था। जहाँ कहीं पहुँचते, इतनी भीड़ हो जाती कि सँभालना कठिन पड़ता। इन्दौर में भी यही हाल हुआ। प्रवचन और दर्शन के लिए दस-दस हजार जनता इकट्ठी होती थी।

एक दिन इन्दौर के प्रसिद्ध सेठ हुकुमचन्द जैन भी अपने जैन-पण्डितों के साथ गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये। काफी देर तक उनके साथ धर्म-चर्चा चली। राजकीय महाविद्यालय के अध्यापक एवं प्रधानाचार्य श्री श्रीपादशास्त्री भी आपसे मिले और दोनों में अच्छी शास्त्र-चर्चा हुई।

उज्जैन-कुम्भ में राजकीय स्वागत

संवत् १९९० चैत्र शुक्ल प्रतिपद् (सन् १९३३) को कुम्भ-पर्व पर गुरु महाराज इन्दौर से उज्जैन पधारे। वहाँ ग्वालियर राज्य की ओर से डंका और निशान के साथ आपका शानदार स्वागत हुआ। बहुत बड़ी शोभा-यात्रा भी निकली। इससे पूर्व डंका-निशान द्वारा उदासीन-सम्प्रदाय के किसी भी मण्डलेश्वर का स्वागत नहीं हुआ था। यहाँ सेठ चन्दूलाल टी० पारिख नड़ियादवाले ने अन्न-क्षेत्र की सुन्दर व्यवस्था की थी।

'श्रौतमुनि-चरितामृत' छप चुका था। उसे गुरु महाराज की ओर से राज-माता ग्वालियर एवं प्रमुख राजकीय अधिकारियों को प्रसादरूप में दिया गया।

यहाँ विनोद-मिल के मालिक सेठ लालचन्द, इन्दौर के सर हुकुमचन्द के पुत्र राजकुमार आदि जैन-सम्प्रदाय के लोग भी महाराज के दर्शन एवं प्रवचन के लिए आते रहे। और तो क्या, बोहरा-सम्प्रदाय के मुसलिम भाई भी सहर्ष आपके कथा-प्रवचन में भाग लेते।

आपकी अनुपम प्रज्ञा और प्रसन्न-गम्भीर वाक्सरस्वती के अजस्र प्रवाह का स्पर्श पाकर प्रत्येक सहृदय का हृदय पुलकित हो उठता। देशाटन करते हुए विभिन्न देशों, ग्रामों में होनेवाले आपके पीयूषोपम उपदेशों, प्रवचन-कथाओं ने जनमानस पर अद्भुत मोहिनी डाल दी थी। यहाँ भी आपने अपनी ज्ञान-गंगा प्रवाहित कर कुम्भ का महत्त्व और बढ़ा दिया। ग्वालियर की राजमाता और राजकुमार बड़ी श्रद्धा-भक्ति से आपके श्रीचरणों में उपस्थित होते रहे। कहना न होगा कि यहाँ भी आपकी अनेक विद्वानों से शास्त्र-चर्चा हुई। राज-ज्योतिषी पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास भी गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे।

षड्दर्शन साधु-सम्मेलन

इसी अवसर पर यहाँ (उज्जैन में) षड्दर्शन साधु-सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें गुरु महाराज ने भी भाग लिया। आपका कैम्प उज्जैन के विद्वन्मण्डल, व्यापारी-समाज और बाहर से आयी हर श्रेणी की जनता के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गया था। 'ईश्वर कहाँ रहता है ? उसकी भक्ति क्यों की जाय ? संसार में सभी भगवान् की भक्ति करते हैं, पर वह कौन है, जिसकी भक्ति स्वयं भगवान् करते हैं ?' ऐसे अनेक रोचक विषयों पर आपके युक्तियुक्त, भावपूर्ण प्रवचन सुनने के लिए नियत समय से पूर्व ही जनता बड़ी संख्या में जुट जाती। दिन-भर अनेक जटिल प्रश्नों के समाधानार्थ शिक्षित-वर्ग समय माँग-माँगकर उपस्थित होता रहता। कैम्प में लगभग ५००० व्यक्तियों के निवास एवं भोजन की पूर्ण व्यवस्था थी।

आपका विद्वान् एवं विद्यार्थियों के प्रति विशेष स्नेह रहता है। अतएव आपने इस कुम्भ-पर्व के अवसर पर काशी से उदासीन संस्कृत विद्यालय के सभी विद्वानों, सन्तों एवं विद्यार्थियों को भी अपने पास बुलवा लिया और शिविर में उनके निवास, भोजनादि की समुचित व्यवस्था करवा दी। कुम्भ के अन्त में सबके लिए दक्षिणा, वस्त्रादि और मार्ग-व्यय का भी प्रबन्ध किया गया।

साधारणतः विद्यार्थी-वर्ग के प्रति महात्माओं का और ख्यातिप्राप्त महात्माओं का इतना स्नेह विरला ही देखने को मिलता है। किन्तु गुरु महाराज की बात और ही है। स्वयं वीतराग होते हुए भी सर्वसाधारण के प्रति, विशेषतः विद्या के समुपासकों के प्रति इतने विपुल वात्सल्य और इतने मातृसुलभ स्नेह का उदाहरण कदाचित् ही कहीं देखने को मिलता है। आपका सदैव यह लक्ष्य रहता है कि विद्यार्थियों में परस्पर प्रेमभाव बढ़े, एक-दूसरे की साधना और ज्ञान का उत्कर्ष देख वे सोत्साह स्पर्धापूर्वक उसका अनुकरण करें, अपने आदर्श चारित्र्य, उच्च शिक्षण और नैतिक व्यवहार द्वारा राष्ट्र का गौरव बढ़ाते हुए सर्वप्रिय बनें।

इसी दृष्टि से यहाँ भी आपकी आज्ञा से उदासीन संस्कृत विद्यालय के छात्रों में परस्पर शास्त्रार्थ-प्रतियोगिताएँ एवं व्याख्यान-प्रतियोगिताएँ की गयीं। छात्रों के प्रौढ़ शास्त्रार्थ एवं ललित व्याख्यान-कौशल का श्रोताओं, दर्शकों पर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि कुम्भ पर पधारे हुए वकील फूलशंकर देसाई, पेसूमल विशनदास, चन्दूलाल टी० पारिख, जमनादास डोसा आदि विद्याप्रेमी धनिकों ने विद्यालय के लिए दस हजार रुपयों की एकमुश्त भेंट दी, जो विद्यालय के संचालकों को सौंप दी गयी।

उज्जैन का कुम्भ-समारोह सम्पन्न कर गुरु महाराज अपने पूज्य गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज के साथ हरिद्वार गये। इधर दीर्घकाल से पर्यटन और प्रचार-कार्य चल रहा था। बीच में अस्वस्थ भी हुए थे, अतः पूज्य परम गुरुदेव ने आपको कुछ दिन पूर्ण विश्राम लेने का आदेश दिया।

ग्राम-उद्धार की ओर

इधर गुरु महाराज के प्रधान शिष्य श्री सर्वानन्दजी मण्डली को लेकर जालन्धर जिले के चिट्टी गाँव में पहुँचे। वहाँ गुरु महाराज के घनिष्ठ मित्र वैद्य दयानन्दजी रहते थे। मण्डली उनके पास ठहरी। श्री स्वामी कृष्णानन्दजी भी वहाँ थे। हरिद्वार में थोड़ा-सा विश्राम ले गुरु महाराज भी यहाँ पहुँच गये।

सन्तों की गोष्ठी में गुरु महाराज के संकेत पर तय हुआ कि ग्राम-उद्धार के कार्य में तीव्रता लायी जाय। तदनुसार एक सुनिर्धारित योजना बनाकर इस ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। मण्डली के कुछ योग्य सन्त छोटे-छोटे गाँवों में पहुँचते और ग्रामवासियों के बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उत्थान के विभिन्न कार्यक्रम करते। वैसे सम्प्रदाय के बहुत-से आश्रम गाँवों में ही हैं। अतः इस कार्य में सन्तों को उनका भी पूरा सहयोग मिला और 'परस्परं भावयन्तः' के अनुसार ग्रामोद्धार का यह कार्य सुन्दर चल पड़ा। गुरु महाराज भी अपने यात्रा-प्रसंग में नगरों के साथ-साथ जब-तब समय निकालकर गाँवों में भी पहुँचते, ग्रामवासियों को उद्‌बोधित करते और उन्हें विकास के कार्य में लगाते।

वास्तव में ग्रामोद्धार उदासीन-सम्प्रदाय का पहला पाठ है। जगद्‌गुरु श्रीचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'चेतहु नगरी तारहु गाँव।' कृषि-प्रधान भारत देश का सर्वस्व ग्रामों में ही निहित है। ग्राम-लक्ष्मी ही यहाँ की वास्तविक लक्ष्मी है। रुपये-पैसे तो कृत्रिम लक्ष्मी है, उस दिव्य लक्ष्मी के बाह्य प्रतीकमात्र हैं। ग्राम-लक्ष्मी के मूल्य से ही उनका मूल्य है। गाँव में सत्य, प्रेम और करुणा का निरावरण दर्शन होता है। वह नगरों में सुलभ कहाँ ? 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' से भगवान् लौकिक, पारलौकिक जीवन के लिए जिस स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाते हैं, गाँव उसकी उर्वरा भूमि हैं। ग्रामीण इसे साकार कर दिखा सकते हैं। फिर भी विदेशी शासन के अभिशापस्वरूप हमारे देश के प्राणपद ये गाँव अनपेक्षित उपेक्षा के पात्र बन गये। फलतः उनका यह स्वर्णिम आदर्श ह्रासोन्मुख हो चला। अज्ञता, गरीबी, दीनता और विवशता से ग्रामीण अपने पूर्व स्वरूप को बनाये रखने में आज सक्षम नहीं रहे। अवश्य ही हमारे नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और वे ग्रामोद्धार के विभिन्न कार्यों में जुट गये हैं। किन्तु ग्राम-

वासियों की धर्मभावना को अनुप्राणित कर सन्तजन यह कार्य अन्य किन्हीं लोगों से अपेक्षाकृत सरलता और सफलता से कर लेते हैं। यही सोचकर पूज्य गुरु महाराज ने अब अपने प्रचार-कार्य को यह एक नया मोड़ दिया। अब गाँवों में भी व्यापक सांस्कृतिक जागृति हो चली।

चिट्टी से गुरु महाराज रावलपिण्डी आये। वहाँ रामबाग में आपके प्रवचन होते थे। सनातनधर्म हाईस्कूल से प्रधानाचार्य व्याख्यान-भास्कर श्री यदुकुल-भूषणजी, सनातनधर्म-महासभा के प्रधान श्री लक्ष्मीनारायणजी, श्री देवीदत्त मल्ल, श्री मथुराप्रसाद आदि बड़ी श्रद्धा के साथ प्रवचन में नित्य उपस्थित रहते। आपके साथ करीब ४० सन्त थे। जनता ने सन्तों की अच्छी सेवा की। इनमें सर्वश्री भक्त रामकिसन, शंकरदास, गोपालदास मूलचन्द, ईश्वरदास लाम्बा, रामचन्द्र सूरी, जयराम वैश्य आनरेरी मजिस्ट्रेट, मनोहरलाल बेलीराम आदि के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

ये बिना पंख के उड़नेवाले

प्रसिद्ध है कि मनुष्य और पशु आकाश में नहीं उड़ते, क्योंकि उन्हें पंख नहीं होते। केवल पक्षी ही और उनमें भी वे जिनके पंख फूटे हों, आकाश में उड़ते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि कुछ मनुष्य भी ऐसे होते हैं, जो बिना पंख के कल्पना-गगन में अमर्याद उड़ने का विफल प्रयास करते हैं। देखते ही नहीं कि हमें पंख नहीं हैं—उड़ने का कोई साधन नहीं है और हमारा खड़ा किया कल्पना-गगन निराधार है। गिरे तो कहीं के न रहेंगे। प्रश्न होगा, क्या वे इसे नहीं समझते? उत्तर स्पष्ट है, आँखों पर ईर्ष्या-असूया का ऐसा जबरदस्त परदा पड़ा रहता है कि देखने ही नहीं देता, और वह भी जब अपनी अक्षमताजन्य काली पराजय से रँगा हो, तब पूछिये ही नहीं।

संवत् १९८६ (सन् १९३०) के प्रयाग कुम्भ-पर्व पर हुए लेखबद्ध पारस्परिक शास्त्रार्थ में पराजित कुछ अनुत्तरदायी व्यक्तियों ने इसी तरह उड़ने का विफल प्रयास किया। उन्हें हाथ लग गया 'श्रौतमुनि-चरितामृत। उसीको निमित्त बना उन्होंने सिख-सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय, दशनामी सम्प्रदाय और सनातनधर्मी विद्वन्मण्डली में यह निराधार भ्रम फैलाया कि 'इस पुस्तक में दसों गुरुओं की निन्दा है, संन्यास का खण्डन है, प्रभु रामचन्द्रजी की निन्दा है', आदि-आदि।

सभी तो पुस्तक पढ़ते नहीं और जनता 'भेड़ियाधसान' हुआ करती है। इस निरर्गल, निराधार प्रचार से प्रभावित हो लाहौर में नाथ-सम्प्रदाय द्वारा, अमृत-

सर में सिख-सम्प्रदाय द्वारा, लखनऊ में पण्डित-मण्डल द्वारा और कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर दशनामी सम्प्रदाय द्वारा विरोध-प्रदर्शन की चेष्टा की गयी।

गुरुदेव के प्रधान शिष्य उत्साही स्वामी सर्वानन्दजी ने सारी परिस्थिति समझाकर दशनामी सम्प्रदाय के अतिरिक्त सभी लोगों का यह भ्रम निवारण कर दिया। दशनामी सम्प्रदाय के दूरदर्शी प्रतिष्ठित विद्वान् इस आन्दोलन में भाग लेना नहीं चाहते थे, किन्तु कतिपय अनुत्तरदायी व्यक्तियों की दुरभिसन्धि से वे विवश हुए। फिर भी दूरदर्शी लोकसंग्रही गीताव्यास श्री स्वामी विद्यानन्दजी इस निन्द्य कार्य से अलग ही रहे।

अयोध्या की गोष्ठी

कुरुक्षेत्र में श्री सर्वानन्दजी के समझाने पर वैष्णव (वैरागी) सन्त शान्त हो गये थे। फिर भी इन विरोधियों ने अपने कुचक्र से अयोध्या के वैष्णव-समाज में खलबली मचा दी। अयोध्या-स्थित उदासीन-स्थान राणोपाली के महन्त श्री केशवरामजी उदासीन ने वैष्णव-समाज को शान्त किया। उनका पीढ़ी-दर-पीढ़ी से अयोध्या के वैष्णवों के साथ मैत्रीभाव चला आ रहा है।

तय हुआ कि दोनों पक्षों के विद्वान् अयोध्या में बुलाये जायँ और पारस्परिक भ्रान्ति दूर की जाय। इसी उद्देश्य से गुरु महाराज को रावलपिण्डी से अयोध्या बुलाया गया। श्री स्वामी कृष्णानन्दजी के साथ वे अयोध्या में पहुँच गये।

गोष्ठी का आयोजन हुआ। दोनों पक्षों के लोग बड़ी संख्या में उपस्थित थे। कुचक्र रचनेवाले विरोधी भी अपना बालू का महल बचाये रखने के लिए पूर्ण सचेष्ट थे, फिर भी उनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं।

किसी वैष्णव ने कहा : 'इस पुस्तक में (श्रौतमुनि-चरितामृत में) प्रभु रामचन्द्रजी की निन्दा है।'

गुरु महाराज ने कुछ उत्तर न देकर ग्रन्थ का प्रारंभिक मंगलाचरण श्लोक पढ़ सुनाने को कहा। वैष्णव-सम्प्रदाय के सुख्यात विद्वान् श्री रघुवराचार्य (महन्त सिंगरा-मठ, पोरबन्दर, काठियावाड़) ने श्लोक पढ़ा :

'वन्दे रामं रमानाथं विनयोत्साहदानतः।
सत्यसन्धं महाधीरं हिन्दुभावनिदर्शनम्॥'

सुनते ही अनेक सरल हृदय वैरागी महात्मा उछल पड़े। सभी ने एक स्वर से कहा कि 'आप तो परम रामभक्त दीखते हैं। आपके ग्रन्थ में कहीं भी, किसी रूप में भगवान् राम की निन्दा सम्भव ही नहीं। हम लोग दुर्वृत्तों द्वारा व्यर्थ ही वंचित किये गये।'

विरोधी अपना-सा मुँह लेकर भाग गये। वैरागियों के साथ इस घटना से स्नेह-सम्वन्ध और भी घनिष्ठ हो गया।

काशी में शास्त्रार्थ का चैलेंज

अयोध्या से गुरु महाराज काशी पधारे। इस पुस्तक के विरोध के प्रश्न को लेकर शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज दिया गया। कोई भी व्यक्ति शास्त्रार्थ के लिए सामने नहीं आया। ज्ञानवापी और टाउनहाल में अनौपचारिक सभाएँ हुईं, जिनमें आपका पक्ष ही सबसे प्रबल रहा। विरोधी पक्ष को नीचा देखना पड़ा। दशनामी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित महन्त मण्डलेश्वर अनुत्तरदायी व्यक्तियों की चाल समझ गये। उनकी ओर से विरोधियों की तीव्र भर्त्सना की गयी। वे निराश हो हाथ मलते रह गये।

काशी के विद्वानों का अनुमोदन

इस पुस्तक के सम्वन्ध में जिन विद्वानों को झूठा संस्कार डालकर भ्रान्त किया गया था, पुस्तक के अवलोकन के वाद अर्थक्रीत पण्डितों को छोड़ सभी काशी के विद्वान् मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करने लगे।

उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया कि 'इस पुस्तक को सनातनधर्म के विरुद्ध कहना प्रकाश को अन्धकार कहना है। इस पुस्तक में अकाट्य तर्क एवं वैदिक-मन्त्रों से सनातनधर्म की प्रवल पुष्टि की गयी है। इसमें चतुर्थाश्रम का खण्डन नहीं है। प्रत्युत प्रथम प्रवाह में चतुर्थाश्रम का ओजस्वी शब्दों में समर्थन ही किया गया है।'

तथ्य यह है कि पूजनीय लेखक ने चतुर्थाश्रम के वाचक शब्दों के पूर्वापरभाव पर गम्भीर विचार किया है। वैदिक-संहिताओं में चतुर्थाश्रमी के अर्थ में 'मुनि' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। 'उदासीन, व्रह्मसंस्थ' शब्द भी उपनिषदों में प्रयुक्त हैं। 'उदासीन' शब्द का अर्थ है : उद् = ब्रह्म में, आसीन = स्थित, अर्थात् ब्रह्मसंस्थ। छान्दोग्य उपनिषद् (१-६-२) में 'तस्य उदिति नाम' यह श्रुति-वचन मिलता है, जहाँ 'उद्' का अर्थ 'ब्रह्म' किया गया है। इसी प्रकार 'आस्' धातु से 'शानच्' प्रत्यय लगाकर बने 'आसीन' शब्द का अर्थ 'स्थित होना' स्पष्ट है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्य (२-२३-२) के 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति-वाक्य में 'उदासीन' शब्द का समानार्थक 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द प्रयुक्त है।

निःसन्देह 'संन्यासी' शब्द चतुर्थाश्रमी का वाचक है। किन्तु वह संहिता,

ब्राह्मण या भाष्यकार-समादृत उपनिषदों में कहीं प्रयुक्त नहीं है। हाँ, पौराणिक साहित्य में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

माननीय लेखक की यह शब्द-मीमांसा देख तटस्थ विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने 'श्रौतमुनि-चरितामृत' के समर्थन में अपनी शुभ-सम्मतियाँ दीं, जिनमें भारत-विख्यात दार्शनिक विचारक पद्मविभूषण महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, अभिनव-पतञ्जलि वैयाकरणकेसरी स्वर्गीय श्री हरिनारायण त्रिपाठी (तिवारीजी) आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

अब काशी से विद्वानों का समर्थन प्राप्त कर गुरु महाराज बम्बई, सूरत, अहमदाबाद, सिन्ध, हैदराबाद आदि शहरों में पहुँचे और वहाँ भी अपने प्रवचनों में विरोधियों द्वारा प्रसारित भ्रान्त धारणाओं को सप्रमाण निर्मूल सिद्ध कर दिखाया।

इसके बाद आप मुलतान आये। श्री स्वामी शान्तानन्दजी रावलपिण्डी से सन्त-मण्डली लेकर वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे। मुलतान में आपको सनातन-धर्म-संस्थाओं ने मान-पत्र अर्पण किये।

वहाँ से गुरु महाराज फरीदकोट के जंगल में बाबा उत्तमदासजी के पास पहुँचे। फरीदकोट नगर में आपका प्रवचन आयोजित किया गया। यहाँ आपके साथ १२५ सन्त थे। फरीदकोट की राजमाता एवं युवराज ने सन्तों की सेवा की।

संवत् १९९१ (सन् १९३४) में गुरु महाराज पंजाब के वीरोके, छाजली आदि ग्रामों में भ्रमण करते रहे। आषाढ़ में रावलपिण्डी पहुँचे। वहीं व्यास-पूजा हुई। रामबाग में नित्य प्रवचन होते रहे।

९

लोक-संग्रह का द्वितीय चरण

[संवत् १९९१ से १९९५ तक]

श्री अमरनाथ-तीर्थ-यात्रा

'तीर्थ-यात्रा' को तपस्या की बहन कहें, तो कोई अनुचित न होगा। कारण तपस्या को ढूँढ़ लाने में मानव को जितने कण्टक-पत्थरों और हिंस्र जीव-जानवरों से पाला पड़ता है, अब्-भक्षण, वायु-भक्षण पर दिन गुजारने पड़ते हैं, तीर्थ-यात्रा में भी ये बातें उससे कम नहीं होतीं। यों आज तीर्थ-यात्रा-रेलगाड़ियाँ चल पड़ी हैं। उन पर चढ़कर यात्री किसी बड़े शहर से अधिक सुख-सुविधाओं के साथ तीर्थ-यात्रा कर सकता है। किन्तु हम तो प्राचीन काल की तीर्थ-यात्रा की बात कर रहे हैं। उन दिनों ये सुविधाएँ इतनी व्यापक रूप में उपलब्ध नहीं हुई थीं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक तीर्थ में व्रतस्थ हो पैदल पहुँचने और उनके अपने विशेष नियमों का कठोरता के साथ पालन करने की अनिवार्यता पर ध्यान देने पर तीर्थ-यात्रा तपस्या की छोटी नहीं, बड़ी बहन सिद्ध होती है। अन्तर इतना ही है कि एक व्याघ्रमुख है, तो दूसरी गामुख।

तीर्थ-यात्राओं में भी अमरनाथ यात्रा की बात ही न पूछिये ! वैसे बदरी-केदार-यात्रा भी कम भीषण नहीं, किन्तु अमरनाथ-यात्रा की बात कुछ और ही है। समुद्र-तल से १२।। हजार फुट ऊँचे पर्वत की प्रकृति-निर्मित गुफा में हिममय स्वयम्भू इस शिवलिङ्ग के दर्शन करने का अर्थ है, अपने बाल-बच्चों, सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों से सदा के लिए बिदाई ले लेना। कारण इसका मार्ग इतना बीहड़ है कि आज भी घोड़े से उसे तय करते हुए इस बात की गारंटी नहीं दी जाती कि यात्री सकुशल लौट ही आयेंगे। फिर भी शास्त्रों की मधुरतम फलश्रुति सुनकर सच्चे आस्तिक का मन-मतंग बरबस इस यात्रा की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह फलश्रुति है : स्वभावतः ऊपर से टपकनेवाले, बूँद-बूँद जल से लिङ्गाकार को प्राप्त तथा बाण-लिङ्ग के मुख्य चिह्न 'मध्यगत कृष्ण यज्ञोपवीत' से अलंकृत इस स्वयम्भू शिवलिङ्ग का दर्शन कर प्राणी आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

कोई बड़भागी वर्ष में केवल दो मास दर्शन देनेवाले (जुलाई से अगस्त तक—श्रावणी पूर्णिमा तक) इस महेश्वर के दर्शन का सौभाग्य पाते हैं।

लोक-संग्रह के लिए निकल पड़े भगवद्विभूति महापुरुषों की अन्तरात्माएँ भी भारत के एक छोर में स्थित और नियत कुछ दिनों तक ही अपनी झाँकी दिखानेवाले इस प्रभु के दर्शन के लिए उतावली हो उठती हैं। उनमें भी पूज्य गुरु महाराज की बात कुछ और है। उनसे पूर्ववर्ती ६ पीढ़ियों के सभी आचार्य भगवान् अमरनाथ की यात्रा कर उस दिव्य ज्योति से अपना लोक-संग्रह-कार्य सविशेष प्रोज्ज्वल कर दिखा चुके हैं। सनातनधर्म की छोटी-छोटी परम्पराओं की भी रक्षा का दृढ़ आग्रह रखनेवाले गुरु महाराज इस ऐतिहासिक दीर्घ परम्पराओं को कैसे तोड़ सकते थे ? अतएव आपने भी व्यास-पूर्णिमा का उत्सव सम्पन्न कर रावलपिण्डी से अमरनाथ-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। करीब ७५ सन्तों की मण्डली और वकील फूलशंकर देसाई, नड़ियाद के डॉक्टर नन्दलाल घेलाभाई आदि २५ गृहस्थ भक्त भी आपके साथ हो लिये।

मार्ग में आपने काश्मीर-श्रीनगर में ठहरकर श्रीचन्द्र-चिनार का दर्शन किया।[1] कुछ दिन वहाँ निवास हुआ। नित्य सुललित और पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन होते, जिनसे वहाँ का विद्वत्समाज और साधारण शिष्ट-वर्ग, दोनों अत्यधिक प्रभावित हुए। प्रवचन के समय नित्य पाँच-पाँच हजार की भीड़ जुटती। आबाल-वृद्ध, नर-नारी सभी के लिए आप आकर्षण-केन्द्र बन गये थे। यहाँ महन्त हरिनामदासजी और उनके शिष्य श्री गोविन्दप्रकाशजी ने मण्डली की अच्छी सेवा की।

वहाँ से चलकर गुरु महाराज चन्दनवाड़ी, पंचतरणी होते हुए संवत् १९९१ (सन् १९३४) की श्रावण पूर्णिमा को भगवान् अमरनाथ के धाम में पहुँचे। इस दिन यहाँ मेला लगता है। ६० फुट लम्बी, २६ फुट चौड़ी और १५ फुट ऊँची प्राकृतिक गुफा के, जिसके भीतर हिममय भगवान् अमरनाथ का लिङ्ग है, आस-पास का वातावरण अपूर्व नैसर्गिक सौन्दर्य की छटा बिखेर रहा था। अखण्ड शान्ति, श्वेत हिम-खण्डों की सघनता एवं शैत्य मनोराज्य में लोकोत्तर भावसृष्टि का सर्जन कर रहे थे। गुफा के नीचे अमर-गंगा प्रवाहित हो रही थी। गुरु महाराज उसमें स्नान कर ऊपर आये और भगवान् अमरनाथ का सविधि दर्शन-पूजन किया। आप इतने प्रसन्न दीखे, मानो स्वर्ग का इन्द्र-पद मिल गया हो।

---

१. यहाँ आश्रम में लगभग ४०० वर्षों का चिनार का एक वृक्ष है, जो आचार्यश्री के धूने की जलती लकड़ी को पृथ्वी में गाड़ने से हरा-भरा बन गया था।

वास्तव में न्यून-गुण होने से स्वर्ग इस लाभ का उपमान बनने की क्षमता नहीं रखता। यह लाभ तो नित्य-निर्वाण का है, अपनी परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखने का है, जब कि इन्द्र-पद भोग-साधक मात्र और क्षयी बताया गया है।

भगवान् अमरनाथ के दर्शन कर गुरु महाराज जम्मू होते हुए गुजरानवाला आये। वहाँ आपको स्थानीय हाईस्कूल में ठहराया गया। यहाँ भी आपके प्रवचन होते रहे, जिसमें नित्य जन-समुद्र उमड़ पड़ता।

भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन श्रीचन्द्र-नवमी-महोत्सव के निमित्त फलाहारी श्री अर्जुनदासजी ने आपको अमृतसर आमन्त्रित किया। वहाँ आप रामतलाई-स्थित श्री रामचन्द्र मारवाड़ी की कोठी में ठहराये गये। दुर्ग्याना में आपके प्रवचनों का प्रबन्ध किया गया। इस बार की श्रीचन्द्र-नवमी बड़ी शानदार रही। लोगों की उत्सव-सज्जा के साथ आपके सुललित कथा-प्रवचनों ने दिव्य वातावरण उपस्थित कर दिया। जनता के आग्रह पर आप कुछ दिन यहाँ ठहर गये।

अपूर्व नवाह-पाठ-समारोह

नवरात्र के अवसर पर इस वर्ष यहाँ वाल्मीकि-रामायण के नवाह-पाठ का वृहन् आयोजन हुआ। यह अनुष्ठान अपनी दृष्टि से बेजोड़ रहा। पण्डित देवीदत्त शास्त्री, स्वामी रामनारायण शास्त्री, स्वामी सर्वानन्दजी एवं श्री सुदर्शन मुनि ने पाठ में भाग लिया। दुर्ग्याना-कमेटी ने प्रार्थना की कि हमें प्रसाद-वितरण की अनुमति दी जाय, किन्तु गुरु महाराज ने यह खर्च उन पर पड़ने नहीं दिया। भाई पेसूमल बिशनदास की ओर से सूखे मेवे की कई बोरियाँ भेजी गयीं, तो संगत में वही प्रसादरूप में बाँटा गया। साधु-महात्मा तो दक्षिणा लेते ही नहीं। रामायणवाचक सन्तोष-मूर्ति पण्डित देवीदत्त शास्त्री ने भी दक्षिणा नहीं ली। रामायण की पूर्णाहुति पर भी किसीको कोई भेट नहीं रखने दी गयी। इस तरह यह अनुष्ठान पूर्णतः सात्त्विक, निष्काम और पूर्ण श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न रहा। अमृतसर की जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण और साधुओं की अनुपम सन्तोष-वृत्ति की धाक जम गयी।

दुर्ग्याना-सरोवर का जल-प्रश्न

नवरात्र के बाद ही दुर्ग्याना-कमेटी का एक शिष्ट-मण्डल सरोवर के जल-प्रश्न को लेकर गुरु महाराज से मिला। इस समस्या को ठीक से समझने के लिए इसके पूर्व-इतिहास पर ध्यान देना होगा।

बात सन् १९२२ की है। उससे पहले अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर में हिन्दू और सिख मिल-जुलकर अपने-अपने विश्वासानुसार ईश-उपासना, पूजा-पाठ आदि

किया करते। किन्तु सिख-इतिहास-लेखक विदेशी मेकालिफ साहब की विषैली 'फूट डालो और शासन करो' की कूटनीति ने नवीन अकाली सिखों को अपना शिकार बना लिया और वे अपने को हिन्दुओं से अलग मानने लगे। उन्होंने उग्र आन्दोलन कर स्वर्ण-मन्दिर पर अधिकार जमा लिया और वहाँ सनातनधर्मी जनता को गीता, विष्णुसहस्रनाम आदि परम पवित्र पुस्तकों के पाठ करने पर भी रोक लगा दी। इतना ही नहीं, बेचारे सनातनी स्वर्ण-मन्दिर के तालाब में स्नान करते और परिक्रमा में ही बैठ पाठ-पूजा करते, तो वह भी उन्हें सह्य नहीं हुआ। उनके साथ वे तरह-तरह के असह्य दुर्व्यवहार करने लगे।

उन दिनों गुरु महाराज कार्यवश अमृतसर में ही थे। खिन्न धार्मिकों ने आपको अपनी करुण-कहानी कह सुनायी। आपने सलाह दी कि विरोधियों से विवाद में न पड़ें और दुर्ग्याना-सरोवर में लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर स्थापित कर अपना उपासना-क्रम चलायें। इसके लिए आपने सनातनधर्मी वीर पुरुष गुरुसहाय मल को प्रेरणा भी दी। वे इतने प्रभावशाली थे कि एक ही दिन में बाजार से तीन लाख रुपयों की धन-राशि इकट्ठा कर लाये। इधर गुरु महाराज धर्म-प्रचार के सिलसिले में आगे निकल गये।

इस बीच अमृतसर की सनातनधर्मी जनता का उत्साह इतना बढ़ा कि उसने १८ लाख रुपये इकट्ठे कर लिये और दुर्ग्याना-सरोवर के मध्य स्वर्ण-मन्दिर के समान ही भव्य श्री लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर खड़ा कर दिया। महामना मालवीयजी के तत्त्वावधान में वहाँ भगवान् लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति-प्रतिष्ठा हो गयी और शुष्क दुर्ग्याना-सरोवर जल से आप्लावित हो उठा।

किन्तु कहा है न कि 'को जानाति जनो जनार्दनमनोवृत्तिः कदा कीदृशी'— प्रभु की लीला कोई नहीं जान पाता। सरोवर में जल डालते ही पृथ्वी उसे चट कर जाती और वह पूर्ववत् शुष्क हो जाता। कुआँ खोदकर मशीन द्वारा जल डालने में कुछ विलम्ब लगता, पर उसके सूखते देर न लगती। एक विलक्षण बात हो गयी थी। सभी आश्चर्यचकित थे। लोग कौतुकवश कहते : 'मानो सरोवर के नीचे अगस्त्य मुनि बैठे हों, जो समुद्र की तरह बार-बार सारा जल चट कर जाते हैं।'

यह है इसकी पूर्व-कहानी। अब दुर्ग्याना-कमेटी ने तय किया कि इस सम्बन्ध में एक बार गुरु महाराज से मिला जाय। तदनुसार सर्वश्री गुरुसहाय मल, दौलतराम, रेली ब्रदर्स के एजेण्ट नत्थूशाह रंगवाला, भक्त तीर्थराम आदि सज्जनों का एक शिष्ट-मण्डल संवत् १९९१ के शारदीय नवरात्र के बाद (सन् १९३४ में) आपसे मिला और उसने प्रार्थना की : 'स्वामीजी, आपके आदेश से हम लोगों ने

सन् १९२२ से १९३३ तक सतत श्रम कर अठारह लाख रुपयों से यह मन्दिर बनवाया। मन्दिर की ओर जनता का विशेष झुकाव है। किन्तु कमी एक ही बात की है। सरोवर में जल ठहरता ही नहीं। जल के बिना धार्मिकों के स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि धर्म-कार्य हो ही कैसे सकते हैं? जनता इस संकट से महान् पीड़ित है। आप ही उसे उबार सकते हैं।'

शिष्ट-मण्डल ने आगे कहा : 'महाराज, इतिहास साक्षी है कि सनातनधर्मी जनता की प्रार्थना का आदर करते हुए आपके ही पूर्वज, उदासीन योगिराज, सिद्धेश्वर निर्वाण प्रीतमदासजी महाराज ने संवत् १८४१ में रावी नदी से छोटी नहर लाकर अमृतसर-सरोवर जलाप्लावित कर दिया था। हमारी भावुक दृष्टि में आप उन्हींके स्वरूप हैं। हमें विश्वास है कि आप अपने तपोबल से नहर द्वारा दुर्ग्याना-सरोवर भी निश्चय ही जलाप्लावित कर देंगे।'

गुरु महाराज साक्षात् करुणामूर्ति तो हैं ही। फिर हिन्दू-जाति की गौरव-रक्षा का भी प्रश्न था। आपने तत्काल 'तथाऽस्तु' कह दिया।

कमेटी का एक सदस्य प्रतिष्ठित सेठ बीच में ही बोल उठा कि 'मेरी धारणा है कि हम लोगों ने गुरुओं की स्पर्धा में यह दुर्ग्याना-मन्दिर बनवाया और सरोवर भरा। गुरुओं की स्पर्धा का ही परिणाम है कि सरोवर बार-बार सूख जाता है।'

गुरु महाराज ने तुरन्त उसकी भर्त्सना करते हुए कहा कि 'इसमें स्पर्धा का प्रश्न ही कहाँ? देश-धर्मोद्धारक दश गुरु तो हम सभी के श्रद्धेय हैं। पहले स्वर्ण-मन्दिर में सभीकी सम्मिलित उपासनाएँ चलती ही थीं। नवीन सिखों के दुर्व्यवहार से विवश हो सनातनियों को उपासना के लिए पृथक् मन्दिर बनवाना पड़ा। फिर सरोवर में पानी ठहरने का प्रश्न भी साधारण है। स्थायी नहर बना देने पर वह सहज ही हल हो सकता है। यह कोई अभिशाप थोड़े ही है। नवीन सिखों की दलील का अनुवाद कर आप अपना श्रद्धा-दौर्बल्य ही दिखा रहे हैं।' सेठ महोदय लज्जित हो गये।

इस वर्ष दीपावली अमृतसर में ही बीती। इसी बीच गुजरात के सन्तराम-मन्दिर के महन्त श्री जानकीदासजी की ओर से श्री डाह्याभाई मर्घाभाई पटेल नड़ियाद से वहाँ आये और उन्होंने मण्डलीसहित गुरु महाराज से नड़ियाद चलने की प्रार्थना की। बात यह थी कि विगत नड़ियाद-यात्रा के समय आपकी ही प्रेरणा से वहाँ सन् १९३२ की फरवरी से तीन वर्ष का 'अष्टादश पुराणादि महा-सत्र' प्रारम्भ हुआ था, जिसकी पूर्णाहुति सन् १९३५ की फरवरी में होने जा रही थी। इस महासत्र में अष्टादश पुराण, रामायणादि के पाठ और उनके साथ ही सभी दर्शनों एवं पुराणादि के कथा-प्रवचन भी चल रहे थे। महन्तजी का आग्रह

था कि गुरु महाराज वहाँ कुछ मास पहले ही आकर महासत्र सफल करने में हाथ बँटायें। वे जानते थे कि आप किसी भी धार्मिक कार्य के लिए अपनी सभी असुविधाएँ अलग रखकर तैयार हो जाते हैं।

अतएव अब अमृतसर में चल रही कथा की पूर्णाहुति कर देना आवश्यक हो गया। पूर्णाहुति के दिन अमृतसर के कुछ प्रतिष्ठित भक्तों ने आपको ५००) की थैली भेट की। कथा के बाद आप दुर्ग्याना-कमेटी के सेक्रेटरी श्री पहाड़चन्द्र को साथ लेकर श्री लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर पहुँचे और थैली भगवान् की सेवा में रखते हुए श्री दौलतराम आदि कमेटी के प्रमुख कार्यकर्ताओं से कहा कि 'इस थैली से श्रीगणेश हो और नहर-निर्माण के लिए विपुल धन-राशि एकत्र की जाय।'

अमृतसर से अपनी मण्डलीसहित गुरु महाराज डाह्याभाई के साथ नड़ियाद के लिए रवाना हुए। मार्ग में मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन आदि अपने इष्टदेव की लीला-भूमियों की यात्रा भी करते गये।

महासत्र में मीमांसा-प्रवचन

व्रज-यात्रा करती हुई मण्डली नड़ियाद पहुँची। गुरु महाराज को पाकर महन्तजी के आनन्द का ठिकाना न रहा। महासत्र में अष्टादश पुराणादि के कथावाचक और पाँच दर्शनों पर प्रवचन करनेवालों की तो कमी न पड़ी। किन्तु मीमांसा-दर्शन के प्रवक्ता सुलभ नहीं हो रहे थे। यह दर्शन है भी शुष्क और यज्ञीय कर्म-प्रधान। जन-साधारण की रुचि को ध्यान में रखते हुए उसे सरल, सुबोध और रोचक रूप में उपस्थित करना टेढ़ी खीर है। अन्ततः महन्तजी ने यह भार गुरु महाराज पर ही सौंपा। सरस्वती के वरद पुत्र के लिए मीमांसा को साहित्य की धारा में बहाना, यज्ञीय तत्त्वों को जीवन में ओत-प्रोत सिद्ध कर दिखाना कौन-सी बड़ी बात है? सर्वशास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान और पारदर्शक प्रतिभा के पंखों पर अनन्तविहारी परमहंस के लिए असम्भव क्या है?

फिर देर क्या थी? संवत् १९९१ (सन् १९३५) की कार्तिक शुक्ला पंचमी से ही गुरु महाराज का मीमांसा-दर्शन पर प्रवचन आरम्भ हो गया, जो लगातार तीन मास तक चलता रहा। आपने आध्यात्मिक मानव-जीवन-यज्ञ और राष्ट्र-सेवा-यज्ञ की तुलना करते हुए वैदिक-यज्ञों का रोचक वर्णन किया। संक्षेप में उसका सार यह था: 'वेद में अश्वमेधादि यज्ञ वर्णित हैं। उनमें अठारह कार्यकर्ता होते हैं—सोलह ऋत्विग्, सत्रहवीं यजमान-पत्नी और अठारहवाँ यजमान। ठीक इसी तरह मानव-जीवन में भी पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और सोलहवाँ मन है। सत्रहवीं बुद्धि यजमान-पत्नी है और अठारहवाँ

जीवात्मा है, यजमान। यज्ञ में प्रातः-सवन, माध्यन्दिन-सवन और सायं-सवन नामक तीन इष्टियाँ होती हैं। मानव-जीवन की वाल्य, यौवन और वार्धक्य ये तीन अवस्थाएँ तीन सवन ही हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् (३-१६) का 'पुरुषो वाव यज्ञः' यह श्रुति-वचन मानव-जीवन को यज्ञ से स्पष्ट तुलना करता है।'

तीन महीनों के ९० प्रवचनों में आपने मीमांसा-दर्शन, शावर-भाष्य, शास्त्र-दीपिका, भाट्ट-दीपिका, श्लोक-वार्तिक, तन्त्र-वार्तिक, टुप्टीका, जैमिनीय-न्याय-माला प्रभृति सभी मीमांसा-निवन्धों का समग्र सार उपमा, रूपकादि विविध अलंकारों, लौकिक-ऐतिहासिक उदाहरणों एवं रोचक कथा-चुटकुलों के माध्यम से इस प्रकार समझाया कि साधारण जनता मन्त्र-मुग्ध हो गयी। समागत विद्वन्मण्डल ऐसे अति नीरस विषय को इतना सरस वनाने की आपकी प्रवचन-चातुरी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा।

संवत् १९९१ (सन् १९३५) की माघी पूर्णिमा को महासत्र की पूर्णाहुति हुई। इस तरह यह महासत्र अपने ढंग का वेजोड़ रहा।

महासत्र के पश्चात् वजेराम, प्रभुदास गंगादास रेशमवाला के सुपुत्र भाई चुनीलाल पिता की आज्ञा से ५० साधु-मण्डलीसहित गुरु महाराज को सूरत ले गये। शिवरात्रि और होली सूरत में ही हुई। संवत् १९९२ का नववर्षारम्भ भी वहीं हुआ। जनता के आग्रह पर आपने चार मास यहीं रहकर अपने वाक्सुधामृत से उसे पूर्ण आप्यायित किया।

अहमदाबाद में चातुर्मास्य

अपने परम भक्त शिष्य वकील फूलशंकर सुन्दरलाल के आग्रहवश गुरु महाराज ने संवत् १९९२ का चातुर्मास्य अहमदावाद में ही करने का निश्चय किया। वहाँ पहुँचने के पूर्व मार्ग में आप एक सप्ताह भरूच में देशभक्त डॉ० चन्दूलाल के सेवाश्रम में ठहरे। वहाँ गीता के कर्मयोग आदि विषयों पर प्रवचन हुए। आपके ये व्याख्यान 'गुजरात-सन्देश', 'गुजरात-समाचार' आदि प्रादेशिक पत्रों में विस्तार के साथ प्रकाशित होते रहे।

अहमदावाद में एलिस ब्रिज पर सेठ डाह्याभाई रणछोड़दास के बँगले में आपका निवास हुआ। प्रातः गीता का स्वाध्याय और सायं बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीयाध्याय के 'अजातशत्रु-ब्राह्मण' पर प्रवचन होते थे।

यहाँ गीता के स्वाध्याय में अनेक जज, वकील, बैरिस्टर, मिल-मालिक लगभग १५० की संख्या में नित्य भाग लेते। आपकी गीता-पाठन-शैली अद्भुत थी। जो एक बार सुन जाता, दुबारा उसे आना ही पड़ता। अहमदाबाद के

शिक्षित समाज में आपका गीता-स्वाध्याय विशेष प्रख्यात हुआ । आप अपने सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाण्डित्य और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के बल पर पूरी गीता को अध्यात्मपरक लगा दिखाते, तो बुद्धिवादी अध्यात्मनिष्ठ भी हठात् आकृष्ट हो उठते थे ।

उदाहरणस्वरूप गीता के प्रथम श्लोक को ही लीजिये । आप बताते : 'गीता स्पष्ट आध्यात्मिक भाव रखती है । केवल पूर्वेतिहाससूचक प्रथमाध्याय का प्रथम श्लोक भी इसकी साक्षी देता है । देखिये, **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे........।'** यहाँ 'क्षेत्र' का अर्थ है, शरीर । कारण भगवान् आगे स्वयं कहते हैं : **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'** (१३-१) । यह धर्मसाधन शरीर 'कुरुक्षेत्र' भी है, यानी **'कुर्वन्तीति कुरवः, कुरवा एव कौरवाः'**—क्रियाशील इन्द्रियादिकों का भी क्षेत्र है । यहाँ 'पाण्डव' अर्थात् शुद्ध सत्त्व के प्रतीक दम, दया, दानादि सद्-वृत्तियाँ और कौरव यानी रजोगुण, तमोगुण की प्रतीक काम-क्रोधादि वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध-स्वभाव होने से एक-दूसरे पर विजय के लिए आपस में झगड़ रही हैं । ऐसे समय हे संजय, भलीभाँति इनको जीत अपने अधीन रखनेवाले आत्म-निष्ठ गुरो, क्या उपाय किया जाय कि आत्महित सध सके ।'

आप आगे बताते : 'इन्हीं आन्तरिक शुभ-अशुभ वृत्तियों के प्रतीक रूप में पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों के वीर योद्धाओं को गीता ने अन्तःसंघर्ष के रणांगण पर खड़ा किया है। कर्मों का अर्जक जीवात्मा अर्जुन रथी है और बुद्धिरूप भगवान् कृष्ण हैं, सारथी। **'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'** (गीता ७-१०) यह वे स्वयं कहते हैं। यहाँ **'आत्मानं रथिनं विद्धि'** (कठ० ३-३) यह औपनिषद् रूपक अच्छी तरह बैठ जाता है । जीवात्मा पुरुष पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार इन अठारह तत्त्वों के कारण ही बन्धनकारक कर्मों का अर्जन करता है। अतः इन कारणों के दमनार्थ ही गीता में प्रतीक रूप में अठारह अध्यायों की कल्पना है । इतना ही नहीं, **'पुरुषो वाव यज्ञः'** इस वचन के अनुसार ये अठारह अध्याय यज्ञीय कर्म-सम्पादक अष्टादश पुरुषों के भी प्रतीक कहे जा सकते हैं और अध्यायों के तीन षट्क (६-६ अध्यायों के तीन समूह) तीन सवनों के सूचक हैं । इस तरह गीता यज्ञ का भी पूरा रूपक खड़ा कर देती है ।'

भला इस प्रकार श्रद्धालुओं और बुद्धिवादियों, दोनों को समान मनन-सामग्री प्रस्तुत करने पर गुरु महाराज की ओर दोनों का क्यों न विशेष आकर्षण हो ? यही कारण है कि अहमदाबाद की जनता आपके गीता-स्वाध्याय पर मन्त्र-मुग्ध थी ।

सायंकालीन उपनिषद्-प्रवचन में भी वेदान्तरसिक श्रोता बड़ी संख्या में भाग लेते। ललित कथा में तो जन-समुद्र रोकते न रुकता। इस तरह अहमदाबाद की जनता को अपने लोकोत्तर गुणों एवं वाग्-माधुरी से मुग्ध करते हुए आपका चातुर्मास्य इस तरह बीता, मानो चार ही दिन बीते हों।

अहमदाबाद से गुरु महाराज बम्बई आये। वहाँ श्री जमनादास रामदास डोसा के बँगले में निवास हुआ। वहीं देवगढ़ बारिया के छोटे महाराज श्री नाहर-सिंहजी और उनकी रानी द्रुपद कुँवर बा, दोनों आपसे मिले। उनके आग्रह पर आपने उन्हें दीक्षित किया। राज-दम्पती ने गुरु महाराज से विनीत प्रार्थना की कि 'एक बार देवगढ़ बारिया अवश्य पधारें, ताकि ज्येष्ठ बन्धु और महारानी साहिबा भी दर्शन कर कृतार्थ हो सकें। उज्ज्वल कीर्ति सुनकर वे भी गुरु महाराज के दर्शन, उपदेश के लिए लालायित हैं।' आपने उन्हें स्वीकृति दे दी।

इधर श्री स्वामी सर्वानन्दजी मण्डली के साथ अर्धकुम्भी के प्रबन्ध के लिए प्रयाग गये। पेसूमल बिशनदास, जमनादास डोसा और चन्दूलाल टी० पारिख तीनों ने मिलकर भव्य शिविर, भोजन एवं सन्तों की व्यवस्था का पूरा संयोजन कर लिया। अर्धकुम्भी पर शिविर की व्यवस्था की जनता द्वारा विशेष प्रशंसा हुई।

देवगढ़ बारिया में

बारिया के छोटे महाराज के साग्रह निमन्त्रण पर गुरु महाराज अहमदाबाद से देवगढ़ बारिया आये। आपके साथ सर्वश्री माधवदासजी, कुलपति कृष्णानन्दजी, ब्रह्मदेवजी और सन्त रामशरणजी थे। यहाँ के दीवान श्री मोतीलालजी विद्वान् होने के साथ साधुसेवी भी थे। बारिया महाराज के आदेशानुसार आपके प्रवचनों का भव्य प्रबन्ध किया गया। राज्य के सभी छोटे-बड़े कर्मचारी एवं नागरिक प्रवचन सुनने के लिए बड़ी संख्या में उपस्थित होते।

गुरु महाराज को राज-महल में आमन्त्रित किया गया। वहाँ एक भव्य मण्डप में उच्च सिंहासन पर अधिष्ठित कराकर बड़े महाराज-दम्पती ने आपका षोडशो-पचार पूजन किया। पश्चात् राजा नाहरसिंहजी ने राज-दम्पती की ओर से प्रार्थना की कि जैसे मुझे अनुगृहीत किया गया, वैसे ही इन पर भी अनुग्रह कर सेवक बना लिया जाय। महाराज-दम्पती श्री रणजीत सिंह एवं श्री दिलहर कुँवर बा की अनन्य श्रद्धा-भक्ति देख गुरु महाराज ने उन्हें दीक्षित कर दिया।

प्रयाग की अर्धकुम्भी

देवगढ़ बारिया से चलकर १० दिनों तक अमृतसर की जनता को कथामृत पिलाते हुए गुरु महाराज देहली आये और वहाँ से प्रयाग अर्धकुम्भ पर अपनी

छावनी में पहुँचे। यह सन् १९३६ (संवत् १९९२) की पहली जनवरी का दिन था। स्वामी सर्वानन्दजी ने सारी व्यवस्था पहले से ही सम्पन्न कर रखी थी।

यहाँ बारिया-युवराज्ञी विभास (वर्तमान राजमाता बारिया) ने भी आपसे दीक्षा ली। यहाँ शिवकोटी-कोठी, नेपाल का राज-परिवार आपके दर्शनार्थ आता रहा। त्यागी, विरक्त अवधूत महात्माओं से आत्मचर्चा भी खूब होती रही।

वैद्य घनानन्दजी का स्वर्गवास

मेले की समाप्ति के बाद गुरु महाराज हरिद्वार होते हुए छाजली आये। यहीं आपको भारत-सरकार के वर्तमान गृहमन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा और श्री मोतीलाल हीराभाई के तार मिले, जो उस समय अखण्डानन्द-आश्रम, अहमदाबाद के ट्रस्टी थे। तार में लिखा था कि 'वैद्य श्री घनानन्दजी का स्वर्गवास हो गया है, यहाँ के प्रबन्ध के लिए किसी सन्त को भेजा जाय।'

गुरु महाराज को अत्यावश्यक कार्यवश छाजली से अबोहर जाना था। अतः वहाँ आप श्री वैद्य निरञ्जनानन्दजी के स्थान पर पहुँचे और श्री घनानन्दजी के गुरु श्री लक्ष्मणदासजी को भी बुलवा लिया। गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी तथा वीतराग अर्जुनदेवजी भी उपस्थित थे। किस सन्त को अहमदाबाद भेजा जाय, इस पर विचार हुआ। श्री घनानन्दजी के गुरुदेव ने कहा : 'हमारे पास ऐसा कोई कुशल सन्त नहीं, जो वहाँ का प्रबन्ध अच्छी तरह देख सके।' अन्ततः यही निश्चय हुआ कि सम्प्रति श्री स्वामी सर्वानन्दजी को ही वहाँ भेजा जाय। इच्छा न होते हुए भी गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य मान श्री सर्वानन्दजी अपने मित्र फलाहारी सोऽहम् मुनि के साथ अहमदाबाद गये और अखण्डानन्द-आश्रम का प्रबन्ध सँभाल लिया। इधर गुरु महाराज स्वस्थ होने पर मण्डलीसहित गुरु मण्डलाश्रम, हरिद्वार आ गये।

श्री स्वामी सर्वानन्दजी भी अहमदाबाद में आश्रम की देखरेख के लिए श्री सोऽहम् मुनि को छोड़कर हरिद्वार आ गये और वहाँ वैद्य श्री घनानन्दजी का समष्टि-भण्डारा किया। संवत् १९९३ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान गुरु महाराज ने हरिद्वार की पतितपावनी गंगा में ही किया।

सिन्ध उदासीन-सम्मेलन

गरेला गोठ जिला लाड़काना (सिंध) के महन्तजी ने साधुबेला के महन्त श्री हरिनामदासजी के आदेश से अपने यहाँ सिन्ध उदासीन-सम्मेलन का आयोजन किया था। गुरु महाराज भी बड़े आग्रह के साथ मण्डलीसहित निमन्त्रित किये गये थे। अतः आप हरिद्वार से अपनी मण्डली एवं स्वामी सर्वानन्दजी के

साथ गरेला गोठ के लिए रवाना हुए। मार्ग में ज्वर आ जाने के कारण आपको कुछ दिन अमृतसर के सेठ श्री दौलतराम दुर्गादास की कोठी में ठहरना पड़ा। श्री सर्वानन्दजी सन्त-मण्डली को साथ ले सक्खर-सिन्ध के साधुवेला में पहुँचे और महन्तजी के साथ गरेला गोठ गये।

ज्वर-मुक्त होने पर गुरु महाराज सक्खर-सिन्ध पहुँचे। वहाँ पता चला कि आपके परम भक्त सेठ पेसूमल विशनदासजी का शिकारपुर में देहावसान हो गया है। अतः बीच में एक दिन के लिए आपको उनकी धर्मपत्नी एवं परिवार को सान्त्वना देने के लिए शिकारपुर जाना पड़ा।

सक्खर पहुँचने के वाद गुरु महाराज लाड़काना गये। वहाँ आपके भगवद्भक्ति पर तीन प्रवचन हुए। श्री सर्वानन्दजी साधुवेला के महन्तजी के साथ गरेला गोठ से लाड़काना पहले ही आ गये थे।

लाड़काना से गुरु महाराज कराची आये और अवधूत चेतनदास के आश्रम में ठहरे। स्वामी योगीन्द्रानन्दजी तथा सोऽहम् मुनि (शम्मोरकोट के वर्तमान महन्त) भी मण्डली के साथ थे। उन दिनों वे दोनों सिद्धान्त-कौमुदी पढ़ रहे थे।

महाराज के भक्त पेसूमलजी निःसन्तान थे। अतः सम्पत्ति सँभालने के लिए उनकी पत्नी ने उनके छोटे भाई हेमराजजी के पुत्र चि० प्रह्लाद को गोद लेने का निश्चय किया। बम्बई से श्री पेसूमलजी के हितैषी भाटिया सेठ मेघजी वुलाये गये। गुरु महाराज को पेसूमलजी के भानज श्री मिट्ठूमल कराची से शिकारपुर ले गये। वहाँ आपके सान्निध्य में चि० प्रह्लाद का दत्तक-विधान सम्पन्न हुआ। 'श्यामलाल' नाम रखा गया। पुनः आप कराची आ गये।

कराची में कुछ दिन रुककर आप सिन्ध उदासीन-सम्मेलन में भाग लेने के लिए हैदरावाद पहुँचे। सम्मेलन वड़ा ही सफल रहा। महाराजश्री के पहुँचने से उसमें चार चाँद लग गये।

पश्चात् प्रिय शिष्य श्री फूलशंकर देसाई के आग्रह पर गुरु महाराज ने अहमदावाद में चातुर्मास्य किया। वहाँ शेयर बाजार के दलाल आचर्यलाल वाडीवाल के वँगले में निवास हुआ।

चातुर्मास्य के बाद ही दिनेश-मिल के मालिक मगनभाई भीखाभाई पटेल के आग्रह पर आप बड़ौदा आये और उनके वँगले में निवास किया। नगर के विभिन्न स्थानों पर भगवान् कृष्ण के वाल-चरित्र—माखन-चोरी, चीर-हरण आदि पर आपके भावपूर्ण प्रवचन होते रहे।

बड़ौदा से गुरु महाराज रतलाम आये। वहाँ सेठ हरिवल्लभ पुरुषोत्तमजी के बँगले में ठहरे। श्री लक्ष्मीनारायण झालानो के राम-भवन में आपने गीता के

चतुर्थाध्याय के द्वादश यज्ञों पर मननीय प्रवचन किये। विद्वान् एवं जनसाधारण ने उन्हें बहुत पसन्द किया।

बड़ौदा से गुरु महाराज इन्दौर पधारे। वहाँ मारवाड़ी मुन्नालाल लच्छीराम की धर्मशाला में निवास हुआ। मारवाड़ी सेठ श्री जगन्नाथ नारायणदास तथा उनकी माता चन्द्रादेवी, शान्तिलाल साँवलचन्द, मणिभाई आदि गुजराती वन्धुओं ने भी मण्डली की खूब सेवा की।

कुछ दिनों बाद नत्थूराम ठेकेदार की प्रार्थना पर गुरु महाराज अखण्ड अविनाशी-धाम में ठहरे। श्री घासीराम रामेश्वरलाल चौधरी ने सराफा में आपके प्रवचन का प्रवन्ध किया। वहाँ वेद एवं पुराणों की एकवाक्यता पर आपके मार्मिक प्रवचन हुए। मेजर रामनारायण (कान्यकुब्ज ब्राह्मण) और उनके साथी सेना के सभी अधिकारी सत्संग से अच्छा लाभ उठाते रहे।

आर्यसमाज आदिवासियों पर करुणा करें

यहाँ भी आर्यसमाजी सनातनधर्म के व्यापक गौरव से ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने शास्त्रार्थ की इच्छा व्यक्त की। अन्त में समय-परिस्थिति को समझनेवाले कतिपय आर्यसमाजी नेताओं के समझाने पर आर्य-समाज शान्त हुआ।

गुरु महाराज ने उन्हें समझाया : 'यह समय परस्पर संघर्ष का नहीं। आप नोटिसवाजी में व्यर्थ ही जितने रुपये खर्च करते हैं, उन्हें आदिवासी भाइयों की सेवा में लगायें। क्या आप नहीं जानते कि ईसाइयों के प्रलोभन-जाल में फँसकर हमारी ही परिगणित जाति के वन्धु हिन्दू-धर्म से च्युत हो रहे हैं! शास्त्रार्थ के असाधारण आयोजन की आवश्यकता ही क्या है? सन्तों का दरवार सदा खुला हुआ है। जव चाहें, आयें और मन में जो भी शंका हो, मिटा ली जाय। आजकल का शास्त्रार्थ तो 'शस्त्रार्थ' वन जाता है।'

मेजर रामनारायण हँसकर कहने लगे : 'यही करना हो तो हम लोग पर्याप्त हैं। आपको क्यों कष्ट दिया जाय?'

अन्त में गुरुदेव ने कहा : 'आप और हम मिलकर वेदों का प्रचार करें, लोगों को वेदभक्त वनायें।'

समन्वय से हृदय-परिवर्तन

देश-जाति के हित की वातें सुनकर वहुत-से आर्य-समाजी आग्रह छोड़ आपकी शरण आये और प्रतिदिन वेद के गूढ़ रहस्यों को समझकर समाधान मानने लगे।

समन्वयवादी युक्ति से आर्य-समाज के सज्जनों का हृदय-परिवर्तन हो गया। वे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करने लगे कि 'हमारी भूल हुई। गहराई से विचार करने पर सनातनधर्म के सभी सिद्धान्त भारत के गौरव के ही सूचक हैं।'

अव सनातनियों की तरह आर्य-समाजियों की भी गुरु महाराज के प्रति विशेष श्रद्धा हो गयी। दोनों वर्ग मिल-जुलकर देश और जाति की सेवा में लग गये। सनातन-धर्म और आर्य-समाज के द्वैत की दीवार ढह गयी और वे एक-दूसरे को अपना सच्चा मित्र समझने लगे। तव से इन्दौर में आर्य-समाज और सनातन-धर्म के वीच कभी सैद्धान्तिक मतभेद खड़ा नहीं हुआ।

गुरु महाराज आर्य-समाजो ही क्या, भारत के प्रत्येक जाति-वन्धु को यही उपदेश दिया करते हैं कि 'भाई, भारत-भूमि हमारी माता है और हम सभी उसकी सन्तान हैं। हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि सभी भाई-भाई हैं। हम सबको मिल-जुलकर माता को दासता की शृङ्खला से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।'

पूर्व की ओर

अव गुरु महाराज की धर्म-यात्रा ने पूर्व की ओर मोड़ लिया। ३१ जनवरी सन् १९३७ को आपने इन्दौर से प्रस्थान किया और ॐकारेश्वर की यात्रा करते हुए जवलपुर आये। वहाँ सेठ रामकुमार जुहारमल के अतिथि वने। सेठजी ने आपकी वहुत सेवा की और अपनी कार द्वारा नर्मदा-तट के अनेक प्रमुख स्थानों की यात्रा करायी। उनका आग्रह था कि आप नर्मदा की उद्गम-स्थली अमरकण्टक भी चलें। किन्तु समयाभाव के कारण वह सम्भव न हो सका।

जवलपुर से आप सीधे जसीडीह, वैद्यनाथ धाम पहुँचे। वहाँ अवधूत हंसदेवजी महाराज उदासीन के कैलाश-आश्रम में ठहरे। शिवरात्रि वहीं हुई। दिगापति बंगाली राजा तथा अन्य भी कई वंगीय नरेश, जो श्री हंसदेवजी के दर्शनार्थ आया करते थे, आपके प्रवचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

गुरु महाराज वैद्यनाथ धाम से कलकत्ता पधारे। बी० एम० खरवर कम्पनी के सेठ नगीनदास गुजराती के यहाँ निवास हुआ। कलकत्ते के माहेश्वरी-भवन में गीता के गूढ़ तत्त्वों पर आपके प्रवचन हुए। वहाँ की जनता भी इन वैदुष्यपूर्ण प्रवचनों से विशेष प्रभावित हुई। संवत् १९९५ (सन् १९३७) की श्री रामनवमी भी यहीं हुई।

कलकत्ता से आपने जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, साक्षीगोपाल आदि की यात्रा की। वहाँ भी स्थान-स्थान पर आपके प्रवचन होते रहे। जनता उन्हें खूब पसन्द करती रही।

१०

दक्षिण की ओर

गुरु महाराज पूर्व की यात्रा पूरी कर सीधे विजयवाड़ा पहुँचे। वहाँ से नृसिंह-प्रपानक तीर्थ, मंगलगिरि, मद्रास, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, तिरुपति बालाजी, पक्षीतीर्थ, श्रीरङ्गम्, त्रिचनापल्ली होते हुए मदुरा में पराम्बा मीनाक्षी देवी के दर्शन किये और फिर सेतुबन्ध रामेश्वरम् आये।

भगवान् रामेश्वर की सविधि पूजा करके गुरु महाराज वहाँ से जनार्दनम्, पद्मनाभम्, शचीन्द्रम् और फिर कन्याकुमारी पहुँचे। वहाँ समुद्र-स्नान और भगवती कुमारिका का दर्शन कर भारत देश को सभक्ति प्रणाम किया।

कन्याकुमारी से छोटा नारायण, बड़ा नारायण करते हुए आप तोताद्रि के श्री रामानुज-मठ में आये। वहाँ के सन्तों से विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त पर वार्तालाप हुआ। वहाँ के पीठाधिपति साधुसेवी और शान्त प्रकृति थे। यद्यपि वहाँ गुरु महाराज नें अपने प्रवचन में विशिष्टाद्वैत का निराकरण कर अद्वैत-मत की प्रस्थापना की, फिर भी पीठाधिपति इसे केवल शास्त्र-विनोद मात्र मानकर प्रसन्न ही हुए। उन्होंने व्यवहार में किसी प्रकार की भेद-भावना नहीं आने दी। सभी सन्तों को मालपूआ और दुग्धपाक का सुस्वादु भोजन कराया गया। गुरु महाराज आपके सौजन्य से विशेष प्रभावित हुए। यों मठपति तो बहुत-से मिले, पर आप-जैसी उदारता और सौजन्य बहुत कम देखने को मिलता है।

गुरु महाराज वहाँ से कोयम्बतूर, ऊटी, बँगलोर, किष्किन्धा आदि नगरों में भ्रमण करते हुए दक्षिण हैदराबाद आये। वहाँ आप हुसैनी-मुहल्लास्थित उदासीन-आश्रम में ठहरे। महन्त तपस्वी निर्वाण बाबा पूर्णदासजी महाराज के अनुरोध पर वहीं लघु चातुर्मास्य किया। यहाँ का सारा प्रबन्ध राजा शरणपल्ली ने किया। राजा पन्नालाल, गोवर्धनलाल आदि भी सेवा में रहे।

यहाँ कई मुसलिम अफसर भी सत्संग में आते। राजा सर कृष्णप्रसादजी भी दर्शनार्थ आये। राजा निरंजन प्रसाद के पुत्र और अन्य भी कई खत्री-परिवारों ने गुरु महाराज से दीक्षा ली। दशनामी सम्प्रदाय के गुसाँई सन्त, राजा प्रतापगिरि, लालगिरि, धनराजगिरि आदि ने भी सेवा में पूर्ण सहयोग दिया। राजा प्रतापगिरि की कोठी में प्रवचन भी हुआ।

श्री स्वामी सर्वानन्दजी महीनेभर रुग्ण रहने के कारण पूना चले गये। वहाँ गुरु महाराज के पूर्व-परिचित भक्त गोपीराम रुइया की कोठी में ठहरे। वहाँ वे रामटेकरी, उदासीगढ़ के संस्थापक निर्वाण-शिरोमणि श्रद्धेय शारदाराम तपस्वी से भी मिले। इधर गुरु महाराज हैदराबाद में जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र महाराज

को जन्म-नवमी (भाद्रपद शुक्ला नवमी) का उत्सव मनाकर भाद्रपद शुक्ला एकादशी को वहाँ से रवाना हुए और सोलापुर होते हुए पण्ढरपुर पहुँचे। यहाँ आपने चन्द्रभागा के तट पर स्थित भगवान् श्री विट्ठलनाथजी का दर्शन-पूजन किया।

द्वैतवादी पण्डित से वार्तालाप

पण्ढरपुर में मध्व-सम्प्रदाय के श्री लक्ष्मीप्रपन्न नामक एक द्वैतवादी विद्वान् से गुरु महाराज की विस्तारपूर्वक शास्त्र-चर्चा हुई। यह प्रसंग यहाँ के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा।

द्वैतवादी विद्वान् ने उदासीन स्वामी श्री बालरामजी की सांख्यतत्त्व-कौमुदी की व्याख्या 'विद्वत्तोषिणी' पढ़ी थी। योग-भाष्य की उनकी टिप्पणी भी देखी थी। सांख्यतत्त्व-कौमुदी की दूसरी कारिका में श्री बालरामजी ने 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र (३-१-२५) के शांकर-भाष्य की आलोचना की है। इस द्वैती विद्वान् ने उस प्रकरण का भी परिशीलन किया था।

अतएव उसने कहा : 'बालरामजी आपके उदासीन-सम्प्रदाय के ही थे न? उन्होंने विद्वत्तोषिणी में सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञीय हिंसा के अहिंसात्व का अद्भुत खण्डन किया है और 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस सूत्र की व्याख्या ही बदल दी है।'

गुरु महाराज ने समझाया : 'ब्रह्मसूत्र' के 'चान्द्र-भाष्य' में जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य ने इस पर सविस्तर विचार किया है। वहीं से श्री बालरामजी ने यह अंश लिया है।'

जगद्गुरु भगवान् श्रीचन्द्राचार्य द्वारा की गयी प्रस्तुत ब्रह्मसूत्र की यह अपूर्व व्याख्या सम्प्रदाय की अनेक मौलिक दार्शनिक मान्यताओं में से एक है। कारण इससे एक ही व्यक्ति के दो स्थानों पर आनेवाले परस्पर विरोधी भासित हो रहे दो वचनों का अद्भुत समन्वय हो जाता है। अतः तत्त्व-चिन्तकों के लिए यहाँ सप्रसंग उसकी थोड़ी झाँकी कराना अप्रासंगिक न होगा। इससे आचार्यश्री के चान्द्रभाष्य की मौलिकता और अनूठेपन पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

'अशुद्धमिति चेत्…' का चान्द्रभाष्यीय अर्थ

'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (वेदान्तदर्शन, ३-१-२५) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री शंकराचार्य प्रभृति प्रायः सभी आचार्यों ने यही अर्थ माना है कि "यज्ञीय हिंसा वेदविहित होने से पापजनक नहीं है।' श्री कुमारिल भट्ट प्रभृति

मीमांसकों की भी यही सम्मति है। अतएव सनातनधर्मी पण्डित-मण्डली में मुक्त-कण्ठ से कहा जाने लगा कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'

किन्तु सांख्याचार्य श्री ईश्वरकृष्ण अपनी द्वितीय कारिका में इसका प्रतिवाद करते हैं। सांख्य-शास्त्र की क्या आवश्यकता है, इसके निरूपण में उन्होंने प्रारम्भ में दो कारिकाएँ रची है, जो निम्नलिखित हैं :

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात् ।। १ ।।
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।। २ ।।'

पहली कारिका का भावार्थ यह है कि प्राणिमात्र चाहता है कि मेरे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, तीनों प्रकार के दुःख मिट जायँ। सांख्य-शास्त्र यही काम कर देता है, इसलिए यह शास्त्र आवश्यक है। इस पर पूर्वपक्षी पूछता है कि 'लौकिक चन्दन, माला, भोग, धनादि साधनों से ही जब ये दुःख दूर हो सकते हैं, तो इस कष्टसाध्य शास्त्र के अध्ययन में कौन भला प्रवृत्त होगा ?' उत्तर-पक्षी कहता है : 'न एकान्तात्यन्ततो भावात्।' सारांश यह कि इन लौकिक बाह्य पदार्थों से दुःख की एकान्त और आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती, और प्राणी चाहता है वैसी ही मुक्ति ! 'एकान्त' का अर्थ है, अवश्यम्भावी और 'आत्यन्तिक' का अर्थ है, सर्वदा स्थायी। इस साधन से मेरा दुःख निश्चय ही निवृत्त हो जाय और पुनः ऐसा दुःख न हो, यही तो प्राणी चाहता है। किन्तु लौकिक उपायों से निश्चय ही वे दुःख नष्ट हो सुख मिलेगा, यह कहा नहीं जा सकता। मिला भी, तो सदैव बना रहेगा, पुनः वैसा दुःख कभी न होगा, इसकी भी कोई गारण्टी नहीं। ठंडक देनेवाली वस्तु भी कभी-कभी ठंडक नहीं देती और देती भी है, तो कुछ देर बाद पुनः गर्मी होने लगती है। लौकिक पदार्थों का यही हाल है।

पूर्वपक्षी एक कदम और आगे बढ़ता है। पूछता है : 'भले ही लौकिक पदार्थों का, साधनों का ऐसा स्वभाव हो। वैदिक साधन यज्ञादि तो ऐसे नहीं होते। उनसे आपको उपर्युक्त एकान्त-आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति निश्चय ही हो जाती है। कारण यज्ञों से मिलनेवाले स्वर्गादि पदार्थों का स्वरूप शास्त्रों में ऐसा ही वर्णित है। वे कहते हैं : 'स्वर्ग वही वस्तु है, जहाँ दुःख का तनिक स्पर्श भी नहीं रहता। उस सुख को फिर दुःख आकर नहीं ग्रसता और अभिलाषा करते ही आपके सामने सारी सुख-सुविधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।' फिर यज्ञादि से ही हम ऐसी दुःख-

निवृत्ति क्यों न पा लें ? क्यों सांख्य-दर्शन का कठिन अभ्यास करें ?' इसी शंका के समाधान के लिए उपर्युक्त दूसरी कारिका ग्रन्थकार ने कही है।

सांख्याचार्य श्री ईश्वरकृष्ण मानते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड (आनुश्रविक) साधनों का हाल भी लौकिक (दृष्ट) साधनों का-सा है। कारण ये साधन विनाशिता (क्षय), तारतम्य (अतिशय) और मलिनता (अविशुद्धि) दोषों से ग्रस्त हैं। अर्थात् वे वैदिक-क्रियाकलाप को अग्निषोमादि पशु-हिंसा से ग्रस्त होने से अविशुद्धि-दोषयुक्त मानते हैं। अविशुद्धि का तात्पर्य यह है कि निःसन्देह ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ महान् पुण्य के जनक हैं, किन्तु उनमें पशुहिंसाजन्य पाप का सम्मिश्रण होने से मलिनता अनिवार्य है।

न केवल ईश्वरकृष्ण ही, सांख्य-दर्शन के एक अन्य प्रधानतम आचार्य पञ्चशिखाचार्य भी 'स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः' इस उक्ति से अपनी इसी प्रकार मान्यता व्यक्त करते हैं।

अब 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस सूत्र की व्याख्या पर विचार करें। यह सूत्र भगवान् वेदव्यास-प्रणीत है और वे ही व्यासदेव अपने 'योगसूत्र-भाष्य' में यज्ञादि क्रियाकलाप को 'शुक्ल-कृष्ण' मानते हुए मुक्त कण्ठ से यज्ञादि कर्म में हिंसाजन्य पाप का सम्पर्क स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस सूत्र का अर्थ भी व्यासदेव के आशय के अनुरूप ही करना चाहिए। योगभाष्यकार व्यासदेव की अपनी उक्ति से विरुद्ध इसका अर्थ करना कभी उचित न होगा। अतएव जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य ने व्यास-तात्पर्यानुरूप इस सूत्र के दो अर्थ किये हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) पुण्य के प्रभाव से कर्मठ प्राणी धूमादि मार्ग द्वारा स्वर्ग (चन्द्र) लोक में जाता है। वह वहाँ तब तक रहता है, जब तक अपने द्वारा अनुष्ठित स्वर्ग-प्रापक ज्योतिष्टोमादि कर्मों का फलभोग पूरा नहीं हो जाता। भोग से पुण्य का क्षय होते ही वह आकाश, धूम, मेघ आदि रूपों को प्राप्त करता हुआ वृष्टि-धारा द्वारा भूमि पर उतरकर व्रीहि, यव आदि रूप से जन्म लेता है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा है : 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' अर्थात् स्वर्ग से अवरोहण करते हुए पुण्यात्मा व्रीहि, यवादि योनियों में आविर्भूत होते हैं।

इस पर प्रश्न उठता है : 'अशुद्धमिति चेत्' अर्थात् स्वर्ग से उतरनेवाले प्राणी पुण्यात्मा हैं। वे पापफल अशुद्ध व्रीहि आदि स्थावर-योनियों को कैसे प्राप्त होंगे ? तो समाधान किया जाता है : 'शब्दात्'। तात्पर्य यह कि चूँकि श्रुति में उनकी व्रीहि, यवादि स्थावर-योनियों में प्राप्ति स्पष्ट कथित है और शब्द-प्रमाण

ही सर्वप्रमाण-मूर्धन्य है, इसलिए पुण्यात्मा की स्थावर-योनि-प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता।

भावार्थ, स्थावरता दो प्रकार की होती है। कुछ प्राणी व्रीहि आदि स्थावर-योनियों के अभिमानी होने से उस योनि के सम्पर्कवश सुख-दुःख के भागी होते हैं। जिस-जिस जीवात्मा को शरीर के साथ अभिमान रहता है, वह उस शरीर के सम्बन्ध से सुख या दुःख का अनुभव करता ही है। किन्तु जिसे शरीर का अभिमान नहीं होता, उस शरीर का सम्बन्ध बना रहने पर भी, वह शरीर के सुख या दुःख का अनुभव नहीं करता। इस तरह स्पष्ट है कि जिन जीवों ने उग्र पाप के प्रभाव से स्थावर-योनि से अभिमानपूर्वक अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, वास्तव में वे ही 'स्थावर-योनि के प्राणी कहे जा सकते हैं।

'शारीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।'

मनु की इस उक्ति का संकेत भी इन्हीं पापिष्ठ जीवों की ओर है।

किन्तु ये स्वर्ग से उतरनेवाले जीवात्मा अभिमानपूर्वक व्रीहि आदि योनियों के अधिष्ठाता नहीं बनते, भले ही वे उन योनियों के शरीर में प्रवेश करें। प्रत्युत ये अन्य प्राणियों से अधिष्ठित व्रीहि आदि योनियों में किसी गृहस्थ के घर ठहरने-वाले किसी अतिथि की तरह, कुछ समय विश्रामार्थ संश्लिष्ट होते हैं—उनके साथ संसर्ग मात्र करते हैं। अतः अभिमान के अभाव में उन्हें वहाँ किसी प्रकार के सुख या दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ता। कुछ समय के लिए विश्रामार्थ उनका स्थावर-योनियों से संश्लिष्ट होना ही श्रुति ने बताया है। अर्थात् उनका स्थावर-योनि में वास्तविक जन्म नहीं होता, संसर्गमात्र के कारण 'जनि'-श्रुति वहाँ औपचारिक है।

इस तरह यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि शब्द-प्रमाण से स्वर्गावरोही जीवों की औपचारिक स्थावरता मान लेने पर भी वास्तविक स्थावरता न होने से पुण्यात्मा जीवों को अशुद्ध स्थावरता की प्राप्ति की आशंका स्वतः ही दूर हो जाती है। उनकी सांसर्गिक स्थावरता भी अभिमानाभाव से सुख-दुःखजनक न होने के कारण अशुद्ध नहीं, शुद्ध ही है।

हाँ, भय इस बात का हो सकता है कि वे शुद्ध जीवात्मा इन मलिन योनियों में रहना कैसे पसन्द करेंगे? किन्तु वह भी कुछ दम नहीं रखता। कोई राजा भले ही सदा के लिए किसी जीर्ण-शीर्ण और अपावन घर में न रहे। कभी-कभी संकट के समय उसे ऐसी जगह, झोंपड़ियों तक में रहना पड़ता ही है। विपत्ति में कुलीन राजकुमारों के झोंपड़ियों में रहने के बारे में इतिहास साक्षी है। राज-

कुमार बाप्पा रावल को भीलों की झोपड़ी में रहना ही पड़ा था। वही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

(२) अथवा—ज्योतिष्टोमादि पशु-हिंसा के कारण निश्चय ही पाप-मिश्रित हैं। उस पाप का फल कर्ता को भोगना ही पड़ेगा। फिर भी व्रीहि आदि स्थावर-योनियों से संश्लिष्ट होना उस पाप का फल नहीं। कारण 'यावत्सम्पातम् उषित्वा' इस श्रुति में 'यावत्' शब्द का प्रयोग है। 'सम्पात' का अर्थ है, स्वर्ग की प्राप्ति का साधन पुण्य। अब स्पष्ट हो जाता है कि जब तक स्वर्ग-प्रापक कर्म भोग द्वारा क्षीण नहीं होता, तब तक जीव स्वर्ग में रहता है। भोग क्षीण होते ही उसे स्वर्ग से नीचे गिरना पड़ता है। श्रुति के 'यावत्' शब्द से उस स्वर्ग के प्रापक ज्योतिष्टोमादि से जन्य समग्र अपूर्व का भोग से क्षय प्रमाणित होता है। उसी समय उसके साथ मिश्रित हिंसादिजन्य पाप का फल भी—वृत्र, रावणादि असुरों द्वारा देवताओं के विविध भयों के रूप में—मिल ही गया। अतः वह भी अब शेष नहीं रहा। फिर उस सत्कर्म से मिश्रित पाप का फल व्रीहि-यवादि स्थावर-योनियों की प्राप्ति को बताना सर्वथा अनुचित होगा।

इसी श्रुति की समानार्थक अन्य भी एक श्रुति मिलती है :

'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात् पुनर्याति चास्मै लोकाय कर्मणे॥'

अर्थात् यह प्राणी इस लोक में जो कर्म करता है, उसे स्वर्ग में फल-भोग द्वारा समाप्त कर देता है। उस कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने पर वह पुनः इस लोक में कर्म करने के लिए आता है।

इस श्रुति के 'अन्तं प्राप्य' से और पिछली श्रुति के 'यावत् सम्पातम्' से जब ज्योतिष्टोमादि स्वर्ग-प्रापक कर्मों का स्पष्टतः संपूर्ण क्षय प्रमाणित होता है, तो उसके साथ नित्य संश्लिष्ट पशुहिंसाजन्य पाप कहाँ टिक पायेगा? उसके भोग की गति असुर-त्रास से लगानी होगी। इस तरह जब संश्लिष्ट पाप रहेगा ही नहीं, तो उसका फल पुनः स्थावरादि योनियों की प्राप्ति कथमपि नहीं कही जा सकती।

जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य के 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस सूत्र के उपर्युक्त दो आशयों से एक ही व्यक्ति द्वारा रचित योग-भाष्य और ब्रह्मसूत्र की उक्तियों में परस्पर विरोध नहीं आता। निखिलशास्त्र-निष्णात श्री स्वामी बालराम उदासीन ने 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' की 'विद्वत्तोषिणी' व्याख्या में विस्तारपूर्वक अन्य आचार्यों द्वारा की गयी इस सूत्र की व्याख्याएँ दिखाकर चान्द्र-भाष्यसम्मत यह

सूत्रार्थ ही सप्रमाण युक्तियुक्त सिद्ध किया है। चान्द्र-भाष्य के इस अर्थ से ही सांख्याचार्यों की मान्यता का स्वरूप स्पष्ट निखरता है।

शांकर और औदास्य सिद्धान्तों का अन्तर

पण्डित श्री लक्ष्मीप्रपन्न द्वैतवादी ने आगे पूछा : 'शांकर-सिद्धान्त से आपके सिद्धान्त का क्या अन्तर है ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'शंकराचार्य की तरह ही उदासीन-सम्प्रदाय में भी 'अद्वैत' का समादर है। अन्तर केवल अवान्तर सिद्धान्तों में है।'

जैसे : शांकर-मत में मुक्ति का साधन केवल ज्ञान माना जाता है, जब कि उदासीन भक्ति-समुच्चित ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते हैं।

शांकर-सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र अज्ञान-बन्ध की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द-प्राप्ति मुक्ति पदार्थ है, किन्तु उदासीन-सिद्धान्तानुसार मुक्ति के स्वरूप में द्विविध बन्धों की निवृत्ति प्रविष्ट है। वे मानते हैं कि बन्ध दो प्रकार के होते हैं : १. समष्टि-बन्ध और २. व्यष्टि-बन्ध। समष्टि-बन्ध 'माया' है, तो व्यष्टि-बन्ध 'अविद्या'। अविद्या का नाश तो ज्ञान से हो जाता है, पर समष्टि-बन्धरूप माया के नाश के लिए भगवत्प्रपत्ति (शरणागति) आवश्यक है। जब तक साधक भगवत्-शरणागति द्वारा अपने को भगवत्कृपा का पात्र न बना ले, तब तक समष्टि-बन्धरूप माया बनी रहने से मुक्ति सम्भव नहीं।'

गुरु महाराज ने आगे बताया कि 'उदासीन-सम्प्रदाय में आकाशादि बाह्य स्थूल-प्रपञ्च का कारण माया है और अन्तःकरणादि आन्तर सूक्ष्म-प्रपञ्च का कारण अविद्या। यह मत अति प्राचीन है। इसीका नामान्तर है 'माया-अविद्या-भेदवाद' या 'भक्ति-ज्ञान-समुच्चयवाद'। श्री शंकराचार्य के प्रशिष्य श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने 'संक्षेप-शारीरक' ग्रन्थ के तृतीयाध्याय में और विवरणकार श्री प्रकाशात्म यति ने अपने 'पञ्चपादिका-विवरण' में इस मत के निराकरण की प्रबल चेष्टा की है। अतः प्रतीत होता है कि उन दिनों इस सिद्धान्त का अधिक प्रचार रहा हो। इस मत की पुष्टि के लिए चान्द्र-भाष्य का उपोद्घात-भाष्य द्रष्टव्य है।'

द्वैतवादी पण्डितजी ने पूछा : 'क्या प्रस्थान-त्रयी पर भी आपके उदासीन-सम्प्रदाय के भाष्य हैं ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'न केवल प्रस्थान-त्रयी पर, प्रत्युत चारों वेदों पर भी जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य के भाष्य हैं।'

द्वैतवादी : 'क्या वे प्रकाशित हैं ?'

आपने उत्तर दिया : 'नहीं, अभी तक अमुद्रित ही हैं। अति श्रद्धावान् महा-

पुरुषों ने लोगों के कुतर्क-धूलिवाद से बचाने के लिए उन्हें अभी तक गोप्य ही रखा। अब, जब कि समयानुसार सभी सम्प्रदायों के गोप्य ग्रन्थ प्रकाशित होने लग गये हैं, उदासीन-सभा भी आचार्यश्री के उन भाष्यों के प्रकाशन के प्रयत्न में है। आशा है, शीघ्र ही वे प्रकाशित हो जायेंगे।'

पण्डित लक्ष्मीप्रपन्नजी गम्भीर शास्त्र-चर्चा से अत्यन्त प्रसन्न हुए। 'साधु-साधु' कहते हुए वे आपके साथ विट्ठलनाथ-मन्दिर तक गये।

गुरु महाराज तीन दिनों तक पण्ढरपुर रहे। पण्डित लक्ष्मीप्रपन्नजी द्वारा जनता में आपके यहाँ आने का समाचार फैल गया। वे वहाँ के माने हुए पण्डित थे। लोगों से उनका अत्यधिक सम्पर्क था। जब उन्होंने बताया कि यहाँ एक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा आये हैं और उनका वैदुष्य एवं तपस्या-भक्ति बेजोड़ हैं, तो पण्ढरपुर का विद्वद्वर्ग और जनवर्ग आपके दर्शनार्थ उमड़ पड़ा।

'सिन्धियों के गुरु'

पण्ढरपुर से गुरु महाराज वापस सोलापुर आये। यहाँ मारवाड़ी सज्जनों की सनातनधर्म-सभा में आपका सनातनधर्म के गौरव पर प्रवचन हुआ।

इस दक्षिण-यात्रा में यत्र-तत्र सिन्धी सेठों ने आपकी विशेष सेवा की। फलस्वरूप सभी नगरों में लोग आपको 'सिन्धियों के गुरु' रूप में पहचानते।

ज्ञातव्य है कि इससे पहले मैसूर-यात्रा के समय जब मैसूर के महाराज आपके दर्शनार्थ आये थे, तो वहाँ के सिन्धियों की पञ्चायत ने 'सिन्धियों के गुरु' कहकर ही उन्हें आपका परिचय दिया था। मैसूर-महाराज ने आपके सामने भेंट रखी, तो आपने कहा था कि 'हमें इसकी अपेक्षा नहीं। हमारे सिन्धी शिष्य आवश्यकता से अधिक सेवा करने के लिए प्रस्तुत हैं। गुरु-सेवा में धनराशि का व्यय करना वे अपना परम सौभाग्य मानते हैं।'

यहाँ भी सोलापुर के मारवाड़ी-समाज ने आपसे प्रार्थना की कि हम पूना-यात्रा आदि के टिकट की व्यवस्था करना चाहते हैं। इस पर गुरु महाराज ने कहा : 'मोहनसिंह, हाँसासिंह बजाज आदि ने सारी व्यवस्था पहले से ही कर रखी है।' उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि 'आज्ञा हो, तो हम सनातनधर्म-सभा की ओर से कुछ भेंट दें।' इस पर आपके साथ सभा में पहुँचे सिन्धी सेठों ने बड़े गर्व के साथ कहा : 'हमारे गुरुदेव किसी सभा से भेंट नहीं लेते। प्रत्युत जिस किसी सभा में जाते हैं, उसे अपने शिष्यों से आर्थिक सहायता ही दिलवाते हैं।'

सनातनधर्म-सभा के मन्त्री ने आश्चर्यचकित हो कहा : 'सिन्धी-बन्धु सनातनधर्म के सच्चे प्रेमी होते हैं। वे धर्मसेवार्थ धन खर्च करने में बड़े उदार हैं, यह

हम लोग भी जानते हैं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप सिन्धी-बन्धु सनातनधर्म-सभा के सदस्य बनकर हमें भी सहयोग दें।'

गुरु महाराज सोलापुर से पूना आये। वहाँ श्री गोपीराम रूइया के बँगले में ठहरे। श्री स्वामी सर्वानन्दजी पहले से ही वहाँ थे। पूना में आप रामटेकरी, उदासगढ़ के बाबा शारदारामजी से मिलने गये। नासिक-त्र्यम्बक-कुम्भ के समय सन् १९३२ में उनसे विशेष परिचय हुआ था। बाबा ने वहाँ अन्न-क्षेत्र भी चलाया था। बाबाजी को अपने प्राचीन मित्र के मिलने से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने आपका भव्य स्वागत किया।

पूना से गुरु महाराज बम्बई आये। वहाँ सेठ जमनादास डोसा के बँगले में निवास हुआ।

बम्बई से आप कुछ दिनों के लिए अहमदाबाद गये। वहाँ पाटली-दरबार के बँगले में ठहरे। वहाँ से सिन्ध-हैदराबाद पहुँचे, जहाँ पोहूमल ब्रदर्स के सेठ किशनचंद के पास लेखराज खियामल की धर्मशाला में ठहरे।

हैदराबाद से गुरु महाराज शिकारपुर आये। वहाँ सेठ आत्मासिंह जेसासिंह बजाज के बँगले में ठहरे। यहाँ कुम्भ-महिमा और गंगा-गौरव पर आपके उल्लेख्य प्रवचन हुए। यहाँ से आपने श्री सर्वानन्दजी को हरिद्वार कुम्भ-पर्व पर अन्न-क्षेत्र खोलने के लिए भेज दिया। कुम्भ पर वहाँ बहुत बड़े शिविर की व्यवस्था की गयी। शिवरात्रि से अन्न-क्षेत्र भी चालू हो गया।

इधर गुरु महाराज शिकारपुर से अमृतसर आ गये। यहाँ आप माता धन्वन्त कुँवर की धर्मशाला में ठहरे।

नहर-निर्माण और धन्वन्त कुँवर का औदार्य

नडियाद-महासत्र के लिए जाते समय संवत् १९९१ (सन् १९३४) में गुरु महाराज ने अमृतसर-वासियों से कहा था कि 'दुर्ग्याना-सरोवर में पानी भरने के निमित्त नूतन नहर बननी चाहिए, इसके लिए आप लोग धन-संग्रह करें। मेरी ओर से यह ५००) की थैली इसका श्रीगणेश समझें। अब आप लोग शहर के प्रमुख व्यापारियों से पहले की तरह कम-से-कम तीन लाख रुपये इकट्ठा करें।' किन्तु आपके यहाँ से चले जाने के बाद ही उत्साही धर्मवीर गुरुसहाय मल का अकस्मात् देहावसान हो गया, जिन्होंने मन्दिर-निर्माण के समय एक दिन में तीन लाख रुपये इकट्ठा कर दिखाये थे। सचमुच उन्हें धन-संग्रह की अद्भुत कला अवगत थी।

अब सेठ दौलतराम रेली ब्रदर्स के एजेण्ट, नत्थूशाह रंगवाला, लाला लछमन-दास आदि सज्जन स्वयं काफी सम्पन्न थे और दानी भी। किन्तु लोगों से धन-संग्रह करने की कला उन्हें नहीं आती थी। ये लोग तब से अब तक (सन् १९३४ से १९३८ तक) पचीस हजार से अधिक इकट्ठा न कर पाये। बेचारे हतोत्साह हो गये थे।

गुरु महाराज के अमृतसर आने का समाचार पाते ही ये लोग सेवा में पहुँचे। कहने लगे : 'महाराज, हम लोग तो थक गये। लोग इसमें दिलचस्पी ही नहीं लेते। हम लोग तीन लाख तो क्या, तीस हजार भी जनता से प्राप्त न कर सके। बुआजी धन्वन्त कौर से आप कहें, तो वे विशेष सहायता देकर यह कार्य पूरा कर सकती हैं।'

गुरु महाराज ने 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहा। वे मौन हो गये।

ज्ञातव्य है कि धन्वन्त कौर आज के युग की सुलभा, मैत्रेयी या गार्गी ही कही जा सकती हैं। आपका विवाह लाहौर के राजा रामशरण के अनुज राजा हरिकृष्ण से हुआ था। दैववशात् विधवा हो गयीं। वेदान्त-चिन्तन, सन्त-सेवा और यज्ञादि धर्मानुष्ठानों में आपकी सहज रुचि थी। दुर्याना के लक्ष्मीनारायण-मन्दिर के पास अतिथियों के निवासार्थ आपने उन दिनों एक लाख रुपये व्यय कर भव्य धर्मशाला बनवायी है। अमृतसर में मायका होने से अमृतसर की जनता उन्हें 'बुआजी' कहकर ही पुकारती।

आखिर एक दिन कमेटीवाले शिष्टमण्डल के रूप में बुआजी के पास उपस्थित हुए। संयोगवश गुरु महाराज पहले से ही वहाँ उपस्थित थे। उन्हींके सान्निध्य में शिष्टमण्डल ने बुआजी को सारी पूर्व-स्थिति बतायी और उनसे नहर-निर्माण का पूरा व्यय उठाने की प्रार्थना की।

शिष्ट-मण्डल सोचता था कि गुरु महाराज उनका समर्थन कर देंगे। किन्तु आपने अब कटु होने पर भी न्याय्य बात स्पष्ट कह देना उचित समझा। शिष्ट-मण्डल को सम्बुद्ध कर आपने कहा : 'मान लीजिये, बुआजी के पास कुछ जेवर या नकदी हो। उन्हें १२००) जेब-खर्च भी मिलता है। किन्तु वे नया धन तो पैदा नहीं कर सकतीं। जितना उनके पास है, उतना ही रहेगा। उसे बढ़ाने का कोई साधन नहीं। किन्तु आप लोग तो बड़े-बड़े व्यापारी हैं। व्यापार द्वारा प्रतिदिन हजारों का वारा-न्यारा करते हैं। आश्चर्य होता है कि स्वयं कुछ खर्च न कर सारा बोझ बुआजी पर ही डाले जा रहे हैं।'

गुरु महाराज की बातें सुनकर शिष्ट-मण्डल लज्जित-सा हो गया।

बुआजी बड़ी कुलीन और समझदार थीं। उन्होंने शिष्ट-मण्डल का सम्मान करते हुए कहा : 'अच्छा, आप लोग पधारें। मैं आपके प्रस्ताव पर अवश्य विचार करूँगी।'

रात्रि के लगभग ११ बजे होंगे। गुरु महाराज सोने की तैयारी कर रहे थे। किसीने दरवाजा खटखटाया। अन्दर से पूछा गया : 'यह समय दर्शन का तो है नहीं। कौन दरवाजा खटखटा रहा है, पता लगाओ।'

वाहर से आवाज आयी : 'कोई नहीं महाराज ! मैं हूँ आपकी वहन।'

यों तो अमृतसर की सभी देवियाँ हमारी वहनें हैं। स्वर से ठीक पहचाना नहीं जाता। नाम वताने की कृपा करें।'

सहचरी शामदेवी ने कहा : 'महाराज, धर्मशालावाली धन्वन्त कौर हैं। किसी विशेष वार्ता के लिए आयी हैं। दिन में तो लोगों की भीड़ से अवकाश ही नहीं मिलता। इसीलिए निद्रा के समय कष्ट देने की धृष्टता की जा रही है।'

गुरु महाराज के आदेश से सन्त ने दरवाजा खोल दिया। सहचरीसहित बुआजी आपके चरणों के पास वैठ गयीं।

कहने लगीं : 'स्वामीजी, नहर का काम करना तो अत्यावश्यक है। उसके विना सरोवर में जल ठहरता ही नहीं और विना जल के धार्मिक जनता के स्नान, सन्ध्या, तर्पणादि कार्य में भीषण वाधा पड़ रही है। क्षीरसागरशायी नारायण की शोभा इसीमें है कि उनका निवास-स्थान सरोवर क्षीर-धवल नीर की चंचल लहरों से लहराता रहे।'

आपने आगे कहा : 'और महाराज, लज्जा की वात यह है कि इतनी वड़ी हिन्दू-जाति अपने सरोवर में जल भरने के लिए नहर भी नहीं ला पा रही है। मुट्ठीभर सिखों ने अपना स्वर्ण-मन्दिर कैसा सुन्दर सजाया है ! उनका सरोवर निर्मल वारि की वीचियों से अठखेलियाँ खेल रहा है। सुना है, आरम्भ में उस सरोवर में भी नहर लाने का श्रेय आपके ही उदासीन-सम्प्रदाय के एक सन्त निर्वाण प्रीतमदासजी को है। मुझे आशा नहीं, दृढ़ विश्वास है कि आपके द्वारा नहर-निर्माण का हमारा यह मनोरथ सफल होकर रहेगा।'

"फिर माताजी, क्या किया जाय ?'—गुरु महाराज का प्रश्न था।

'महाराज !'—धन्वन्त कौर ने कहा—'आपके व्याख्यान में तीस हजार से कम जनता नहीं जुटती। प्रत्येक व्यक्ति पाँच-पाँच रुपये भी दे और कुछ धनी-मानी उदारता से विशेष सहायता करें, फिर भी कमी पड़े तो बाजार से कुछ इकट्ठा कर लिया जाय। आपकी दृष्टि हो जाय तो निःसन्देह तीन लाख रुपये दिनों नहीं, घण्टों में इकट्ठा हो जायँगे।'

'माताजी, मैं अपने लिए या किसी संस्था के लिए जनता से कभी कोई निवेदन नहीं करता। लोग अपनी श्रद्धा से चाहे जितना दे दें, मैं किसी पर कभी किसी तरह का दवाव नहीं डालता और न वह मुझे पसन्द ही है।'—गुरु महाराज आगे कह रहे थे—'और माताजी, गुरुदेव की आज्ञा से मेरा अयाचित-व्रत है। काशी में उदासीन संस्कृत विद्यालय मेरे तत्त्वावधान में चलता है, जिसके द्वारा सनातन-धर्म के प्रचारक सुयोग्य विद्वान् तैयार होते हैं। स्वयं मैं भी वहाँ पढ़ा हूँ। उस विद्यालय की भी सहायता के निमित्त मैंने कभी किसीसे चर्चा तक नहीं को। मेरा विश्वास है कि जो कार्य प्रभु करना चाहते हैं, उसकी योजना वे स्वयं कर देते हैं। फिर मुझे आवश्यकता ही क्या ? व्यर्थ चिन्ता क्यों की जाय ? फिर, समय भी कम है। हरिद्वार-कुम्भ में जाना है। वहाँ अन्न-क्षेत्र भी चालू हो गया है। छावनी वन चुकी है। मेरे न पहुँचने से प्रवचन का क्रम रुका हुआ है। जनता प्रतीक्षा कर रही है कि मैं कब पहुँच रहा हूँ।'

बुआजी ने कहा : 'महाराज, आपके चरणों में रहकर मैंने सीखा है कि निःसन्देह प्रभु कोई भी कार्य स्वयं पूरा कर लेते हैं। फिर भी वे ऐसे नटखट हैं कि स्वयं गुप्त रहते और दूसरे को निमित्त वना देते हैं। गीता में वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि निःसन्देह सभी कार्यों का कर्ता-धर्ता मैं हूँ, पर श्रेय देने के लिए भक्त को निमित्त वना देता हूँ। भगवन्, अपना किया दूसरों पर मढ़ना उनकी पुरानी आदत है। स्वयं दही-माखन चट कर जाते और शेष वानरों के मुँह पर पोत देते, ताकि लोग समझें कि यह वानरों का ही खाया हुआ है। फिर, यह भी वात है कि जव तक कार्यार्थी अपना प्रयत्न नहीं करता, वे उसे मदद नहीं दिया करते। ग्वालों ने अपनी-अपनी लकड़ी गोवर्धन उठाने में लगायी, तब कहीं प्रभु ने अपनी कनिष्ठिका अँगुली पर उसे धारण कर लिया।'

पुनः उन्होंने कहा : 'महाराज, मैं भावावेश में बहुत कुछ बोल गयी। आपसे ही सीखकर आपको सिखाने की धृष्टता नहीं करना चाहती। सच कहूँ, अपने को कितना ही छिपाने का यत्न कीजिये, हमारी तो दृढ़ धारणा है कि सन्त भगवान् के मूर्तरूप होते हैं। प्रत्यक्ष प्रभु को छोड़ हम अप्रत्यक्ष प्रभु को खोजने क्यों जायँ ? जब मन्दिरों में स्थापित स्थावर मूर्ति से असंख्य भक्तों की मनःकामनाएँ पूरी होती हैं, तो जंगम-मूर्ति आप सन्त द्वारा यह अतिलघु नहर-निर्माण-कार्य क्यों न पूरा होगा ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'माताजी, यदि आप नहर-निर्माण का दृढ़ संकल्प ही रखती हैं, तो पचास हजार का चेक काटकर मुझे दे दीजिये। फिर भक्त खुशी-

राम द्वारा जनता से अपील कर दी जायगी। सम्भव है, भगवान् की ऐसी ही इच्छा हो और इसी तरह वह यह कार्य पूरा करवा ले। आपकी उदारता से स्पष्ट हो जायगा कि प्रभु इस कार्य को पूरा करना चाहते हैं। साथी सन्तों को भय है कि यदि कहीं पैसा इकट्ठा न हुआ, तो हँसी होगी। नास्तिक तरह-तरह की बातें कहेंगे और मेरा अयाचित-व्रत भी खण्डित हो जायगा। आपकी ओर से पचास हजार की सहायता मिलने पर हमारे साथी सन्त भी उत्साहित हो उठेंगे। सम्भव है, फिर शहर के धनी-मानी लोग भी इसके लिए आगे बढ़ें।'

उदार-हृदया माता धन्वन्त कौर साथ में चेक-बुक ले आयी थीं। 'जो आज्ञा' कहकर तुरन्त ५०,०००) का चेक काट उन्होंने श्रीचरणों पर धर दिया और गुरु महाराज का अभिवादन कर चली गयीं।

नित्य-नियमानुसार प्रातः सभा-मण्डप हजारों की भीड़ से भरा हुआ था। उन दिनों निर्जल सरोवर में ही शामियाना तानकर व्याख्यान-मञ्च बनाया जाता था। बहुत-से लोग सरोवर की सीढ़ियों पर ही बैठ जाते। कुछ मध्य भाग में बैठते। महाराज की कथा-माधुरी से आकृष्ट हो अमृतसर के भावुक रसिक मधु-पानार्थ मधुकरों-से टूट पड़ते।

गुरु महाराज ने आते ही भक्त खुशीराम को बुलाकर कान में कुछ बताया। उत्सुकतावश जनता यह सारा एकटक देख रही थी।

कुछ ही देर बाद सभा-मञ्च पर खड़े होकर खुशीराम कहने लगे: 'समुपस्थित भक्त-जनो! स्वामीजी महाराज की इच्छा है कि आपका यह सरोवर जलाप्लावित हो जाय। इसके लिए शीघ्र-से-शीघ्र नवीन नहर तैयार हो। पाँच वर्ष पूर्व ही ५००) की थैली प्रसादरूप में भेंट करते हुए उन्होंने इसका श्रीगणेश भी कर दिया था। कल माता धन्वन्त कौर ने भी विपुल धनराशि देने का आश्वासन दिया है। महाराज चाहते हैं कि उपस्थित श्रोतागण कम-से-कम एक-एक रुपया अवश्य दें। सम्भव है, आज बहुत-से लोग पैसे साथ न लाये हों। कल प्रत्येक व्यक्ति एक-एक रुपया अवश्य लाये। कुछ लोग अपने साथी धनिकों को विशेष सहायता के लिए भी प्रोत्साहित करें। माता धन्वन्त कौर का यह आश्वासन उन्हें निश्चय ही प्रेरणाप्रद होगा।'

खुशीराम भगत ने आगे कहा: 'महाराज ने मुझे आप लोगों को यह भी बताने के लिए कहा है कि धनिकों का लाख और गरीब भाई का एक रुपया शास्त्र की दृष्टि में बराबर है। उस दिन आप लोगों ने सोने के नेवले की बात सुनी ही है। धर्मराज के अब्जों दान की तुलना में गरीब का सेरभर सत्तू का

दान अधिक महत्त्व का प्रमाणित हुआ।[1] 'दान वित्त समान' यह पंजाबी कहावत प्रसिद्ध ही है।'

भक्त खुशीराम की सूचना सुनते ही उपस्थित जनता में विलक्षण उत्साह छा गया। सनातनधर्म-विरोधी कानाफूसी करने लगे कि 'इस साधु ने अब चन्दे की माँग पेश कर दी। देखना, कल सन्त की कथा में कोई नहीं आयेगा।'

एक घण्टे में तीन लाख का सामूहिक दान

दूसरे दिन! समय से पूर्व ही सरोवर जन-समुद्र से ठसाठस भर गया। चारों

---

१. महाभारत का यह प्रसंग है। अश्वमेध-यज्ञ के अन्त में महाराज युधिष्ठिर अवभृथ-स्नान कर चुके थे कि उस स्नात जल में एक नकुल (नेवला), जन्तु आकर लोटने लगा। उसका आधा भाग सोने का था। लोग और स्वयं धर्मराज भी उसका वहाँ बार-बार लोटना देखकर आश्चर्य करने लगे। उन्हें इसके रहस्य का पता ही नहीं चल रहा था।

यह देख नेवले ने मनुष्य-वाणी में कहा : 'राजन्! मैं यहाँ इसलिए लोट रहा था कि मेरा शेष आधा शरीर भी सोने का हो जाय, कारण यह बहुत बड़े धर्म का जल है। मेरा आधा शरीर ऐसे ही धर्म-जल के स्पर्श से सोने का बन गया। किन्तु देखता हूँ कि बार-बार लोटने पर भी मेरा शेष शरीर सोने का नहीं बन पा रहा है।'

लोगों ने पूछा : 'वह कौन-सा जल था, जिसके स्पर्श से तुम्हारा यह आधा शरीर स्वर्णमय बना?'

नेवले ने कहा : 'यह लम्बी कहानी है, फिर भी संक्षेप में बताता हूँ—एक अत्यन्त गरीब तपस्वी ब्राह्मण-परिवार था। मध्याह्न समय उसके यहाँ एक अतिथि पहुँचा। उस दिन उसके घर में केवल सेरभर जौ का सत्तू शेष था। इस बीच ब्राह्मणी उस सत्तू का गोला बना समान चार भाग कर एक थाल में ले आयी, जो ब्राह्मण-दम्पती, उनके पुत्र और स्नुषा (पतोहू) का उस दिन का आहार था।

गृहस्थ ब्राह्मण ने बुभुक्षित अतिथि का स्वागत कर अपना भाग उसे समर्पित कर दिया। अतिथि की उतने से क्षुधा शान्त न हुई। क्रमशः ब्राह्मणी, उनके पुत्र और स्नुषा तक ने अपने-अपने भाग दे डाले। तब कहीं अतिथिदेव तृप्त हुए। उन्हें हाथ धुलाते हुए ब्राह्मण-परिवार के आनन्द का ठिकाना न रहा।

उसी समय मैं उधर से जा रहा था कि मेरा आधा शरीर अतिथि के उस हस्त-प्रक्षालन जल से भीग गया और सोने का बन गया।'

ओर सिर ही सिर दिखायी पड़ते थे। हरएक चाँदी का सिक्का लिये हुए था। कुछ के हाथ में नोट भी दीख रहे थे।

लोगों की भावना और ही बन गयी थी। जब एक ही रुपया देना है, तो अकेले क्यों यह पुण्य लूटा जाय? परिवार के अन्य सदस्यों को क्यों इससे वंचित रखा जाय? इसलिए आज कथा सुनने के लक्ष्य से नहीं, महादान देने के लक्ष्य से पति, पत्नी, बच्चे, भाई, बहन, सभी एक साथ पहुँच गये थे। आज जनता हजारों नहीं, लाखों की तादाद में थी।

सागर-सा जनसमाज सरोवर में तरंगित होता देख सनातन-धर्म के विरोधियों को हतप्रभ होना पड़ा। वे सोचने लगे, साधु में ऐसा कौन-सा जादू है कि लोग दान देने को इतने उतावले हो रहे हैं!

सभी मञ्च पर आ-आकर दान देते तो सभा में होहल्ला मच जाता। वहाँ पहुँचने के साथ ही गुरु महाराज ने भक्त खुशीराम द्वारा घोषित करवा दिया कि 'कोई भी मञ्च पर आने का कष्ट न करे। हमारे स्वयंसेवक और स्वयंसेविकाएँ आपके पास आ रही हैं। आप निःसंकोच इनकी झोलियों में अपना दान डालिये।'

एक घण्टे के भीतर सबके दानों से झोलियाँ भर गयीं। झोली भरते ही तत्काल मञ्च पर लायी जाती और कमेटी की ओर के नियुक्त भवतराम निरंजन-दास आदि साथ-साथ उनकी गिनती भी करते जाते।

कुछ धनी-मानी भी तैयार हो गये थे। वे मञ्च पर आकर आपके सन्निकट घोषित करते कि 'मैं एक हजार, दो हजार या पाँच हजार दे रहा हूँ।'

देखते-देखते तीन लाख रुपये इकट्ठे हो गये और भक्त खुशीराम ने मञ्च पर से इसकी घोषणा भी कर दी। उन्होंने यह भी कहा कि 'अब पाँच मिनट गुरु महाराज के श्रीमुख से दान की महिमा भी श्रवण कर लें।'

अपना संक्षिप्त वक्तव्य उपस्थित करते हुए गुरु महाराज ने केवल एक ही श्लोक कहा :

'गृह्णात्येष रिपोः शिरः प्रथमतो गृह्णात्ययं वाजिनं
धृत्वा चर्मधनुः प्रयाति सततं संग्रामभूमावपि।
द्यूतं स्तेयमथ स्त्रियं च शपथं जानाति नायं करो
दाने कातरतां विलोक्य विधिना शौचाधिकारी कृतः॥'

अर्थात् आपका यह बायाँ हाथ घोड़े की लगाम पकड़ उसे वश में करता है, रिपु की चोटी पकड़ता है, रणांगण में ढाल और धनुष लिये आगे बढ़ता है।

द्यूत आदि कुकर्मों से सदा दूर रहता है। फिर भी दान के समय कातरता, विमुखता दिखाता है, इसीलिए उसे प्रभु ने मलक्षालनकारी (भंगी) बना दिया है। आप दान में बायाँ हाथ न बनकर सदैव दाहिना हाथ बनें।'

दान की यह मार्मिक महिमा लोगों के अन्तर में दामिनी-सी घर कर गयी !

यह निरपेक्षता !

गुरु महाराज दो दिन और अमृतसर ठहरे। इन दो दिनों में भी सभा में लोग दान के लिए बार-बार चेक, नोट, रुपये निकालते। महाराजश्री को खुशीराम द्वारा बार-बार सबको सूचित करना पड़ता कि 'दान के लिए वही एक दिन था। अब कोई दान नहीं लिया जायगा। आप लोगों को धन्यवाद है कि हमारी माँग आपने एक घण्टे के भीतर पूरी कर दी। अधिक लोभ करना सन्तों के लिए शोभा नहीं देता। अब आप कुम्भ-पर्व की महिमा सुनें और हरिद्वार पहुँचकर कुम्भ का स्नान कर जीवन कृतार्थ करें।'

गुरु महाराज ने बुआजी (माता धन्वंत कौर) का चेक वापस करवा दिया। दौड़ी हुई वे महाराज के निकट आयीं और दीन स्वर से कहने लगीं : 'महाराज, क्या इस पवित्र यज्ञ में दासी को भाग लेने से वंचित रखा जायगा ?'

'नहीं बुआजी, आप इस कोष में ५००) रुपये दे दें।'

लटकाये हुए मुख से वे बोलीं : 'यह तो बहुत ही कम है महाराज !'

गुरु महाराज ने उनकी भावना का आदर करते हुए कहा : 'अच्छा तो दो हजार दे दीजिये। इसे मेरा आदेश मान मौन हो जायँ। इससे अधिक आपसे नहीं लिया जायगा। आवश्यकता पड़ने पर हमारा धन आपके पास सुरक्षित है ही।'

बुआजी ने वहीं दो हजार का नया चेक काटकर चरणों पर समर्पित कर दिया। भक्त खुशीराम ने उसे कमेटी के हवाले कर दिया।

इसी अवसर पर सिन्ध-सक्खर से हरिद्वार जाते हुए योगिराज वनखण्डी-सिंहासनासीन श्री हरिनामदासजी उदासीन (महन्त साधुबेला) महाराज अमृतसर पधारे। जनता की प्रार्थना पर वे एक दिन के लिए रुक गये। उनका आगमन सोने में सुगन्धि का काम कर गया ! नहर-निर्माण के चन्दे की घटना सुनकर वे अति प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि 'यह सब आपके ही दिव्य तप का सुफल है।' गुरुदेव ने उत्तर में कहा कि 'यह सब आपका आशीर्वाद है।'

गुरु महाराज अमृतसर से हरिद्वार-कुम्भ के लिए चल पड़े। जनता हजारों की संख्या में आपको विदाई देने के लिए पहुँची। बहुत-सी जनता तो अति प्रेम-वश हरिद्वार-कुम्भ के लिए आपके साथ हो ली। ●

१०

लोक-संग्रह का तृतीय चरण

[संवत् १९९५ से १९९७ तक]

महापुरुषों के चरित्र अतर्क्य होते हैं। दीखते हैं साधारण जनों की तरह, पर सदैव उनकी सारी क्रियाएँ हुआ करती हैं सदसद्-विवेक से अनुप्राणित ! वे मानव को अन्तिम मञ्जिल का निरापद राज-मार्ग दिखाती हैं। किसी कार्य के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा 'आसक्ति' नहीं, संसार के लिए नैतिक-शिक्षा का पाठ होता है। वह बताती है :

'अनारम्भो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
आरम्भस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥'

अर्थात् पहले तो कोई काम आरम्भ ही न करो, तभी प्रथम श्रेणी के बुद्धिमान् कहे जाओगे। फिर, यदि आरम्भ कर ही दिया तो उसे पूरा करके छोड़ो। तभी तुम द्वितीय श्रेणी के बुद्धिमान् गिने जाओगे। किन्तु यदि बीच में काम छोड़ बैठे, तो बुद्धिमानों की श्रेणी से निकाल बाहर कर दिये जाओगे। फिर कहीं के न रहोगे।

दार्शनिक दृष्टि से भी यह बात ठीक जँचती है। क्रियाशील बनो ही नहीं, निष्क्रिय हो स्व-स्वरूप में स्थित रहो। तभी 'बुद्धिमतां वरिष्ठम्' माने जाओगे, तुम्हारी प्रज्ञा स्थिर रहेगी। किन्तु यदि क्रियाशील बने और प्रपञ्च में पड़े, तो व्यावहारिक मर्यादा के अनुसार उसे पूरा करके छोड़ो। नहीं तो 'हित्वा पापमवाप्स्यसि'—बीच में उसे छोड़ देने पर पापी बनोगे, यह भगवान् का महान् शाप है। फिर तुम्हें कोई बुद्धिमान् न कहेगा। इसीलिए हमें सन्तों का चरित्र श्रद्धापूर्वक गम्भीरता के साथ देखना चाहिए और उससे मार्ग-दर्शन पाने का यत्न करना चाहिए।

करुणावतार गुरु महाराज का सुकोमल अन्तःकरण पीड़ित धार्मिकों के क्लेश-ताप से द्रवित हो दुर्ग्याना-सरोवर में नहर-निर्माण के लिए सक्रिय हो उठा। उन्होंने पाँच वर्ष के बाद लौटने पर उसके निर्माण का प्रमुख साधन अर्थ-संग्रह करवाकर स्वयं उससे अलग हो हरिद्वार की राह पकड़ी और कुम्भ आदि के

अपने धर्म-प्रचार-कार्य में जुट गये। महात्माओं की आसक्ति-शून्यता का यह स्पष्ट निदर्शन हैं। फिर भी उनकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि जिस कार्य के लिए क्रियाशील हुए, उसे बीच में न छोड़ अन्त तक पहुँचाने में कोई कोर-कसर न होने दी—पूरा करके ही दम लिया। यह कैसे ? तो आइये, हमारे साथ लोक-संग्रह के इस तृतीय चरण में प्रवेश कीजिये।

हरिद्वार-कुम्भ

संवत् १९९५ (सन् १९३८) में हरिद्वार का कुम्भ-पर्व पड़ रहा था। अमृतसर के दुर्ग्याना-सरोवर में पानी लाने के निमित्त नहर-निर्माणार्थ कमेटी को तीन लाख का धन-संग्रह कराकर गुरु महाराज कुम्भ के लिए हरिद्वार पहुँचे। अमृतसर की बहुत-सी जनता भी साथ हो ली। वह दुहरा लाभ सोच रही थी, एक गंगा-स्नान और दूसरा आपकी सुधामयी वचन-सुरसरि का पान। हरिद्वार में शानदार स्वागत हुआ। विराट् जुलूस निकाला गया और उसके साथ आपने अपने शिविर में प्रवेश किया।

हरिद्वार-कुम्भ के अवसर पर आपके प्रवचनों का आनन्द सचमुच अवर्णनीय था। इतने सारे शिविर होते हुए भी जन-समुद्र इधर ही उमड़ पड़ता था।

अधिकारी साधक ही दीक्षा का पात्र

अमृतसर से साथ आनेवाली जनता में चिमनलाल चुन्नीलाल खन्ना नामक एक व्यक्ति भी था। वह महीनेभर तक हरिद्वार में गुरु महाराज के साथ रहा। पलभर उनसे अलग होना न चाहता था। रात्रि में जब उसे अपनी कुटिया में जाने को कहा जाता, तो गिड़गिड़ाकर कहने लगता : 'मुझे यहीं बैठने दें, कुछ नहीं बोलूँगा।'

खन्ना की माता पुत्र के ये वैराग्य-चिह्न देख डर गयी। सोचने लगी कि कहीं यह साधु न बन जाय। गुरु महाराज माता की ममता ताड़ गये और युवक को किसी तरह समझा-बुझाकर माता के साथ अमृतसर लौटा दिया। आप स्वभावतः घरवालों की अनुमति के बिना और किसी अनधिकारी को साधु-दीक्षा देने के सर्वथा विरुद्ध हैं। कारण, वास्तविक उपरति के बिना क्षणिक और भावुकता-भावित वैराग्य में प्रमाद का भारी भय रहता है।

उन दिनों कितने ही युवक-युवतियाँ, जो वास्तव में अधिकारी थे, आपके उपदेश के प्रभाव और तपोयोग के आकर्षण से वस्तुतः विरक्त बन संसार से पृथक् हो गये। इनमें कई उत्तर-काशी की ओर चले गये, तो कई वृन्दावन आदि हरि के धामों में जा बसे। इनमें वृन्दावन-निवासी पुरुषोत्तम मुनि विशेष उल्लेख्य हैं,

जिनका पूर्वाश्रम का नाम 'रामनाथ' था और जो आबालब्रह्मचारी हैं। युवतियों में विशेष उल्लेख्या 'धर्मवती' हैं, जो उत्तर-काशी में कभी से स्वरूप-चिन्तन में निरत हैं। उनके चित्त में सांसारिक पदार्थ-जात के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं। तितिक्षा और तपस्या की तो वे साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं।

संवत् १९९५ की वर्षप्रतिपद् का स्नान हरिद्वार में ही हुआ। इसी वर्ष रोहड़ी में भयंकर अग्निकाण्ड हुआ था।

मोटर-कम्पनीवाले रायबहादुर श्री नारायणदास ने कैम्प-सेवा के लिए मोटर दी थी। हरिद्वार का कुम्भ-पर्व पूरा कर गुरु महाराज उसी मोटर से देहरादून चले गये और मोटर वापस लौट आयी।

इधर श्री स्वामी सर्वानन्दजी मण्डली लेकर पटियाला पहुँचे। वहाँ उनके प्रवचन होते रहे। कुछ दिनों पश्चात् गुरु महाराज भी पटियाला पहुँच गये। तपस्वी श्री पूर्णदासजी के आग्रह पर आप वहाँ के धिंगड़ गाँव में भी गये। वहाँ ग्रामीणों ने सत्संग से विशेष लाभ उठाया।

भक्तवर सेठ नारायणदास की प्रार्थना पर गुरु महाराज रामपुर फूल होते हुए भटिण्डा पहुँचे। वहाँ कुछ दिन ठहरकर रावलपिण्डी आये। रावलपिण्डी के रामबाग में मार्मिक प्रवचन होते रहे। हजारों की संख्या में जनता उन्हें सुनने के लिए जुटती। वहाँ आपका निवास बेलीराम की कोठी में था। उनके पुत्र श्री मनोहरलाल बड़ी श्रद्धा-भक्ति से सेवा किया करते थे।

अधिक दिन तो आप कहीं एक जगह ठहरते ही नहीं। परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी के आदेशानुसार 'परिव्राजक' शब्द को सार्थक करते हुए धार्मिक-आध्यात्मिक प्रवचन द्वारा आपका जन-कल्याण का पुनीत कार्य अखण्ड चलता ही रहता है। छोटे-छोटे ग्रामों में भी पहुँचकर आप ग्रामीण जनता को दर्शन और सत्संग का अनुपम लाभ दिया करते हैं।

रावलपिण्डी से फत्तेजंग होते हुए गुरु महाराज लाहौर पधारे। वहाँ सरदार शार्दूलसिंह की कोठी में ठहरे। महन्त वचनदासजी (चवच्चा साहब) ने सारी व्यवस्था की। आपके साथ ४० सन्तों की मण्डली थी। यहाँ के रईस भाई मनोहरलालजी के प्रबन्ध से उनके मन्दिर नन्दगोपाल में और दरवाजा शाहं आलमी के बाहर आपके प्रवचन होते रहे। उन दिनों 'डेली हेराल्ड' के मालिक लाला बिशनदास ने अपने दैनिक पत्र में आपके प्रवचन प्रकाशित होते रहने की व्यवस्था करवा दी थी।

लाहौर से गुरु महाराज पुनः अमृतसर पधारे और वहाँ धर्म-प्रचार चलता रहा। प्रथम श्री सर्वानन्दजी गीता पर प्रवचन करते और पश्चात् आपका

प्रवचन होता। जीवात्मा, परलोक-गमन आदि अनेक शास्त्रीय विषयों पर मार्मिक प्रवचन हुए। नित्य १०-१५ हजार की जनता प्रवचन में भाग लेती।

सन् १९३९ (संवत् १९९५) की पहली जनवरी को गुरु महाराज अमृतसर से लुधियाना आये। वहाँ सीताराम-बाग में सरदार गुरुदयाल सिंह थापर के यहाँ ठहरे। कर्मचन्द थापर के अनुज राजचन्द्र थापर मण्डलीसहित आपको साग्रह अमृतसर से यहाँ लिवा लाये। लाहौर में ही वे आपके प्रवचनों से प्रभावित हो आर्यसमाजी विचार त्याग कट्टर सनातनधर्मी बन गये थे। अन्त में आपसे दीक्षित भी हुए। थापरों के नौघरा मुहल्ले में आपके प्रवचन होते रहे।

लुधियाना से गुरु महाराज कार्यवश सिन्ध चले गये। किन्तु श्री सर्वानन्दजी मण्डलीसहित वहीं रहकर प्रवचन करते रहे। महावारुणी-पर्व पर वे मण्डली के साथ स्नानार्थ हरिद्वार चले गये। संवत् १९९६ की वर्षप्रतिपद् का स्नान भी वहीं हुआ।

पुनः जनता की प्रार्थना पर श्री स्वामी सर्वानन्दजी पटियाला आये। इधर गुरु महाराज भी अपना काम पूरा कर सिन्ध से पटियाला पहुँच गये। कुछ दिन यहाँ ठहरकर सनातनधर्म-सभा के आमन्त्रण पर गुरु महाराज शिमला गये। वहाँ कितने ही लोगों ने आपके सत्संग से अपना उद्धार किया।

भक्त वकील श्री फूलशंकर देसाई भी शिमला पहुँच गये और उन्होंने गुरु महाराज से अहमदाबाद में चातुर्मास्य करने की प्रार्थना की। तदनुसार आप शिमला से अहमदाबाद के लिए रवाना हुए।

मार्ग में सोलन में सनातनधर्म-सभा में विश्राम हुआ। सोलन-नरेश श्री दुर्गा-सिंह ने शिमला में ही गुरु महाराज से सोलन ठहरने का वचन ले लिया था। उन्होंने आपका भव्य आतिथ्य किया और सभा ने स्वागत में विराट् जुलूस निकाला। महाराज सोलन ने आपको भेंट दी, पर आपने यह कहते हुए कि 'हमें इसकी आवश्यकता ही क्या है? मार्ग-व्यय आदि का सारा प्रबन्ध वकील साहब ने कर ही दिया है, हर तरह की सेवा के लिए वे साथ हैं ही', उसे लौटा दिया।

अहमदाबाद में गुरु महाराज सेठ धीरजलाल के 'व्रजधाम' बँगले में ठहरे। वहीं चातुर्मास्य हुआ। प्रतिदिन प्रातः गीता-स्वाध्याय और सायं श्री कृष्णलीला-सम्बन्धी प्रवचन होते रहे।[1] जनता पिछले चातुर्मास्य के लाभ से सुपरिचित थी।

---

१. इन प्रवचनों में से ३० प्रवचन गत वर्ष 'सद्गुरु स्वामी गंगेश्वरानन्द के लेख तथा उपदेश' पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

अतः इस वार उसने पूरे उत्साह और तैयारी के साथ आपके सहवास का लाभ उठाया। 'डेली हेराल्ड' के प्रतिनिधि श्री बलदेव शास्त्री आपके साथ थे। वे सभी प्रवचन उक्त पत्र में प्रकाशित होने के लिए भेजते रहते। इससे भी अच्छा प्रचार हो गया।

चातुर्मास्य पूर्ण कर गुरु महाराज सेठ रमणलाल दातार की प्रार्थना पर पेटलाद आये। वहाँ से सूरत होते हुए बम्बई पधारे। सर्वानन्दजी मण्डलीसहित पेटलाद में रहकर प्रवचन करते रहे।

काशी में श्रौतमुनि-निवास का निर्माण

गुरु महाराज बम्बई से काशी पधारे। पहली जनवरी सन् १९४० को वहाँ मत्स्योदरी (मच्छोदरी) तीर्थ पर नव-निर्मित विशाल भवन का गृह-प्रवेश हुआ और उसका (मकान नं० ९४/१, ९५/१) 'श्रौतमुनि-निवास' नामकरण हुआ। इस अवसर पर विशिष्ट विद्वत्सभा का आयोजन हुआ, जिसमें विद्वानों का दक्षिणा, वस्त्र आदि से पूजन-सत्कार हुआ। ब्राह्मणों, विद्यार्थियों एवं सन्तों को वस्त्र-दक्षिणाएँ दी गयीं और समष्टि-भण्डारा हुआ। आप वहाँ १० दिन ठहरे।

काशी के प्रमुख विद्वान् महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालुजी, महामहोपाध्याय श्री बालकृष्ण मिश्र, श्री वामाचरण भट्टाचार्य, पण्डित उग्रानन्द झा, पण्डित रघुनाथ शास्त्री आदि विद्वानों के साथ शास्त्र-चर्चा भी हुई। संस्कृत-साहित्य के उद्धार की दृष्टि से उनसे आपने कठिन संस्कृत-ग्रन्थों की सरल टीका निर्माण करने का अनुरोध किया। पण्डितों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

काशी में आपका यह आश्रम इसी लक्ष्य से निर्मित किया गया कि वहाँ रहकर संस्कृत के कठिन निवन्धों के सरल संस्कृत व्याख्यान एवं हिन्दी-अनुवाद किये जायँ। किन्तु धर्म-प्रचार-कार्य में विशेष व्यस्त होने से आपका वहाँ रहना संभव न हो सका, जिससे यह संकल्प अब तक पूर्ण नहीं हो पाया। अतः यह मकान उदासीन संस्कृत विद्यालय को दे दिया गया कि मकान के किराये की आय विद्यालय के संचालन में लगायी जाय। विद्यालय के प्रथम कुलपति श्री स्वामी पूर्णानन्दजी सन् १९३२ के कुम्भ-पर्व पर नासिक में, देहावसान के समय, विद्यालय-संचालन का भार आप पर सौंप गये थे।

काशी से गुरु महाराज माघ मास में प्रयाग आये। कुछ दिन वहाँ ठहरकर और त्रिवेणी-स्नान कर आप दिल्ली के बिड़ला-मन्दिर आये। पेटलाद से रतलाम होते हुए श्री सर्वानन्दजी भी मण्डलीसहित दिल्ली पहुँच गये। वहाँ आपके 'प्रजापति की दुहिता कौन ?' इस विषय पर प्रवचन होते रहे।

चवच्चा साहव, लाहौर के कीर्तन-सम्मेलन के साग्रह निमन्त्रण पर गुरु महाराज दिल्ली से श्री हरिप्रकाशजी के साथ लाहौर पहुँचे। यह सम्मेलन सम्पन्न कर तीन दिनों वाद आप पुनः दिल्ली लौट आये।

वृन्दावन-यात्रा

संवत् १९९६ की फाल्गुन कृष्णा दशमी को मण्डलीसहित श्री सर्वानन्दजी के साथ गुरु महाराज वृन्दावन-यात्रा के लक्ष्य से मथुरा आये और ब्रह्माण्डघाट-स्थित सेठ गोपीराम रूइया के आश्रम में निवास किया। शिवरात्रि वहीं हुई। होली के अवसर पर वृन्दावन पधारे और श्री बाँकेविहारीजी की झाँकी की। फिर मथुरा में श्री मुखीराम महन्त के परमहंस-आश्रम में ठहरे। श्री स्वामी हरिनामदासजी, उनके गुरु-वन्धु श्री कृष्णानन्दजी तथा अन्य माथुर पण्डित-मण्डली एवं जनता के विशेष आग्रह पर विश्रामघाट, यमुना के पुलिन (रेती) पर भगवान् श्रीकृष्ण की ललित-लीलाओं पर आपके सुमधुर प्रवचन हुए। विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के एक शास्त्रीजी आप द्वारा श्रीकृष्ण-लीलाओं का वेद-मन्त्रों से समर्थन सुनकर गद्‌गद हो उठे। संवत् १९९७ की वर्षप्रतिपद् का स्नान विश्रामघाट, यमुना में हुआ और भगवान् द्वारकाधीश के दर्शन हुए।

मथुरा से गुरु महाराज गोशाला के उत्सव के लिए खैरपुर टामावाली गये। वहाँ प्राचीन मित्र निराकारी-सम्प्रदाय के मुख्य पण्डित श्री मंगलदेवजी से भेंट हुई। वे वीतराग, सरल-स्वभाव एवं न्याय, व्याकरण, वेदान्तादि शास्त्रों के उच्च कोटि के विद्वान् थे।

वहाँ से गुरु महाराज वहावलपुर होते हुए मुलतान पधारे। वहाँ रायसाहव कर्मनारायण वकील के आग्रह पर उनकी कोठी में ठहरे। सपरिवार उन्होंने आपसे दीक्षा ली। यहाँ प्रवचनों का भी विशेष आयोजन रहा।

पंजाब में उन दिनों गुरु महाराज के पाँच प्रमुख प्रचार-केन्द्र थे : १. लाहौर, २. अमृतसर, ३. गुजरानवाला, ४. रावलपिण्डी और ५. मुलतान। कभी-कभी लुधियाना, पटियाला, भटिण्डा और वहावलपुर आदि नगरों में भी आपके दर्शन, प्रवचन हुआ करते।

वहावलपुर से गुरु महाराज हरिद्वार आये। वहाँ श्री सर्वानन्दजी मथुरा से मण्डलीसहित पहले ही पहुँच गये थे। कुछ दिन हरिद्वार ठहरकर विश्राम के लक्ष्य से आप मसूरी चले गये, जहाँ महन्त गुरु रामराय, देहरादून की कोठी में ठहरे। इधर श्री सर्वानन्दजी हरिद्वार से मण्डलीसहित अहमदावाद चले गये।

गुरु महाराज मसूरी से पुनः हरिद्वार आये। कारण वर्तमान युग के संस्कृत-हिन्दी के प्रधानतम लेखक, सर्वशास्त्र-निष्णात, दर्शन-वृत्तिकार उदासीन वैदिक मुनि स्वामी श्री हरिप्रसादजी का स्वर्गवास हो गया था। आपने वहाँ आयोजित उनकी विराट् शोक-सभा का सभापतित्व किया।

गुरु महाराज लोक-कल्याणार्थ प्रायः सदैव विभिन्न देशों, ग्रामों में परिभ्रमण करते हुए जनता को अपने दर्शन एवं सत्संग का विपुल लाभ देते रहते। इससे आपका सुकोमल शरीर कभी-कभी शिथिल हो उठता। अतएव बीच-बीच में आप विश्रामार्थ एकान्त में चले जाते।

शिमला में

हरिद्वार से गुरु महाराज शिमला पधारे। स्वास्थ्य-सुधार के अतिरिक्त दुर्ग्याना नहर-निर्माण के बारे में एक-दो प्रमुख अधिकारियों से मिलना भी इस यात्रा का विशेष लक्ष्य रहा। पाठक पुनः एक वार दुर्ग्याना नहर-निर्माण की गतिविधि का सिंहावलोकन करने चलें, कारण यह नहर और मन्दिर सनातनधर्मी जनता के स्वाभिमान और सम्मान का प्रमुख श्रद्धा-विन्दु था, जिसके निर्माण ने गुरु महाराज के चरित्र के करीब दो दशक व्याप्त कर रखे हैं।

हाँ, तो सन् १९३८ में संचित धनराशि द्वारा अमृतसर के दुर्ग्याना-सरोवर में जल लाने के लिए नहर का निर्माण तो आरम्भ हुआ। किन्तु 'श्रेयांसि वहु विघ्नानि' उक्ति के अनुसार उसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं। प्रथम तो नहर को रेलवे लाइन के नीचे से गुजरने के लिए रेलवे-विभाग की स्वीकृत पाने में काफी विलम्ब हुआ। उसके बाद एक प्रतिष्ठित मुस्लिम व्यक्ति की कोठी के पास से उसे गुजरना था। वे सज्जन रास्ता देने से अड़ गये। इधर दुर्ग्याना-सरोवर के सन्निकट गोविन्दगढ़ किले की भूमि थी, जिस पर सेना का अधिकार था। द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो चुका था। दुर्ग्याना-कमेटी के सदस्य सैनिक अधिकारी से मिलने के लिए समय माँगते, तो वे यह कहकर टाल देते कि 'युद्ध में व्यस्त होने से हमें तनिक भी फुरसत नहीं।'

सिकन्दर हयात खाँ से मुलाकात

गुरु महाराज पीछे सन् १९३८ में खासकर लाहौर इसीलिए गये थे कि पंजाब के तत्कालीन मुख्यमन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ के प्रभाव से उपर्युक्त मुस्लिम-अफसर श्री मकबूल साहब को किसी तरह मनवा लें और उनकी कोठी के पास से नहर के लिए रास्ता निकाल लिया जाय। ये अफसर मुख्यमन्त्री के विशेष कृपा-पात्रों में थे। लाहौर में विशेष आने-जाने और रहने से वहाँ के कतिपय प्रभाव-

शाली उच्च व्यक्ति आपसे सुपरिचित हो गये थे। उन्हींके प्रयत्न से आप सर सिकन्दर हयात खाँ से मिले। खाँ साहव वड़े सज्जन-प्रकृति के थे। उनके सामने अमृतसर की हिन्दू जनता का शिष्ट-मण्डल, दुर्ग्याना-कमेटी की ओर से आपके सान्निध्य में मिला और उसने कहा :

'दुर्ग्याना-सरोवर में जल लाने के लिए हम लोग एक नहर बनवा रहे हैं। आपके परिचित एक सज्जन, जिनकी कोठी के पास से नहर गुजरती है, इसमें रुकावट डाल रहे हैं। आप पंजाव के भाग्य-विधाता हैं। पंजाव की सारी जनता का आप पर पूर्ण विश्वास है। अतः उन्हें समझाने की कृपा करें, ताकि वे इसमें कोई रुकावट न डालें। हम उन्हींके परामर्शानुसार नहर का मार्ग बनायेंगे, जिससे उनकी कोठी में मोटर आदि के आने-जाने में किसी प्रकार की असुविधा न हो।'

स्वर्गीय सिकन्दर हयात खाँ मान गये और उनके समझाने पर उक्त मुसलिम-वन्धु भी रास्ता देने के लिए तैयार हो गये। इस तरह एक संकट टला।

अव मिलिटरी की जमीन का प्रश्न शेष रहा। उसे सुलझाने के लिए इन दिनों गुरु महाराज को यहाँ आना पड़ा। वात यह है कि पीछे दिल्ली के बिड़ला-मन्दिर में एक सुपरिचित धर्मप्रेमी सैनिक अफसर आपसे मिले थे। आश्चर्य की वात है कि आपने जव उनसे कहा कि 'भक्तवर, किसी तरह दुर्ग्याना-सरोवर की नहर के लिए मिलिटरी-विभाग से रास्ते की स्वीकृति दिलवा दें', तो वे हँस पड़े। उसी समय उन्होंने कहा था : 'स्वामीजी महाराज, आप तो अन्तर्यामी हैं। दुर्ग्याना-कमेटी के वे कागजात सम्प्रति मेरे ही पास हैं, जिनमें मिलिटरी-विभाग से नहर के मार्ग की स्वीकृति माँगी गयी है। किन्तु मिलिटरी का काम वड़ा टेढ़ा होता है। मेरे अकेले के हाथ कुछ नहीं। आप शिमला पधारें और युक्ति से मिलि-टरी-अफसरों से शिष्ट-मण्डल की मुलाकात करवा दें। मैं भी प्रत्येक संभव प्रयत्न करूँगा। आशा है, प्रभु-कृपा से काम बन जायगा।'

शिमला में राजकीय अधिकारियों ने अपनी एक अध्यात्म-गोष्ठी बना रखी थी, जिसमें प्रति रविवार को सभी सम्प्रदाय के लोग जुटते और मानव-जीवन को ऊँचा उठाने के विषय में अध्यात्म-चर्चा किया करते। गुरु महाराज को यह बात ध्यान में आते देर न लगी कि यह स्थिति अधिकारी-वर्ग पर धार्मिक प्रभाव जमाने के सर्वथा अनुकूल है।

गुरु महाराज शिमला में वालुगंज के सन्निकट रायबहादुर नारायणदास की कोठी में निवास कर रहे थे। वहीं आपके नित्य प्रवचन होते। पता पाकर शिमला की जनता भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक संख्या में जुटने लगी।

दयामय की यह लीला !

इसी बीच आपको वृन्दावन से महात्मा गुरुप्रसाद ने सूचना दी कि 'यहाँ मनोनीत 'श्रौतमुनि-निवास' के लिए २१००) में जमीन का सौदा तय हो गया है। आप रुपये भेज दें और संभव हो तो जमीन के निरीक्षणार्थ पधारें।'

सूचना पाने के बाद आपके विचारों में परिवर्तन होने लगा। सहज विरक्त मन सोचने लगा : पहले जमीन के लिए रुपया इकट्ठा करो। फिर कमरे बनवाने के लिए भक्तों को प्रेरित करो। पश्चात् व्यवस्था के लिए योग्य मैनेजर ढूँढ़ो। अन्न-क्षेत्र के लिए भी कम-से-कम ५००) मासिक की व्यवस्था करवाओ। यह सारी झंझट क्यों ? अन्त में यही तय रहा कि गुरुप्रसाद को जमीन का सौदा रद्द कर देने के लिए लिख दिया जाय।

दिन में करीब-करीब मन ने यही निश्चय कर लिया। किन्तु रात्रि में बात एकदम पलट गयी। करीब १० बजे होंगे। गुरु महाराज शयनोन्मुख हो रहे थे कि उनके सामने एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया। इसे स्वप्न भी नहीं कहा जा सकता। कारण आप निद्रित नहीं थे। फिर जाग्रत् की बात भी तो नहीं कह सकते थे। कारण कुछ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ रहा था। एकाएक सारा वातावरण प्रकाशमय हो उठा। आवाज आने लगी :

'गंगेश्वर ! क्या आज तक इतनी सारी सभा, संस्था आदि का संघटन, कुम्भों पर अन्न-सत्र, शास्त्राभ्यास, देशाटन आदि कार्यों का कर्ता अपने को मानता है ? निश्चय ही भूल रहा है। लोगों को गीता के रहस्य प्रवचनों द्वारा सुनानेवाला स्वयं उन्हें भुलाये जा रहा है। क्या ग्यारहवें अध्याय का मेरा वचन याद नहीं कि सबका कर्ता-धर्ता मैं हूँ, केवल यश देने के लिए अपने भक्तों को निमित्त बनाता हूँ। क्या तू यश भी नहीं ले सकता ? काम तो सब मुझे ही करना है। तेरे रोके वह रुक नहीं सकता। मेरा संकल्प है, इसलिए पूरा होकर रहेगा।'

दिव्य वचन कानों में पड़ते ही गुरु महाराज स्तब्ध रह गये। मन ही मन कहने लगे : 'जी, ऐसा ही है तो कीजिये। मैं भला आपके कार्य में क्या बाधा डाल सकता हूँ ? किन्तु बार-बार यही विचार उठता है कि इन दिनों तो मैंने लोगों से भेंट-मुलाकात भी छोड़ दी, एकान्त में रहता हूँ। यहाँ शिमला में बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ते की तरह किसीसे विशेष परिचय भी नहीं। फिर इसकी व्यवस्था कैसे हो ?'

इस घटना ने आपको गुरुप्रसाद को उत्तर देने से कुछ दिन रोक दिया। शिमला में बी० डी० पुरी और रायसाहब जवेन्दलाल अपनी-अपनी पत्नी के साथ

कभी-कभी गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तरों के लिए आपके पास आया करते। इसी बीच एक दिन स्थानीय सनातनधर्म-सभा के मन्त्री, पुरीजी से पता पाकर आपके पास आ पहुँचे और प्रार्थना करने लगे कि 'हमारी सभा में प्रवचन करने की कृपा करें।' गुरु महाराज ने कहा : 'अच्छा, आप लोग आर्थिक सेवा करते हैं, तो मेरी वाचिक ही सही।' सभा में प्रवचन होने लगे, जिससे स्थानीय लोगों से परिचय भी बढ़ चला। जो एक बार सुनता, भक्त बन जाता।

कुछ ही दिनों बाद, एक दिन एक माता सभा में पधारी। उसका गुरु महाराज से न कोई परिचय था और न कभी सभा में आयी ही थी। रहन-सहन के नये ढंग से लगता कि उसका सन्तों के पास विशेष आना-जाना भी नहीं था। किन्तु आज उसने अकस्मात् किसी अलक्ष्य की प्रेरणा से सभा में ही आपके चरणों पर दो हजार रुपये लाकर धर दिये।

गुरु महाराज ने प्रश्न किया : 'माताजी, ये रुपये सभा के किस विभाग में दे दूँ—शिक्षा, पुस्तकालय या वार्षिक अधिवेशन में ?'

माताजी ने कहा : 'महाराज, ये तो सभा को नहीं, आपको चढ़ाये हैं। आप चाहे जिस कार्य में इनका सदुपयोग करें।'

अब गुरु महाराज बालुगंज की कोठी से रायसाहब जवेन्दलालजी के आग्रह पर उनकी कोठी में आ गये। वहाँ एक दिन रायसाहब की धर्मपत्नी ने भी प्रार्थना की कि 'स्वामीजी, बहुत दिनों से मैंने १००) धर्मार्थ अलग निकाल रखे हैं। आप इन्हें किसी उत्तम कार्य में लगा दें।'

आप हँस पड़े। एकाएक उस दिन रात्रि का भगवद्-वचन स्मरण हो आया। मन ही मन कहने लगे : 'भगवन्, सचमुच जो कुछ होना होता है, उसके मूल में आपकी दिव्य प्रेरणा काम करती है। आपने यह स्पष्ट प्रत्यय करा दिया कि साधन-सामग्री के अभाव में मनुष्य का तत्कालीन शक्ति के बाहर का काम भी यदि प्रभु चाहते हों, तो तत्क्षण पूरा हो जाता है। उसके लिए सारे साधन, सारा बल बाँके-बिहारी जुटा देते हैं।'

आपने रायसाहब की धर्मपत्नी से कहा : 'माताजी ! वृन्दावन में आश्रम के निमित्त भूमि खरीदने का २१००) में सौदा हुआ है। उस दिन २०००) एक माता ने मुझे दिया था और आपके ये १००) मिलाकर वह रकम पूरी हो गयी। कृपया अब आप ही इसका वहाँ के लिए मनीआर्डर कर दें। मैं मनीआर्डर के पैसे कहाँ से लाऊँ ?'

उन दिनों आप अपने पास बहुत ही कम, नहीं की तरह ही, पैसे रखते थे। भक्तों से कह दिया करते कि 'मैं क्यों बोझा उठाऊँ, जब कि मेरे परमपिता विश्व-

सम्राट् श्रीकृष्ण के बैंक सर्वत्र चल रहे हैं ? आवश्यकता पड़ने पर रुपये मिलने में राजकुमार को देर क्या लग सकती है ?' राजाधिराज भगवान् के लाड़ले पुत्र सन्तों को उसके विस्तृत ब्रह्माण्ड-राज्य में सभी वस्तुएँ अपने-आप सुलभ हो जाती हैं।

सर्व-धर्म-सम्मेलन

सनातनधर्म-सभा में आपके प्रवचन चल ही रहे थे कि उन्हीं दिनों शिमला में एक विराट् सर्व-धर्म-सम्मेलन हुआ। सभी धर्मों के स्थानीय विद्वानों के अतिरिक्त बाहर से भी कई विद्वान् पधारे थे, जिनमें पटियाला सनातनधर्म-सभा के अध्यक्ष प्रोफेसर दयालीरामजी भी थे, जो अपने समय के प्रमुख सनातनी नेता माने जाते थे।[1] गुरु महाराज से उनका घनिष्ठ परिचय था। वे आपके प्रति अनन्य श्रद्धा रखते। आपको यहाँ पाकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ।

योगायोग की बात ! सम्मेलन के दिन एकाएक आपका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ा। बैठक का समय भी रात ८ बजे से था। अतएव आपने उसमें भाग न लेने का निश्चय कर लिया था।

किन्तु पता लगते ही प्रोफेसर दयालीरामजी आ पहुँचे और आग्रह करने लगे : 'स्वामीजी, सम्मेलन में सभी धर्मों के प्रमुख विद्वान् आ रहे हैं। यदि आप न पहुँचेंगे, तो कदाचित् हम सनातनियों का पक्ष लोक-दृष्टि में दुर्बल न पड़ जाय। आजकल यहाँ सनातन-धर्म का वैसा कोई प्रौढ़ वक्ता नहीं है। मैं रुग्ण हूँ और बूढ़ा हो गया हूँ। कई दिनों से अन्न भी नहीं ले रहा हूँ। फिर भी बैठक में भाग ले रहा हूँ। सनातन-धर्म की सेवा के लिए जीवन-दान भी मेरी दृष्टि में सस्ता सौदा है। हमारे प्राचीन पुरुषों ने सनातन-धर्म के लिए हँसते-हँसते प्राण तक न्योछावर कर दिये। मुझे भी यह प्राणाधिक प्रिय है। जब तक श्वास में श्वास है, निश्चय ही इसकी सेवा करता रहूँगा। आप जैसे समर्थ महापुरुष से भी मैं यही अपेक्षा करता हूँ। अतः किसी भी तरह अवश्य चलें।'

सनातन-धर्म के सच्चे वीर की ओजभरी बातें सुन आपके रुग्ण शरीर में भी उत्साह संचरित हो उठा और आप तत्काल उनके साथ सम्मेलन में भाग लेने चल पड़े।

---

१. श्री दयालीरामजी की सनातन-धर्म-सेवा पंजाब में सदैव चिरस्मरणीय रहेगी। आपने कुरुक्षेत्र में 'गीता-भवन' बनवाया और गीता-प्रचार के लिए 'गीता-सोसाइटी' की भी स्थापना की, जिसके मुख्य पदाधिकारी कल्सीयाँ-राज्य के दीवान धर्मवीर श्री रणवीर सिंहजी थे।

प्रभु दयालु है या न्यायी ?

सम्मेलन में विभिन्नधर्मीय विद्वानों के प्रवचन हो चुके थे। एक जटिल समस्या खड़ी हो गयी थी—'प्रभु दयालु है या न्यायकारी ?' क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या ईसाई ! सभी ईश्वर-सत्तावादी उसे न्यायकारी और साथ ही दयालु भी मानते हैं। किन्तु एक में ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं, यही प्रश्न था। दयालु दयापरवश हो कभी-कभी न्याय से आँखें बन्द कर सकता है। फिर वह न्यायकारी कैसे ? इसी तरह न्यायकारी न्यायपरवश हो कभी विवशतः दया को भी आँच ला सकता है, तब वह दयालु कैसे ?

कल्पना करें कि किसी न्यायाधीश की अदालत में एक हत्या का मुकदमा आया। हत्यारा दर्शनीय, अतिबलिष्ठ, विनीत और शिक्षित युवक है। अब यदि न्यायाधीश दयाभाव से उसे क्षमा कर दे, तो न्याय का गला घुट जायगा। यदि फाँसी की सजा सुनाये, तो न्याय तो होगा, पर वहाँ दया कहाँ रही ? अन्धकार और प्रकाश की तरह न्याय और दया का एकत्र समावेश कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। यही बात ईश्वर पर लागू होती है।

सम्मेलन में मौलवी, पादरी, पण्डित सबसे यह प्रश्न पूछा गया, पर किसी धर्म-प्रतिनिधि द्वारा समस्या का सन्तोषजनक समाधान नहीं हो रहा था। प्रोफेसर दयालीरामजी ने गुरु महाराज से प्रार्थना की कि आप इस सम्बन्ध में सनातन-धर्म की दृष्टि से कुछ कहें।

सभी उपस्थित सभ्यों को सम्बुद्ध करते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'यह कोई कठिन समस्या नहीं है। सनातन-धर्म तो इसका सहज ही समाधान कर देता है। देखिये :

एक ही देवी पिता की दृष्टि से पुत्री, पति की दृष्टि से पत्नी, पुत्र की दृष्टि से माता और भाई की दृष्टि से बहन है। पत्नी बहन नहीं हो सकती और न बहन पत्नी ही। दोनों परस्पर विरुद्ध भाव हैं। फिर भी दृष्टिभेद से उनके एक जगह रहने में कोई बाधा नहीं। आपाततः विरोध भासता है, पर गहराई से सोचने पर वह लुप्त हो जाता है। यही बात ईश्वर के दयालु और न्यायकारी होने में लागू होती है। देखिये :

संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं : १. सकाम कर्मठ और २. निष्काम भक्त। भगवान् सकाम कर्मठ के लिए तो न्यायकारी है। जैसा वह कर्म करता है, तदनुरूप उसे फल देता है, जैसे कि मजदूरों को उनके श्रम के अनुरूप किसी कारखाने का मैनेजर वेतन बाँटता है।

किन्तु निष्काम भक्त तो भगवान् के पुत्र के समान हैं। जैसे पुत्र पिता के पैर दवाता और पंखा झलता है। उसके मुआवजे में पिता उसे चार आने दे, तो पुत्र कभी नहीं लेगा और कहेगा कि 'पिताजी, मुझे सेवा का मूल्य चुकाकर क्या मजदूर वनाना चाहते हैं ? मैं तो आपका पुत्र ही रहूँगा, मजदूर नहीं।' ठीक इसी तरह यह निष्काम भक्त भगवत्-सेवा के वदले ईश्वर द्वारा किसी वस्तु के दिये जाने पर उसे ठुकरा देता है। ऐसे निष्काम प्रेमी के सभी किये कर्मों पर वह दयामय लकीर मार देते हैं। सभी कर्म-वन्धनों से मुक्त कर देते हैं। अतएव उन्हें 'भक्तवत्सल' कहा जाता है।

जैसे गाय वछड़े से प्यार करती है, वैसे ही इस भक्त के लिए प्रभु का हृदय स्नेह से भर आता है। गाय का नियम है कि जिस घास पर गोवर लगा हो, उसे कभी नहीं खाती, भले ही प्राण चले जायँ। किन्तु वही अपने सद्योजात वछड़े को जीभ से चाट-चाटकर उसकी देह का गोवर साफ कर देती है। इतनी अधिक दयालु वन जाती है कि अपने सहज जातीय नियम की भी उपेक्षा कर देती है। ठीक इसी तरह प्रभु भी सकाम कर्म करनेवाले प्राणियों के लिए उनके कर्मानुरूप फल देने का नियम पालन करते हुए जहाँ 'न्यायकारी' का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, वहीं निष्काम भक्तों के लिए दयावश उस नियम की उपेक्षा कर उनके सभी अपराधों को क्षमा कर अपनी 'परम दयालुता' का भी स्पष्ट निदर्शन देते हैं।

निष्कर्ष यह कि सकाम मनुष्यों की दृष्टि से मेरे प्रभु 'न्यायकारी' हैं, तो निष्काम भक्तों की दृष्टि से 'परम दयालु' भी।'

समाधान सुनकर सभा-भवन सब ओर से 'वहुत अच्छा, बहुत अच्छा' से गूँज उठा। प्रोफेसर दयालीरामजी ने गुरु महाराज के प्रति विशेष कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि 'मेरे निवेदन का सम्मान कर आपने यहाँ सनातन-धर्म का पक्ष सबसे उज्ज्वल कर दिया।'

शिमला की जनता में इस घटना से गुरु महाराज की सर्वत्र धाक जम गयी। जो नहीं जानते थे, वे भी अव भक्त वन गये। राजकीय अधिकारियों तक आपके तपोवैदुष्य की भीनी-भीनी गन्ध पहुँच गयी।

इसके अतिरिक्त गुरु महाराज के जम्मू-काश्मीर के भूतपूर्व दीवान राजा दलजीत सिंह के वँगले पर तथा अन्यत्र भी कई जगह महत्त्वपूर्ण प्रवचन हुए। इन प्रवचनों, भाषणों, सत्संगों आदि से सभी जातियों के नेताओं पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और शिमला में सर्वत्र आपकी ख्याति हो गयी। अव तो आपके दर्शनार्थ वड़े-वड़े प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भीड़ लगने लगी।

मिलिटरी को जमीन मिल गयी

इसी बीच अमृतसर से शिष्ट-मण्डल आया। आपके प्रभावपूर्ण सान्निध्य में वह मिलिटरी अफसरों से मिला। सारी पूर्व-भूमिका अनुकूल हो जाने से उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी, किन्तु एक शर्त लगा दी : जितनी जगह से नहर गुजरे, उतनी ही नहीं, वल्कि उसके आसपास की करीब दो हजार गज की पूरी जमीन भी खरीदनी होगी। उन्होंने उसका मूल्य भी तीस हजार रुपया तय कर दिया।

दुर्ग्याना-कमेटी शर्त सुन विचार में पड़ गयी। इतनी सारी अनावश्यक जमीन खरीदना और उस पर व्यर्थ इतनी वड़ी रकम खर्च करना ठीक नहीं लगता था। किन्तु अन्त में यही निश्चय हुआ कि 'इस तरह काम कहीं अधूरा न रह जाय। क्या पता, मिलिटरीवाले आगे एकदम इनकार कर दें? अतः जमीन ले ली जाय।'

जमीन खरीद ली गयी और नहर का निर्माण-कार्य भी शीघ्र पूरा कर लिया गया। अव उद्घाटन-मुहूर्त की ही देर रही।

वृन्दावन में

इधर गुरु महाराज कुछ दिन शिमला रहकर श्रावणी पूर्णिमा, रक्षावन्धन पर वृन्दावन पहुँचे। वृन्दावन में आश्रम के लिए खरीदी गयी जमीन का निरीक्षण कर आप लुधियाना चले गये।

उधर दुर्ग्याना-कमेटी ने नहर के उद्घाटन के निमित्त गुरु महाराज को अमृतसर ले आने के लिए श्री सीतारामजी को शिमला भेजा। वहाँ से आपके वृन्दावन जाने का पता पाकर वे वृन्दावन पहुँचे। किन्तु जव वहाँ भी आप न मिले, तो खोजते-खोजते लुधियाना आये। सीताराम के वगीचे में आपके दर्शन करने पर उन्हें कहीं चैन पड़ी। कहने लगे : 'महाराज, आप कितना भी अपने को छिपाने का यत्न करें, हम खोज निकालकर ही रहेंगे। तीन-चार दिनों से मारा-मारा घूम रहा हूँ।'

गुरु महाराज ने उन्हें पहले स्नान, भोजनादि से निवृत्त हो लेने को कहा। रात्रि में सीतारामजी ने कमेटी का सन्देश सुनाकर आपसे साथ चलने की प्रार्थना की।

अमृतसर में नहर का उद्घाटन

संवत् १९९७ (सन् १९४०) की भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को गुरु महाराज श्री सीताराम के साथ अमृतसर पधारे।

वहाँ दुर्ग्याना-कमेटी, नगर-कमेटी, अमृतसर सनातनधर्म-सभा तथा अन्यान्य

सभाओं के सदस्य आपके निकट उपस्थित हुए। शहर के गण्यमान्य प्रतिष्ठित सज्जन भी आमन्त्रित किये गये थे। नहर का उद्घाटन किसके हाथ किया जाय, यह चर्चा का विषय था।

गुरु महाराज ने कहा: 'किसी राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार के हाथों नहर का उद्घाटन कराया जाय, ताकि उद्घाटन-मुहूर्त की ख्याति हो और जनता पर भी प्रभाव पड़े।'

कई राजा-महाराजाओं के नाम सामने आये। सेठों में वाँगड़, विड़ला, राजा रामशरण, दीवान कृष्णकिशोर आदि के नाम आये। सेठ लाला लछमनदास ने, जो दुर्ग्याना-कमेटी के प्रतिष्ठित पदाधिकारी थे, सवकी ओर से आपसे प्रार्थना की कि 'हम लोगों की दृष्टि में किसी अन्य से उद्घाटन कराने की आवश्यकता नहीं। धार्मिक समारोह का उद्घाटन धर्माचार्य श्री स्वामीजी महाराज के पवित्र कर-कमलों से ही सर्वोत्तम होगा।'

करतल-ध्वनि के वीच सभी सज्जनों ने लाला लछमनदासजी के प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। अनिच्छा होते हुए भी आपको जनमत का आदर करना पड़ा। अव गंगा, यमुना आदि सभी प्रमुख तीर्थों का जल मँगाने का निश्चय हुआ और तालाव में वृहत् ज्ञान-यज्ञ के आयोजन की रूपरेखा वनी।

भाद्रपद शुक्ला तृतीया से ही गुरु महाराज का प्रवचन प्रारम्भ हो गया। प्रतिदिन जनता तीस-पैंतीस हजार की संख्या में उपस्थित होती। लोग नहर के उद्घाटन के लिए अति उत्सुक थे। कव सुमुहूर्त होता है और कव उसमें स्नान का सौभाग्य प्राप्त होता है, सर्वत्र इसीकी तीव्र प्रतीक्षा थी। वीच-वीच में उद्घाटन-समारोह-समिति की बैठकें भी चलतीं। जनता में अपूर्व उत्साह छा गया था। व्याख्यान में कितने ही प्रतिष्ठित सज्जन कह उठते: 'महाराज, खर्च का विचार न करें, उत्सव धूमधाम से मनाया जाय।'

भाद्रपद शुक्ला नवमी को जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र महाराज का जन्मोत्सव मनाया गया। उसी दिन से उत्सव को तैयारियाँ जोरों से चल पड़ीं। भारत के सभी प्रसिद्ध तीर्थों से पवित्र नदियों और समुद्र से जल लाने के लिए व्यक्ति नियत हुए और वे उन्हें सविधि आवाहनपूर्वक लाने के लिए चल पड़े। श्रीमद्-भागवत-सप्ताह, वाल्मीकि-रामायण और रामचरित-मानस के नवाह-पाठ, चारों वेदों के पारायण, गीता के १५१५ पाठ तथा कुल्या-प्रवेश महायज्ञ की योजनाएँ वन गयीं।

श्रीचन्द्र-नवमी से भाद्रपद पूर्णिमा तक 'हरे राम' महामन्त्र का अखण्ड कीर्तन चलता रहा। नाम-ध्वनि से गगन गूँज उठता था।

आश्विन कृष्ण प्रतिपद् से अमावस्या तक प्रतिदिन १०१ के हिसाब से १५१५ सामूहिक गीता-पाठ हुए। गीता-पाठ में ब्राह्मणों के सिवा कुछ श्रद्धालु व्यापारी गृहस्थ भी थे। प्रातः ५ से ७ तक वेद-पारायण, ७ से ८ तक घण्टेभर गुरु महाराज का प्रवचन और फिर ८ से ११ बजे तक गीता-पाठ होता रहा। वेद-गीतादि की पवित्र ध्वनि से दुर्ग्याना की भित्तियाँ प्रतिध्वनित हो उठती थीं।

आश्विन शुक्ला प्रतिपद् के दिन वाल्मीकि-रामायण तथा मानस के नवाह्-पाठ आरम्भ हुए, जिनकी पूर्णाहुति नवमी को हुई।

आश्विन-नवरात्र की सप्तमी से श्रीमद्भागवत का सप्ताह प्रारम्भ हुआ। वक्ता पण्डित श्री गौरीशंकरजी थे। त्रयोदशी को सप्ताह की पूर्णाहुति हुई।

विजयादशमी के दिन प्रातः कुल्या-प्रवेश (जल-प्रवेश) यज्ञ का श्रीगणेश हुआ। त्रयोदशी को इस यज्ञ की भी पूर्णाहुति हुई।

अब शोभा-यात्रा निकालने का निश्चय हुआ। विभिन्न व्यापारियों एवं संस्थाओं को बुलाया गया और उनके सहयोग से यत्र-तत्र द्वार-निर्माण तथा नगर, बाजारों को खूब सजाने का निश्चय हुआ। सभीने सोत्साह प्रत्येक कार्य पूरा करने की अद्‌भुत तत्परता दिखायी। हाथी पर गुरु महाराज की सवारी निकालने का निश्चय हुआ। श्री रघुवरदयाल, श्री सीतारामजी आदि ने चतुर्दशी को ही सारी व्यवस्था पूर्ण कर ली।

ऐतिहासिक प्रवचन

चिर-प्रतीक्षित शरत्पूर्णिमा का स्वर्णिम प्रभात हुआ। प्रातः ७ बजे से ८ बजे तक एक घण्टा गुरु महाराज का प्रवचन हुआ। आपने कहा :

'प्रभु श्री लक्ष्मी-नारायण की कृपा से सप्ताह, नवाह्-पाठ, वेद-गीता-पारायण, श्रीमद्भागवत-सप्ताह तथा कुल्या-प्रवेश यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो गये। अमृतसर की जनता ने अपनी अमरता का पूरा प्रमाण दिखा दिया। स्वयंसेवक, पाठक एवं प्रबन्धकों का उत्साह स्तुत्य है।

देवियाँ विशेष प्रशंसा की पात्र हैं। मानस के नवाह्-पाठ की निर्धारित १०० संख्या को उन्होंने ५०० पर पहुँचा दिया। जो देवियाँ कार्यवश सरोवर में नियत समय पर उपस्थित न हो सकती थीं, उन्होंने अपने घरों में अवकाश के समय रामायण के नवाह्-पाठ किये और मेरे पास आकर समर्पित कर दिये। उनका साहस और उत्साह भूरि-भूरि प्रशंसनीय है। कारण उन्होंने गृह-कार्य के साथ-साथ अपना धार्मिक कर्तव्य भी अति निपुणता के साथ निभाया है। घर बैठे किये गये इन नवाह्-पाठों को मुझे कई हजार की संख्या में गिनाया गया।

१२

इस तरह आज अमृतसर में सर्वत्र भगवत्-प्रेम हिलोरें ले रहा है। नगर साक्षात् वैकुण्ठ-धाम बन गया है। अब वह स्वर्णिम क्षण शीघ्र ही आ रहा है, जिसकी आप वर्षों से प्रतीक्षा कर रहे थे। आज ही सायंकाल ५ बजे जनता के समक्ष भगवत्-कृपा से नहर का उद्घाटन हो जायगा।' कहते-कहते भावावेश में गुरु महाराज का कण्ठ भर आया। आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। आपने आगे कहा : 'इस नहर द्वारा दुर्ग्याना-सरोवर जलाप्लावित हो लहरा उठेगा और धार्मिक जनता इसके पावन तट पर निर्द्वन्द्व हो अपने सन्ध्या, स्नान, तर्पण, वन्दनादि धार्मिक कृत्य अखण्ड करती रहेगी। भगवान् लक्ष्मी-नारायण की दिव्य झाँकी का दर्शन कर भावुक जनता अपने चिरपिपासित नेत्रों को तृप्ति का आनन्दानुभव करायेगी।'

आपने कहा : 'इस अवसर पर हम किसी मनुष्य को धन्यवाद देना पसन्द नहीं करते। सभीका कर्तव्य था कि इस पवित्र कार्य को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करें, और उसे सबने प्रामाणिकता के साथ निवाहा। हम सब मिलकर प्रभु को धन्यवाद दें, जिसकी महती कृपा से हम सबको यह शुभ दिन देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।'

शरत्-पूर्णिमा स्नान-पर्व हो

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'आज व्याख्यान अधिक लम्बा करने का अवकाश नहीं। सभीको अपने-अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो शोभा-यात्रा आदि समारोहों में दिनभर भाग लेना है। फिर भी बाद में अपना महत्त्व का सन्देश सुनाने का अवसर न मिले, इसलिए अभी उसे सुनाकर ही यह व्याख्यान मैं पूरा करूँगा :

सन्त के नाते प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि अमृतसर की उत्साही जनता इस प्रकार के पवित्र धार्मिक पर्व प्रतिमास नहीं, तो प्रतिवर्ष अवश्य मनाती रहे। प्रभु बाँकेबिहारी के रास-विहार की तिथि शरत्-पूर्णिमा इस कार्य के लिए निश्चित हुई, यह हमारा कम सौभाग्य नहीं। विश्वास करता हूँ कि अपने भक्तों के उत्साह और भावना से पूर्ण इस महोत्सव का दृश्य देखने के लिए मुरली-मनोहर श्रीकृष्ण भी, गोपी-मण्डल के सहित, अदृश्य रूप में यहाँ अवश्य उपस्थित होंगे। श्रीचन्द्र-नवमी से चल रहा ३६ दिनों का वेद-पारायण भी आज पूरा होने जा रहा है। वेद-पाठियों की सस्वर मधुर ध्वनि से सत्ययुग का दृश्य खड़ा हो गया है। आपके भक्ति-भाव से जलकलशों के रूप में समग्र तीर्थ यहाँ एकत्र हो गये हैं। मेरा सबसे अनुरोध है कि यदि प्रतिदिन इस भावी दुर्ग्याना-सरोवर में स्नान न कर

सकें, तो प्रतिवर्ष आज के दिन, शरत्-पूर्णिमा को अवश्य स्नान किया करें। आज ही प्रातः ध्यान-राज्य में प्रकट हो प्रभु ने अपने श्रीमुख से मुझे यह सन्देश दिया है कि 'शरत्पूर्णिमा के दिन इस सरोवर में स्नान करने से निश्चय ही सर्वतीर्थों के स्नान का फल मिलेगा।'

प्रवचन समाप्त होते ही लोग अपने-अपने घरों को चल पड़े, शीघ्र ही १० वजे पुनः उन्हें दुर्ग्याना-सरोवर पर उपस्थित जो होना था।

जुलूस नहीं, मानव-समुद्र

ठीक समय पर मानव-समुद्र सरोवर पर उमड़ पड़ा था। अमृतसर-अखाड़े के उदासीन महन्त, सन्त तथा वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों के महापुरुष यथासमय अपने रणसिंगे, छड़ियाँ लेकर उपस्थित थे। हाथी भी फूल आदि से अच्छी तरह सजाया गया था। तरह-तरह के वाजे-गाजे भी जुट गये।

दिन के ११ वजे दुर्ग्याना से जुलूस चल पड़ा। मार्ग में जगह-जगह जनता माला-पुष्प, आरती आदि से स्वागत कर रही थी। मकानों की छतों पर खड़े नर-नारी सुमन-वृष्टि कर रहे थे। गुरु महाराज के सिर पर एक सुन्दर जरीदार छत्र चमक रहा था। दोनों ओर से चँवर डुलाये जा रहे थे।

जुलूस मुख्य-मुख्य वाजारों से होता हुआ नगर-परिक्रमा कर बड़ी कठिनाई से सायं लगभग ५॥ वजे श्री लक्ष्मी-नारायण मन्दिर पर आया। वहाँ हाथी से उतरकर गुरु महाराज उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ नहर का उद्घाटन करना था। 'हर हर महादेव' की ध्वनि के साथ आपके हाथों नहर का उद्घाटन हो गया। दुर्ग्याना-सरोवर देखते-देखते जलाप्लावित हो उठा। अभी तक भगवान् लक्ष्मी-नारायण शुष्क दुर्ग्याना-सरोवर में रहते थे। अब भगवान् वरुणदेव ने पहुँचकर उन्हें सच्चे अर्थ में समुद्र-वासी वना दिया।

समारोह की व्यापक प्रतिक्रिया

अमृतसर के वृद्धों का कहना है कि आज तक हमने इतना विशाल जुलूस कभी नहीं देखा। शहर के सभी नर-नारियों का ऐसा उत्साह और भक्ति-भाव भी कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ कि 'दो लाख जनता के वीच नहर का उद्घाटन !'

उत्सव के आरम्भ से ही ट्रिब्यून, प्रताप, मिलाप, वीर भारत, डेली हेराल्ड आदि समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। आरम्भ से ही अनेक पत्रों में उत्सव के समाचार विस्तारपूर्वक छपते। उत्सव केवल अमृतसर शहर तक सीमित न रहकर पूरे पंजाब का बन गया। प्रधान उत्सव के दिन लाहौर, गुजरानवाला,

रावलपिण्डी, मुलतान, लुधियाना, जालन्धर, पटियाला, भटिण्डा, फिरोजपुर, पेशावर, डेरा इस्माइल खाँ आदि नगरों से भी बड़ी संख्या में लोग यहाँ पहुँचे थे। कैमरा-मैन भी जुलूस, सभा, नहर-उद्घाटन के तरह-तरह के चित्र लेने में व्यस्त देखे गये। दूसरे दिन पत्रों के कालम उत्सव के समाचार एवं चित्रों से भरे थे।

कुलपति श्री कृष्णानन्दजी, सत्स्वरूप शास्त्री प्रभृति महात्मा मार्ग में देरी हो जाने से उत्सव के दिन नहीं पहुँच सके। ट्रेन में ही उन्होंने उत्सव के चित्र और समाचार पढ़े। अमृतसर पहुँचने पर श्री सुदर्शन आदि सन्तों ने आप लोगों से कहा कि 'आप तो इस अपूर्व दृश्य को देखने से वंचित रह गये।' उन्होंने गंभीरता से कहा: 'हम भी आपसे पिछड़े नहीं। ट्रेन में ही हम लोगों ने समारोह के समाचार और चित्र देखकर पूरा आनन्द ले लिया। सम्भव है, उतना आनन्द आप लोग यहाँ उपस्थित होकर नहीं ले पाये हों।' महात्माओं का विनोद ही जो ठहरा!

उत्सव के बाद जनता के अति आग्रह पर गुरु महाराज कार्तिक पूर्णिमा तक अमृतसर की जनता को अपने सुमधुर प्रवचनों से आप्यायित करते रहे। ●

११

लोक-संग्रह का चतुर्थ चरण

[संवत् १९९७ से २००३ तक]

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यह शास्त्रकारों का उद्घोष है। बात है भी ठीक! पहला छोर है, व्यष्टि का तो दूसरा समष्टि का। दोनों के बीच सारा ब्रह्माण्ड समा जाता है। इसीलिए इस वचन का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के साथ कोई विरोध नहीं। 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' के अनुसार आखिर जन्मभूमि की अन्तिम परिसीमा ब्रह्म (ब्रह्माण्डात्मक प्रकृति) ही तो है, जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया है। फिर, अपने इस शरीर की जन्मदात्री जननी को तो सभी जानते हैं।

दोनों ही स्वर्ग से 'गरीयसी' अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। क्यों न हों, स्वर्ग कर्मों का सौदा जो ठहरा! जैसा कर्म करो, स्वर्ग में वैसा भोग भोगो। परार्ध मूल्य का कर्म करनेवाला इन्द्रपद पायेगा, तो हजार मूल्य के कर्मवाला उसका क्लर्क बनेगा। फिर, जैसे भोग से रुपये का मूल्य समाप्त हो जाता है, कर्म का भी वही हाल है। भोग से कर्म का अवमूल्यन होने पर स्वर्ग का सौदा हाथ से जाता रहता है। इस तरह स्वर्ग निरी सौदेबाजी है। फिर उसमें तर-तमभाव की भी बात न पूछिये। यह हाल है स्वर्ग का!

अब जननी और जन्मभूमि का हाल सुनिये। प्राकृत जननी और ब्रह्म-जननी दोनों अपने पुत्र पर निरुपधि प्रेम करती हैं। जैसे बछड़े को देखते ही गाय के स्तन से दूध बहने लगता है, वही हाल इनका है। ये अपेक्षा नहीं रखतीं कि हमारा बेटा हमें मूल्य दे, तब हम स्नेह देंगी—अपने दिव्य प्रकाश, अपने सत्त्व, चित्त्व और आनन्द का उससे सौदा पटायेंगी।[1] दोनों अपने बच्चों को उनका उन्मुक्त दान करती हैं। यह अलग है कि बच्चा अपनी योग्यता और शक्ति के अनुरूप उसे कम या अधिक मात्रा में ग्रहण कर पाये। अतः जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से श्रेष्ठतर हैं।

---

१. यह शक्ति और शक्तिमान् का अभेद मानकर कहा गया है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि वह आदर्श का क्षेत्र बहुत व्यापक रखती है और आचार का क्षेत्र अपने आसपास की परिधि के भीतर। वास्तव में इसी तरह आदर्श और व्यवहार का सामञ्जस्य बैठ पाता है। माता पालन करती है अपने बालक का—उसे नहलाती-धुलाती और दूध पिलाती है। पर भाव रखती है, 'मैं विश्वम्भर भगवान् बाल-कृष्ण का पालन-पोषण कर रही हूँ।' रहस्य यह है कि परिच्छिन्न मानव विश्व-व्यापक आचार कर ही नहीं सकता, और व्यक्तिगत आचार करे तो संकुचितता के दायरे में फँस जाता है। अतएव आचार संकुचित क्षेत्र का होकर भी उसे व्यापक लक्ष्य का रूप दिया जाता है। इसका एक उद्देश्य यह भी है कि मानव शक्ति-संचय करता हुआ उत्तरोत्तर अपनी सीमा व्यापक करे। यह न समझ बैठे कि यहीं मेरे कर्तव्य की इति हो गयी। इतने सारे भाव 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यह वचन रखता है।

हाँ, तो हम अपनी ऐसी लोकोत्तर महत्त्वशालिनी जननी और जन्मभूमि यानी आचार-क्षेत्र के तौर पर जन्म-देश के लिए जितना भी कुछ करें, कम ही है। हमें यह न भूलना चाहिए कि जन्मभूमि की हमारी यह उपासना समष्टि ब्रह्म की प्रतीकोपासना है। यदि हमारी यह माता परकीयों से, दुर्वृत्तों से परिपीड़ित की जाती हो, उसका स्वत्व, सौन्दर्य लूट उसे परतन्त्र बनाया जाता हो या गया हो, तो उसके प्रत्येक लाड़ले का कर्तव्य है कि उसके विरुद्ध सक्रिय हो जाय और हर संभव उपाय से माता को अत्याचार एवं दास्य से मुक्त करे। विभिन्न देशों का स्वातन्त्र्य-इतिहास इसीकी साक्षी देता है और हमें इसके लिए प्रेरित करता है।

प्रश्न होगा कि सन्त, महापुरुषों को इस फेर में पड़ने की क्या आवश्यकता है? उत्तर स्पष्ट है। आखिर वे भी तो अपनी जन्मदात्री और इस व्यापक तत्त्व की प्रतीक जन्मभूमि से निरपेक्ष नहीं रह सकते। जन्म और व्यावहारिक शरीर के पोषणार्थ इनकी अनिवार्य आवश्यकता रखते हैं। तब इनकी रक्षा करना भी उनका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। यही कारण है कि समर्थ रामदास स्वामी ने सन्त-महन्तों के कर्तव्य बतलाते हुए कहा है कि उनका प्रथम कर्तव्य है, हरि-कथा का निरूपण करना। द्वितीय कर्तव्य है, राजकारण, राजनीति—देश के स्वातन्त्र्य और उत्थान के हर प्रयत्न। और तृतीय कर्तव्य है, सावधपन, सावधानी—लौकिक-पारलौकिक सभी अन्तरायों से सदैव सावधान रहना।

देश का प्राचीन इतिहास बताता है कि जब-जब देश पर संकट के बादल घनीभूत हुए, उसे परतन्त्र बनाने के लिए शत्रु, राक्षस सचेष्ट हुए, तो हर बार दधीचि जैसे मुनियों ने अपनी अस्थियाँ तक देकर देश को स्वतन्त्र और निरापद

बनाया। तब यदि आज के भगवद्-विभूति सन्त यह काम करें, तो वह सर्वथा उचित ही हैं।

अवश्य ही देश और काल के अनुरूप इस कार्य के प्रकार भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। कर्ता के वैशिष्ट्य पर भी कार्य की विशेषता निर्भर होती है। अंग्रेज शासकों ने भारत-भूमि को परतन्त्र बनाने के लिए जो सम्मोहनास्त्र चलाया, वह था—'फूट डालो और शासन करो।' भारत के नौनिहाल उनके इस अस्त्र के सारे दाँव-पेंच समझ गये। तिलक, गांधी, सुभाष, नेहरू, पटेल के नेतृत्व में उन्होंने संगठन-शस्त्र से इस अस्त्र को काट डालने का यत्न किया। देश स्वतन्त्र होने की स्थिति में आ ही रहा था कि निर्वाणकालीन दीप-शिखा की तरह विदेशी शासकों का वह अस्त्र अन्तिम बार पुनः चमक उठा। उसने अपना क्षेत्र देशी राज्यों को चुना। वहाँ फूट डाल, अशान्ति मचा अपने नाशक संगठन-शस्त्र के टुकड़े-टुकड़े करने के मन्सूबे बाँधे। हमारे चरित्र-नायक की पैनी दृष्टि इस दुरभिसन्धि को ताड़ गयी और उन्होंने देशी राज्यों में पहुँचकर शत्रु के इस अस्त्र को हतप्रभ कर डाला। कैसे ? तो हमारे साथ यह ११वाँ प्रकरण पढ़िये।

लाहौर में सनातनधर्म-विद्यापीठ की योजना

अमृतसर की दुर्ग्याना-नहर का उद्‌घाटन सम्पन्न कर गुरु महाराज संवत् १९९७ (सन् १९४०) की कार्तिक पूर्णिमा के दूसरे दिन—हेमन्त के प्रथम मास के प्रथम दिन, अमृतसर से लाहौर पधारे। श्री बी० डी० पुरी की कोठी में ठहरे। वहाँ के भूपेन्द्र-हाल में आपके प्रवचन होते रहे। बीच में कुछ दिनों के लिए साग्रह निमन्त्रण पर आप गुजरानवाला गये और वहाँ श्री रघुनाथ-मन्दिर के शिलान्यास-महोत्सव (खात-मुहूर्त) में भाग लिया। वहाँ से शीघ्र ही लाहौर लौट आये। कारण वहाँ सनातनधर्म-विद्यापीठ की योजना बनानी थी। यहाँ उस सम्बन्ध में किशनकिशोर दीवान, रायबहादुर बद्रीदास, सरदारीलाल आदि से, जो मूलचन्द खैरातीराम के ट्रस्टी थे, विचार-विमर्श हुआ। अन्त में म० म० श्री गिरिधरशर्माजी पर योजना के कार्यान्वयन का भार सौंपने का निश्चय हुआ।

लाहौर से गुरु महाराज सन् १९४१ की पहली जनवरी को सिन्ध-हैदराबाद गये। वहाँ किशनचन्द पोहूमल ब्रदर्स के प्रबन्ध में लेखराज खियामल की धर्मशाला में निवास हुआ। इसी समय सेठ लोकराम, मूलचन्द तथा केवलराम उत्तमचन्दानी, रेवाचन्द वसियामल आदि हैदराबाद के प्रमुख सज्जनों से विशेष परिचय हुआ। माता सरस्वती कृपलानी और अन्य भी अनेक भक्तों ने आपके दर्शन एवं प्रवचनों से खूब लाभ उठाया।

कुछ दिन हैदराबाद ठहरकर गुरु महाराज वृन्दावन पधारे। वहाँ रमण-रेतीवाले महात्मा श्री हरिनामदास कार्ष्णी के पवित्र हाथों वृन्दावन के आश्रम श्रौतमुनि-निवास का शिलान्यास हुआ। संवत् १९९७ (सन् १९४१) की शिव-रात्रि यहीं हुई।

देवगढ़ वारिया के महाराज के आमन्त्रण पर आप वृन्दावन से देवगढ़ वारिया आये। वहाँ श्री रणछोड़रायजी के मन्दिर का प्रतिष्ठा-महोत्सव आयोजित था। फाल्गुन शुक्ला तृतीया को यह समारोह सम्पन्न हुआ।

इधर श्री स्वामी सर्वानन्दजी आपकी आज्ञा से पंजाब, सिन्ध की ओर धर्म-प्रचार करते हुए अहमदाबाद आकर रहे। वहाँ छोटे नये बँगले का निर्माण हो रहा था, जिसमें आजकल पुस्तकालय चल रहा है।

सुयोग्य शिष्य की जन-प्रियता

जामनगर के आनन्दबावा पीठ के अधिपति पण्डित श्री मायाप्रसादजी गुरु महाराज के घनिष्ठ मित्रों में थे। जामसाहब दिग्विजय सिंह के पितृव्य भूतपूर्व जामनगर-नरेश श्री रणजीत सिंहजी भी आप पर अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। श्री मायाप्रसादजी ने राजा साहब द्वारा भीड़भंजन-मन्दिर में प्रवचन की योजना कर तदर्थ गुरु महाराज को आमन्त्रित किया। किन्तु आपके कार्य-व्यस्त होने से बाद में आपकी सलाह पर आपके प्रिय शिष्य श्री सर्वानन्दजी को ही प्रवचनार्थ आमन्त्रित किया गया। एक मास तक 'अवतार-वाद' पर श्री सर्वानन्दजी के प्रवचन हुए, जिनसे जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। महाराज दिग्विजय सिंहजी को यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि आप हमारे पितृव्य भूतपूर्व महाराज रणजीत सिंहजी के परम श्रद्धेय स्वामी श्री गंगेश्वरानन्दजी महाराज के शिष्य हैं।

दीवान केशवभाई भगवान् भाई, गौरीशंकर, जमनादास, भनजो भानजी, शिवसिंह के पुत्र सूर्यसिंहजी आदि विशेष सेवा करते रहे। जाम-रानी श्री गुलाब कुँवर बा एवं अन्यान्य राज-परिवार भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। जामसाहब श्री दिग्विजय सिंह भी प्रतिदिन सायंकाल प्रवचन सुनने आते। अनेक राजकीय अधिकारियों ने श्री सर्वानन्दजी से पञ्चदशी का स्वाध्याय किया। स्थानीय जनता एवं राजासाहब ने भी आपसे यहीं चातुर्मास्य करने का अनुरोध किया। अपने गुरुदेव की तरह सच्छिष्य ने भी राजा-प्रजा दोनों को समान आकृष्ट कर लिया।

अब श्री सर्वानन्दजी महाराज देवगढ़ बारिया जाने के लिए तैयार हुए। राजा-साहब और जनता ने आपसे कुछ दिन और ठहर जाने का अत्याग्रह किया। स्वामीजी ने कहा : 'बारिया के छोटे महाराज श्री नाहर सिंह की धर्मपत्नी, नाना

वा साहब द्रुपद कुँवर वा ने पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से मन्दिर निर्माण कराया है। उसमें भगवान् रणछोड़राय की प्रतिष्ठा होने जा रही है। इस महोत्सव के लिए गुरुदेव भी वृन्दावन से पधार रहे हैं, अतः मुझे भी वहाँ जाना होगा। एक तो वारिया राज-परिवार का अत्याग्रह और दूसरे, बहुत दिनों से गुरुदेव के दर्शन की तीव्र उत्सुकता है। आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि गुरुदेव का आदेश हुआ तो आगामी चातुर्मास्य अवश्य जामनगर में करूँगा। मेरा कहीं भी आना-जाना गुरुदेव की आज्ञा पर ही निर्भर करता है।'

सुयोग्य शिष्य की यह गुरु-निष्ठा देख सभी लोग आश्चर्यचकित रह गये। जामनगर-वासियों ने पुनरागमन के आग्रह के साथ उन्हें विदा दी।

मूर्ति-प्रतिष्ठा समारोह

श्री सर्वानन्दजी जामनगर से अहमदाबाद होते हुए देवगढ़ वारिया में गुरु महाराज की सेवा में पहुँचे। श्री स्वामी असंगानन्दजी वेदान्ती आदि अनेक महापुरुष समारोह में उपस्थित थे। संवत् १९९७ फाल्गुन शुक्ला ७मी को यह समारोह सम्पन्न हुआ। सन्तों के लिए तृण-कुटीर बने थे। छोटे-से कुम्भ का ही दृश्य खड़ा हो गया। वहाँ गुरु महाराज ने राजपीपला की महारानी साहिबा, अलिपुर राजपुर के महाराज, छोटा उदेपुर के राज-परिवार तथा अन्य कई राज-परिवारों को धर्मोपदेश दिया।

देवगढ़ वारिया से गुरु महाराज श्री असंगानन्दजी, सर्वानन्दजी आदि के साथ श्री स्वामी शान्तानन्दजी से मिलने के लिए नर्मदा-तट पर उनकी आनन्द-कुटी में पहुँचे। संवत् १९९८ (सन् १९४१) की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान नर्मदा में हुआ।

राजवाना में आश्रम-निर्माण

वहाँ से गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। लुधियाना के राजवाना गाँव में आपने अपने पूज्य गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज के लिए नया आश्रम बनवाया। परम गुरुदेव (श्री रामानन्दजी महाराज) ने आपको उसके उद्घाटन के अवसर पर राजवाना बुलाया। अतः अहमदाबाद से आप राजवाना पहुँचे।

राजवाना का समारोह सम्पन्न कर गुरु महाराज लुधियाना, लाहौर होते हुए कीर्तन-सम्मेलन के लिए पेशावर पधारे। वहाँ आपके सभापतित्व में शानदार कीर्तन-सम्मेलन हुआ।

पेशावर से आपने जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य के पञ्च-ज्योतिवाले मन्दिर की यात्रा की। वहीं सालिग्राम-कम्पनी के मालिक रायसाहब रूड़ारामजी ने आपसे दीक्षा

ली। रायसाहब गुरु महाराज के वर्तमान भक्तों में अग्रगण्य हैं। सदैव तन, मन, धन से गुरु-सेवा में निरत रहते हैं।

वहाँ से गुरु महाराज मसूरी आये और देहरादून के महन्तजी की कोठी लक्ष्मण-पुरी में निवास किया। मसूरी से श्री सर्वानन्दजी गुरुदेव के आदेशानुसार जामनगर गये और जामसाहब एवं प्रजा की चिर आकांक्षा पूर्ण की। गुरु महाराज मसूरी से अम्बाला होते हुए सिन्ध-हैदराबाद पहुँचे। वहाँ सेठ कृष्णचन्द लेखराज के अतिथि बने।

जामनगर में भव्य-स्वागत

श्री सर्वानन्दजी के चातुर्मास्य के लिए जामनगर पहुँच जाने से वहाँ के राजा, प्रजा दोनों में बड़ी प्रसन्नता थी। चातुर्मास्य का पूरा प्रबन्ध किया गया और सभी स्वाध्याय एवं प्रवचन का लाभ उठाने लगे। ऐसे अधिकारी शिष्य के परम अधि-कारी गुरुदेव के दर्शनार्थ सभी अति उत्सुक थे। जामसाहब ने गुरु महाराज के पास साग्रह निमन्त्रण भेजा। उसका सम्मान करते हुए आप चातुर्मास्य के बाद संवत् १९९८ की विजयादशमी को जामनगर पधारे। परम गुरुदेव पूज्य स्वामी रामानन्दजी महाराज भी साथ थे। जामनगर में राज्य की ओर से आपका भव्य स्वागत हुआ। प्रजा ने भी उसमें सोत्साह भाग लिया। यहाँ आप सेठ जमनादास पटेल, भनजी भानजी के बँगले में ठहरे।

जामनगर से गुरु महाराज अहमदाबाद आये। वहाँ से कोठारी लक्ष्मणानन्द को कुम्भ के प्रबन्ध के लिए प्रयाग भेज दिया। उधर काशी से श्री कृष्णानन्दजी भी प्रयाग पहुँच गये।

कानपुर में निर्वाण-मण्डल के साथ

गुरु महाराज अपनी मण्डली लेकर श्री सर्वानन्दजी के साथ अहमदाबाद से बम्बई होते हुए कानपुर पहुँचे। यहाँ आपका गंगापार रेती में पड़ाव रहा। वहीं आपके प्रवचन होते रहे। मल्लाहों में भी अपूर्व उत्साह दिखाई पड़ा। उन्होंने अपनी-अपनी नावें महाराजश्री के दर्शनार्थ आनेवाले भावुकों के लिए खुली छोड़ दीं। फलतः हजारों की संख्या में नगर की जनता रेती के विशाल सभा-स्थल पर आ जुटती। कानपुर-निवासियों का सन्त-दर्शन-प्रेम देखते ही बनता। गंगा-पार रेत में प्रतिदिन बीस-बीस हजार की उपस्थिति इसकी साक्षी दे रही थी।

उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा भी आपके सन्निकट गंगा-पार ही ठहरा था। तपस्वी निर्वाण-मण्डल के आ जाने से सन्त-समागम में चार चाँद लग गये। प्रति-दिन भण्डारे होने लगे। कथा के समय मंच पर दस-दस मन मिठाइयों का ढेर

लग जाता, जो बाद में गरीबों को बाँट दी जातीं। सैकड़ों घी के टीन, आटे की करीब ४०० बोरियाँ और ६०-७० बोरी चीनी जनता की ओर से सन्त-सेवा के लिए पहुँच गयीं। अन्त में यह सारा सामान गोशाला, पाठशाला तथा अन्यान्य संस्थाओं को बाँट दिया गया। कानपुर में ही प्रयाग-कुम्भ का छोटा-सा दृश्य उपस्थित हो गया।

अन्त में रामगोपाल, जुग्गीलाल कमलापत, हीरालाल सूतरवाला की ओर से सभी सन्तों की प्रयाग-यात्रा के टिकट आदि का प्रबन्ध किया गया। इस समारोह में सन्तों की संख्या लगभग एक हजार थी।

जनता ने सरसैया घाट से स्टेशन तक भव्य जुलूस के साथ सन्त-मण्डली-सहित आपको शानदार विदाई दी।

प्रयाग-कुम्भ

संवत् १९९८ (सन् १९४२) में प्रयाग-कुम्भ पर गुरु महाराज कानपुर से तीर्थराज आ पहुँचे। उन दिनों हिटलर के नेतृत्व में जर्मन-युद्ध (द्वितीय विश्व-युद्ध) चल रहा था। कलकत्ते में हलकी-सी बमबारी भी हुई थी। कानपुर, प्रयाग, लखनऊ आदि नगरों के लोग युद्ध-भय से त्रस्त हो रहे थे। आपने सभी को सान्त्वना देते हुए भविष्य-वाणी की कि 'हिटलर पराजित हो जायगा और भारत का बाल भी बाँका न होगा। इतना ही नहीं, हमारा देश शीघ्र स्वतन्त्र भी हो जायगा।'

प्रयाग की छावनी में लगभग ५००० व्यक्ति ठहरे थे। अन्न-क्षेत्र चलता रहा। काशी के उदासीन संस्कृत विद्यालय के छात्र भी बुलाये गये। उनका छावनी में शास्त्रार्थ हुआ करता। आपके उदार स्वभाव एवं स्वाभाविक छात्र-वत्सलता के कारण उन्हें आने-जाने का मार्ग-व्यय, वस्त्र, दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट किया गया।

सुविख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालुजी तथा काशी के अन्य प्रमुख विद्वान् भी छावनी में ठहरे थे। आपने द्रव्य-वस्त्रादि से उन सबका भी योग्य सत्कार किया। विद्वानों एवं विद्यार्थियों के सम्मेलन, शास्त्रार्थ, व्याख्यान आदि के साथ उनके समुचित सत्कार की यह प्रथा गुरु महाराज के शिविर की अपनी विशेषता है। इसका एकमात्र कारण आपका अतुलनीय विद्या-प्रेम और वैदुष्य ही है। छात्रों को न केवल द्रव्य-वस्त्रादि ही आप द्वारा भेंट किये जाते, प्रत्युत कितने ही प्रतिष्ठित विद्वानों के लिखे वेदान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ और आध्यात्मिक साहित्य भी खरीदकर पुरस्कार, पारितोषिक रूप में बाँटा जाता और छात्रों का उत्साह बढ़ाया जाता। आप जैसे सर्वशास्त्र-निष्णात, अद्भुत प्रतिभाशाली ब्रह्म-

निष्ठ महातपस्वी की ओर से इतना सम्मान एवं प्रोत्साहन विद्वानों तथा छात्रों के लिए गौरव और उत्साह की बात होती।

वृन्दावन का प्रथम वार्षिकोत्सव

प्रयाग-कुम्भ की पूर्णाहुति कर गुरु महाराज श्री सर्वानन्दजो के साथ वृन्दावन पधारे। संवत् १९९८ (सन् १९४२) की फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को नवनिर्मित श्रौतमुनि-निवास का उद्घाटन हुआ। इस अवसर पर समष्टि-भण्डारा हुआ, जिसमें साधु तथा ब्राह्मण मिलकर ७००० लोगों ने भोजन किया।

उसी समय से वृन्दावन में वार्षिकोत्सव मनाने की प्रथा डाली गयी, जो अभी तक लगातार प्रतिवर्ष चली आ रही है। इसी तिथि को यह उत्सव रखने का मुख्य कारण यह है कि यह परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज का प्राकट्य-दिन है। उत्सव में बहुत-से विद्वान्, कीर्तनकार भाग लेते रहते हैं।

संवत् १९९९ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान यमुनाजी में ही हुआ।

गुरु महाराज के आदेशानुसार श्री सर्वानन्दजी यहाँ से राज-परिवार के आमन्त्रण पर देवगढ़ बारिया गये और आप हरिद्वार, लुधियाना, जगराँव, मोगा, जीरा आदि कसबों, ग्रामों में घूमते हुए अमृतसर पधारे। समय-समय पर आप अपने गुरुदेव के आदेशानुसार विभिन्न ग्रामों में पहुँचकर ग्रामीण जनता को दर्शन और सत्संग का लाभ देते रहे।

अमृतसर से गुरु महाराज लाहौर गये। वहाँ रायसाहब बलवन्तराय के साथ साकेतमण्डी के प्रसिद्ध ठीकेदार श्री हीरालालजी के भतीजे लाला देवकीनन्दनजी, जजसाहब आपके दर्शनार्थ आये थे।

जोगीन्द्रनगर में

जजसाहब की प्रार्थना पर गुरु महाराज जोगीन्द्रनगर पधारे। उन दिनों उनकी ड्यूटी वहीं थी। वहीं वजीर साहब यादव सिंह के परिवार ने आपके दर्शन किये। जजसाहब स्वयं मोटर चलाकर आपको अपने निवास-स्थान मण्डी के ठोकेदार-हाउस तक ले गये। वहाँ आपसे परिवार का परिचय कराया गया।

एक-दो घण्टे विश्राम के बाद जजसाहब आपको कुल्लू नगर से ९ मील पर विजौरा ग्राम के अपने विशाल बगीचे में ले गये। बाग में फलों से लदे सेव, आलूबुखारा आदि के वृक्ष थे और बीच में छोटा-सा झरना बह रहा था। एकान्त साधना के लिए यह बड़ा ही सुन्दर और शान्त स्थल था। बड़ी कोठी में आपके निवास का सुप्रबन्ध कर जजसाहब पुनः जोगीन्द्रनगर लौट आये।

उन दिनों बगीचे का प्रबन्ध श्री केशवरामजी देखते थे, जो जजसाहब के चचेरे भाई थे। वे अंग्रेजी के साथ वेदान्त के भी अच्छे विद्वान् थे। केशवरामजी सदैव आपकी सेवा में लगे रहते। उनके बड़े भाई श्री वल्लभदासजी भी कभी-कभी आपके दर्शनार्थ बिजौरा आ जाया करते। इस तरह ग्रीष्मकाल में गुरु महाराज इसी गाँव में ठहरे।

वहाँ से गुरु महाराज अहमदाबाद आये। श्री सर्वानन्दजी भी बारिया से वहाँ पहुँच गये। यहीं आपको मौरवी (काठियावाड़) के महाराज श्री लखधीर सिंह तथा महारानी केसर कुँवर बा का मौरवी में चातुर्मास्य करने के लिए आग्रह-भरा निमन्त्रण पहुँच गया था। तदनुसार आप सर्वानन्दजी के साथ मौरवी के लिए रवाना हुए।

मौरवी में राजा-प्रजा को उपदेश

मौरवी पहुँचने पर गुरु महाराज का राजकीय स्वागत किया गया और आपको शंकराश्रम में ठहराया गया। राज्य की ओर से सारी व्यवस्था की गयी थी। उन दिनों इस आश्रम का व्यवस्थापक श्री नारद शर्मा था।

नरेश की प्रार्थना पर गुरुदेव ने उन्हें और उनकी महारानी को वेदान्त सिखलाने के लिए श्री सर्वानन्दजी को आदेश दिया। राज-दम्पती सोत्साह वेदान्त का स्वाध्याय करने लगे।

उन्हीं दिनों महात्मा गांधी का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। देश के सभी प्रमुख नेताओं को ब्रिटिश शासकों ने जेलों में ठूँस दिया। नारद शर्मा राष्ट्रभक्त था। उसने गुरु महाराज के पास आकर रोते हुए बताया : 'स्वामीजी, बम्बई में बापू, जवाहरलाल आदि सभी नेता गिरफ्तार हो गये हैं।'

इन्हीं दिनों यहाँ के कुछ लीगियों ने विदेशियों से प्रोत्साहन पाकर राजा-प्रजा के बीच वैमनस्य फैलाने की कुचेष्टा की। कतिपय अदूरदर्शियों को उत्तेजित किया गया और पोस्ट द्वारा राजमहल में राजा के नाम काँच की चूड़ियों का पार्सल भिजवाया।

दूसरे दिन जब सर्वानन्दजी नित्य की तरह राजमहल में पढ़ाने गये, तो मौरवी-महाराज ने अनुरोध किया कि आप पूज्य स्वामीजी को अभी महल में ले आयें, अत्यावश्यक कार्य है।

साश्चर्य सर्वानन्दजी ने आकर गुरुदेव को यह सन्देश बताया। कार्य का गौरव देख आप भी तत्काल राजभवन में पधारे। महाराज ने हाथ पकड़कर स्वागत करते हुए आपको आसन पर बिठाया और साश्रुनयन कहने लगे :

'स्वामीजी महाराज, कुछ विरोधी तत्त्व मेरे और प्रजा के बीच वैमनस्य खड़ा करने के लिए सचेष्ट हैं। देखिये, किसीने मेरे नाम चूड़ियों का यह पार्सल भेजकर मुझे अपमानित किया है। मदान्ध शासकों की तरह मैं अपनी प्रजा का दमन करना नहीं चाहता। हमारे यहाँ पीढ़ियों से राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र का-सा सम्वन्ध चला आ रहा है। आप सुनते ही हैं कि मेरे प्रजाजन मुझे 'वापू' और महारानी को 'वा' के मधुर नामों से सम्बुद्ध किया करते हैं। भूल करने पर भी पिता अपने पुत्रों को कठोर दण्ड कैसे दे सकता हैं?'—समदृष्टि सन्त के समक्ष अधीर हो अपना हृदय उँड़ेलकर महाराज लखधीर सिंह मौन हो गये।

गुरुदेव ने आश्वासनभरे शब्दों में कहा : 'राजन्! यदि आपकी सचमुच ऐसी उदार सद्भावना है तो एक नहीं, हजार विरोधी खड़े हो जायँ, प्रजा में कभी अशान्ति न फैल पायेगी। मैं आपका अभिप्राय समझ गया। सभा करके प्रजा का अभिप्राय भी समझ लिया जायगा। जिस विशाल देव-मन्दिर में प्रतिदिन आध्यात्मिक प्रवचन होते हैं, वहीं कल राजनीतिक प्रवचन भी हो जाय। प्रजा को विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाय। फिर हम उसे उपदेश देंगे, सबको समझायेंगे।'

आपने आगे कहा : 'किन्तु एक शर्त है, वहाँ के मेरे वक्तव्य पर आपको भी किसी प्रकार बुरा न मानना होगा। राजा को प्राय: अपनी प्रभुता का मद हुआ करता है। अपने विरुद्ध जरा-सी वात सुन चिढ़ उठना उसका स्वभाव है। इस समझाने में दोनों पक्षों के लिए यथाप्रसंग कुछ कड़ी बातें भी कहनी पड़ें। यदि आप राज्य का यह अशान्ति-ज्वर दूर करने के लिए कटु सत्य की गोली खा सकें, तो उपदेशों द्वारा प्रजा को समझाकर सन्मार्ग पर लाने में हमें कोई आपत्ति नहीं।'

दूरदर्शी, साधुसेवी, नीति-प्रवण, प्रजावत्सल राजा श्री लखधीर सिंह सहमत हो गये। सभक्ति प्रणामपूर्वक उन्होंने आपको बिदा दी। श्री सर्वानन्दजी के साथ आप अपने निवास पर लौट आये।

दूसरे दिन गुरु महाराज की धर्म-प्रवचन-सभा में मोरवी के सभी प्रमुख प्रजाजन एकत्र थे। राजासाहब भी उपस्थित थे। उनके समक्ष गुरु महाराज एवं सर्वानन्दजी के मार्मिक प्रवचन हुए। गुरु, शिष्य दोनों के प्रवचनों का सार निम्नलिखित है :

'प्रसन्नता की वात है कि काठियावाड़ में राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का-सा है। यह हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृति के सर्वथा अनुरूप है। भारत के प्राचीन इतिहास में प्रजावत्सल राजाओं की प्रचुर चर्चा है। प्रजावत्सल

श्री रामचन्द्र ने जन-मत का आदर करते हुए अग्नि-परिशुद्धा प्राणप्रिया सीता का भी परित्याग कर दिया। स्वनामधन्य राजा विक्रमादित्य रात्रि में वेप वदल घूम-घूमकर प्रजा के कष्टों का पता लगाते और सतत उनके कष्ट-निवारण करते थे। महाराज सगर के हृदय में प्रजा के लिए पुत्र से भी अधिक प्रेम था। उसने अपने प्राणप्रिय युवराज असमंजस को भी, प्रजा के वालकों का अपकार करने के कारण, निर्वासित कर दिया। प्रसन्नता की बात हैं कि अपने एक साधारण प्रजाजन हरिजन की प्रार्थना पर, आज भी काठियावाड़ के एक नरेश ने उसकी कन्या के विवाह में सम्मिलित हो अपने 'वापू' होने का आदर्श प्रस्तुत कर दिखाया है।

प्रजाजनो ! आज देश पर संकट के बादल छाये हुए हैं। देश किसी एक का नहीं होता। जैसा प्रजा का, वैसा ही राजा का होता है। यदि देशी-राज्यों में हम उपद्रव करेंगे, तो पर्यायतः ब्रिटिश शासन के ही हाथ मजबूत करेंगे। रियासती प्रजा का, सन्तान का अपने वापू से, राजा से झगड़ा छिड़ जायगा और विरोधी तालियाँ पीटेंगे। इसलिए हमें सर्वप्रथम विदेशी इलाकों में ही यह आन्दोलन चलाना चाहिए, ताकि विदेशी शक्ति दुर्वल, क्षीण हो जाय। अपने देशी-राज्यों को सर्वथा सुरक्षित रखा जाय, ताकि समय पर वे हमारे काम आयें। मेरा कई वार का अनुभव है कि धार्मिक-संस्था, शिक्षा-संस्था या अकाल-फण्डों में ये देशी-नरेश उदार हाथों सहायता करते आये हैं। काठियावाड़ के कई राज्यों में 'अकाल-निधि' संगृहीत है और यथासमय उसके द्वारा अकाल-पीड़ित जनता की पर्याप्त सेवा होती आ रही है।

पूज्य मदनमोहन मालवीयजी ने करीव तीन करोड़ की निधि से हिन्दू विश्व-विद्यालय की जो स्थापना की, उसमें भी दान का प्रचुर भाग इन्हीं देशी-नरेशों का है। हम अधिक कहना नहीं चाहते। आप और आपके राजा के बीच का पिता-पुत्र का दिखावे का सम्वन्ध कभी उचित नहीं। ऊपरी तौर पर राजा प्रजा को 'पुत्र' कहे और प्रजा उसे 'पिता', यह दम्भ, मिथ्या भाषण कभी कल्याणकारी नहीं। दोनों में हृदय-शुद्धि सर्वथा अपेक्षित है। ऊपरी सफाई उतनी काम की नहीं, जितनी आन्तरिक होती है। आप लोग खरबूजा वनिये, नीबू नहीं। नीबू ऊपर से साफ, चिकना मालूम पड़ता है, पर काटने पर उसमें अलग-अलग फाँकें दीखने लगती हैं। इसके विपरीत खरबूजा ऊपर से अलग-अलग लकीरोंवाला दीखता है, पर काटने पर भीतर से एकदम घुला-मिला रहता है।

राजा और प्रजा दोनों स्पष्ट सुन लें कि हम साधु-सन्त सभीके हैं और सभी हमारे हैं। फिर, अनासक्ति की दृष्टि से तो न कोई हमारा है और न हम किसी के सन्त का कर्तव्य होता है कि वैद्य की तरह भव-रोगी को तीक्ष्णातितीक्ष्ण, अति

कटु औषधि पिलाये, ताकि उसकी पारस्परिक विरोधरूप व्याधि समूल नष्ट हो वह शान्त-समाहित हो जाय। सारांश, आप लोग ऊपर से भले ही अलग दीखें, किन्तु हृदय से एक होना अत्यन्त आवश्यक है। हार्दिक भिन्नता बुरी चीज है। उसके रहते ऊपर की कृत्रिम एकता निष्फल और निरर्थक है। या तो आप राजा को 'बापू' कहना छोड़ दें या उसके आदेशों का पालन करें। इसी तरह राजा भी या तो अपनी प्रजा को 'पुत्र' कहना छोड़ दे या उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा कि युवराज के साथ करता है।'

आप लोगों के इस संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त सारगर्भ हार्दिक उपदेश का राजा, प्रजा दोनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उन दिनों मौरवी में फिर कभी किसी प्रकार की अशान्ति नहीं हो पायी।

राजा के प्रश्न, सन्त के उत्तर

मौरवी में भाद्रपद शुक्ला नवमी संवत् १९९९ को जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य का जयन्ती-उत्सव धूमधाम से मनाया गया। राजा साहब बड़े धार्मिक-प्रकृति थे। सायंकाल की गोष्ठी में उपस्थित हो उन्होंने गुरु महाराज से प्रश्न किया :

'महाराज, ये श्रीचन्द्र भगवान् कौन थे, कब हुए, किस सम्प्रदाय के थे और शंकराचार्य-सम्प्रदाय से उनका क्या सम्बन्ध था? कृपया यह सब संक्षेप में समझायें।'

नरेश की इतनी तीव्र जिज्ञासा-वृत्ति देख गुरु महाराज का हृत्पुण्डरीक (हृदय-कमल) खिल उठा और उसमें निहित साम्प्रदायिक विज्ञान की किरणें शब्दों के रूप में बाहर बिखर पड़ीं। उन्होंने कहा :[1]

'श्रीचन्द्राचार्य १६वीं शताब्दी में हमारे उदासीन-सम्प्रदाय के पुनःप्रवर्तक आचार्य हुए हैं। वैसे इस सम्प्रदाय के मूलपुरुष सनकादि हैं। श्रीमद्भागवत के ११श स्कन्ध के १३वें अध्याय में यह प्रसंग आया है। वहाँ पितामह ब्रह्मदेव की प्रार्थना पर परमहंस साधु के वेष में अवतीर्ण हो भगवान् विष्णु ने सनकादि मुनियों को उदासीन-सम्प्रदाय की दीक्षा दी है। भगवान् विष्णु के २४ अवतारों में इस हंसावतार की गणना है। इनका लीला-विग्रह हंस-पक्षी का नहीं, अपितु

---

१. यद्यपि यह विषय प्रकारान्तर से पिछले प्रकरणों में आ चुका है, फिर भी नवीन प्रकार से विषय की सुन्दर स्थापना और वह भी प्रत्यक्ष गुरु महाराज के श्रीमुख से होने के कारण पुनः दिया जा रहा है। साथ ही यह विषय सम्प्रदाय का सर्वाधिक महत्त्व का सिद्धान्त है। अतः उसकी सुपुष्टि के लिए यह निरूपण पुनरुक्त नहीं माना जायगा।

परमहंस साधु का है। 'हंस' परमहंस का ही संक्षिप्त नाम है। ब्रह्माजी गृहस्थ थे। वे चतुर्थाश्रम की दीक्षा नहीं दे सकते थे। वैसा करने में मर्यादा-भंग का भय होता। अतएव उन्होंने सनकादि की दीक्षा के लिए भगवान् विष्णु से हंसावतार ग्रहण करने की प्रार्थना की थी।

सनकादि चार वन्धुओं में प्रधान भगवान् सनत्कुमार ही थे। उनके मुख्य शिष्य अष्टादश पुराणों के निर्माता महामुनि व्यास के गुरुदेव देवर्षि नारद थे। इन्हीं आचार्यश्री सनत्कुमार से १६४वीं पीढ़ी में वेदमुनि के शिष्य अविनाशी मुनि हुए। उन्हींके शिष्य ये जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् हैं। इनका प्रादुर्भाव संवत् १५५१ भाद्रपद शुक्ला नवमी के शुभदिन हुआ है।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'राजन्, आपके चार प्रश्नांशों में तीन का उत्तर हमारे अव तक के विवेचन से हो जाता है। अब अन्तिम अंश का भी समाधान किया जा रहा है। विषय दार्शनिक होने से सावधान होकर श्रवण करें।

हाँ, तो शंकराचार्य-सम्प्रदाय के सन्त और उदासीन-सम्प्रदाय के सन्त दोनों का सिद्धान्त 'अद्वैत' ही है। अन्तर केवल साधन-कोटि में पड़ता है। शांकर-सम्प्रदाय में मुक्ति का साधन केवल ज्ञान माना गया है, जब कि उदासीन सम्प्रदाय में भक्तिसहित ज्ञान मुक्ति का साधन है।

वन्ध के विषय में भी दोनों में थोड़ा मतभेद है। शांकर-मत में अविद्या वन्ध है और उसकी ज्ञान से निवृत्ति मानी जाती है। किन्तु उदासीन-मत में समष्टि और व्यष्टि-भेद से दो प्रकार के वन्ध माने गये हैं। समष्टि बन्ध माया है, तो व्यष्टि वन्ध अविद्या। अविद्या का ज्ञान से नाश होने पर भी माया के अपसारण के लिए भक्ति अपेक्षित ही होती है।

राजन्, यह विषय गहन है। अतः उदाहरण द्वारा इसे समझने का यत्न करें।

प्राचीन समय में नगरों के चारों ओर कोट रखने की प्रथा थी। नगर से वाहर जाने के लिए विभिन्न दिशाओं में कई द्वार रखे जाते थे। रात्रि के समय राजा की आज्ञा से वे बन्द कर दिये जाते। नियत समय से पहले उन्हें कोई खोल नहीं सकता था। राजा के सैनिक बन्दूक लिये वहाँ पहरा देते रहते, ताकि कोई बाहरी शत्रु नगर में प्रविष्ट हो उपद्रव न कर सके।

अब इसी दृष्टान्त की दार्ष्टान्त से तुलना कीजिये। नगर-द्वार समष्टि है, जब कि गृह-द्वार व्यष्टि है। गृह-द्वार की चावी गृहपति के हाथ में है, वह जब चाहे, दरवाजा खोल बाहर आ-जा सकता है। किन्तु नगर-द्वार बिना राजा की आज्ञा के किसीके लिए खोला नहीं जा सकता। उसकी चावी राजपुरुष के हाथ

रहती है। फिर भी कोई मनुष्य सेवा से राजा का विशेष कृपापात्र बन जाय, तो उसे राजा की ओर से आदेश-पत्र मिल सकता है कि 'इसे किसी भी समय बाहर जाने के लिए द्वार खोल दिया जाय।' तब वह दोनों दरवाजे खोल और खुलवाकर सरलता से बाहर जा सकता है।

निष्कर्ष यह कि नगर से बाहर जाने के लिए गृह-द्वार और नगर-द्वार दोनों का उद्‌घाटन अनिवार्य है। जब तक एक भी द्वार बन्द रहे, कोई बाहर जा नहीं सकता। गृह-द्वार के सदृश जीव का व्यष्टि-बन्धन अविद्या है। उनका उद्‌घाटन, नाश निःसन्देह ज्ञान से होगा। वह जीव के हाथ की बात है। गुरु की शरण में उपस्थित होकर साधक अधिकारी श्रवणादि साधनों से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु नगर-द्वार समष्टि-बन्धन, माया है। वह राजाधिराज ईश्वर की कृपा के बिना कभी खुल नहीं सकता। उसके लिए भक्ति-प्रसूत भगवत्प्रसाद ही प्रधानतम साधन है।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'गीता, वेद, उपनिषद् आदि के अवलोकन से उपर्युक्त सिद्धान्त की सुपुष्टि होती है। प्राचीन वृत्तिकार, भर्तृप्रपञ्चकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय मुक्ति का कारण बताते हैं। श्री शंकराचार्य केवल ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते हैं, तो उदासीनाचार्य जगद्‌गुरु श्रीचन्द्र भगवान् भक्ति और ज्ञान दोनों के समुच्चय से मुक्ति मानते हैं।

इसकी विशद व्याख्या ब्रह्मसूत्र के चान्द्र-भाष्य में आचार्यपाद ने की है। गोवत्स-दृष्टान्त और पटलावृत चक्षु-चिकित्सक के दृष्टान्त से यह विषय सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। मेरी 'भक्ति-ज्ञानसमुच्चय-चन्द्रिका' पुस्तक में इस विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है।'

'महाराज, क्या अन्य सम्प्रदायों की तरह उदासीन-सम्प्रदाय के भी 'प्रस्थान-त्रयी' पर भाष्य हैं ?'—राजा ने उत्सुकता के साथ प्रश्न किया।

गुरु महाराज ने कहा : 'हाँ !'

'तो क्या वे आज कहीं उपलब्ध हो सकते हैं ?'

आपने प्रत्युत्तर दिया : 'नहीं, आस्तिक श्रद्धालु पूर्वपुरुष प्रायः साम्प्रदायिक पुस्तकों को गोप्य रखते थे। अतएव वे भी अभी तक अमुद्रित रहे हैं। आचार्यश्री की प्रेरणा हुई तो प्रकाशित हो जायँगे।'

राजासाहब ने नम्रता से कहा : 'स्वामीजी, आपको कष्ट न हो तो गोवत्स-दृष्टान्त और पटलावृत चक्षु-चिकित्सक के दृष्टान्तों का स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।'

गुरु महाराज ने कहा : 'राजन्, आपकी जिज्ञासा-वृत्ति सचमुच प्रशंसनीय है। मुझे ऐसे अवसरों से कष्ट नहीं, प्रसन्नता ही होती है। सुनिये :

गोवत्स-दृष्टान्त यह है—बछड़े के स्नेह से गाय व्रज (वाड़े) में आ जाती है। उसका मालिक उसे खूँटे से बाँध देता है। बछड़े के बड़े होने पर या किसी कारणवश प्रिय न होने पर गाय का उससे स्नेह-बन्धन छूट सकता है, शिथिल हो सकता है। उसके निवारण में गाय स्वतन्त्र है—बेचारे बछड़े से स्नेह करे या न करे। किन्तु खूँटे के साथ गाय का जो रज्जु द्वारा बन्धन है, उसका निराकरण उसके स्वामी की कृपा पर ही निर्भर है।

दूसरे दृष्टान्त में—नेत्र की धूलि या सूक्ष्म मल दूर करने में तो मनुष्य स्वतन्त्र है। किन्तु नेत्र पर जो मोतियाविन्द आदि का पटल आ जाता है, उसका निराकरण चिकित्सक, डॉक्टर के ही हाथ की बात होती है।'

विषय का उपसंहार करते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'राजन्, अब आप समझ गये होंगे कि वत्स-स्नेहतुल्य अविद्या का निराकरण करने में जीव स्वतन्त्र है, पर खूँटे के साथ गाय के बन्धन रज्जु के सदृश माया के बन्धन का छूटना तो जगदीश्वर की कृपा पर ही निर्भर है। अविद्या-धूलि को जीव भले ही झाड़ दे, पर मोतियाविन्द से होनेवाले आँख के पटल की तरह माया-पटल दूर करना तो भवरोग-वैद्य मायापति बाँकेविहारी के ही हाथों है।'

मोरवी-महाराज ने आपका भक्ति-ज्ञान-समुच्चय सिद्धान्त का यह विवरण सुन मुक्तकण्ठ से कहा : 'भगवन्, मुझे भी यह सिद्धान्त प्रिय है।'

तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर सचमुच यह बात मन में बैठती भी है। ज्ञान और भक्ति का पुत्र और माता का नाता है। पुत्ररत्न से जिसकी गोद खाली हो, वह माता नहीं, 'वन्ध्या' कहलाती है, अनादरणीय और अभागी मानी जाती है। फिर, मातृविहीन पुत्र भी जीवनभर अपुष्ट ही बना रहता है। जो बचपन में माँ का दूध पिया ही नहीं, भला वह क्या बल दिखा सकता है? व्यावहारिक उदाहरण ही इसके साक्षी हैं। इसके लिए विशेष विवरण अपेक्षित नहीं। अतएव ज्ञान-भक्ति-समुच्चय का सिद्धान्त व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरता है।

गोष्ठी में उपस्थित प्रजाजनों ने गुरु महाराज के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए राजासाहब के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की, जिनकी जिज्ञासा पर यह अनमोल ज्ञान मिला।

भावनगर में

चातुर्मास्य समाप्त कर गुरु महाराज ने श्री सर्वानन्दजी और अपनी मण्डली

के साथ भावनगर के लिए प्रस्थान किया। श्री नानजीभाई पटेल भावनगर पधारने का वर्षों से आग्रह कर रहे थे। स्टेशन पर विदाई देने के लिए मौरवी के महाराज उपस्थित थे। उन्होंने वहीं साग्रह अनुरोध किया कि 'मौरवी की तरह भावनगर में भी गुरु महाराज अपने उपदेशों से शान्ति स्थापित करने का अनुग्रह करें। इन दिनों काठियावाड़ में उपद्रव अधिक बढ़ रहे हैं। राजा-प्रजा के सम्बन्ध उत्तरोत्तर विगड़ते जा रहे हैं।'

आपने उत्तर दिया : 'शासक आपकी तरह पूर्ण श्रद्धालु हो, तभी हम सन्तों के उपदेशों से राजा-प्रजा में शान्ति स्थापित हो सकती है। भावनगर के शासक से अभी विशेष परिचय नहीं है। यदि परिस्थिति अनुकूल रही, तो सन्त का कर्तव्य ही है कि स्वयं शान्त रहे और लोगों को भी शान्त रखने का प्रयास करे। साधारण शान्ति की तो वात ही क्या, परम शान्ति मुक्ति भी सन्तों की कृपा से सुलभ हो जाती है, यदि साधक श्रद्धा आदि दैवी सम्पदाओं से युक्त हो।'

भावनगर पहुँचकर गुरु महाराज तख्तेश्वर प्लॉट के नानजीभाई पटेल के वँगले में ठहरे। यहाँ एक मास निवास हुआ। निर्मलकुमार, धर्मकुमार, महाराज भावनगर, महारानी आदि सारे राज-परिवार ने आपके दर्शन किये और सभी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। श्री वीना रानी ने अपने वँगले पर सादर निमन्त्रित कर आपका सभक्ति स्वागत किया। उसका पीहर त्रिपुरा का राज-परिवार तो पहले से ही गुरु महाराज से अनुगृहीत था। वीना रानी की वड़ी वहन वारिया की वर्तमान राजमाता ने उनको गुरु महाराज के दर्शन करने के लिए पत्र लिखा था। श्री वीना रानी अति साध्वी और भगवान् राम की परम भक्ता हैं। सतत रामायण का पारायण करना और सन्तों से प्रभु रामचन्द्र के लीला-रहस्य समझना उनका जीवन-व्रत ही है।

यहाँ यशोनाथ में गुरु महाराज के प्रवचन होते रहे। परिचय पाकर जनता उत्तरोत्तर अधिकाधिक संख्या में आकृष्ट हो चली थी।

इन दिनों भावनगर में शासकों की ओर से प्रजा पर दमन-चक्र चल रहा था। श्री प्रभाशंकर पट्टणी के पुत्र श्री अनन्तराय भावनगर के दीवान रहे। लोग उनसे घृणा करते, कारण दमन का सारा दायित्व, मुख्य दीवान होने के नाते, उन्हीं पर आता था।

दीवान अनन्तराय के पिता प्रभाशंकर पट्टणी गुरु महाराज के भक्त थे। दिल्ली, शिमला आदि कई स्थानों पर आपसे उनकी भेंट हो चुकी थी। सम्भव है, पिताजी ने ही दीवानसाहब को आपके सम्बन्ध में कुछ बताया हो।

दीवान अनन्तराय से वार्ता

एक दिन अकस्मात् दीवान अनन्तराय गुरु महाराज के दर्शनार्थ उनके बँगले पर आये। आपने सस्नेह अपने कमरे में उन्हें बैठाया और एकान्त में दोनों की खुलकर वार्ता हुई।

गुरु महाराज ने कहा : 'दीवानसाहब, देश केवल कांग्रेसी राष्ट्र-सेवकों का ही नहीं, हमारा और आपका भी है। देश-भक्ति मानव की अमूल्य सम्पदा है। संग्राम में महाबली रावण को जीत प्रभु राम ने भक्तराज विभीषण को लंकापति के पद पर अभिषिक्त कर दिया, तो, लंकेश विभीषण ने भगवान् से एक सप्ताह लंका में विश्राम करने की साग्रह प्रार्थना की। अनुज लक्ष्मण ने भी उसका समर्थन कर दिया। किन्तु अपनी भारत-माता के दर्शनार्थ अत्यधिक लालायित प्रभु राम ने उसे स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा कि 'भक्तराज, जननी और जन्मभूमि मानव को स्वर्ग से भी बढ़कर हुआ करती हैं, अतः मैं ठहर नहीं सकता।' 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' उन्होंने भाई लक्ष्मण को भी दो टूक जवाब दिया : 'भाई लक्ष्मण, सोने की होकर भी लंका मातृभूमि के सामने मुझे बिलकुल नहीं भाती' :

'अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।'

दीवानसाहब खिन्न-मुख हो कहने लगे : 'महाराज, मैं भी देश-भक्त हूँ। पर क्या करूँ ? विवश हूँ। पूज्य पिताजी ने एक बात कही थी। पर बचपन के कारण उस पर विश्वास नहीं बैठता था। किन्तु आज वह रह-रहकर याद आ रही है। उठते-बैठते, खाते-पीते उनके वे शब्द कानों में गूँज रहे हैं। उन्होंने कहा था : 'बेटा अनन्त ! लोग समझते हैं कि हाकिम-अफसर बनने पर मनुष्य की प्रगति होती है। मैं जीवनभर कितने ही महत्त्व के पदों पर रह चुका हूँ। आज भी भावनगर के शासन की बागडोर मेरे हाथ है। न केवल अपने देश की जनता, बल्कि विदेशी शासन का भी विश्वास-पात्र हूँ। दूसरे शब्दों में जनता और सरकार दोनों मुझे प्यार करते हैं। किन्तु ध्यान रख, जो मनुष्य राजकीय पद पर आरूढ़ होता है, उसके लिए नरक का द्वार खुल जाता है। अधिकारी बनना नरकगामी होने का बहुत बड़ा साधन है। जो नरक से डरता है, भूलकर भी कोई सरकारी पद स्वीकार न करे। सरकारी कुर्सी नरक का सोपान है।' महाराज, आज इस उक्ति की सत्यता का अक्षरशः अनुभव कर रहा हूँ। पद के लोभ से न चाहते हुए भी अपने देशभक्त बान्धवों पर दमन का चक्र चलाना पड़ रहा है। यदि प्रजा का पक्ष लेता हूँ, तो अधिकार छिनने का भय है। और यदि सरकारी आदेश

का पालन करता हूँ, तो निरपराध देशभक्तों को अकारण पीड़ा पहुँचाने का महान् पाप सिर चढ़ता है।'

दीवान अनन्तराय बीच में ही चुप रह गये।

गुरु महाराज सान्त्वना के स्वर में कहने लगे: 'दीवानसाहब, प्रसन्नता की बात है कि आपके दिल में देश की पीड़ा है। मौरवी में भी लीगवालों ने राजा-प्रजा के बीच वैमनस्य फैलाने को कुचेष्टा की थी। किन्तु राजासाहब लखधीर सिंह की सद्भावना से सहज ही वह संकट टल गया। मुझे विदा देते हुए स्टेशन पर राजासाहब ने अनुरोध भी किया था कि किसी तरह भावनगर राज्य का भी उपद्रव शान्त हो। सौभाग्य की बात है कि आप अकस्मात् मिल गये और मैं आपके हृदय से परिचित हो पाया। आपके महाराज कृष्णकुमार और महारानी भी प्रजा के प्रति पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखते हैं। राज्य में शान्ति होने पर वे भी प्रसन्न ही होंगे। अब आप मेरे परामर्श से दमनचक्र ढीला कर दें। घबड़ायें नहीं, विदेशी शासन आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। आप अपने पूज्य पिता के ही पद-चिह्नों पर चलें। वे राजा और प्रजा दोनों को प्रसन्न रखते थे। आप जानते ही हैं कि उन्हींके कठिन प्रयास से कांग्रेस और विदेशी सरकार के बीच 'गांधी-इरविन-समझौता' हो सका।'

यह दूरदर्शिता!

दीवान अनन्तराय गुरु महाराज की गम्भीर मन्त्रणा से गद्गद हो उठे। उन्हें आपमें पिता की झाँकी दीख पड़ी। सभक्ति सादर प्रणाम कर वे चले गये।

दूसरे दिन! आपका नित्य की तरह सार्वजनिक प्रवचन प्रारम्भ हुआ। प्रवचन में कांग्रेस के उत्साही युवक भी आया करते थे। आज आपने अपने प्रवचन में उन्हें भी यही परामर्श दिया कि आप लोग देशी-राज्यों को छोड़ विदेशी-शासित इलाकों में आन्दोलन चलायें, जिससे विदेशी शासकों की शक्ति क्षीण हो जाय। आपने कहा: 'देशी-रियासतें तो अपनी ही हैं। विदेशी शासकों की जड़ उखड़ते ही सबकी सब अपने-आप राष्ट्र-सेवार्थ स्वार्थ-त्याग और औदार्य का पूर्ण परिचय देंगी। विदेशी शासकों की यही कूटनीति रही है कि 'फूट डालो और शासन करो।' ब्रिटिश शासकों की यह नीति अब किसीसे छिपी नहीं रही।'

आपने स्पष्ट कहा कि 'नेताओं की गिरफ्तारी के विरुद्ध यदि देशी-राज्य के प्रजाजनों को कोई कदम उठाना हो, तो उसका समुचित क्षेत्र विदेशी इलाके ही हैं। वहीं पहुँचकर आप लोग सत्याग्रह आदि शुरू करें।'

सभा के बाद गुरु महाराज के डेरे पर एक लड़के के पिता पहुँचे। ये एक सरकारी कर्मचारी थे। पेन्शन होने ही वाली थी कि लड़का कट्टर कांग्रेसी बन गया। पिता ने घबड़ाते हुए आज ही सभा में उठकर आपसे प्रार्थना की थी कि 'महाराज, कहीं इसकी हरकतों के कारण मैं नौकरी से पृथक् न कर दिया जाऊँ। बुढ़ौती में कोई नया काम भी नहीं कर सकता। इसकी हरकत से अब तक की सेवा का पुरस्कार, पेन्शन भी कट जाने का भय है।'

गुरु महाराज ने अपने निवास पर उस वृद्ध के पुत्र को बुलवाया और परामर्श दिया कि 'यदि तुम राष्ट्र-सेवा करना चाहते हो, तो ब्रिटिश इलाके में पहुँचकर करो। पूज्य पिता को व्यर्थ संकट में क्यों डाल रहे हो ?'

इस दूरदर्शितापूर्ण सलाह का परिणाम यह हुआ कि भावनगर में आन्दोलन की गति तत्काल मन्द पड़ गयी और वहाँ का सारा जन-उत्साह विदेशी-शासित प्रदेशों में उमड़ पड़ा। यहाँ भी मौरवी की तरह उपद्रव शान्त हो गये। दीवान अनन्तराय और महाराज कृष्णकुमार भी इस परिवर्तन से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

देशी-राज्यों में शान्ति-स्थापना

गुरु महाराज के इस दूरदर्शितापूर्ण रुख से न केवल मौरवी और भावनगर, बल्कि इस प्रदेश के अनेक देशी-राज्यों में चल रही ब्रिटिश कूटनीति की घातक चालें बेकार हो गयीं। प्रायः वे सर्वत्र इन राज्यों में धीरे से राजा और प्रजा के बीच विद्वेष की आग भड़का देते और उसे दबाने के लिए देशी-नरेशों के मित्र बन उनके हाथों प्रजा का घोर दमन करवाते। आपके उपदेश से सारी स्थिति में एकाएक अद्भुत परिवर्तन हो गया। सर्वत्र अकस्मात् शान्ति स्थापित हो गयी। कूटनीतिज्ञ विदेशी शासक सन्त की साधुता से हतप्रभ हो गये।

माया-मोहित मानव के मनोराज्य में विषय-भोग की प्रचण्ड ज्वाला जाने कब से धधकती चली आ रही है! जब उसे सौभाग्यवश दया के अपार सागर, भगवान् के फायर ब्रिगेडर सन्त, महापुरुष मिलते हैं, तो क्षणभर में वह तीव्र आग बुझ जाती और वहाँ शान्ति की अखण्ड सरिता प्रवाहित हो उठती है। उनका यह कार्य जाने कब से चला आ रहा है। किन्तु यदि हम उस अखण्ड करुणा-स्रोत के मूल इन फायर ब्रिगेडरों की उपेक्षा कर कृत्रिम और सीमित-स्रोत फायर ब्रिगेडर को ही सर्वस्व मान बैठें और ज्वाला-मालाकुल जगत् में शान्ति-स्थापन के दिवा-स्वप्न देखें, तो क्या कहा जाय ? आवश्यकता है कि हम इसे समझें और शीघ्र-से-शीघ्र देश, धर्म और स्वान्तर राज्य में सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर दें।

अन्तर के क्षितिज से उठनेवाले सौमनस्य के मंगल प्रभाती-स्वरों से जीवन की एक-एक दिशा को अनुरणित कर दें।

सिन्ध की ओर

भावनगर से गुरु महाराज सीधे अहमदाबाद आये। यहाँ आप अखण्डानन्द-आश्रम, काँकरिया रोड पर ठहरे। वहाँ प्रवचन होते रहे। आश्रम के पास की जमीन खरीदकर वेद-मन्दिर बनाने का भक्तों ने संकल्प किया और अधिक अनुरोध पर आपने उसके लिए अनुमति भी दे दी। जमीन खरीद ली गयी।

अहमदाबाद से गुरु महाराज पीरूमल गोठ में सेठ आलमचन्द पेरूमल के पास उनके निमन्त्रण पर पहुँचे। सन् १९४३ की पहली जनवरी को आप वहाँ से हैदराबाद, शिकारपुर, सक्खर होते हुए संवत् १९९९ की फाल्गुन शुक्ला नवमी को वृन्दावन के द्वितीय वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। संवत् २००० की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान वहीं सूर्यतनया कालिन्दी में हुआ।

गुरु महाराज वृन्दावन से मोगा के कीर्तन-सम्मेलन में पधारे। पश्चात् लाहौर होते हुए गुजरानवाला में श्री रघुनाथ-मन्दिर के उद्घाटन-समारोह में सम्मिलित हुए। वहाँ से पेशावर पहुँचकर वहाँ के कीर्तन-सम्मेलन में भाग लिया। पेशावर में प्रातः गीता एवं सायं 'अंक-ब्रह्म' पर आपके प्रवचन होते रहे। परम गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी भी आपके साथ थे।

श्री स्वामी सर्वानन्दजी गुजरानवाला की जनता के आग्रह पर वहीं रह गये और उसे अपने सुमधुर प्रवचनों का दिव्य लाभ देते रहे। पेशावर से परम गुरुदेव राजवाना चले गये और गुरु महाराज वापस गुजरानवाला आये। वहाँ से श्री सर्वानन्दजी को साथ ले आप कराची पहुँचे। वहाँ प्रातः सेठ लीलाराम के बंगले पर प्रवचन और सायं स्वामीनारायण-मन्दिर में सत्संग होता रहा। रविवार को सायंकाल ५ बजे श्रौतमुनि-विरक्ताश्रम में प्रवचन हुआ करता, जहाँ आप ठहरे हुए थे।

गुरु महाराज की आज्ञा से स्वामी सर्वानन्दजी चातुर्मास्य के लिए जामनगर गये और आप जम्पीर होते हुए सिन्ध-हैदराबाद पहुँचे। वहाँ से सेठ बालचन्द की प्रार्थना पर सक्खर गये। पुनः वहाँ से दीवान कृष्णकिशोर के आमन्त्रण पर लाहौर आये। यहाँ पूर्वयोजनानुसार आपके हाथों सनातन-धर्म विद्यापीठ की स्थापना हुई, जिसके संचालन का सर्वथा उत्तरदायित्व मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट पर था। विद्यापीठ का उद्देश्य था : 'शास्त्री या बी० ए० कक्षा के छात्रों को लेकर तीन वर्ष के शिक्षा-क्रम द्वारा सनातन-धर्म के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित

कराना और प्रवक्ता के रूप में उन्हें देश-विदेशों में समय-समय पर सनातन-धर्म के प्रचारार्थ भेजना।'

परम गुरुदेव स्वामी श्री रामानन्दजी का देहोत्सर्ग

लाहौर से गुरु महाराज वृन्दावन पधारे। वहाँ पता चला कि परम गुरुदेव स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज महीनों से रुग्ण हैं। पेशावर से आते ही उन्हें ज्वर ने पकड़ लिया। अब भी ज्वर बना रहता है। सुनकर आप अत्यन्त चिन्तित हुए। ऋषिरामजी को वृन्दावन से गुरुदेव की सेवा के लिए राजवाना भेज दिया और स्वयं भी कुछ दिनों बाद उनके निकट पहुँच गये। आप २५ दिनों तक गुरुदेव की सेवा में रहे। संवत् २००० मार्गशीर्ष कृष्ण ११शी (२३ नवम्बर, १९४३) को प्रातः ६ बजे परम गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी महाराज ब्रह्मलीन हो गये।

श्री सर्वानन्दजी भी परम गुरुदेव के देहोत्सर्ग का दुःखद समाचार पाकर तत्काल राजकोट से राजवाना पहुँचे। ससम्मान श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी और्ध्वदेहिक क्रिया और भण्डारा किया गया। हजारों की संख्या में सन्त उपस्थित थे। इनमें गुरुदेव के मित्र श्री स्वामी सन्तरामजी खुड्डीवाले, श्री स्वामी अखण्डानन्दजी वीरोंवाले, श्री स्वामी ईश्वरानन्दजी दुन्नाकोटवाले, सन्त केहरसिंह कालेवाले आदि के नाम उल्लेख्य हैं। उपस्थित सन्त-मण्डल ने वैद्य श्री श्रद्धानन्दजी को परम गुरुदेव के स्थान का महन्त बनाया। इस अवसर पर परम तपस्वी तोतारामजी भी निर्वाण-मण्डली के साथ उपस्थित थे।

सबसे आश्चर्य की बात यह रही कि तपस्वी पूर्णदासजी महाराज भी, जो कहीं किसी सन्त के भण्डारे पर नहीं जाते और जिनका बम्बई में वर्ली पर भव्य श्रीचन्द्र-मन्दिर है, गुरु महाराज के परम स्नेहवश परम गुरुदेव के भण्डारे पर सहानुभूति के रूप में हरिद्वार से यहाँ पधारे थे। गाँव से एक कोस की दूरी पर, रामबाग के सन्निकट आपने धूना लगाया था। आपके दर्शनार्थ दिन-रात ग्रामीण जनता का ताँता लगा रहता।

स्थितप्रज्ञ की गुरु-कृतज्ञता

परम गुरुदेव के देहोत्सर्ग से गुरु महाराज का हृदय भर आया। मन में ग्लानि-सी छा गयी। वैसे आपने वेदान्त का सारतत्त्व अद्वैत जीवन की प्रत्येक क्रिया में प्रतिष्ठित कर लिया है। विचार, वाणी और वर्तन में अद्वैत का अखण्ड एकरस प्रवाह बह रहा है। अद्वैत में गुरु-शिष्यभाव की सत्ता ही कहाँ? वहाँ तो

गुरु और शिष्य दोनों अभिन्न होते हैं। इतना ही क्यों, समस्त विश्व अपनी ही आत्मा बन जाता है। फिर भी सुज्ञ पुरुष व्यावहारिक दशा में मर्यादा-रक्षार्थ काल्पनिक गुरु-शिष्यभाव अक्षुण्ण बनाये रखते हैं :

'यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानाप्तये पश्चात् कृतघ्नत्वापनुत्तये॥'

इस सूक्ति के अनुसार वे गुरु के प्रति पूज्य-बुद्धि एवं सत्कारादि व्यवहार करते ही रहते हैं। आजीवन कृतज्ञ रहकर तन, मन, धन से गुरु की सेवा करना उनके उपदेश तथा आदर्श का जनता में प्रचार कर अपनी वंश-परम्परा की कीर्ति और गौरव बढ़ाना शिष्य का परम कर्तव्य होता है।

यह तो एक सर्वसाधारण सिद्धान्त है। फिर चरित्र-नायक के गुरुदेव ने तो उनके लिए क्या-क्या नहीं किया? स्वयं पकाकर माता के प्रेम से खिलाया, आचार्य के रूप में स्वाध्याय कराया और रुग्ण होने पर दयार्द्र-दृष्टि से सेवक की भी भूमिका निवाही। तप, त्याग और वैराग्य की मूर्ति गुरु की मातृसुलभ वात्सल्य-सरिता में सतत तैरनेवाले भक्त-हृदय शिष्य को अपने गुरु का देहोत्सर्ग दुःखप्रद होना अस्वाभाविक नहीं।

स्थितप्रज्ञ शिष्य ने एक-दो बार अपनी स्वाभाविक गुरु-कृतज्ञता इन शब्दों में व्यक्त की :

'जब उनका शरीर शान्त हो गया, तो मेरा हृदय कुछ क्षणों के लिए अत्यन्त खिन्न हो उठा। किन्तु ज्ञानजन्य विवेक द्वारा उसे तत्काल सँभालकर एकत्रित सन्त-समाज और जनता के साथ गुरुदेव की और्ध्वदेहिक क्रिया में भाग लिया। सचमुच उन्होंने समस्त विश्व का प्रेम एकमात्र मुझमें केन्द्रित कर लिया था और अहर्निश उस प्रेम-सुधा के सिञ्चन से मेरी जीवन-वल्ली नित्य नव-पल्लवित और प्रफुल्लित रखी। उनके अनन्त उपकारों को भला कैसे भूला सकता हूँ?'

सचमुच माता, पिता, आचार्य, ऋषि एवं ईश्वर—सबका संगठित प्रेम-केन्द्र गुरुदेव हैं। उनके ऋण से कौन उऋण हो सकता है?

परम गुरुदेव का सारा और्ध्वदेहिक कृत्य सम्पन्न हो जाने के बाद गुरु महाराज राजवाना से लुधियाना होते हुए सन् १९४४ की पहली जनवरी को अहमदाबाद पहुँचे। श्री सर्वानन्दजी भी शिकारपुर चले गये और वहाँ से सिन्ध-हैदराबाद होते हुए अहमदाबाद आ गये। गुरु और शिष्य वहाँ दो मास रहे और कथा-प्रवचन का क्रम चलता रहा।

अहमदावाद से आप तृतीय वार्षिकोत्सव के लिए वृन्दावन आये। संवत् २००० की फाल्गुन शुक्ला एकादशी से होली तक यह उत्सव मनाया गया।

वृन्दावन से गुरु महाराज हरिद्वार आये और चेतनदेव की कुटिया में ठहरे। यहाँ परम गुरुदेव की पुण्य-स्मृति में समष्टि-भण्डारा किया गया, सन्तों को भेटें दी गयीं और वस्त्र बाँटे गये। भण्डारे का व्यय अहमदावाद के श्री फूलशंकर वकील, सूरत के चुनीलाल प्रभुदास रेशमवाला, ठाकोरभाई वालाभाई, नाथाभाई जरीवाला आदि भक्तों ने किया। भालकिया-मिल के मालिक सेठ नरोत्तमदासजी ने सन्तों के लिए वस्त्रों की गाँठें भेज दीं। संवत् २००१ (सन् १९४४) की वर्षप्रतिपद् का स्नान हरिद्वार की गंगा में ही हुआ।

ऐतिहासिक बदरीनाथ-यात्रा

वैशाख कृष्ण ११शी को गुरु महाराज ने हरिद्वार से बदरीनाथ-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। साथ में ६० साधुओं के अतिरिक्त गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, मारवाड़ी, बंगाली आदि विभिन्न वर्गों के करीब ४०० सद्गृहस्थ भक्त थे। त्रिपुरा-राज्य की चतुर्थ महारानी और राजकुमारी कमलप्रभा भी साथ थी। सीलोन-निवासी सेठ जीवतरामभाई (ईस्ट सिल्क स्टोरवाले) भी यात्रा में साथ थे। करीब ४० डोलियाँ, ५० घोड़े और ६० पैदल भारवाहक रहे। जिस चट्टी (पड़ाव) में जाकर यात्री-दल ठहरता, वहाँ छोटा-सा ग्राम ही बस जाता।

देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण, केदारनाथ, ऊषीमठ, तुंगनाथ, जोशीमठ एवं बदरीनाथ आदि की यात्राएँ हुई! इस यात्रा में पूरा डेढ़ महीना लग गया। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी, गंगादशहरा का स्नान हरिद्वार में हुआ।

जर्मन-युद्ध से नासिक-कुम्भ की यात्रा स्थगित

इस वर्ष (२००१ वि०) श्रावण मास में नासिक-त्र्यम्बकक्षेत्र में गोदावरी का कुम्भ पड़ रहा था। किन्तु जर्मन-युद्ध के कारण अन्नादि का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना अति कठिन था। राशन-कार्ड बनाने पड़ते। कुम्भ पर तो हजारों की संख्या में साधुओं का भोजन होता है। यह भी निश्चय नहीं रहता कि कितने सन्त पधारेंगे। अतः गुरु महाराज ने इस बार गोदावरी-कुम्भ की यात्रा स्थगित कर दी। श्री सर्वानन्दजी को चातुर्मास्य करने के लिए बारिया भेज दिया और स्वयं स्वास्थ्य-लाभ के लिए सोलन चले गये।

सोलन में तीन मास विश्राम कर गुरु महाराज बहादुरपुर (होशियारपुर) पधारे। वहाँ महन्त विश्वम्भरदासजी ने अपने शिष्य सेवाराम को महन्ती दी

और जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् की प्रतिमा स्थापित की। इस अवसर पर उदासीन-सम्प्रदाय के सभी प्रमुख महन्त और सन्त उपस्थित थे।

दुर्ग्याना-कमेटी के साग्रह अनुरोध पर गुरु महाराज बहादुरपुर से अमृतसर आये। वहाँ ठंडीखुही के पास भक्त रघुवरदयाल की कोठी में निवास हुआ। वहीं संवत् २००१ मार्गशीर्ष कृष्णा ११शी को परम गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी महाराज की बरसी मनायी गयी, जिसमें ५०,००० व्यक्तियों ने प्रसाद पाया। दुर्ग्याना-सरोवर के तट पर आपने वेद-भवन (कथा-भवन) का शिलान्यास किया, जिसके निर्माणार्थ आपकी प्रेरणा पर उत्साही जनता की ओर से डेढ़ लाख की निधि संचित हुई।

गुरु महाराज सन् १९३५ की पहली जनवरी (संवत् २००१) को लाहौर गये। वहाँ से लुधियाना होते हुए संवत् २००१ फाल्गुन शुक्ल ७मी को वृन्दावन पहुँचे। उन दिनों वहाँ चतुर्थ वार्षिकोत्सव था। श्री स्वामी सर्वानन्दजी भी साथ थे। उत्सव धूमधाम से सम्पन्न हुआ। वहीं से श्री सर्वानन्दजी उज्जैन-कुम्भ के प्रबन्ध के लिए भेजे गये।

गुरु महाराज वृन्दावन से संवत् २००२ चैत्र शुक्ला प्रतिपद् को अहमदाबाद आये। वहाँ अहमदाबाद के वेद-मन्दिर के लिए धन-संग्रह किया गया।

उज्जैन-कुम्भ

अहमदाबाद से गुरु महाराज कुम्भ-पर्व के निमित्त संवत् २००२ चैत्र शुक्ल नवमी, रामनवमी को उज्जैन पधारे। वहाँ आपका धूमधाम से स्वागत हुआ। आपके साथ बहुत-सी भक्त-मण्डली और देवगढ़ बारिया की महारानी दिलकुँवर बा, युवरानी साहब विभास तथा छोटे बा साहब द्रुपद कुँवर बा थे। यहाँ हनुमन्त-बाग में छावनी लगी। अन्न-क्षेत्र और सत्संग उन्मुक्त चलते रहे। यहाँ आपने षड्दर्शन-सम्मेलन, विक्रमादित्य-कालिदास-सम्मेलन आदि में भाग लिया।

महन्त लक्ष्मणदासजी का कैलासवास

इसी समय पता चला कि देहरादून में गुरु रामराय दरबार के महन्त उदासीन श्री लक्ष्मणदासजी का कैलासवास हो गया। उज्जैन में उनके लिए बृहत् शोक-सभा की गयी।

विद्वत्सत्कार और सत्संग

उज्जैन-कुम्भ पर सभी सम्प्रदायों के अखाड़े, सन्त, विरक्त, अवधूत एवं मुख्य-मुख्य मण्डलेश्वर उपस्थित थे। काशी से उदासीन संस्कृत विद्यालय के छात्रों को

भी पूर्वक्रमानुसार बुला लिया गया था। काशी के कतिपय विद्वान् भी आये थे। नियमानुसार विद्यार्थियों का नित्य शास्त्रार्थ होता और उन्हें पुरस्कार दिया जाता। विद्वानों का भी सत्कार किया गया।

छावनी में ही श्री स्वामी करपात्रीजी की उपस्थिति में उदासीन संस्कृत विद्यालय का उत्सव मनाया गया। छात्रों एवं विद्वानों का सत्कार हुआ। छात्रों को पुरस्कार दिये गये। इस प्रकार के आयोजनों से विद्वानों एवं विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ता है। उदासीन संस्कृत विद्यालय से पढ़कर कितने ही महात्मा आज देश के विभिन्न भागों में धर्म-प्रचार आदि कार्य कर रहे हैं। वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमकर सनातन वैदिक-धर्म का प्रचार करते हुए प्राचीन उदासीन सन्त-परिपाटी का अनुसरण कर रहे हैं। इनमें सर्वश्री ओंकार मुनि, कृष्णानन्द (प्रज्ञाचक्षु), अमर मुनि, सुवेद मुनि, प्रियतम मुनि आदि के धर्म-प्रचार-कार्य से सभी सुपरिचित हैं।

गुरु महाराज की छावनी में आसपास के ठाकुर और राजा-महाराजा भी दर्शनार्थ आते रहते। देवास की महारानी साहिबा तो नित्य दर्शनार्थ आती थीं। पद्मभूषण पण्डित सूर्यनारायण व्यासजी भी आते रहते।

इन्हीं दिनों हिटलर की पराजय होने से जर्मनी का पतन हो गया!

संवत् २००२ (सन् १९४५) की वैशाख पूर्णिमा का स्नान कर गुरु महाराज देवगढ़ बारिया पधारे। वहाँ आप पिपलोद के राजकीय भवन में ठहरे।

देवगढ़ बारिया से गुरु महाराज माउण्ट आबू आये। वहाँ पाटली दरबार के राजा प्रतापसिंह के पास ठहरे। अलवर-नरेश भी यहाँ आपके दर्शनार्थ आते। यहाँ स्विट्जरलैण्ड का 'जॉर्ज' नामक एक जिज्ञासु युवक मिला, जिसे आपने गीता और उपनिषद् का उपदेश किया।

आबू से गुरु महाराज भरूच आये। वहाँ अवधूत हंसदेवजी के आश्रम में ठहरे। संवत् २००२ (सन् १९४५) की ज्येष्ठ पूर्णिमा का स्नान नर्मदा में किया। वहाँ से सूरत होते हुए आप बम्बई आये।

बम्बई में कुछ दिन ठहरकर गुरु महाराज आषाढ़ शुक्ला एकादशी को अहमदाबाद आये और वहीं चातुर्मास्य किया।

जामनगर में चातुर्मास्य पूरा कर श्री सर्वानन्दजी भी अहमदाबाद पहुँच गये। वहीं से गुरु महाराज श्री कृष्णानन्दजी कुलपति एवं श्री योगीन्द्रानन्दजी के साथ हरिद्वार आ गये।

हरिद्वार में आश्रम बनाने के लिए गंगा-तट, निरंजनी अखाड़ा रोड पर जमीन खरीद ली गयी।

पंजाब-सिन्ध-यात्रा

हरिद्वार से गुरु महाराज अमृतसर पहुँचे। वहीं दीपावली-उत्सव मनाया गया। सर्वानन्दजी भी उस समय वहाँ पहुँच गये थे। नित्य-नियमानुसार गुरु-शिष्य दोनों के प्रवचन होते रहे।

अमृतसर से, लाला रूड़ारामजी की प्रार्थना पर गुरु महाराज पेशावर गये। वहाँ से लाहौर आकर रायबहादुर नारायणदास की कोठी में ठहरे। वहाँ से आप जम्मू गये। वहाँ सरदार दयालसिंह जुहारसिंह फलवाले के यहाँ ठहरे। रघुनाथ-मन्दिर में नित्य प्रवचन होते रहे। वहाँ से पुनः आप लाहौर आ गये और भक्त चेतराम द्वारा आयोजित संकीर्तन-सम्मेलन का सभापतित्व किया।

लाहौर, सक्खर होते हुए गुरु महाराज सन् १९४६ की पहली जनवरी (संवत् २००२) को हैदराबाद आये। वहाँ से पीरूमल गोठ गये और वहाँ का कार्य सम्पन्न कर पुनः हैदराबाद लौट आये।

सेठ जीवतराम हृदयरामाणी आदि के साथ आप तपस्वी पूर्णदासजी के आमन्त्रण पर मुलतान आये। यहाँ ज्ञानस्थल (ग्यानथड़ा) में तपस्वीजी की प्रेरणा से नवनिर्मित श्री लक्ष्मीनारायण-मन्दिर का उद्घाटन किया। वहाँ प्रवचन होते रहे।

मुलतान से आप सेठ जीवतराम के साथ वृन्दावन पधारे। वहाँ पञ्चम वार्षिकोत्सव के अवसर पर विरक्त श्री ब्रह्मदेवजी भी पहुँच गये थे। संवत् २००३ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान वृन्दावन, यमुनाजी में ही हुआ। वहाँ से आप अहमदाबाद आये।

वेद-मन्दिर का शिलान्यास

संवत् २००३ (सन् १९४६) वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया के शुभ-पर्व पर जगदीश-मन्दिर के महन्त वयोवृद्ध प्रसिद्ध महात्मा श्री नृसिंहदासजी के हाथों वेद-मन्दिर की आधार-शिला रखी गयी। शिलान्यास-मुहूर्त हुआ। उस समय भूमि-पूजनादि धार्मिक कृत्यों में भक्त पुनीत महाराज सपत्नीक यजमान बने। इस अवसर पर आयोजित सम्मेलन के सभापति लोकसभा के स्पीकर गणेश वासुदेव (दादासाहब) मावलणकर हुए। सम्मेलन बड़ा ही शानदार रहा। गुरु महाराज और सभापतिजी के बड़े मार्मिक भाषण हुए।

अहमदाबाद से गुरु महाराज कराची पधारे। गर्मीभर वहीं रहे। पश्चात् हैदराबाद होते हुए बड़ौदा आये। हिन्दू-मुसलिम झगड़े के कारण अहमदाबाद उतर नहीं पाये। रथयात्रा के दिन यह झगड़ा शुरू हुआ था। बम्बई में भी यही विषम स्थिति खड़ी हो गयी थी। अतएव आपने चातुर्मास्य देवगढ़ वारिया में ही किया और वहाँ से वृन्दावन आ गये।

नवरात्र में गुरु महाराज गो-सम्मेलन के लिए अमृतसर पधारे। बीच में सेठ लद्धारामजी की स्वस्तिमती कन्या सुशीला के विवाह के अवसर पर आप शिकारपुर गये। वहाँ से वापस अमृतसर आ गये।

इधर देश का वातावरण अत्यन्त कलुषित हो उठा था। बंगाल में, विशेषतः नोआखाली में झगड़े शुरू हुए। विहार की भी यही दशा थी। गढ़मुक्तेश्वर भी साम्प्रदायिक झगड़े का गढ़ बन गया था। गुरु महाराज और सर्वानन्दजी दोनों गुरु-शिष्य इस अवसर पर यथाशक्ति जन-सेवा में लग गये। अमृतसर में भी आपने लोगों को जागृत किया। बाबा गुरुमुख सिंह, लाला रघुवरदयाल, लाला लछमनदास आदि को बुलाकर परिस्थिति से अवगत कराया और हिन्दू-जाति के रक्षार्थ सावधान किया।

अमृतसर से गुरु महाराज भटिण्डा पहुँचे। वहाँ से सन् १९४७ की पहली जनवरी (संवत् २००३) को भक्त हेमनदास की प्रार्थना पर कराची आये। कराची में उनकी पुत्री ईश्वरी देवी का विवाह श्री तुलसीदासजी के सुपुत्र चि० नारायणदासजी के साथ सम्पन्न हुआ। यहाँ आप सिन्ध-हैदराबाद के सेठ रोचीराम के बँगले में ठहरे थे। बँगला उसी वर्ष नया बना था। उसका गृह-प्रवेश-मुहूर्त भी आपके ही वरद-हस्त से हुआ।

कराची से गुरु महाराज हवाई जहाज द्वारा अहमदाबाद आये और दो महीना वहीं ठहरे। षष्ठ वार्षिकोत्सव के लिए फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को आप अहमदाबाद से वृन्दावन पधारे। वृन्दावन से श्री सर्वानन्दजी कार्यवश अहमदाबाद गये और आपने सीधे वहीं से दक्षिण भारत की द्वितीय यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

दक्षिण भारत की द्वितीय यात्रा

संवत् २००३ की चैत्र कृष्णा २ (सन् १९४७) को गुरु महाराज विजयवाड़ा होते हुए मद्रास पहुँचे। संवत् २००४ (सन् १९४७) की वर्ष-प्रतिपद् मद्रास में ही हुई। आप मद्रास में ही ठहर गये और मण्डली के सन्त तिरुपति बालाजी, विष्णुकाञ्ची, शिवकाञ्ची, पक्षितीर्थ आदि की यात्रा कर वापस मद्रास आ गये। वहाँ हिन्दू-महासभा के नेताओं से वार्ता हुई। विभिन्न स्थानों पर प्रवचन भी हुए।

मद्रास से आप कोयम्बतूर, कुर्नूल, नीलगिरि पहुँचे। वहाँ से हंसदेवजी उदासीन के आश्रम में आये। आश्रम में उनसे वार्ता हुई। वापस नीलगिरि आकर केवलराम चेलाराम के बँगले में ठहरे।

नीलगिरि से गुरु महाराज मैसूर, बँगलोर, सेलम, श्रीरंगम्, त्रिचनापल्ली तथा मदुरा पहुँचे। वहाँ श्री मीनाक्षी देवी के दर्शन किये। आपके साथ सर्वानन्दजी भी मदुरा ठहर गयें, सेवाराम सेवा में रहे। दूसरे सन्त वहाँ से जनार्दनम्, पद्म-नाभम्, कन्याकुमारी, तोताद्रिमठ आदि की यात्रा करके वापस आ गये।

मदुरा से गुरु महाराज मण्डलीसहित रामेश्वर गये। धनुष्कोटि तीर्थ का दर्शन-स्नान किया। सेतुवन्ध रामेश्वर के भी दर्शन किये।

लंका-यात्रा

यहाँ से सेठ जीवतराम के अनुरोध पर गुरु महाराज लंका पधारे। वहाँ बहुत-से वौद्ध-भिक्षुओं से भेट हुई। नुरेल्या, केण्डी आदि स्थानों में भ्रमण किया। नुरेल्या में सीता माता जहाँ रहीं, उस अशोक-वाटिका के दर्शन हुए। वापस कोलम्वो आ गये। वहाँ रामकृष्ण मिशन में सभा हुई। सभा की अध्यक्षता लंका-स्थित तत्कालीन भारतीय राजदूत लोकनायक माधव श्रीहरि अणे ने की। गुरु महाराज और सभापति के भाषण संस्कृत में हुए।

कराची के व्यापारियों का उद्‌बोधन

लंका से गुरु महाराज हवाई जहाज द्वारा कराची पहुँचे। वहाँ के व्यापारी-वर्ग की सभा बुलाई गयी। सभा में आपने अनेक नागरिकों को सजग किया और परामर्श दिया कि 'अपने-अपने परिवार और नकद द्रव्य आदि १५ अगस्त से पूर्व वम्वई आदि नगरों में भिजवा दें। यदि १५ अगस्त को पाकिस्तान वन जाने के बाद वायुमण्डल न विगड़ा, यथापूर्व शान्ति रही, तो पुनः उन्हें लाया जा सकता है।'

गुरुदेव के इस परामर्श से कितने ही सिन्धी हिन्दू करोड़ों की हानि से वच गये। समझदार हिन्दू सपरिवार अपनी जङ्गम सम्पत्ति, जेवर आदि लेकर भारत के जोधपुर, अजमेर, अहमदावाद, वम्बई आदि कितने ही शहरों में आकर वस गये। जिन्होंने आपके परामर्श को महत्त्व नहीं दिया, उन्हें पाकिस्तान वन जाने पर कितने कष्टों का सामना करना पड़ा, इतिहास इसका साक्षी है। सीलोन से कराची की यात्रा जीवतराम आदि सिन्धी व्यापारियों के परामर्श से ही हुई थी।

कराची से आप वायुयान द्वारा अहमदावाद पहुँचे। सर्वानन्दजी चातुर्मास्य के लिए जामनगर गये। आप अहमदावाद में ही रह गये।

१२

लोक-संग्रह का पंचम चरण

[संवत् २००४ से २००९ तक]

कहा जाता है कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे', इस मन्त्र के द्रष्टा लोकमान्य तिलक थे। निःसन्देह यह अक्षर-राशि उन्हींके द्वारा दृष्ट है और भूली भारतीय जनता के कानों में उन्हींने इसे फूँका। अतएव हम सब भारतीयों के लिए वे सर्वथा आदरणीय हैं। किन्तु इस देश के लिए 'स्वराज्य' और 'स्वातन्त्र्य' शब्द कोई नया नहीं है। अनादिकाल से, जब से वेदों एवं दर्शनों का इस जगती पर प्राकट्य हुआ, भारतीय वाङ्मय के साथ ये शब्द अपने व्यापक अर्थ में जुड़े हुए हैं। दोनों के घटक 'स्व' शब्द का मुख्य अर्थ आत्मा ही है, अन्य अर्थ तो गौण हैं। आत्मा की तरह प्रिय या उसके प्रिय के साधक होने से ही धन, ज्ञाति आदि अर्थों में इस शब्द की वृत्ति मानी गयी है। संसार में एकमात्र प्रिय अपनी आत्मा ही है। शेष सभी वस्तुएँ उसी आत्मा के लिए प्रिय होने से प्रिय हुआ करती हैं। श्रुति-माता भी इसका अनुमोदन करती है : 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

इस तरह ऐसे परम प्रेमास्पद आत्मा का राज्य, आत्मतन्त्र या आत्मशासन ही स्वराज्य और स्वतन्त्र शब्द का मुख्य अर्थ सिद्ध होता है। संसार के सभी पदार्थ जब तत्त्वदृष्टि से आत्माधिष्ठित हैं, तब क्यों न कोई प्रज्ञावान् मानव उस आत्मा का राज्य, आत्मा का शासन चाहे ? इसी एक के सध जाने पर सब कुछ सध जाता है।[1]

किन्तु यह मानव ऐसे दोहरे बन्धनों में फँसा है कि अपने इस स्वराज्य और स्वातन्त्र्य का रस ही भूल गया है। इसीलिए तो भारतीय दर्शन पुकार-पुकारकर

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् (७-२५-२) में स्पष्ट ही कहा है : 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वानः एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति। तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।'

उसे चेतावनी देते हैं कि 'रे मानव, यह परम दुर्लभ जन्म पाकर तो इन वन्धनों से छुटकारा पा ले और अपने आत्मराज्य में उन्मुक्त विचरण कर।'

वे वताते हैं : 'यदि तू गगन में उन्मुक्त विहारी पक्षी से कहे कि 'आ रे पंछी मेरे पास ! तेरे लिए सोने का पिंजड़ा वना दूँ और मानिक की डंडी। जवाहरातों की कटोरियाँ रखूँ और खाने को अनार, दाख और पीने को मानस का मधुर जल मँगा दूँ। कितना सुख है इसमें ! नहीं तो सुवह से शाम तक, दिनभर, दिनकर के प्रचण्ड ताप में इस छोर से उस छोर तक, इस पेड़ से उस पेड़ तक अनन्त अपार, निरालम्ब गगन में उड़ानें भरता रहता है ! कहीं कुछ दाने मिले, कच्चे-पक्के फल हाथ लग गये तो पेट भर लेता है। क्या है यह तेरा जीवन?' तो वह जड़ जाति चंचल गति और चंचल मति तुझसे यही कहेगा कि 'ना, यह सोने का पिंजड़ा और ये कथित दिव्य साधन तुझे ही मुवारक हों। मेरे लिए तो उन्मुक्त विहार ही सव कुछ है। सव वस्तुओं का मूल्य एक वही चुका देता है। मैं कभी इस वन्धन में नहीं पड़ता। स्वतन्त्र विचरण करूँगा। निरालम्व होने पर भी गगन में मेरा राज्य है, स्वराज्य है। स्वराज्य में भूखों मरना, दर-दर को ठोकरें खाना अच्छा ! किन्तु पर-राज्य में स्वर्ण-सिंहासन पर वैठ मेवा-मिठाई खाना भी वुरा है।'

जव जड़ जाति पक्षी भी अपने स्वराज्य और स्वातन्त्र्य के लिए इतना सजग है, तो मानव को इनके प्रति कितना सजग रहना चाहिए, यह सोचने की वात है। पक्षी अपनी जड़तावश स्वराज्य, स्वातन्त्र्य के कुछ परिसीमित अर्थ तक ही उड़ पाता है, उसे पंख होते हैं, पर बुद्धि के पंख नहीं। किन्तु प्राणधारियों में बुद्धिमत्तर मानव के लिए तो इनके अपरिमित तात्त्विक अर्थ तक पहुँचना ही न्यायसंगत होगा। उसे 'स्व' का मुख्य ही अर्थ प्राप्त करना होगा, फिर वह प्राप्ति उस अर्थ के विरोधी पटलों के निराकरणरूप हो या विस्मृत की पुनः स्मृतिरूप, यह अलग वात है।

किन्तु एतदर्थ भौतिक पदार्थों पर भी स्वराज्य और स्वातन्त्र्य होना उसके लिए अनुपेक्ष्य है। कारण स्वराज्य, स्वातन्त्र्य की प्राप्ति में इनका पारतन्त्र्य अन्तराय सिद्ध होता है। यही कारण है कि योगाचार्यों ने भूतजय के साधनरूप में पञ्चभूतों की त्रिविध अवस्थाओं पर भी संयम की वात कही है। ये सव महा-स्वातन्त्र्य-दरवार के सोपान हैं। उनमें भी पार्थिव स्वातन्त्र्य अपनी जन्मभूमि मातृभूमि पर स्वराज्य, स्वातन्त्र्य तो इस स्वातन्त्र्य-पाठ का ककहरा ही कहना होगा। भौतिक दृष्टि से, भौगोलिक दृष्टि से परतन्त्र मानव आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र रह ही कैसे सकता है? यहाँ हम व्यष्टि की नहीं, समष्टि की वात कर रहे

हैं। भक्तराज प्रह्लाद के शब्दों में हम 'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष....' के पक्षपाती हैं। तब तो समग्र देश का, अपनी मातृभूमि का स्वातन्त्र्य हमारे लिए अत्यधिक उपादेय और अनुपेक्ष्य ठहरता है।

हम शतकों से इसके अभाव की क्षति के कटु अनुभव भोग चुके हैं। हममें सब प्रकार से विद्या, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य होते हुए भी मुट्ठीभर लोग हम पर अधिकार जमा हमारे उस सर्वविध बल को पैरों तले बुरी तरह कुचल चुके हैं। हम अपने न्याय्य अधिकार के लिए आन्दोलन करने लगे, तो उसे 'बलवा' कहकर निर्मम कुचल दिया गया। अपने स्वत्व की माँग करने पर हमारे नौनिहालों को गोलियों से दाग दिया गया, फाँसियों के तख्तों पर लटका दिया गया, निर्वासित कर दिया गया। हम अपनी श्रद्धा के केन्द्र-बिन्दु वेदों के शब्दों में 'अघ्न्या' गोमाता की भी रक्षा नहीं कर सके। पारतन्त्र्य के ये सारे कटु अनुभव किस सचेतन में क्षोभ उत्पन्न कर उसे स्वातन्त्र्य के लिए प्रेरित न करेंगे?

भारत का सौ वर्षों के स्वातन्त्र्य-संग्राम का इतिहास इसी प्रेरणा का इतिहास है। अत्यन्त संयत, कष्टसहिष्णु, पर अनुपद्रवी इस देश की सहनशीलता जब चरम कोटि पर पहुँच चुकी, तब उसने साफ कह दिया 'भारत छोड़ो।' इसी महामन्त्र के पाँच वर्ष के लाखों पुरश्चरणों का प्रभाव है कि सन् १९४७ में विदेशी शासकों को अपना बोरिया-बिस्तरा बाँध यहाँ से सात समुद्र पार कूच कर जाना पड़ा। हम स्वतन्त्र हो गये, हमारे देश पर हमारा राज्य हो गया, स्वराज्य हो गया, हम आजाद हो गये!

किन्तु जाते-जाते वे कूटनीतिज्ञ सदा के लिए विष के बीज बोते गये। पूरे देश में अब 'फूट डालो और शासन करो' के बीज ठीक से जमते न देख राज-नीति के वे चतुर खिलाड़ी देश के दो टुकड़े कर एक भाग में उन्हें बद्धमूल कर गये। उनके इस विष का जो भीषण उल्बण हुआ, उससे हमारे स्वराज्य और स्वातन्त्र्य का माधुर्य भी कटु-मिश्र हो उठा।

फिर भी हम हारे नहीं। हालाहल को पी जानेवाले भगवान् नीलकण्ठ के भक्त भारतीय उस स्थिति में भी अविचल रहे और उन्होंने हर सम्भव प्रयत्न से इस विष की ज्वाला से झुलसे देशवासियों के समुपचार में अपना सर्वस्व लगा दिया। इस अवसर पर हमारे चरित्र-नायक के भी करुणामय अन्तर में सँजोया हुआ देश-भक्ति का अजस्र सारस्वत प्रवाह बाहर फूट पड़ा और वे अपनी मण्डली के साथ इन विषदग्ध भारतीयों के विष-शमन के लिए विष-वैद्य-से निकल पड़े। इसकी कथा आगे के पृष्ठों में पढ़ें।

जब हम स्वतन्त्र हुए !

संवत् २००४ (सन् १९४७) की १५ अगस्त को हमारा देश स्वतन्त्र हो गया। देशवासियों की चिरप्रतीक्षित कामना पूरी हुई। स्वातन्त्र्य-संग्राम के वीर विजयी हुए और अगणित शहीदों के वलिदान सार्थक हुए। अंग्रेजों को यहाँ से विदा लेनी पड़ी, पर जाते-जाते वे विष के वीज वो गये। देश के दो टुकड़े कर एक टुकड़ा हमें दिया और दूसरा दिया हमारे उन भाइयों को, जो साम्प्रदायिकता के आधार पर राजनीति चलाना चाहते थे, जो द्विराष्ट्र-सिद्धान्त के कट्टर अनुयायी थे। परिणाम जो होना था, शुरू हो गया। सिन्ध, पश्चिम पंजाव, सीमाप्रान्त, विलोचिस्तान और पूर्व वंगाल से हिन्दू भागने लगे। देश में मार-काट, लूट-पाट, आगजनी शुरू हो गयी।

जूनागढ़ के नवाव पाकिस्तान से मिलने की सोच रहे थे। लोगों को भय था कि कहीं सिन्ध और पश्चिम पंजाव आदि की तरह काठियावाड़ में भी हिन्दू असुरक्षित न हो जायँ। कारण वेरावल का मुख्यतम वन्दरगाह और अन्य भी कई वन्दरगाह जूनागढ़ राज्य में पड़ते थे। इस राज्य के पाकिस्तान से मिलने पर सारा काठियावाड़ संकट में पड़ जाता। यह आस्तीन का साँप था। इससे कभी न कभी देश को भयंकर हानि की पूरी आशंका थी।

गुरु महाराज ने काठियावाड़ी नेताओं को, जिनमें अनेक राजा-महाराजा भी थे, परामर्श दिया कि इस राज्य को वचाने का कोई न कोई ठोस रास्ता निकाला जाय। इस सम्वन्ध में अनेक विचार-विमर्श हुए।

महावीर-दल और शरणार्थी-सेवा

आपने स्वामी सर्वानन्दजी को तात्कालिक दो आदेश दिये : एक, वाहरी आक्रमण से काठियावाड़ की रक्षा के लिए जगह-जगह महावीर-दल की स्थापना की जाय। और दूसरा, पाकिस्तान से निर्वासित होकर आ रहे शरणार्थी हिन्दुओं की सहायता—उनके रहने के स्थान और भोजन-औषध का समुचित प्रवन्ध किया जाय।

गुरु महाराज का आदेश पा श्री स्वामी सर्वानन्दजी तत्काल अपने प्रमुख सहायकों को लेकर मोटर से जामनगर आदि राज्यों के जिले-जिले में घूमे और उन्होंने सर्वत्र महावीर-दल की शाखाएँ संघटित कर दीं।

गुरु महाराज के दूसरे आदेश के पूर्त्यर्थ श्री सर्वानन्दजी जामसाहव, जामरानी तथा काठियावाड़ के अनेक प्रतिष्ठित श्रीमानों से मिले और कुछ ही दिनों में लगभग ७ लाख रुपयों का शरणार्थी-कोष एकत्र किया। ओखापोर्ट से वीरमगाम

तक काठियावाड़भर सर्वत्र शरणार्थी-शिविर खुल गये और उनमें वस्त्र, भोजन, बच्चों के लिए दूध और रुग्णों के लिए औषधि की सुन्दर व्यवस्था हो गयी।

इस समय सभी काम मुँह से शब्द निकलने के साथ पूरे करने थे। 'प्रतीक्षा' नाम की कोई चीज उस समय नहीं रह गयी थी। अतः देखते-देखते ये सारे काम होते गये। काठियावाड़ के अनेक समाजसेवी लोगों के साथ सन्त-मण्डली भी अपने निर्वासित, पीड़ित शरणार्थी बन्धुओं की सेवा में जुट गयी।

श्री स्वामी सर्वानन्दजी गुरु महाराज के इन दो आदेशों को कार्यान्वित कर अब उनके तीसरे संकेत की सिद्धि के लिए भी जुट गये। उनके कौशलपूर्ण प्रयास से सहज ही जूनागढ़-राज्य का पतन हो गया। सन्त का संकल्प सत्य होकर रहा। लोग डरते थे कि पाकिस्तान की सहायता से नवाब ने बहुत-सी युद्ध-सामग्री इकट्ठा कर रखी है।

योजनानुसार सामलदास गांधी ने बहुत-से सेवक-दल लेकर जूनागढ़ की ओर अभियान किया। काठियावाड़ के राजाओं की ओर से भी कुछ गुप्त धमकियाँ दी गयीं। कर्नल हिम्मतसिंह आदि ने पोरबन्दर में युद्धपोत लाकर खड़े कर दिये। गुरु महाराज के एक अन्य शिष्य और स्वामी सर्वानन्दजी के सहयोगी गुरुबन्धु श्री सत्स्वरूप शास्त्री जूनागढ़ पहुँचे और कौशल से यह तथ्य अवगत कर आये कि जैसा दीखता है, वैसा नवाब में कुछ भी दम नहीं है।

जूनागढ़ का पतन

श्री गुरु महाराज के आदेश से श्री सत्स्वरूप शास्त्री ने सप्ताहभर जूनागढ़-राज्य में तूफानी दौरा किया और अपने धार्मिक उपदेशों में तरह-तरह के वीर पुरुषों के चरित्र सुनाकर उन्हें आश्वस्त किया। उन्होंने जनता को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत!' उठो, जागो, वीरता का सिंहनाद करो। नवाब तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। हिन्दुस्तान की सैनिक सामर्थ्य प्रबलतम है। देश के सभी नेता चाहते हैं कि देश में रहकर देश-द्रोह करनेवाला जूनागढ़ का राज्य हिन्दुस्तान में विलीन हो जाय।'

भगवान् की शुभेच्छा! विश्वनाटक के सूत्रधार श्रीकृष्ण के बान्धव यादवों की क्रीड़ा-स्थली काठियावाड़ के इस नवाब की बुद्धि एकाएक बदल गयी और वह अपनी दुरभिसन्धि सफल न होते देख भाग गया। जूनागढ़ के पतन के साथ ही काठियावाड़ के अन्य छोटे-मोटे मुस्लिम राज्य मानभड़ आदि सहज ही भारत में विलीन हो गये।

सन्तों के सत्संकल्प और सक्रिय निष्ठा ने काठियावाड़ का संकट टाल दिया।

समय-समय पर सन्त इसी प्रकार देश-सेवा के काम में अपना योगदान करते आये हैं और जब तक रहेंगे, करते रहेंगे। निःस्पृह होने से वे यह भी नहीं देखते कि नयी रोशनी के इतिहास-लेखक उनके इन कार्यों का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करते हैं या नहीं।

यदि सन्त की यह सलाह मानी जाती··· !

गुरु महाराज अहमदाबाद में ही रहते हुए अपने शिष्यों, सेवकों को काठिया-वाड़ का क्षेत्र लेकर देश-रक्षा के कार्य में लगने की प्रेरणा देते रहे। यहाँ के अखण्डानन्द-आश्रम में एक बार प्रमुख देश-भक्त ढेबरभाई आपसे मिले। वार्ता के प्रसंग में आपने उन्हें सलाह दी कि 'पश्चिम पंजाब के रावलपिण्डी आदि जिलों से निर्वासित हो भारत आ रही हिन्दू-जनता को, शरणार्थियों को काश्मीर-राज्य में बसाने का प्रयत्न किया जाय, काश्मीर में विस्तृत स्थान है। भगवान् न करे, यदि क्रूर कबाइली और अन्य भी धर्मोन्मादी विधर्मी उस राज्य पर इन खाली भागों से आक्रमण कर दें, तो काश्मीर-नरेश अपने राज्य की रक्षा नहीं कर पायेंगे। पर यदि सीमाप्रान्त और पश्चिम पंजाब के ये विपुल शरणार्थी काश्मीर के उन खाली स्थानों पर बसा दिये जायँ, तो शत्रु के लिए वह राज्य अजेय हो जायगा।'

आपकी यह सलाह ढेबरभाई को और अन्य कई नेताओं को भी पसन्द आयी। उसे उसी समय कार्यान्वित कर दिया जाता तो कदाचित् आज काश्मीर की जटिल समस्या का प्रश्न ही न खड़ा होता।

वैसे समीपवर्ती प्रदेश होने से सीमाप्रान्त और पश्चिम पंजाब के कुछ शरणार्थी स्वयं ही काश्मीर पहुँचे। महारानी तारामाता ने भी बड़ी उदारता के साथ उन्हें न केवल अपने यहाँ प्रश्रय दिया, प्रत्युत हर तरह से उनकी सहायता भी की। यह काम धीरे-धीरे अपने-आप चल रहा था। शासन की ओर से कोई सुनियोजित रूप इसे नहीं दिया गया। अन्ततः विवश हो जम्मू-काश्मीर-नरेश हरिसिंह को अपना राज्य भारत में विलीन करना ही पड़ा। इसकी जगह आरम्भ में ही उन्हें समझा-बुझा यह काम करवा लिया जाता और इन विस्थापितों की सुनियोजित रूप में काश्मीर में पुनःस्थापना की जाती, तो देश का नकशा ही बदल जाता!

जब आगे चलकर विस्थापितों की भीड़ स्वयंप्रेरणा से काश्मीर की ओर मुड़ने लगी, तो इतने दिनों में पाकिस्तानी नेता सतर्क हो गये और हर तरह की सहायता और प्रोत्साहन दे उन्होंने कबाइलियों द्वारा भारत के इस नन्दनवन

पर आक्रमण करवा ही दिया। आज भी काश्मीर हमारे लिए एक समस्या वनकर खड़ा है। यह सब देख यही कहना पड़ता है कि 'होइहैं वही, जो राम रचि राखा !'

देश स्वतन्त्र होने के वाद देश में निर्वासितों की जो एक विषम स्थिति खड़ी हो गयी थी, उसके समाधानार्थ गुरु महाराज ने यद्यपि प्रमुख कार्यक्षेत्र काठियावाड़ चुना, फिर भी देश के अन्य भागों में भी आपकी प्रेरणा से इस विषय में अनेक सेवा-कार्य चलते रहे। सभी प्रान्तों में वहाँ के प्रमुख सन्त आपकी प्रेरणा पर अपने साथियों के साथ यथाशक्ति राष्ट्र-सेवा के कार्य में लगे रहे।

मेरा कुम्भ : शरणार्थी-सेवा

अहमदावाद में गुरु महाराज के प्राचीन मित्र, उदासीन-सम्प्रदाय के सुप्रतिष्ठित वयोवृद्ध, अवधूत हंसदेवजी महाराज सर चीनुभाई के बँगले पर आपसे मिले। वे प्रयाग के अर्धकुम्भ-मेले की तैयारी कर रहे थे। उन्होंने आपसे पूछा कि 'मैं तो प्रयाग के मेले के लिए जा रहा हूँ। आपका क्या विचार है ?'

गुरु महाराज ने उत्तर दिया : 'इस वर्ष पाकिस्तान से पीड़ित हो भारत आनेवाले शरणार्थियों की सेवा ही मेरी दृष्टि में अर्धकुम्भ है।'

अतएव सन् १९४८ की १३ जनवरी को मकर-संक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग में होनेवाले अर्धकुम्भ-मेले में आपने भाग नहीं लिया। वैसे प्रत्येक कुम्भ और अर्धकुम्भ पर आप द्वारा शिविर लगाकर की जानेवाली व्यापक सन्त-सेवा और अतिथि-सेवा से पाठक सुपरिचित हैं ही।

बम्बई में शरणार्थी-सेवा

कराची में पुनः धर्मान्ध मुसलमानों ने हिन्दुओं पर असह्य अत्याचार शुरू कर दिये। अब तो सिन्ध के रहे-सहे हिन्दू भी भयभीत हो पाकिस्तान से भागने लगे। धर्मान्धों के भीषण अत्याचारों के शिकार श्री लीलाराम गुड़वाला किसी तरह प्राण बचाकर बम्बई आ गये। उन्होंने गुरु महाराज का दर्शन कर उनके समक्ष करुण आपबीती सुनायी, जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते थे।

गुरु महाराज अहमदाबाद से बम्बई आ गये थे। वहाँ आप शिकारपुरी पंचायत के अध्यक्ष श्री गोविन्दसिंह, श्री बाबा खटवाला रामदास उदासीन आदि से मिले। साथ ही लाड़काने के नानकराम मोटवानी, हैदराबाद के खेमचन्द भेरूमल एण्ड सन्स के कृष्णचन्द चेलाराम, वसियामल कम्पनी के मथुरादास कुन्दनदास आदि सज्जनों से मिले। फलस्वरूप बम्बई में शरणार्थियों की सेवा की समुल्लेख्य व्यवस्था हुई। गुरु महाराज ने एक सुन्दर योजना प्रस्तुत की, जिसमें

कोलीवाड़ी आदि उपनगरों में सोसाइटियाँ संगठित कर स्वल्प व्यय के मकान वनवाने और उनमें मामूली किराये पर शरणार्थियों को वसाने की व्यवस्था थी। आपने सिन्धियों को सोसाइटी के ये मकान वनवाने के लिए प्रेरित किया। परम देश-भक्त, परोपकारी स्वर्गीय भगवान् सिंह ने इसी योजना के अन्तर्गत श्याम-निवास, नानक-निवास आदि आठ भवन वनवा दिये, जहाँ बहुत-से शरणार्थियों को आश्रय मिला।

भारत में देशी-राज्यों का विलय

इधर गुरु महाराज के प्रिय शिष्य श्री सर्वानन्दजी काठियावाड़ में शरणार्थी-सेवा-कार्य में व्यस्त थे। जामनगर में उनसे लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल मिले। उन दिनों वे सभी देशी-राज्यों को भारत में विलीन कर एक अखण्ड वड़े देश के निर्माण में सक्रिय थे। आरम्भ में जामसाहव राज्यों के विलय के पक्ष में न थे, किन्तु वाद में श्री सर्वानन्दजी के ही हितोपदेश से वे इसके लिए न केवल अनुकूल हुए, वल्कि सर्वप्रथम इस योजना पर हस्ताक्षर कर उन्होंने अपने राज्य के विलय द्वारा देशी-राज्य-विलय का श्रीगणेश किया।

स्वामी सर्वानन्दजी का हितोपदेश

श्री स्वामी सर्वानन्दजी ने जामसाहव को समझाया कि 'महाराज, आप विदेशी शासकों की कूटनीति से सुपरिचित ही हैं, मैं अधिक क्या कहूँ? किन्तु यह तो निश्चित ही है कि अंग्रेज देशी-नरेशों के हितार्थ उनके राज्यों को स्वतन्त्र नहीं छोड़ गये। इसमें भी उनकी वही कूटनीति काम कर रही है। वे हिन्दुस्तान को गृह-कलह का गढ़ वनाना चाहते हैं। आपको पता ही है कि जिना-साहव कितने ही देशी-राज्यों को प्रलोभन दे रहे हैं कि 'हमारे साथ हो जाइये। हम आप लोगों को मनचाही सुविधाएँ देंगे।'

क्रान्तदर्शी स्वामीजी ने आगे कहा: 'महाराज, युग की माँग है कि इस समय देशी-नरेश क्षुद्र स्वार्थ त्याग दें और राष्ट्र के लिए दिल खोलकर अपने राज्यों का दान कर दें। अन्यथा आज तो देश का एक ही खण्ड, एक ही टुकड़ा (पाकिस्तान) हुआ है, आगे शत-शत खण्ड—६५० खण्ड होंगे। भारतमाता के पावन कलेवर के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। याद रखिये, छोटे राज्य कभी स्वतन्त्र रूप से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। एतदर्थ उन्हें किसी प्रवल विशाल राष्ट्र का सहारा लेना ही होगा और विश्व के अन्य किन्हीं राष्ट्रों में एकमात्र भारत राष्ट्र ही सच्चे अर्थ में उनके स्वाभिमान एवं गौरव की रक्षा कर सकता है।

पाकिस्तान तो स्वयं ही अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार है। उसीकी कोख से उसने जन्म पाया है। वह क्या भारत के देशी-राज्यों के स्वाभिमान और गौरव की रक्षा कर सकेगा ? ध्यान रखिये, पहले तो वह स्वतन्त्रता, समानता आदि के विविध प्रलोभन दे देशी-राज्यों को हिन्दुस्तान से विमुख वनायेगा, विश्रृङ्खल कर देगा। फिर उन्हें हड़पने में उसे देर क्या लगेगी ?'

अपने हितोपदेश का उपसंहार करते हुए स्वामी श्री सर्वानन्दजी ने कहा : 'इसलिए महाराज, धीर वनिये, वीर वनिये और अपने उज्ज्वल आदर्श द्वारा सभी राज्यों के भारत-विलय का नेतृत्व कीजिये। ऐसा स्वर्ण अवसर वार-वार नहीं आता। जव ये ६५० छोटे-वड़े राज्य एक सूत्र में आवद्ध हो जायँगे, तो हमारा भारत राष्ट्र अत्यन्त प्रवल हो उठेगा, अजेय वनेगा। फिर विदेशियों की एक-एक चाल चकनाचूर होते देर न लगेगी।'

सोमनाथ के जीर्णोद्धार का वचन

महाराज जामसाहव के प्रवोधन के प्रसंग में वीच में ही स्वामी सर्वानन्दजी ने यह भी कहा कि 'महाराज, विधर्मियों और विदेशियों के अत्याचारों की कहानी का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? स्वतन्त्र देश के सोमनाथ-मन्दिर के ये खँडहर सामने दयनीय मुख लिये हम-आपकी ओर निहार रहे हैं। भगवान् जानें, गुलामी के ये गर्ह्य चिह्न हम स्वतन्त्र भारतीयों की आँखें कब तक देखती रहेंगी ?'

सन्त के निर्मल चित्त से निकले वेदनाभरे ये शब्द सुन सभा में उपस्थित सरदार वल्लभभाई पटेल, जामसाहव और काठियावाड़ के अनेक प्रमुख क्षत्रिय-वीर-नेताओं की वाँहें फड़क उठीं और सवने तत्काल एक स्वर से कहा : 'चिर-दासता के ये अशुभ चिह्न अव अधिक दिनों तक स्वतन्त्र देश में कभी न रहने चाहिए। यादव-नरेशों को हर सम्भव प्रयत्न से अतिशीघ्र अपने आदर्श पुरुष भगवान् कृष्ण की देहोत्सर्ग-भूमि में स्थित सोमनाथ-मन्दिर का जीर्णोद्धार करना ही चाहिए।'

अपने संकेत का समर्थन होते देख श्री स्वामी सर्वानन्दजी ने उसे और भी पुष्ट करते हुए कहा : 'जब मैं गुरुदेव के साथ सोमनाथ, प्रभास-क्षेत्र गया, तो देखा कि गुरु महाराज उन खँडहरों को छू-छूकर लगातार घण्टों आँखों से गंगा-यमुना वहाते रहे। शिवलिंग को उखाड़ वहाँ की अमूल्य, अतुल सम्पत्ति लूट मन्दिर को इस दयनीय अवस्था में पहुँचानेवाले महमूद गजनवी के भीषण अत्याचार उनके स्मृति-पटल पर एकाएक उभर आये। वे भावावेश में कहने लगे कि 'कव ऐसा सुदिन आयेगा कि गुलामी के ये चिह्न मिट गये, भगवान् सोमनाथ

नव्य-भव्य मन्दिर में विराजने लगे और मेरे आराध्य प्रभु की 'देहोत्सर्ग-स्थली' आकर्षक भव्य स्मारक के रूप में परिणत हो गयी!' सहृदय सन्त की ओजभरी वाणी ने अपने ब्रह्मनिष्ठ गुरु के विशुद्ध-सत्त्व अन्तर का देश-वात्सल्य से अनुप्राणित कारुण्य साकार खड़ा कर दिया। विधाता की सृष्टि में कदाचित् ही कोई ऐसा वज्रसार हृदय हो, जो इसे सुन पिघल न उठे!

फलस्वरूप उसी समय जामसाहब आदि सभी उपस्थित काठियावाड़ी नर-वीरों ने सोमनाथ-मन्दिर के जीर्णोद्धारार्थ एक समिति संघटित कर दी। भारत के लौह-पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी दृढ़ वचन दिया कि 'मैं इसके लिए जी-जान से प्रयत्न करूँगा।'

आगे सभी जानते हैं कि कमेटी के इस कार्य में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय राजेन्द्रप्रसाद आदि राष्ट्रनेताओं ने भी हाथ बँटाया और सोमनाथ-मन्दिर का जीर्णोद्धार हो गया। फिर भी कहना होगा कि यदि सरदार कुछ दिन और रह जाते तो सोमनाथ-मन्दिर आज से कई गुना अद्भुत होता और प्रभास-क्षेत्र का कलेवर भी आज की अपेक्षा कुछ निराला ही दीखता!

महावीर-दल का उपसंहार

गुरु महाराज बम्बई में ही थे। उन दिनों वहाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होने जा रहा था। अतः आपने स्वामी सर्वानन्दजी को जामनगर से बम्बई बुला लिया। चातुर्मास्य समाप्त हो चुका था। आपको केन्द्र के संकेत पर स्वामीजी की 'महावीर-दल'-स्थापना का कार्य रुकवा देना पड़ा। कारण सरकार को भय था कि इस प्रकार के दलों की स्थापना से कहीं साम्प्रदायिक बीमारी न उभड़ आये। गुरु महाराज तो तथाकथित साम्प्रदायिकता को स्वप्न में भी पसन्द नहीं करते। फिर भी यह अवश्य मानते हैं कि यदि कोई साम्प्रदायिक बीमारी से पागल हो राष्ट्र को क्षति पहुँचाना चाहे, तो उसका प्रतीकार करना साम्प्रदायिकता नहीं, वरन् राष्ट्र-रक्षा ही है।

फिर, श्री सर्वानन्दजी के महावीर-दल का चिह्न, प्रतीक त्रिशूल किसी लौकिक उत्तेजक भाव पर नहीं, प्रत्युत अनेक प्राचीन सांस्कृतिक भावों पर आधृत था। बात यह है कि बलाकांक्षियों के उपास्य महावीर हनुमान् रुद्रावतार हैं और त्रिशूल उनका प्रमुख चिह्न है। उपास्य का चिह्न धारण करना उपासक का कर्तव्य होता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' यह शास्त्रों का आदेश है। इतिहास में यह त्रिशूल

लेखिका : रतन फौजदार, लिल्लीकोर्ट, बम्बई

जहाँ दुष्टों के लिए 'शूल' हुआ, वहीं भक्तों के लिए 'फूल' बना है। यह संकेत देता है कि त्रिशूलधारी महारुद्र बनकर देश-विद्रोही असुरों का दमन करो।

श्री सर्वानन्दजी परम गुरु-भक्त थे। गुरु महाराज की आज्ञा होते ही आप काठियावाड़ के सभी कार्यक्रम रद्द कर बम्बई चले आये।

राष्ट्र-भाषा के महारथियों से भेंट

बम्बई में गुरु महाराज से सर्वश्री राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कोसल्यायन, माखनलाल चतुर्वेदी, रविशंकर शुक्ल आदि राष्ट्रभाषा के मूर्धन्य नेताओं की भेंट हुई। राहुलजी तो जमनादास रामदास डोसा के बँगले पर आपसे मिलने आये थे। दोनों के बीच राष्ट्रभाषा-प्रचार और भारतीय संस्कृति की रक्षा के उपायों पर गम्भीर विचार-विनिमय हुआ।

राहुलजी का मन्तव्य था कि रूस प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए नव-साहित्य का सर्जन कर रहा है। भारतीय संस्कृति से भी उसे बड़ा स्नेह है। अतएव वह अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का रूसी भाषा में अनुवाद भी करा रहा है। आपने गुरु महाराज से अनुरोध किया : 'स्वामीजी, सन्तों का बल अद्भुत होता है। मैंने रूस के एक प्रदेश में देखा कि किसी सन्त के यत्न से एक मन्दिर निर्मित है, जिस पर हिन्दी का बोर्ड टँगा है। आप सनातनधर्मी हैं और मैं हूँ साम्यवादी। भले ही हम दोनों में सिद्धान्त-भेद हो, संस्कृति के रक्षार्थ आप हमें पूरा सहयोग दें। सन्तजन समाज में भारतीय संस्कृति की रक्षा की व्यापक भावना भर दें।'

बम्बई में गुरु महाराज के प्रवचन चलते रहे। सर्वानन्दजी भी साथ थे। कभी-कभी आपकी अनुपस्थिति में वे प्रवचन करते।

लेखिका की दीक्षा

३ नवम्बर सन् '४७ की बात है। लेखिका स्विट्जरलैण्ड से बम्बई लौट आयी थी। एक सुपरिचित सत्संगी बहन से गुरु महाराज के नगर में निवास का पता चला। दूसरे ही दिन (४ नवम्बर को) प्रातः वह बालकेश्वरस्थित जमनादास डोसा के बँगले पर आपके दर्शनार्थ पहुँची। नित्य प्रातः ८ से ९ तक उपनिषद्, गीता एवं अध्यात्म-ग्रन्थों पर आपके प्रवचन हुआ करते थे। पूरा हाल श्रोताओं से ठसाठस भर जाता। आप उच्च आसन पर विराजते और आसपास सन्त घेरे रहते। प्राचीन भारत की आर्ष स्वाध्याय-गोष्ठी का मूर्त चित्र सामने खड़ा हो जाता।

समीप पहुँच सादर पाद-पद्मों में नमन करने पर गुरुदेव ने प्रसन्नता से हाथ पकड़ा और स्नेहभरे शब्दों में कहा : 'क्यूँ बेटा ! आ गयी ?' प्रश्न मानो लेखिका के हृदय की गुरु-मिलन की चिर-उत्कण्ठा का प्रत्युत्तर था । लगा, आचार्य शिष्य की प्रतीक्षा ही कर रहे हों । मन्त्र-मुग्ध शिष्या की वाणी मूक हो गयी ।

दूसरे दिन चरणों में पहुँच उसने मन्त्र-दीक्षार्थ सानुरोध प्रार्थना की । दयालु गुरु महाराज ने कार्तिक कृष्ण ११शी संवत् २००४ (६ नवम्बर १९४७) को प्रातः ९ बजे लेखिका को अनुगृहीत कर सदा के लिए अपनी दासी बना लिया ।

इधर श्री सर्वानन्दजी सन् १९४८ की पहली जनवरी (संवत् २००४) को दक्षिण भारत में त्रिचनापल्ली गये । गुरुदेव बम्बई ही रहे ।

राजनीति का कर्णधार सन्त उठ गया !

३० जनवरी १९४८ को अचानक गोडसे द्वारा महात्मा गांधी की गोली से हत्या की गयी । राष्ट्रपिता के इस अकाल निधन से सारा राष्ट्र शोक-सागर में डूब गया । श्री सर्वानन्दजी को आपने दक्षिण भारत से वापस बुला लिया । विराट् शोक-सभा हुई, जिसमें राष्ट्रपिता को हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित की गयी । गुरु महाराज के मुख से एक ही वाक्य निकला : 'भारतीय राजनीति का कर्णधार, एक अद्भुत सन्त उठ गया !'

बम्बई से गुरु महाराज और स्वामी सर्वानन्दजी अपने परम भक्त सेठ बालचन्द के सुपुत्र चि० जयकिशन के विवाह के लिए ग्वालियर आये और वहाँ से हरिद्वार चले गये । पुनः आपके आज्ञानुसार स्वामीजी हरिद्वार से श्री गुलजारीलाल नन्दा की पुत्री सौभाग्यकांक्षिणी पुष्पा के विवाह में भाग लेने गये और वहाँ से वृन्दावन पहुँचे । इधर गुरु महाराज भी हरिद्वार से वृन्दावन आये और वहाँ सप्तम वार्षिकोत्सव में भाग लिया ।

कुछ दिन वृन्दावन रहकर गुरु महाराज पंजाब-सिन्ध अन्न-क्षेत्र, ऋषिकेश के मैनेजर भक्तवर लछमनदास, प्रोफेसर गोपीराम, सेठ पेसूमल आदि की प्रार्थना पर मंगलोत्सव के लिए ऋषिकेश आये । संवत् २००५ (सन् १९४८) की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान वहीं हुआ । शरीर कुछ अस्वस्थ होने से आप पुनः हरिद्वार आ गये और वहाँ द्वारका-भवन, भीमगोड़ा में ठहरे ।

भक्त लाला रूड़ाराम के सुपुत्र चि० राजेन्द्र के विवाह पर गुरु महाराज दिल्ली आये और वहाँ से सूरत रवाना हुए । सूरत में गुरुदेव का तीन मास निवास हुआ । नित्य प्रवचन आदि कार्य चलते रहे । सूरत-निवासियों को आपके

इस सान्निध्य से अपूर्व आत्मतुष्टि हुई। बीच में श्री सर्वानन्दजी साग्रह निमन्त्रण पर देवगढ़ बारिया के राजकुमार जयदीप सिंह के विवाह पर देवगढ़ बारिया भेजे गये। वहाँ वे अनेक राजा-महाराजाओं को धर्मोपदेश दे पुनः सूरत में गुरुदेव के निकट लौट आये।

सूरत से गुरु महाराज बड़ौदा आये। वहाँ सन्तराम-मन्दिर के महन्त तुलसी-दासजी के पास निवास हुआ। वहाँ श्री विट्ठलनाथजी के राजकीय मन्दिर में आपके प्रवचन होते रहे।

कुछ दिन बड़ौदा में निवास कर गुरु महाराज अहमदाबाद आये। चातुर्मास्य यहीं हुआ। आपकी आज्ञा से श्री सर्वानन्दजी राजमाता के निमन्त्रण पर सिरोही गये। उनका सिरोही में ही चातुर्मास्य हुआ। चातुर्मास्य के अनन्तर वे गुरु महा-राज के पास अहमदाबाद पहुँच गये। इन्हीं दिनों संवत् २००५ भाद्रपद शुक्ला द्वितीया (सन् १६४८) को गुरुदेव के ग्रीष्मकालीन निवासार्थ वकील फूलशंकर आदि उनके कुछ भक्तों ने माउण्ट आबू में कैलाश-भवन नामक बँगला खरीदा। अब उसका नाम जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् के गुरुदेव अविनाशी मुनि की स्मृति में 'अविनाशी धाम' हो गया।

अहमदाबाद से गुरु महाराज सर्वानन्दजी के साथ बम्बई आये। बम्बई में जामनगर की महारानी और सिरोही की राजमाता से भेंट हुई। बीच में कुछ दिन पूना में रहकर पुनः आप बम्बई आ गये। बम्बई की जनता आपके सत्संग से खूब लाभ उठाती रही।

शान्तानन्दजी का स्वर्गवास

श्री सर्वानन्दजी को अहमदाबाद भेजकर गुरु महाराज बम्बई से वृन्दावन आये। श्री स्वामी शान्तानन्दजी पटियाला-राज्य के कुत्तीवाल ग्राम में बीमार थे। उन्हें वृन्दावन लाया गया। अहमदाबाद से श्री सर्वानन्दजी भी कुछ दिनों में वृन्दावन आ गये। यहाँ शान्तानन्दजी की समुचित चिकित्सा और सेवा होती रही। तरह-तरह के उपचार किये गये, पर दुर्भाग्य से लाभ कुछ नहीं हुआ और अन्त में संवत् २००५ की माघ कृष्णा ११शी को वे ब्रह्मलीन हो गये।

परोपकार-व्रती सन्त : पुण्य-स्मरण

श्री शान्तानन्दजी गुरु महाराज के घनिष्ठ मित्र थे। आपके कार्यों में आरम्भ से ही उनका जो अपूर्व योगदान रहा, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन पंक्तियों की लेखिका ने जब गुरु महाराज के समक्ष उनकी चर्चा चलायी, तो

आपने बताया कि 'वे उदासीन-सम्प्रदाय के एक परम तपस्वी, त्यागी महात्मा होने के साथ अच्छे विद्वान् भी थे। मेरे प्रति तो अत्यधिक प्रेम रखते। बीच-बीच में हम दोनों वर्षों नहीं मिलते। आपस में पत्र-व्यवहार भी नहीं हो पाता था। किन्तु पुनः जब मिलते, तो एक-दूसरे को ऐसी अनुभूति होती, मानो कभी अलग हुए ही नहीं।'

उनकी स्मृति से करुणाप्लुत हो गुरु महाराज ने बताया : 'जब वे बहुत बीमार हुए, तो प्रेमवश मैं उनका दुर्बल हाथ पकड़े बातें कर रहा था। कुछ देर बाद ध्यान आया कि स्वामीजी का हाथ बहुत जोरों से दबाये बैठा हूँ, कदाचित् पीड़ा न हो। अतएव धीरे से हाथ छुड़ाने लगा कि उनकी आँखें भर आयीं। कहने लगे : 'ना, ना पण्डितजी, मेरा हाथ मत छोड़ो। आपका स्पर्श बड़ा ही सुखद प्रतीत हो रहा है। शरीर त्यागने का दुःख नहीं, आपको अकेले छोड़ जाना अखर रहा है।' उनके ये व्यथाभरे अन्तिम वचन सुन क्षणभर मैं भी विचलित-सा हो उठा। पूर्ण विरक्त महात्मा होने पर भी वे कितने उच्च कोटि के प्रेमी थे! उनके जाने से मैंने अपना एक सच्चा सुहृद् खो दिया है।'

स्वामी शान्तानन्दजी का एक और संस्मरण बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। एक बार गुरु महाराज और वे ट्रेन से कहीं जा रहे थे। किसी छोटे स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हुई। सन्ध्या का समय था। स्टेशन पर लोग भी इने-गिने थे। एक ओर एक वृद्ध ज्वरग्रस्त हो बेहोश पड़ा था। उसकी वह दयनीय दशा देख प्रेममूर्ति श्री शान्तानन्दजी झट ट्रेन से उतर पड़े और गुरु महाराज से कहा कि 'आप आगे चलें। इसे कुछ आराम मिलने पर मैं आ जाऊँगा।' गुरु महाराज विशेष कार्यवश रुक न सके और गाड़ी चल पड़ी।

अब शान्तानन्दजी ने उस बूढ़े को प्लेटफार्म से उठाया और स्टेशन के एक कमरे में ले गये। रातभर वे उसे अनेक उपचारों से आराम पहुँचाते बैठे रहे। किसी तरह पता चला कि वह एक मुसलमान है, जो कहींसे आ रहा है। ज्वर अत्यधिक हो जाने से बेहोश हो गया है। स्वामीजी ३-४ दिनों तक उसके साथ रहे। जब तक वह पूर्ण स्वस्थ नहीं हुआ, उसकी सेवा करते रहे।

स्वस्थ होने पर उस मुस्लिम भाई ने स्वामीजी के चरणों पर गिरकर अत्यन्त कृतज्ञता व्यक्त की। कहने लगा : 'आपने मुझे नयी जिन्दगी बख्शी है। खुदा ही मुझे मिल गया!'

स्वामीजी ने कहा : 'भई, यह कोई बड़ी बात नहीं। मानव मानव के कष्ट में काम न आये, तो वह मानव ही कैसा? हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं, इसीलिए परस्पर भाई-भाई हैं।'

सन्तों के जीवन में कितनी समदृष्टि और परोपकार-भावना रहती है, अगाध विश्व-प्रेम भरा रहता है, इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसे थे स्वामी शान्तानन्दजी ! तब उन्हें खोकर गुरु महाराज को क्यों न सर्वस्व खोया-खोया-सा मालूम पड़े ?

वृन्दावन में श्री स्वामी शान्तानन्दजी का विराट् भण्डारा हुआ। पश्चात् सन्त-मण्डल नर्मदा-तटवर्ती उनकी कुटिया पर पहुँचा और वहाँ भी भण्डारा किया गया।

चिट्टी गाँव में विश्राम

गुरु महाराज ने श्री सर्वानन्दजी को पुनः अहमदाबाद भेज दिया और स्वयं शान्तानन्दजी के अभाव से निर्विण्ण स्थिति में ही वृन्दावन होते हुए स्वामी कृष्णानन्दजी के साथ जालंधर के चिट्टी गाँव में वैद्य दयानन्दजी के पास आये। आप जैसे ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष को भी अपने चिरपरिचित परम सुहृद् के चले जाने पर ग्लानि हुई, तो संसार के प्राणी-पदार्थों में आसक्त जीवों की बात ही क्या ? सचमुच शान्तानन्दजी इसी कोटि के महात्मा थे। ऐसों की क्षति-पूर्ति कठिन हुआ करती है।

इधर गुरु महाराज की आज्ञा से श्री सर्वानन्दजी सिन्ध-पंजाब अन्न-क्षेत्र के ट्रस्टियों की प्रार्थना पर ऋषिकेश आ गये। वहाँ से उन्होंने हरिद्वार की उदासीन-परिषद् में भाग लिया। संवत् २००६ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान हरिद्वार में ही किया। गुरु महाराज नववर्ष के दिन चिट्टी में ही थे।

हरिद्वार से श्री सर्वानन्दजी दिल्ली आये और कुछ दिन कुरसिया घाट तथा शरणार्थियों की छावनियों में प्रवचन दे उन्हें समाश्वस्त करते रहे। पश्चात् वे गुरुदेव के पास चिट्टी पहुँचे।

कुछ दिन चिट्टी में निवास कर गुरु महाराज अमृतसर आ गये और वहाँ से ५ मई १९४९ (संवत् २००६) को कुमारहट्टी के कृष्ण-मन्दिर पहुँचे। लगभग दो मास यहीं रहे। यहीं आपको अपने परम भक्त फूलशंकर वकील के स्वर्गवास का समाचार मिला। अतः वहाँ से दिल्ली होते हुए अहमदाबाद आ गये।

अहमदाबाद में वकील साहब के परिवार को सान्त्वना दी गयी। आषाढ़ शुक्ला ९मी से प्रवचन शुरू हुआ। १० जुलाई १९४९ को यहीं गुरुपूर्णिमा हुई। संवत् २००६ श्रावण शुक्ला १०मी को अतिवृद्ध भक्त श्री अमीचन्द मोदी के आग्रह पर आपके तत्त्वावधान में वेद-मन्दिर के व्याख्यान-भवन का वास्तु-महोत्सव मनाया गया। भाद्रपद शुक्ला ९मी को श्रीचन्द्र-नवमी मनायी गयी।

श्री जयदीप सिंह का राज्याभिषेक

गुरु महाराज के अनन्य भक्त-शिष्य बारिया के महाराज रणजीत सिंह का ७ सितम्बर १९४९ को देहावसान हो गया। अतः राज-परिवार को सान्त्वना देने के लिए गुरु महाराज ने श्री सर्वानन्दजी को भेजा। आपकी आज्ञा से सर्वानन्दजी महाराज रणजीत सिंह के पौत्र युवराज सुभग सिंह के पुत्र जयदीप सिंह के राज्याभिषेक तक वहीं ठहरे। २४ सितम्बर १९४९ को उनका राज्याभिषेक-समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ।

अहमदाबाद से गुरु महाराज कुमारहट्टी चले आये। आपके साथ सर्वश्री विचारानन्द, गोविन्दानन्द, कुलपति कृष्णानन्दजी और ईश्वर मुनि भी थे। वहाँ एक मास निवास कर ७ अक्तूबर १९४९ को आप देहली में कुरसिया घाट आये। वहीं ठहर गये। प्रातः पंजाबी घाट पर और सायंकाल चित्रगुप्त आदि विभिन्न स्थानों पर आपके प्रवचन होते रहे।

२१ दिसम्बर १९४९ को गुरु महाराज दिल्ली से बम्बई आये। वहाँ जमनादास रामदास डोसा के बँगले में निवास हुआ। सायंकाल माधवबाग में प्रवचन होते रहे। प्रातः ७ बजे से ९ बजे तक बँगले पर ही कठोपनिषद् का स्वाध्याय एवं प्रवचन चलता।

गुरु महाराज की आज्ञा से श्री सर्वानन्दजी ने बड़े बा साहब दिलहर कुँवर बा की प्रार्थना पर बम्बई के उनके नये बँगले में गीता का प्रवचन आरम्भ किया। २२ जनवरी १९५० को प्रवचन की पूर्णाहुति पर गुरु महाराज भी पधारे। मोरवी-नरेश श्री लखधीर सिंह, महारानी केसर कुँवर बा, नाना बा साहब द्रुपद कुँवर बा, सेठानी मोती बा आदि ने आपके दर्शन किये। ये लोग बड़ी बा साहब की प्रार्थना पर गीता-प्रवचन की पूर्णाहुति के लिए उपस्थित हुए थे। २३ जनवरी १९५० को कठोपनिषद्-प्रवचन की पूर्णाहुति हुई। इसके बाद आपने सूरत, अहमदाबाद और देहली की यात्रा की।

हरिद्वार-कुम्भ

गुरु महाराज देहली से फाल्गुन शुक्ला १४शी संवत् २००६ (३ मार्च १९५०) को कुम्भ-पर्व के लिए हरिद्वार पधारे। वहाँ भूपतवाला, गंगा के तट पर विशाल छावनी बनायी गयी थी, जिसमें ७ हजार व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था थी। अन्न-क्षेत्र चालू हो गया था। भिक्षा के लिए असंख्य सन्त-विरक्त पधारते। कुम्भ की आर्थिक-व्यवस्था करनेवालों में सेठ बालचन्द, भगवानदास कामदार,

हँसमुखलाल फौजदार, कोकिलाबेन मेहता, रायसाहब रूड़ाराम आदि भक्तों के नाम उल्लेख्य हैं।

यहाँ प्रवचन, कथा-वार्ता के लिए बड़ा ही सुन्दर और भव्य पण्डाल बनाया गया था। प्रवचन में प्रतिदिन करीब बीस हजार जनता उपस्थित रहती।

छावनी में अग्निकाण्ड

२५ मार्च १९५० को रात्रि में ९ बजे एकाएक आग लगी और छावनी का काफी भाग स्वाहा हो गया। आग किसी तरह शान्त की गयी। इसमें जन-हानि तो नहीं, पर धन-हानि बहुत हुई। मेला-प्रबन्धक तत्काल पहुँचे और छावनी के व्यवस्थापक श्री दयाल मुनि आदि महात्माओं से पूछने लगे कि 'आपकी क्या सहायता की जाय?' गुरु महाराज की सूचना के अनुसार श्री सर्वानन्दजी ने मेला-प्रबन्धक से कहा कि 'कुछ सेवक तो हमारी छावनी में हैं ही, आप भी अपने कुछ कर्मचारी शीघ्र भेजें। अग्निकाण्ड के जो चिह्न हैं, उनकी शीघ्र सफाई हो जाय, ताकि प्रातः किसीको इस दुर्घटना का पता ही न चल सके और सभी उत्साह से कुम्भ-मेले का लाभ उठायें।'

आश्चर्य की बात यह कि आपके आदेशानुसार रातोरात कार्यकर्ताओं ने बड़ी कुशलता से नये तम्बू आदि लगाकर छावनी एकदम साफ-सुथरी कर दी। प्रातः अग्निकाण्ड का समाचार पा लोग उसे देखने और सहायता करने आये, तो छावनी में पूर्ववत् सारा शान्त व्यवहार देख ठक-से रह गये। मालूम पड़ता था कि मानो कुछ हुआ ही नहीं। निजानन्द में सदैव मग्न सन्त के सान्निध्य में दुःख-शोक के प्रसंग ही कहाँ और आयें तो भी कितनी देर ठहर सकते हैं?

उस दिन मालपूआ का भण्डारा था। संकोचवश विरक्त-मण्डल भिक्षा न लेकर आगे बढ़ने लगा। आपके संकेत पर सर्वानन्दजी उन्हें बुला ले आये और कहा कि भिक्षा लेते जायें। विरक्त पण्डित ऋषभदेव आदि लौट पड़े और उन्होंने सानन्द भिक्षा ली। उन सबने गुरु महाराज से भेंट की। उस समय भी आपके मुखमण्डल पर वही सदा-सी हास्य-रेखा खेल रही थी। विरक्त-शिरोमणि ऋषभदेव मुक्त कण्ठ से कहने लगे: 'तरति शोकमात्मवित्' यह श्रुति आपके जीवन में सर्वथा चरितार्थ सिद्ध हो रही है। 'मिथिलायां दह्यमानायां न मे किञ्चन दह्यते' का आदर्श आज यहाँ साकार देखने को मिल रहा है। १३ अप्रैल १९५० को कुम्भ-मेला समाप्त हुआ। १७ अप्रैल को अन्न-क्षेत्र भी बन्द हो गया।

राम-धाम का शिलान्यास

गुरु महाराज हरिद्वार-कुम्भ पूरा कर देहरादून पधारे। वहाँ राजपुरा रोड पर भक्त रायसाहब रूड़ाराम के बँगले में ठहरे। आपने यहाँ से श्री सर्वानन्दजी और ईश्वरमुनि को पुनः हरिद्वार भेजा। बात यह थी कि सन् १९४५ में वहाँ मोदी-भवन और अम्बाला-हाउस के बीच एक भूमि-खण्ड खरीद लिया गया था। उस स्थान पर मनोनीत राम-धाम के शिलान्यास की व्यवस्था करनी थी। वैशाख शुक्ला ११शी संवत् २००७ (२९ अप्रैल १९५०) को वेदान्ताचार्य श्री स्वामी असंगानन्दजी के हाथों यह शिलान्यास-कार्य सम्पन्न हुआ।

अहमदाबाद में गुरुपूर्णिमा

गुरु महाराज देहरादून से ग्वालियर होते हुए १४ जून १९५० को अहमदाबाद पहुँचे। वहाँ संवत् २००७ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को धूमधाम से गुरुपूर्णिमा-उत्सव मनाया गया। प्रायः आप गुरुपूर्णिमा-उत्सव अहमदाबाद में ही मनाते हैं।

इस वर्ष दो आषाढ़ थे। गुरु महाराज अहमदाबाद से ६ सितम्बर सन् १९५० को बम्बई आये। इसी मास सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में २६ घण्टे लगातार वर्षा होने से अहमदाबाद में विशेष क्षति हुई।

गुरु महाराज बम्बई से कुछ दिन पूना में रायबहादुर नारायणदास के बँगले में ठहरे। इसी वर्ष आपके तत्त्वावधान में न्यायाचार्य श्री योगीन्द्रानन्दजी द्वारा 'मात्रा-शास्त्र', 'वेदमन्दिर-प्रवेशिका' और 'योगिराज फलाहारी' ग्रन्थों का निर्माण एवं प्रकाशन हुआ।

दिल्ली में शिष्ट-मिलन

१ नवम्बर १९५० को गुरु महाराज दिल्ली आये। यहाँ आप कुरसिया घाट पर ठहरे। २१ नवम्बर को लोकसभा के अध्यक्ष श्री मावलणकर से भेंट हुई। एक घण्टे तक समाज-सुधार, हिन्दी-प्रचार तथा अन्य नैतिक विषयों पर वार्ता हुई।

श्री गुलजारीलाल नन्दा भी आपके दर्शनार्थ आये और उनके साथ आध्यात्मिक वार्ता हुई।

ऋषिकेश के श्री स्वामी शिवानन्दजी जापान, अमेरिका आदि विदेशों की यात्रा कर दिल्ली आये थे। रायबहादुर नारायणदास (रिटायर्ड इंजीनियर) के साथ वे गुरु महाराज से मिलने आये। लाहौर के हरिनाम संकीर्तन-सम्मेलनों और अन्य कई अवसरों पर आपसे उनकी भेंट हो चुकी थी। इस अवसर पर

विदेशों में आध्यात्मिक प्रचार के सम्बन्ध में विस्तृत वार्तालाप हुआ।[1] इसके बाद देर तक योग-साधना और दर्शन-समन्वय पर भी बातचीत हुई।

२६ नवम्बर १९५० को सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभा के प्रधानमन्त्री गोस्वामी श्री गणेशदत्तजी भी गुरु महाराज से मिलने आये। ९ दिसम्बर को गांधी-ग्राउण्ड में सनातनधर्म-युवक-सम्मेलन के वार्षिकोत्सव पर श्री अनन्तशयनम् आयंगार भी आपसे मिले। वहाँ आपके गोवध-निरोध और सनातनधर्म के गौरव पर प्रवचन हुए।

सरदार पटेल का स्वर्गवास

१५ दिसम्बर सन् १९५० को प्रातः ९ बजे देश के कर्णधार लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल का बम्बई में बिड़ला-भवन में स्वर्गवास हो गया। देश में शोक की लहर छा गयी। स्थान-स्थान पर आपके लिए शोक-सभाएँ हुई और सभी वर्गों के लोगों ने आपको सादर-श्रद्धांजलियाँ समर्पित कीं। भारत आज जो एक अखण्ड सत्ता के रूप में उत्तरोत्तर उन्नति करता दीख रहा है, उसका बहुत बड़ा श्रेय सरदार को है। देशी-राज्यों को भारत-समुद्र में एकरस बनाने में वे कुशल शिल्पी सिद्ध हुए।

२४ दिसम्बर १९५० को गुरु महाराज बम्बई आये। यहाँ आपका निवास रामदास डोसा के बँगले में हुआ। प्रश्नोपनिषद् का स्वाध्याय आरम्भ हुआ। ४ फरवरी सन् १९५१ तक सत्संग चलता रहा।

बम्बई से नवसारी, अहमदाबाद होते हुए गुरु महाराज ५ मार्च सन् १९५१ को वृन्दावन पधारे। वहीं शिवरात्रि, वार्षिकोत्सव और होली-उत्सव हुए।

वृन्दावन से ऋषिकेश होते हुए गुरु महाराज ३० मार्च सन् १९५१ को पंजाब-सिन्ध-क्षेत्र ऋषिकेश के मंगलोत्सव में पधारे। हरिद्वार में नववर्ष का स्नान हुआ।

हरिद्वार से ९ अप्रैल १९५१ को गुरु महाराज अमृतसर पधारे। वहाँ लाला दौलतराम दुर्गादास मेहरा की कोठी में ठहरे। वहाँ सरगोधा-निवासी अद्वैत-

---

१. हमें यह भी ज्ञात हुआ कि गुरु महाराज के दादा-गुरु श्री स्वामी सुन्दरदासजी आपको अंग्रेजी के विद्वान् बना आप द्वारा विदेशों में सनातन-धर्म-प्रचार की उत्कट कामना रखते थे। कारण उन्हें आपकी असाधारण प्रतिभा द्वारा विदेशों में भारतीय संस्कृति की महती सेवा और प्रतिष्ठा होने का विश्वास था। आप भी इसे चाहते थे। किन्तु गुरुदेव श्री रामानन्दजी को सम्मत न होने से आपने विदेश-भ्रमण का विचार सदैव के लिए त्याग दिया।

वेदान्ताभ्यासी लाला बालमुकुन्द की प्रार्थना पर आपके गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों के समन्वयपूर्वक अद्वैततत्त्वपरक कई मननीय व्याख्यान हुए ।

राम-धाम प्रवेश-मुहूर्त

अमृतसर से गुरु महाराज हरिद्वार आये । वहाँ वैशाख कृष्ण ७मी संवत् २००८ (२९-४-'५१) को नूतन-निर्मित स्थान 'राम-धाम' का प्रवेश-मुहूर्त हुआ । दूसरे दिन इसी निमित्त से समष्टि-भण्डारा हुआ, जिसमें २ हजार सन्तों ने भोजन किया । इस अवसर पर गुरु रामराय दरबार, देहरादून के महन्त श्री इन्दिरेशचरणदासजी की उपस्थिति उल्लेख्य है । वसियामल कम्पनी के सेठ कुन्दनलाल रेवाचन्द ने सन्त-सेवार्थ १० हजार रुपये लगाये । आकस्मिक कार्य-वश वे इस अवसर पर उपस्थित न हो सके और उनका प्रतिनिधित्व उनके मैनेजर भक्तप्रवर अर्जुनदास दासवानी ने किया ।

हरिद्वार से गुरु महाराज आबू पधारे । लगभग दो मास वहीं रहे । गुरुपूर्णिमा के एक सप्ताह पूर्व आप अहमदाबाद आये और १९ जुलाई, १९५१ को वहाँ गुरुपूर्णिमा-समारोह सम्पन्न किया । आपका इस बार का चातुर्मास्य अहमदाबाद में ही हुआ । नित्य स्वाध्याय, प्रवचन के कार्यक्रम चलते रहे ।

दिल्ली में गीता पर प्रवचन

१६ अक्तूबर १९५१ को गुरु महाराज अहमदाबाद से दिल्ली पधारे और कुरसिया घाट पर ठहरे । यमुना-तट पर गीता के द्वितीय अध्याय पर आपका प्रवचन आरम्भ हुआ । साथ की मण्डली में ५० सन्त थे । कार्तिक-पूर्णिमा को कथा की समाप्ति पर २० हजार की संख्या में जनता उपस्थित थी ।

दिल्ली से ग्वालियर होते हुए गुरु महाराज १२ दिसम्बर १९५१ को बम्बई पधारे । यहाँ आपने सेठ वालचंद के ब्रीचकैण्डी के बँगले में निवास किया । बँगले पर ही नित्य प्रातः मुण्डकोपनिषद् का स्वाध्याय होता और सायंकाल माधवबाग में गीता पर प्रवचन होते ।

'पुनन्तु मां सद्गुरु-पादपांसवः'

पौष कृष्ण ३ या (२९ दिसम्बर '५१) को चरित्र-लेखिका का जन्म-दिन पड़ता था । सौभाग्य से इस अवसर पर गुरु महाराज बम्बई में ही थे । अतः उसकी तीव्र इच्छा हो उठी कि इस दिन आप उसके घर पधारें । सन् १९४७ में दीक्षा लेने के बाद लेखिका के जन्म-दिन पर उसके घर पधारने का यह प्रथम अवसर
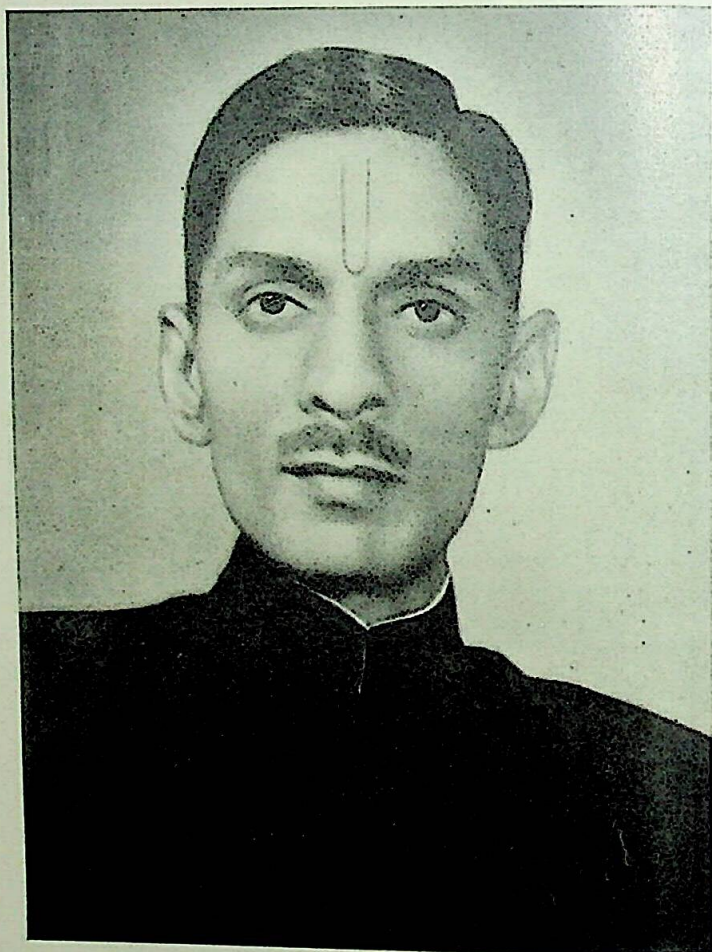
भक्तवर स्वर्गीय नरोत्तमदास जेठालाल भालकिया, अहमदाबाद

था। दयालु गुरुदेव ने प्रार्थना मान ली और अपनी चरण-रेणु से उसका घर पवित्र किया। उस समय वह कितनी भाव-प्रवण हुई, इसके वर्णन का यह स्थल नहीं और न वह शब्दों में पिरोया ही जा सकता है।

षोडशोपचार पूजन के बाद सिर पर वरद-हस्त रखते हुए गुरुदेव ने कहा : 'तुम्हारा अब शेष जीवन तप तथा वैराग्य-सम्पन्न हो, श्रीकृष्णचन्द्र की रूप-माधुरी के चिन्तन में व्यतीत हो, जिससे तुम्हें अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो जाय।'

आशीर्वाद शिरोधार्य कर शिष्या ने अपनी ईश्वर-दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा व्यक्त की। गुरुदेव ने गम्भीर गिरा में कहा : 'पुत्री, प्रथम १२ वर्ष अनन्य भाव से सद्गुरु की सेवा करो, पश्चात् सभी मनोरथ सफल हो जायँगे। बिना अनन्य प्रपन्नता और गुरु-सेवा के कोई साधना पूर्ण नहीं होती।'

यह अपूर्व बारात

ग्वालियर में सेठ बालचन्द (जे० बी० मंघाराम) के द्वितीय सुपुत्र चि० लछमनदास का १५ जनवरी १९५२ को विवाह था। सेठ बालचन्द के अत्याग्रह पर गुरु महाराज १२ जनवरी को बम्बई से ग्वालियर पधारे। इस सुअवसर पर मण्डली के सन्तों के अतिरिक्त श्री सहजानन्द भारती, चेतनदेव कुटिया के महन्त श्री गुरुमुखदासजी एवं अन्य कई सन्त पधारे थे। सेठ के पुत्र की विवाह-बारात में एक सौ साधु उपस्थित थे। उसमें भी विशेषता यह कि अधिकतर सन्त हाथी और मोटरों पर विराजमान थे। ग्वालियरवालों का कहना है कि ऐसी अपूर्व बारात हम लोगों ने कभी नहीं देखी।

वेद-मन्दिर का उद्घाटन-महोत्सव

ग्वालियर से गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। वहाँ वेद-मन्दिर में भगवान् वेद-नारायण की प्रतिष्ठा का महोत्सव होने जा रहा था।

महोत्सव के लिए समिति संगठित हुई और उसने विशाल योजना बनायी। समिति में सर्वश्री सेठ नरोत्तमदास जेठालाल भालकिया, चन्द्रकान्त मोतीलाल, सेठ कन्हैयालाल, मोतीलाल, तुलसीदास नरसिंहदास पटेल, मास्टर जीवनलाल, भक्त पुनीत, गिरिजाशंकर जोशी आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

योजनानुसार १७ फरवरी से २६ फरवरी १९५२ तक श्रीमद्भागवत-सप्ताह, वेद, गीता एवं रामायण के पारायण हुए। प्रसिद्ध विद्वानों एवं महापुरुषों के विभिन्न शास्त्रीय विषयों पर मननीय प्रवचन होते रहे।

२७ फरवरी से २९ फरवरी तक तीन दिनों का विष्णु-याग एवं प्राण-प्रतिष्ठा की पूर्वविधि हुई।

२९ फरवरी को वेद-नारायण की काष्ठमयी चल-मूर्ति की भव्यतम नगर-शोभा-यात्रा (जुलूस) निकली। संवत् २००८ फाल्गुन शुक्ला ४र्थी बुधवार को मन्दिर में भगवान् वेद-नारायण की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा हुई।

फाल्गुन शुक्ला ५मी (१-३-'५२) को गुरु महाराज के परम भक्त पेटलाद-निवासी सेठ रमणलाल दातार के शुभ हाथों उद्घाटन-समारोह हुआ। इस महोत्सव पर तपस्वी पूर्णदासजी, स्वामी असंगानन्दजी, उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा के सेक्रेटरी वावा विश्वेश्वरदासजी तथा अन्यान्य सम्प्रदायों के अनेक महन्त और प्रतिष्ठित विद्वानों ने भाग लिया।

वेद-नारायण का श्रीविग्रह

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-१८) के 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इस मन्त्र के अनुसार जिस परमात्मा ने पितामह ब्रह्मदेव को चारों वेद प्रदान किये, उसी वेद-प्रदाता वेद-नारायण की यह प्रतिमा है। भगवान् ने ब्रह्मा को देने के लिए चार हाथों में चारों वेद ग्रहण कर रखे हैं। भाल पर सुन्दर तिलक सुशोभित हो रहा है। कानों में रत्न-जटित कुण्डल झिलमिला रहे हैं। मुख-कमल की मन्द-मधुर मुसकान मानो कोटि-कोटि कन्दर्प का दर्प दलन कर रही है।

इस उत्सव के जुलूस और प्रतिष्ठा-उद्घाटन के कार्यक्रम सचमुच अवर्णनीय थे। प्रत्यक्षदर्शी होकर भी लेखिका उसके वर्णन में असमर्थ है। जुलूस नहीं, मानव-समुद्र तरंगित हो उठा था। 'वेद भगवान् की जय' के सामूहिक जयकारों से दसों दिशाएँ गूँज उठतीं। लोगों का उत्साह और आनन्द असीम रहा। फिर भी मोटर में गुरु महाराज समाहित मुद्रा में बैठे थे। उनके मुख-मण्डल पर प्रसाद की एक भी रेखा खिंचती नहीं दीखी। आश्चर्यवश इसका रहस्य पूछने पर बोले : 'वास्तव में मुझे ये प्रासंगिक उत्सव, जुलूस, पूजन, उद्घाटन आदि कार्य अच्छे ही नहीं लगते, फिर भी लोक-संग्रहार्थ करने पड़ते हैं। इनसे मुझे कोई विशेष आनन्द प्राप्त नहीं होता। हाँ, बार-बार यह खयाल आता है कि कहीं कोई श्रमित हो बीमार न पड़ जाय।' सन्त महापुरुषों में ही निर्लेपता का यह दिव्य दर्शन होता है।

तुभ्यमेव समर्पये

आधी शताब्दी से गुरु महाराज अपनी उदासीन-परम्परा के अनुसार जनता-

जनार्दन की विभिन्न प्रकार से सेवा करते आ रहे थे। स्वयं वीतराग और निःस्पृह होते हुए भी लोक-संग्रहार्थ उनकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। इनमें उनकी अमूर्त प्रवृत्तियों से कितनों ने कितना लाभ उठाया, इसे मापना कठिन है। उसका तो प्रत्येक व्यक्ति, जो एक वार भी आपके सान्निध्य में पहुँच गया, अपने-अपने अन्तर से ही मापन कर सकता है। भारतीय वैदिक-धर्म, सभ्यता, संस्कृति को तो आपने पुनरुज्जीवित ही किया। आपके जीवन में मूर्त आश्रमों का भी कोई साधारण स्थान नहीं। सैकड़ों छोटे-मोटे आश्रम आपने बनाये और जहाँ जो भी उचित अधिकारी दीखा, उसे वह सौंप दिया। यह क्रम तो जीवन-चरित्र से भी स्पष्ट है। फिर भी सात-आठ ऐसे वड़े आश्रम आपने वनाये हैं, जो केवल आपके ही तपोवल के वश की वात है।

निःस्पृह ब्रह्मनिष्ठ महात्मा होते हुए भी इतने आलीशान आश्रमों का निर्माण जनता की आपके प्रति असीम श्रद्धा, सम्मान एवं गुरु-भावना के चेतन प्रतीक हैं। जिसने जिस भाव और जिस इच्छा से जो कुछ अर्पण कर दिया, तदनुसार सवकी व्यवस्था कर आपने सवको सन्तुष्ट किया। इन आश्रमों के निर्माण में कितने ही व्यक्तियों के उदार हाथ हैं, जो एकमात्र आपकी प्रेरणा पर ही सक्रिय हो उठे हैं। इस तरह इन आश्रमों के माध्यम से भावुक सेवकों ने अपने-अपने स्नेहियों की पुण्य-स्मृतियाँ स्थापित कर जहाँ ऐहिक लाभ पाया, वहीं वह सव गुरु-चरणों में श्रद्धापूर्वक अर्पित हो जाने से निःश्रेयस् का भी मार्ग उन्मुक्त कर लिया।

जनता ने तो आपको यह सव सौंप ही दिया। पर आप इसे कव तक सँभाले रहेंगे? 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।' निःस्पृह इनकी क्यों परवाह करे? फिर भी गुरु महाराज में चरम सीमा की पारमार्थिकता के साथ उच्चतम व्यावहारिकता का भी मधुर समन्वय पाया जाता है। संसार को असत् मानते हुए भी व्यवहार-सीमा में खड़े व्यक्ति के लिए आप व्यावहारिक नियमों का पालन अनिवार्य वताते हैं। अतएव आपने अपने इन आश्रमों के सविधि ट्रस्ट बना दिये और जनता-जनार्दन से प्राप्त सम्पत्ति पुनः उसीको समर्पित कर चिरमुक्त हो गये। सारी सम्पत्ति को सार्वजनिक करते समय उसमें अपना व्यक्तित्व कुछ भी न रखना त्याग-वृत्ति और अनासक्ति की चरम सीमा है।

वेद-मन्दिर के उद्घाटन के बाद प्रायः वर्षभर तक गुरु महाराज इन्हीं ट्रस्टों के निर्माण में लगे रहे और पाँच आश्रमों के सविधि ट्रस्ट बना दिये। आगे के वर्षों में भी आपने तीन ट्रस्ट और बनाये। चरित्र-क्रमानुसार उनका वर्णन यथा-स्थान आने पर भी यहाँ सुविधा के लिए सबकी एक साथ सूची दी जा रही है:

ट्रस्ट का नाम	पता	निर्माण-समय
१. राम-धाम सत्संग धर्मार्थ ट्रस्ट	शिव-मन्दिर, रतनचन्द रोड, अमृतसर	२५-३-'५३
२. उदासीन राम-धाम साधना ट्रस्ट	राम-धाम, निरंजनी अखाड़ा रोड, हरिद्वार	१०-४-'५३
३. उदासीन सद्गुरु रामानन्द ट्रस्ट	श्रौतमुनि-निवास, वृन्दावन	४-५-'५३
४. स्वामी गंगेश्वरानन्द कृष्णानन्द शिक्षा-ट्रस्ट	६४/१, ६५/१, मच्छोदरी, वाराणसी	१५-५-'५३
५. उदासीन गंगेश्वरानन्द वेद-मन्दिर ट्रस्ट	वेद-मन्दिर, काँकरिया रोड, अहमदाबाद	जून १९५३
६. महाराजा जोरावर सिंह और महारानी चमन कुँवर वा ट्रस्ट	ओम्प्रकाश बँगला, त्र्यम्बक रोड, नासिक	२३-१२-'५७
७. उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जनकल्याण ट्रस्ट	तुलसी-निवास, डी रोड, चर्च गेट, बम्बई	२२-५-'५९
८. सद्गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक ट्रस्ट	गंगेश्वर-धाम, १३, पार्क एरिया, करोलबाग, दिल्ली	१६-३-'५९

आश्रमों के ट्रस्ट-निर्माण का कार्य सम्पन्न कर गुरु महाराज ३० दिसम्बर १९५३ को सूरत पधारे। यहाँ के आयुर्वेदिक-कालेज में कर्मयोगी वीतराग आत्मानन्दजी की प्रतिमा का अनावरण आपके कर-कमलों से हुआ। इस अवसर पर रामायण का नवाह्-पाठ भी हुआ, जिसके वक्ता श्री कृष्णशंकर शास्त्री थे। इसी दिन यहाँ से आप प्रयाग-कुम्भ के लिए रवाना हुए।

१३

लोक-संग्रह का षष्ठ चरण

[संवत् २०१० से २०१२ तक]

संसार के सभी धर्मों ने अपने यहाँ एक-एक ऐसी जाति की कल्पना कर रखी है, जो केवल सुखभोग की प्रतीक है। उसे, उस जाति के लोगों को दुःख नाम की कोई वस्तु ज्ञात हो नहीं। सभी भोग्य वस्तुएँ उन्हें अनायास सुलभ हो जाती हैं। साम्राज्य, स्वाराज्य, सौमनस्य उनके घर पानी भरते हैं। कुछ लोग उन्हें 'फरिश्ते' कहते हैं, तो कुछ 'देव'। अवश्य ही देव और फरिश्तों की कोई तुलना नहीं, पर सुख-प्रतीक जाति के तौर पर आप कुछ देर के लिए उन्हें एक कह सकते हैं। यह 'देव' शब्द जिस धातु से बना, वह 'दिवु' धातु ही बताता है कि क्रीड़ा इनका अंग-स्वभाव है। ऐसे देव भी श्रीमद्भागवत (५-१९-२१) में गाते नहीं अघाते :

'अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥'

अर्थात् इन लोगों ने कौन-सा ऐसा लोकोत्तर शोभन कर्म किया है या स्वयं त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीहरि ही इन पर प्रसन्न हो उठे हैं, जो इन्हें भारत के आँगन में मानव-जन्म सुलभ हो पाया, जिससे बहुत बड़ा लाभ भुवनमोहन मुकुन्द की सेवा सध पाती है। सचमुच हम लोग इनके इस लाभ के लिए तरस रहे हैं।

परम भागवत भक्त, जगन्नाटक के सूत्रधार श्रीहरि के परम रम्य वृन्दावन-लीलाविहार का वर्णन किया करते हैं, जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के एक कथा-प्रसंग पर आधृत है। गोधनों को आगे कर अपने साथी बाल-गोपालों को ले भगवान् कृष्ण और बलदाऊजी वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना के पुलिनों पर गोचारण करने चल पड़े हैं। उनका यह अति दिव्य ठाठ-बाट देख देवता आकाश से सुमन-वृष्टि कर रहे हैं।

भोर से उठकर गायें चराते-चराते दो प्रहर बीत चुके। अब सभी कालिन्दी के पुलिन पर पहुँच गये हैं। यह देख भगवान् साथियों से कहते हैं :

'अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः।'

'भई, सूर्य नारायण सिर पर चढ़ आये, जोरों से भूख लगी है, अब यहाँ हमें भोजन करना चाहिए।'

फिर क्या था ? प्रत्येक गोप-बालक घर से निकलते समय माता का स्नेहभरा सम्बल, पाथेय साथ ले आया ही था। सभी भगवान् कृष्ण को घेरकर गोलाकार बैठ गये। कोई पुष्पदल, कोई पल्लव तो कोई अंकुर, जिसे जो मिला, पात्र बना लिया। भगवान् ने कहा : 'सबका खाना एक में मिला दिया जाय और फिर सब बाँटकर साथ-साथ खायें'—'सह नौ भुनक्तु'।

बात तय रही। मण्डलाकार गोप-बालों के बीच उस समरस दिव्य भोजन को भगवान् ब्रह्माण्डनायक अपने श्रीहस्त से परोसने लगे। वे पीताम्बर कसे हुए हैं। कमर में वेणु और काँख में सींग (बजाने का) और बेंत की छड़ी दबाये हैं। हँसते-खेलते सभी गोप-बालों का वन-भोजन चल रहा है, 'पिकनिक' चल रही है। मोर-मुकुटधारी, नीलाम्बुद-श्यामल की उस अपूर्व छवि का वर्णन नित्या-शक्ति वृषभानुनन्दिनी के लीला-शुक परिव्राजक-शिरोमणि श्री शुकाचार्य इन शब्दों में करते हैं :

'बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यंगुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥'

यह दिव्य दृश्य देख स्वर्गस्थ देव गोप-बालों से ईर्ष्या करने लगे। भारत-भूमि पर उतरकर इस दिव्य प्रसंग में सम्मिलित होने के लिए तरसने लगे।

परम भागवत भक्त इस वर्णन में एक कड़ी और जोड़ देते हैं। देवगण अपना यह मोह-संवरण न कर पाये और जल-जन्तुओं का रूप ले यमुना में आ छिपे, ताकि गोप-बालों के हाथ धोते समय इस दिव्य गोपाल-कलेवे के कुछ कण तो मुख में पड़ जायें और वे धन्य-धन्य हो उठें। किन्तु नटवर नागर नन्दनन्दन को यह ताड़ते देर न लगी और उन्होंने साथियों को फतवा दे डाला कि 'भइ, यमुना में बड़े-बड़े मगरमच्छ हैं। हाथ मत धोओ। अपने हाथ अंग-वस्त्र (अंगोछे) से ही पोंछ लो।' साथियों ने ऐसा ही किया और बेचारे देव टापते रह गये !

आश्चर्य है कि इन देवों को कमी किस बात की थी ? रम्भा-उर्वशी-सी सौन्दर्य-सारसर्वस्य अप्सराएँ, कल्पतरु-सा सद्यःकामनापूरक वृक्ष, कभी म्लान न होनेवाला फल-पुष्पों का आकर नन्दन-वन, कामधेनु-सी सदा दोग्ध्री (दूध देनेवाली) गाय, गन्धर्व-किन्नर-से आज के तथाकथित सांस्कृतिक आयोजक, कुबेर-सा खजांची, अभ्रगंगा-सा ताल और अलका-सा हिल-स्टेशन—क्या कमी है देवों को, जो वे भारतीयों से इतनी ईर्ष्या करें ?

यदि आप इसका उत्तर चाहें, तो किसी व्यापारी से पूछिये। किसी सामन्त और व्यापारी में जो अन्तर होता है, वही इन देवों और भगवान् कृष्ण की भारत-भूमि के मानवों में है। सामन्त अपनी पुरानी पूँजी निकाल-निकाल खरचता है, तो व्यापारी रोज-रोज कमाकर खरचता है। कहा है न ? 'व्यापारे वसते लक्ष्मी:'। व्यापारी प्रयत्न करे, तो हजारपति से लखपति, करोड़पति बन सकता है, अन्यथा रंकपति भी। देवता सामन्त हैं, तो मानव व्यापारी। भारत है व्यापार-भूमि, तिजारती मण्डी, कर्म-भूमि, तो स्वर्ग है भोग-भूमि। एक तीसरी भी भूमि है नरक-भूमि, पर उसकी चर्चा हमें यहाँ नहीं करनी है। वहाँवालों का जीवन केवल दुःख-भोग के लिए ही होता है। इसी तरह देवों का जीवन केवल सुख-भोगार्थ है। किन्तु मानव का जीवन, भारतीय का जीवन सुख-दुःख दोनों के भोगार्थ है। उसका जीवन खट्टा-मीठा, तो देवता का मीठा ही मीठा ! आप एक-दो दिन केवल मिठाई ही खाते रहें, तो ऊब उठेंगे। चटनी के लिए तरसने लगेंगे। इसलिए भी देवता भारत-भूमि के लिए, तरसें तो आश्चर्य ही क्या ?

अब आप समझ गये होंगे कि भारत कर्म-भूमि है और सभी देश भोग-भूमियाँ—फिर वह भोग शुभ हो या अशुभ। यहाँ जैसा करो, वैसा भरो—आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

इसका रहस्य यदि किसीने जाना, तो भारतीय संस्कृति ने। न केवल जाना, प्रत्युत उस पर अमल भी किया और अमर भी बन गयी। विश्व में अनेक संस्कृतियों ने—यूनानी, मिस्री आदि ने सिर उठाये और कुछ ही दिनों बाद वे धराशायी हो गयीं। आज वे जड़ देश बने हुए हैं, पर उनकी संस्कृतियाँ नामशेष हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति जाने कितनी बूढ़ी है, फिर भी सदा सबको नित्य-नवेली श्यामा-सी दीख पड़ती है। इसका कारण है, उसने कर्म-भूमि का रहस्य जाना और उस पर अमल कर लिया।

भारतीय संस्कृति का संसार औरों की तरह कयामत तक कब्र में पचते रहने का नहीं। वह असीम और निर्बाध-गति है। कर्म की पूँजी कमाओ और फर्स्ट क्लास, सेकेण्ड क्लास या थर्ड क्लास—जैसा भी टिकट कटाना चाहो, कटा लो।

कन्या-कुमारी से हिमालय तक ही नहीं, उससे परले पार—संसार से परले पार जाने का टिकट भी इसी कर्म की पूँजी से कटा सकते हो, यह अलग बात है कि उस पूँजी पर निष्कामता की मुहर लगी हो। फिर वह टिकट आज काम में न लाया जाय, तो रद्द नहीं हो जायगा, जन्म-जन्मान्तर तक अखण्ड चालू रहेगा।

भारतीय संस्कृति के दर्शन में, दृष्टि में 'निराशावाद' नाम की कोई चीज ही नहीं। वह केवल एक पहिये पर चलनेवाला रथ नहीं। ऐसा रथ तो संसार में एक सूर्य नारायण ही सफलता से चलाकर दिखा पाये हैं। बड़े दृढ़ हैं इसके दोनों पहिये। एक है 'दैव' तो दूसरा 'पुरुषकार'। एक दवता दीखे, तो दूसरे पर जोर देकर आगे बढ़ो और जहाँ से प्रवास करने निकले, उसी अपने परम धाम में निरापद पहुँच जाओ।

भारतीय संस्कृति की वर्गवाद के सिद्धान्त पर श्रद्धा नहीं। औरों की तरह वह नहीं कहती कि 'एक वर्ग से संघर्ष करके ही दूसरा वर्ग पनप सकता है, जीवन ही संघर्षमय है।' उसके अपने चार वर्ण और चार आश्रम हैं, फिर भी हरएक हाथ की पाँचों अँगुलियों की तरह एक-दूसरे के सहयोगी हैं। यदि हाथ की सभी अँगुलियाँ समान वन जायँ, तो हाथ वेडौल लगेगा। तव कदाचित् वह लोटा भी उठा न पाये। कारण हर अँगुली कहेगी कि 'मैं बड़ी, क्यों पकड़ूँ ? तू पकड़।' हाथ की पाँचों अँगुलियाँ छोटी-वड़ी होने पर भी लोटा पकड़ने के लक्ष्य की सिद्धि में सवका समान गौरव है। अँगूठा राजतिलक करता है, तो सबसे छोटी, 'कनिष्ठिका'—कनिष्ठ से भी गयी-बीती कही जानेवाली उँगली—गुणियों की गणना में सर्वप्रथम स्थान पाती है, अँगूठे से कोई गिनती शुरू नहीं करता। भारतीय संस्कृति का यही रूप है, जिसे धारण कर वह संसार में अजर, अमर वनी है।

हमारी इस संस्कृति में गरीव-अमीर का भी झगड़ा नहीं। हमारे यहाँ 'धनपति' नहीं, 'धनाध्यक्ष' होता है। 'ट्रस्टीशिप' तो आज की भाषा है। भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार धन के विभागों में उस वेचारे धनाध्यक्ष के हाथ पाँचवाँ हिस्सा लगता है और उस पर अध्यक्ष के नाते अन्य सदस्य हिस्सा वँटाने को खड़े रहते हैं। उसे भी अपने गौरव-रक्षार्थ वाँटना ही पड़ता है।

यह राजतन्त्र का समर्थन करती है, पर इसका यह राजतन्त्र आज का तथाकथित राजतन्त्र नहीं। इसका राजतन्त्र यह आदर्श रखता है कि बाप पुत्र को केवल जन्म देकर छुट्टी पा जाता है, उसे विनीत-शिक्षित करने, उसका भरण-पोषण करने का सारा दायित्व राजा पर होता है :

'प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।'

वह प्रजा का कितना ध्यान रखता है और उसके मन को कितना मानता है, यह एक आदर्श राजा राम के मुख से सुनिये :

'स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।'

भवभूति के शब्दों में कुलगुरु, पुरोहित वशिष्ठ—मन्त्रिमण्डल के प्रमुख सदस्य पितृस्थानीय वशिष्ठ महर्षि—नवीन राजा राम को सन्देश भेजते हैं कि 'हम लोग दामाद ऋषि ऋष्यश्रृंग के द्वादशवार्षिक सत्र में, यज्ञ में फँसे हैं, तुम बालक हो और नया राज्य पाये हुए हो। प्रजा का मन भली भाँति रखना। उसीसे यश मिलता है, जो रघुकुल का परम धन है।' उत्तर में राम उन्हें सन्देश भेजते हैं—'भगवन् ! जनता-जनार्दन का मन रखने के लिए मुझे स्नेह, दया, अपना सौख्य, किम्बहुना, प्राणप्रिया जानकी को भी त्यागना पड़े, तो तनिक भी व्यथा नहीं।'

वह केवल वाक्शूरता हो नहीं दिखाता। राज्य के साधारणतम जन के, रजक के कहने पर अपनी प्राणप्रिया को गर्भिणी अवस्था में निर्वासित कर सत्य-सन्धता का रेकार्ड तोड़ देता है। दुनिया के सभी वादों के सद्‌गुणों का समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति का 'राजतन्त्र' है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श सिद्धान्त है—'अमृतस्य पुत्राः'। सभी प्राणी उस अजर, अमर, अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य तत्त्व के अंश या प्रतिविम्ब हैं, आत्मा हैं, पुत्र हैं। इसीलिए आपस में भाई-भाई हैं। इसीलिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह उसकी मान्यता है। इस पर भी उसका मानव को अनुशासन है :

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।'

नहीं तो वह अन्धा कहा जायगा। इतना ही नहीं, 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'—'पण्डित लोग कुत्ते और चाण्डाल में स्थित आत्मा को समान दृष्टि से देखते हैं।' किन्तु इस समदर्शिता में वह बहकती नहीं। बड़े विवेक के साथ दृष्टि देती है कि 'भावाद्वैतं सदा कुर्यत् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।'—'संसार में सदैव भावात्मक अद्वैत रखना चाहिए, क्रियात्मक अद्वैत नहीं।' भावना की अद्वैतता रखते हुए भी क्रिया की विभिन्नता रखनी ही पड़ेगी। अन्यथा विश्व

में अव्यवस्था ही मच जायगी। ऐसी है हमारी भारतीय संस्कृति, आदर्शवाद और यथार्थवाद की समन्वय-स्थली।

इस संस्कृति में स्वावलम्वन भी कम नहीं। सवसे वड़ा स्वावलम्वन तो आत्मावलम्वन है। फिर लौकिक स्वावलम्वन भी हमें वेद सिखाता है—'कृषि-मित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।'—खेती करो और माल वटोरो। वेद के मन्त्र वताते हैं कि हमारी स्त्रियाँ वस्त्र के लिए नित्य सूत कातती, 'वयन्ती', वुनतीं।

सौमनस्य इस संस्कृति का प्राण है। इसकी सहनशीलता का ज्वलन्त प्रमाण हमारे आस्तिक-नास्तिक षड्दर्शन हैं, जिनमें हरएक एक-एक दिशा की ओर मुँह किये वैठा है। हम जमकर शास्त्रार्थ करते हैं, अखाड़े में कौशल दिखाते हैं। पुनः खेल के अन्त में मल्ल की तरह एक-दूसरे से गले मिलते हैं। कारण हमारी संस्कृति का प्राण वेद अपने उपसंहार में यही उपदेश देता है :

> 'समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥'

—हम सवका चित्त समान, परस्पर संवादी हो।

उसने यम-नियमों के अनुशासन-सूत्र से सवको एक कड़ी में वाँध दिया है। ऐसी सुन्दर सर्वांगपूर्ण संस्कृतिवाले भारत देश में जन्म लेने के लिए शकर के पुतले देवता तरसें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

यही कारण है कि भारत देश के चिरदासता के वन्धन तोड़ फेंकने के साथ ही हमारे विज्ञ राष्ट्रनायकों की पैनी दृष्टि इस अमर भारतीय संस्कृति की ओर गयी और उन्होंने गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर इसका मनन आरम्भ कर दिया। गुरु महाराज जैसे भारत के स्थितप्रज्ञ महर्षियों के चरणों में वैठ उन्होंने अपनी संस्कृति का रहस्य समझने का प्रयास किया। कैसे ? तो यह प्रकरण पढ़ें।

प्रयाग-कुम्भ

प्रायः सभी कुम्भ-पर्वों पर गुरु महाराज की छावनी और अन्न-क्षेत्र चलता रहता है। संवत् २०१० के प्रयाग-कुम्भ के लिए भी छावनी तैयार हो चुकी थी। प्रवन्धक गुरुदेव से शीघ्र प्रयाग पहुँचने का आग्रह कर रहे थे। उन्हें अपने स्वामी आत्मानन्दजी के स्नेहवश सूरत जाना पड़ा था। सूरत से आप पहली जनवरी १९५८ को चले और प्रयाग पहुँचे। छावनी में ८ हजार लोगों के

ठहरने की व्यवस्था थी। वह इतनी विशाल थी कि आपकी झोपड़ी तक पहुँचने में, जो कि छावनी के अन्तिम छोर पर थी, प्रयास का अनुभव होता। करीब ४०-५० एकड़ में उसका विस्तार था।

राज्यपाल छावनी में

उन दिनों श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे। सन् १९३९ में शिमला में फूलशंकर वकील के साथ वे गुरु महाराज से मिले थे। उन दिनों वे वम्बई के गृहमन्त्री थे। वाद में भी उनसे कई बार मुलाकातें होती रहीं। श्री मुन्शीजी छावनी में गुरु महाराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आप धूप में कुर्सी पर वैठे हुए थे। सहसा सेक्रेटरी ने सूचना दी कि राज्यपाल पधार रहे हैं। सर्वानन्दजी भी बुलाने पर आपके पास आकर वैठ गये। मुन्शीजी की आँखें धूप सहन नहीं कर पाती थीं। अतः उनकी प्रार्थना पर आप झोपड़ी में आये। उनके साथ भारतीय संस्कृति और संस्कृत-साहित्य की उन्नति तथा देश के चरित्र-निर्माण में सन्तों के सहयोग-दान आदि विषयों पर वार्ता हुई। श्री सर्वानन्दजी ने परामर्श दिया कि 'आप पुनः एक दिन पधारने का कष्ट करें। सव सन्तों को आमन्त्रित किया जाय और गुरुदेव की अध्यक्षता में संस्कृत-साहित्य के गौरव एवं देश के चरित्र-निर्माण में सन्तों के सहयोग पर आपका भाषण रखा जाय। साथ ही यह भी अनुरोध है कि उस दिन छावनी में सन्तों की पंक्ति में वैठकर आप सकुटुम्व भोजन करें।' माननीय मुन्शीजी ने सर्वानन्दजी के दोनों अनुरोध स्वीकार कर लिये।

निश्चित तिथि पर सभा हुई। राज्यपाल ने अपने भाषण में मार्मिक शब्दों में संस्कृत-भाषा का प्रचार एवं देश में सदाचार-प्रसार करने के लिए सन्तों से प्रार्थना की। सन्तों ने सहर्ष उन्हें प्रतिवचन दिया कि 'प्रयाग-कुम्भ के बाद अपने-अपने स्थानों में पहुँचने पर हम लोग आपकी वात पर विशेष ध्यान रखेंगे।' उन्होंने कहा कि 'हमारे लिए यह कोई नया काम नहीं। पहले से ही हम लोग यह करते आ रहे हैं। आपके कथनानुसार इसमें और तीव्रता लायी जायगी।'

संस्कृति-सम्मेलन में अध्यक्ष-पद से भाषण

इस अवसर पर यहाँ राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनजी के तत्त्वावधान में संस्कृति-सम्मेलन आयोजित किया गया था। नासिक-निवासी शंकराचार्य डाक्टर कुर्तकोटी सम्मेलन के सभापति मनोनीत थे। किन्तु समय पर उन्होंने आने में असमर्थता व्यक्त की। अतः टण्डनजी स्वयं गुरु महाराज की छावनी में आये

और उन्होंने आपसे सम्मेलन का सभापतित्व करने का अनुरोध किया। आप किसी भी सभा में सभापति बनना पसन्द नहीं करते। फिर भी निष्काम देश-भक्त राजर्षि टण्डनजी की देश-सेवा, साहित्य-उपासना और तपोमय जीवन से आप विशेष प्रभावित थे। अतएव आपने उनका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया।

यह संस्कृति-सम्मेलन २ फरवरी १९५४ को प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने किया। सभा में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल मुन्शीजी उपस्थित थे। कुछ देर वाद उन्होंने गुरु महाराज से निवेदन किया कि मुझे और राष्ट्रपतिजी को कहीं अत्यावश्यक कार्यवश बीच में ही जाना पड़ेगा। आपने कहा: 'राष्ट्रपति की स्वीकृति के विना कोई कानून पास नहीं होता, क्योंकि वे हमारे राष्ट्र के अध्यक्ष हैं। इसी तरह आज मैं भी इस सभा का अध्यक्ष हूँ। मेरे आदेश के विना आप लोग जा ही कैसे सकते हैं?'

राष्ट्रपति हँस पड़े।[1] उन्होंने मुन्शीजी से कहा: 'पन्द्रह मिनट तो ठहर ही सकते हैं।' गुरु महाराज ने कहा: 'इससे अधिक मैं आपका समय न लूँगा।'

गुरु महाराज ने अपने संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भ अध्यक्षीय भाषण में भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण स्वरूप स्पष्ट किया।[2] आपने वताया कि 'आर्य-संस्कृति के तीन प्रधान अंग हैं: १. उत्साह, २. विनय और ३. दान। प्रभु रामचन्द्र इसके ज्वलन्त आदर्श हैं। रावण प्रचण्ड शक्तिशाली शासक था। उसने देवों तक को वन्दी वना रखा था। वाहरी सेना की तो वात ही क्या, उसके अपने परिवार में पुत्र-पौत्रादिकों की विशाल सेना संगठित थी। उसके मुकाबले में भगवान् राम! निरागस, तपस्वी, जिनके पास न उस समय कोई शिक्षित सेना थी और न उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र ही। फिर भी अन्यायी रावण को दण्ड देने का अलौकिक उत्साह भरा हुआ था। संसार में उत्साही का साथ मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षी तक देते हैं। जंगल के सुग्रीवादि वानर और गीध जटायु तक अपने प्राणों की

---

१. सन् १९२२ में गया-कांग्रेस के अधिवेशन में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद स्वागत-मन्त्री थे। वहीं पहली बार उनसे गुरु महाराज की भेट हुई। उसके बाद सन् १९२३ में 'मुक्तसर-गुरुद्वारा' अधिकृत करने की बात पर नवीन अकाली सिखों का सनातन सिख-प्रबन्धकों से झगड़ा चल रहा था। उस प्रसंग में फिरोजपुर और लाहौर में शिष्ट-मण्डल के साथ गुरु महाराज की पुनः आपसे दो बार भेटें हुईं।

२. यह भाषण टण्डनजी द्वारा प्रकाशित उस वर्ष की संस्कृति-सम्मेलन की विवरण-पत्रिका में मुद्रित है। यहाँ उसका सार दिया गया है।

बाजी लगा राम के पक्ष में युद्ध में कूद पड़े। चेतन, समझदार मानवों की बात ही क्या, जब कि प्रभु राम के उत्साह से पत्थर भी तैरने लगे। अन्यायी कितना ही बलशाली क्यों न हो, उसे दण्ड देने के लिए अलौकिक उत्साह रखना भारतीय संस्कृति का पहला पाठ है। जान हथेली पर रखकर अन्यायी मुगलसम्राट् अकबर से जमकर लोहा लेनेवाले महाराणा प्रताप के प्रताप से भारत का इतिहास आज भी जगमगा रहा है।

राजकुमार होने पर भी प्रभु रामचन्द्र अत्यधिक विनीत थे। उन्होंने पावन आश्रमों में पहुँच-पहुँचकर भरद्वाज आदि ऋषियों के चरण-स्पर्श किये। सश्रद्ध उनसे उपदेश और नीति-नियम सुने। इसी तरह उन्होंने शरणागत सुग्रीव, विभीषण आदि का प्रतिपालन कर उनके मनोवाञ्छित किष्किन्धा और लंका आदि के राज्य उन्हें दिला दिये।'

आपने आगे कहा : 'निरुक्तकार की निर्वचन-रीति के अनुसार 'हिंस्, नम् और दुह्' इन तीन धातुओं के योग से 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है। इस प्रकार हिन्दू शब्द का निर्वचन है—'हिन्दुः कस्मात् ? हिंसनात्, नमनात्, दोहनात्।' जो अन्यायी दुष्टों की हिंसा करने का परम उत्साह रखे, तपस्वी सन्तों के चरणों में सविनय सिर झुकाये और शरणागतों का मनोवाञ्छित पूर्ण करे, वही सच्चा हिन्दू है। हिन्दुस्तान-निवासी भारतीय हिन्दुओं की, आर्य-जनता की यही वास्तविक संस्कृति है।

इन्हीं समस्त सदगुणों के कारण प्रभु रामचन्द्र ही 'राजेन्द्र' कहलाये। यद्यपि भारत में अनन्त राजा हुए, पर आज तक जनता राजा राम का ही आदर के साथ स्मरण करती है : 'राजा रामचन्द्र की जय'। सौभाग्यवश हमें उन्हीं राजेन्द्र प्रभु राम के प्रसादस्वरूप वर्तमान राष्ट्रपति प्राप्त हैं, जो भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक कहे जा सकते हैं।

अब 'संस्कृति' शब्द के अर्थ पर भी थोड़ा विचार करें। पाणिनीय व्याकरण[1] के अनुसार इसका अर्थ होता है—सामाजिक, प्रशस्त आचरण-पद्धति।'

अन्त में आपने कहा कि 'मेरा उपस्थित सज्जनों से यही अनुरोध है कि हम सभी प्रभु राम की प्राचीन आर्य-संस्कृति को यत्नपूर्वक अपनायें। तभी हमारी

---

१. 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' (६-१-१३७) और 'समवाये च' (६-१-१३८) इन पाणिनीय सूत्रों के आधार पर 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर 'कृ' को 'सुट्' आगम होने से 'संस्कृति' शब्द बना है।

स्वतन्त्रता चिरस्थायिनी होगी और स्वतन्त्र राष्ट्रों की पंक्ति में हमारे राष्ट्र का अग्रस्थान होगा।'

राजप्रमुख जामसाहब के साथ सत्संग

७ फरवरी १९५४ को सौराष्ट्र के राजप्रमुख जामसाहव दिग्विजय सिंहजी छावनी में गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये। उनका गुरुदेव और सर्वानन्दजी के साथ पहले से ही घनिष्ठ सम्वन्ध रहा। सन् १९४१ में माउण्ट आवू में आप उन्हींके अतिथि वनकर एक सप्ताह रहे। उनके आमन्त्रण पर श्री सर्वानन्दजी ने कई वार जामनगर में चातुर्मास्य किये। उसी वर्ष (सन् १९४१) चातुर्मास्य के अन्त में दो सप्ताह के लिए गुरु महाराज भी जामनगर पधारे थे।

चौदह वर्ष पूर्व

चौदह वर्ष पूर्व की वात है, साधु-भक्त दूरदर्शी जामसाहव से आवू-निवास के अवसर पर गुरुदेव ने कहा था : 'आप राजा लोग संगठित होकर देश एवं जाति की सेवा के लिए शक्ति-संचय करें।'

जामसाहव ने कहा : 'स्वामीजी, ये नरेश अपने मिथ्या अभिमान के कारण निमन्त्रण देने पर स्वयं न आकर अपने प्रतिनिधि भेजा करते हैं। सोचते हैं कि अमुक राजा की अध्यक्षता में किसी सभा में पहुँचना हमारी मान-हानि है। इस तरह जव हम एक स्थान पर प्रेमपूर्वक वैठ भी नहीं सकते, तो संगठन की आशा ही क्या ? महाराज, जिस प्रकार राजाओं का वर्तन है, उसे देखते मैं भविष्य-वाणी करता हूँ कि दस वर्ष से अधिक हमारी राजसत्ता टिक नहीं सकेगी।'

एक अन्य सत्संग में जामसाहव ने गुरु महाराज से पूछा कि 'स्वामीजी, रावण ने, जव वह मृत्युशय्या पर पड़ा था, रामचन्द्रजी की प्रेरणा से प्रेषित लक्ष्मण से क्या कहा था ?' जामसाहव प्रायः यह प्रश्न हरएक से पूछा करते।

गुरु महाराज ने वताया : 'रावण ने तीन वातें कहीं। एक है, 'शुभस्य शीघ्रम्'—शुभ कार्य शीघ्र करना चाहिए। भाषा में भी प्रसिद्ध है : 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अव्व।'

रावण का दूसरा उपदेश था, भ्रातृप्रेम ही विजय का साधन है। मैंने अपने भ्राता का तिरस्कार किया, उसीका परिणाम आज भुगत रहा हूँ। मेरा सारा परिवार नष्ट हो गया, घर में दिया-वाती करनेवाला भी कोई नहीं रहा। इसके विपरीत लक्ष्मण ! आपके भ्राता इसीलिए विजयी हुए कि उनका अपने भाइयों के साथ सच्चा प्रेम है। अतः कभी भाई से विरोध नहीं करना चाहिए।

तीसरा उपदेश रावण ने यह दिया कि भूलकर भी पर-नारी पर कुदृष्टि न डाली जाय। सीता-हरण ही मेरे प्राणों का घातक हुआ। इसके विपरीत राम एकपत्नी-व्रती होने के कारण ही मुझ विश्व-विजयी को भी जीत सके। जो नरक के द्वार और त्रिभुवन-विजयी काम को जीत लेता है, उसके सामने विश्व में कोई टिक नहीं सकता। लक्ष्मण, यह वात ध्यान रखो।'

गुरु महाराज ने कहा : 'राजन्, यह तो हुआ आपके प्रश्नों का उत्तर! अव इसी प्रसंग में रावण की उस समय की एक भक्तिभरी उक्ति भी सुनें। अनन्य भक्त अपने आराध्य को अटपटी भी सुना देता है, जो उसकी आन्तरिक भक्ति का ही एक विलास हुआ करता है। वालक उपमन्यु अपने आराध्य भगवान् शंकर से कहता है कि 'प्रभो, आप मुझे अशुचि समझकर नहीं छूते, मुझ पर दया नहीं करते, तो वताइये, अपने सिर पर नर-कपालों की यह कौन-सी परम-पवित्र माला पहने हुए हैं? फिर, यदि मुझे शठ और असाधु-संगी कहें, तो क्या विष पीकर आपका भी गला नीला नहीं हो गया और क्या आप भी दोमुँहे साँप जैसे परम असाधुओं से संगति नहीं करते, उन्हें हाथ और गले नहीं लिपटाते?'

यह तो हुई सीधे-साधे वालक भक्त की वात! पर रावण ठहरा महापण्डित, अभिमान-धन और भगवान् राम का दीर्घ विद्वेषी! वह भक्ति की भी वात वोलेगा तो सीधी नहीं, उलटी ही भाखेगा। उसने प्रभु से विरोध-भक्ति जो ठान रखी थी।

वयोवृद्ध विद्वान् ब्राह्मण के अन्तिम उपदेश का मोह भगवान् राम से भी संवरण करते न वना। वे रावण की खोज-खबर लेने के लिए लक्ष्मण के पहुँचने के साथ स्वयं भी वहाँ आ पहुँचे और चुपके से भाई के पीछे ओट में खड़े हो गये। रावण यह ताड़ गया और ऐसा सुनहला अवसर हाथ से न खोते हुए उस पण्डितराज ने आखिर मन की कह ही डाली। हँसते हुए वह बोला : 'राम और लक्ष्मण! गर्व मत कीजिये कि आप लोग जीत गये। वास्तव में हार तो आपकी और जीत मेरी ही रही। देखिये, दो शत्रु एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े हों और दूसरा पहले की आँखों के सामने उसके घर पर, उसके परम पद पर कब्जा कर ले, पहला शत्रु उसे रोक न पाये और दूसरा सपरिवार उसके गूढ़ भवन में घुस जाय, तो वतायें कि जीत किसकी हुई?'

क्या ही अच्छा भाव एक दोहे में किसी भक्त कवि ने गूँथ दिया है :

'मम जीवत मम लंक में, छुहे न लछमन राम।
तुम देखत हम जात हैं, राम तुम्हारे धाम॥'

तात्पर्य, 'जव तक मैं जीवित रहा, मेरी सोने की लंका में मेरे विरोधी तुम

दोनों भाइयों को पैर भी रखने का साहस नहीं हुआ। पर अब देख राम! चोरी से नहीं, तेरी आँखों के सामने सपरिवार तेरे धाम वैकुण्ठ पर कब्जा करने जा रहा हूँ। हो शक्ति, तो रोक ले।'

इस मनोरञ्जक वार्ता से जामसाहब बाग-बाग हो उठे!

आज चौदह वर्ष बाद पुनः जामसाहब और गुरु महाराज के बीच लम्बे सत्संग का दूसरा अवसर आया। जामसाहब को मुन्शीजी से पता चला कि गंगा-तट पर गुरु महाराज की छावनी लगी है। वे बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ मिलने के लिए आपकी तृण-कुटीर में आ पहुँचे। अपने साथ राज्यपाल मुन्शीजी, श्रीमती लीलावती मुन्शी और जस्टिस भगवती (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति) को भी साथ लेते आये। गुरुदेव का दर्शन कर उनको बड़ा समाधान हुआ।

प्रबल कौन : प्रारब्ध या पुरुषार्थ ?

जब सन्त के निकट जिज्ञासु जुटते हैं, तो तरह-तरह की दार्शनिक चर्चाएँ चल पड़ती हैं। तब यह प्रसंग भी इसका अपवाद कैसे हो? प्रश्न छिड़ गया : 'प्रबल कौन, प्रारब्ध या पुरुषार्थ ?'

गुरु महाराज ने विषय का उपक्रम करते हुए प्रथम गीता के दो श्लोकों का परस्पर समन्वय प्रस्तुत किया। आपने कहा : 'गीता (३-३३) में लिखा है :

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥'

प्रत्येक प्राणी को अपनी प्रकृति के अनुरूप ही कार्य करना होगा, भले ही वह कितना ही बड़ा ज्ञानी क्यों न हो। सभी प्राणियों को प्रकृति के अनुरूप ही चलना पड़ता है। इसमें पुरुषार्थ निग्रह या रुकावट क्या डालेगा? तात्पर्य, प्रारब्ध सर्वथा प्रबल है, उसके आगे पुरुषार्थ की दाल नहीं गलती। गीता के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'प्रकृति' शब्द का अर्थ, व्याख्यान 'पूर्वजन्मार्जितः संस्कारसङ्घः' किया है, जिसका स्पष्ट अर्थ होता है : प्रारब्ध, दैव, नियति या भवितव्यता।

किन्तु गीताकार ने तत्काल उसके बाद पुरुषार्थ की प्रबलता भी बता दी। दूसरे ही श्लोक (३-३४) में वे कहते हैं :

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥'

राग और द्वेष ही प्रत्येक इन्द्रिय को विषय की ओर ले जाने का नेतृत्व करते

हैं। यदि किसी वस्तु में राग है, तो हम तत्काल उसे उठाने के लिए हाथ फैलाते हैं। यदि द्वेष हो, तो वहाँ से अतिशीघ्र पीछे हटकर भाग जाते हैं।

कल्पना करें, रास्ते में सोने का हार पड़ा है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो देखते ही उसे उठाने का यत्न न करेगा? इसी तरह भयंकर विषधर कृष्ण सर्प फूत्कार करता फन उठाये हुए है। कौन होगा, जो उसे देख घबड़ाकर भाग न निकले? अतः राग-द्वेष सभी क्रियाओं के मूल नेता हैं। इन प्रबल विरोधी-युगल से मुक्ति पाने के लिए तीव्र प्रयत्न करना चाहिए। कारण ये मनुष्य के परिपन्थी हैं, अनिष्टकारी हैं। मानव के अनिष्टकारी तीन होते हैं: १. तस्कर, २. वञ्चक और ३. दस्यु (डाकू)। सावधान रहने पर चोर और वञ्चक से बचाव हो सकता है, पर जो डाकू हाथ में शस्त्र लिये रास्ता रोके खड़ा रहता है, विना सर्वस्व दिये उससे बचाव सम्भव नहीं।

अब विचार करें, भला भगवान् एक ही प्रकरण में एक ही साथ परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्तों का निरूपण कैसे कर सकते हैं? हाँ, प्रकरण-भेद से कभी-कभी परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त वर्णित किये जा सकते हैं, जिनका उदाहरण शास्त्रों में काण्ड-भेद से कर्म, भक्ति और ज्ञान के वर्णन स्पष्ट हैं। गीता में ऐसी अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जो विना गुरु-कृपा के खुल नहीं पातीं।'

जामसाहब ने पूछा: 'महाराजजी, फिर इसका समन्वय या विरोध-परिहार कैसे होगा? कृपा कर निश्चित सिद्धान्त बतलायें।'

गुरु महाराज ने कहा: 'राजन्, राज्यपाल और विचारपति! शास्त्रों में दोनों प्रकार के अनन्त वचन मिलते हैं। कहीं पुरुषार्थ को प्रबल कहा गया है, तो कहीं प्रारब्ध के प्राबल्य पर जोर दिया गया है। पुराणों में महर्षि वेदव्यास ने और काव्यों में भवभूति, श्रीहर्ष आदि ने ऐसे अनेक वचन कहे हैं।

श्रीहर्ष अपने 'नैषधीय-चरित' (१-१२१) में लिखते हैं:

'यया दिशा गच्छति वेधसः स्पृहा।'

अर्थात् प्रारब्ध के अनुरोध से जो घटना घटनेवाली होती है, वह होकर रहती है। प्रारब्ध के आग्रह को टालने में कोई समर्थ नहीं। जिस दिशा में पवन बह रहा हो, तृण को उसी ओर जाना पड़ेगा। प्रारब्ध भी जिस ओर ले जाना चाहे प्राणी उधर खिंच जाने के लिए विवश है। यह हुआ श्रीहर्ष का अभिमत।

अब श्री भवभूति का भी भाव सुनिये:

'सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव।'

'मालती-माधव' के प्रथम परिच्छेद में यह उक्ति है। प्रसंग है, नाटक की नायिका मालती के दर्शन से नायक माधव व्याकुल हो उठा है। वह यह भी अनुभव करता है कि इस रास्ते पाँव धरने पर अनन्त कष्टों का सामना करना पड़ेगा। फिर भी उसका मन मालती के प्रति अनुरक्त हो ही जाता है। कारण मानव का हित या अहित करना प्रारब्ध पर निर्भर है। भगवती भवितव्यता सभी प्राणियों पर निरंकुश शासन चलाती है।

महात्माओं के मुख से ऐसी अनेक कथाएँ सुनी जाती हैं, जो प्रारब्ध की प्रबलता का समर्थन करती हैं। लीजिये, एक कथा स्मरण हो आयी !

एक बार देवदत्त नामक किसी व्यक्ति से एक महात्मा ने कह दिया कि 'आपके सामने जो वृक्ष खड़ा है, आज से आठवें दिन आपको इसके नीचे फाँसी दी जायगी।'

फिर क्या था ? सुनते ही वह आत्मरक्षा की दृष्टि से ऐसा अखण्ड दौड़ा कि सैकड़ों कोस पार कर गया ! वहाँ से आठवें दिन इस नियत वृक्ष के समीप उसका पहुँचना किसी तरह संभव न था। उन दिनों रेल और जहाज थोड़े ही थे ? इस भाग-दौड़ में सात दिन बीत गये।

योगायोग की बात ! आठवें दिन उसे वहाँ एक दिव्य देवांगना मनोहर रथ लिये दिखायी दी। कुछ ही देर में वह गजगामिनी उसके निकट पहुँची और बड़े प्रेम के साथ कहने लगी : 'जानती हूँ कि आप मृत्यु के भय से भागकर यहाँ आ पहुँचे हैं। मैं भी आपकी कुछ सहायता करना चाहती हूँ। मेरे इस रथ पर चढ़ें। यह पवन-गति रथ आपको इतनी दूर, परले पार पहुँचा देगा, जहाँ से उस मरघट वृक्ष के पास आपको नियत दिन ले जाने की किसीकी सामर्थ्य न रहेगी।'

भवितव्यता की प्रबलता से उसकी मति पर परदा पड़ गया। सोच न सका कि देवी कहीं धोखा तो नहीं दे रही है ? चढ़ गया तत्क्षण रथ पर और देखते-देखते आठवें दिन नियत समय पर पहुँच गया उसी भवितव्यता द्वारा नियत मरघट वृक्ष के नीचे।

इधर आभूषणों के लोभ से किसीने उस राज्य की राजकुमारी की हत्या कर दी और आभूषणों की गठरी ले वह भाग निकला। सिपाहियों द्वारा लगातार पीछा किया गया। आखिर हत्यारा चोर हार खा गया और इसी वृक्ष के नीचे आभूषणों की वह गठरी पटककर भाग निकला। क्रुद्ध राजा का आदेश था कि 'जिसके पास आभूषण मिले, बिना अदालत उसे वहीं फाँसी चढ़ा दिया जाय।'

राजपुरुष अपराधी की खोज में दौड़ते-दौड़ते वृक्ष के नीचे आ पहुँचे। वहाँ

आभूषणों की गठरी के साथ बेचारा देवदत्त रँगे हाथ पकड़ा गया और तत्क्षण उसी वृक्ष पर फाँसी चढ़ा दिया गया। भवितव्यता की अचिन्त्य गति ऐसी ही हुआ करती है !'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'इतना ही नहीं, सत्य, त्रेता और द्वापर तीनों युगों में प्रारब्ध की प्रबलता के दृष्टान्त पाये जाते हैं। वे हैं क्रमशः—राजा नल, प्रभु राम और धर्मराज युधिष्ठिर। कहा भी है :

'अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥'

इसी बात को गीता का पहला श्लोक (३-३३) सूचित करता है।'

जामसाहब ने जिज्ञासा की : 'महाराज, तो क्या प्रारब्ध को प्रबल मान हाथ पर हाथ धर बैठा जाय ? फिर तो गीता, जिसे 'कर्मयोग-शास्त्र' कहा जाता है, पुरुषार्थहीन, आलसी बनाने का एक प्रबल साधन बन जायगी ? अर्जुन को पुरुषार्थी बनाने के लिए ही तो इस शास्त्र का उपदेश हुआ था ! वही यदि मनुष्य को प्रमादी बनाने के काम आये, तो कहना होगा कि अमृत ने विष का काम किया। फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ के प्राबल्य-दौर्बल्य की समस्या का हल कैसे हो ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'राजन्, यह समस्या तो सहज ही हल हो जाती है। किसी स्थिति में प्रारब्ध प्रबल होता है, तो किसीमें पुरुषार्थ। जैसे ज्वर मापने के लिए थर्मामीटर होता है, वैसे ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ के प्राबल्य-दौर्बल्य का मापक भी एक साधन है। जिज्ञासु होने से आपके समक्ष वह प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे भलीभाँति ध्यान में आ जायगा कि किस स्थिति में प्रारब्ध प्रबल होता है और किस स्थिति में पुरुषार्थ।

कल्पना करें, किसी जटिल समस्या के सुलझाने के लिए तीन जजों का ट्रिब्यूनल नियुक्त है। उनमें से दो जज किसीके प्रथम पक्ष में मत देते हैं और एक जज विरुद्ध मत रखता है, तो भी प्रथम पक्ष की जीत हो जाती है। फिर यदि उस पक्ष में सर्वसम्मति हो, तो सोने में सुगन्धि मानी जाती है।

इसी दृष्टान्त से प्रस्तुत विषय को भी समझने का यत्न करें। मनुष्य के जीवन का फैसला करने के लिए प्रभु की ओर से ट्रिब्यूनल नियुक्त है। उसके तीन जज हैं : १. प्रारब्ध, २. सत्संग और ३. शास्त्र। यदि प्रारब्ध पक्ष में न हो, पर सत्संग एवं शास्त्र को अपने पक्ष में कर लिया जाय, तो प्रारब्ध का विरुद्ध वोट हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। फिर, यदि प्रारब्ध भी अनुकूल हो, तो पूछना ही क्या है !

देखिये, किसी राजज्योतिषी के एक पुत्र हुआ। दैवज्ञ ने गणित-शास्त्र के आधार पर पहले से ही समझ लिया कि यह लड़का चोर निकलेगा। पर पिता हतोत्साह नहीं हुए। उन्होंने पुत्र को अच्छे-अच्छे सन्तों की संगति में रखा। उनसे प्रार्थना की कि 'इसे ऐसे उपदेश दें, जिनसे चोरी के दुष्परिणाम इसके अन्तर में घर कर लें। ऐसे-ऐसे शास्त्र-वचन कण्ठस्थ करायें, जिनमें चोरी करना महान् निन्दनीय कार्य बतलाया गया हो।'

पिताजी कब तक जीवित रहते? आखिर एक दिन वे संसार से चल बसे। पुत्र को राज-दरबार में आने-जाने में किसी प्रकार की रोक-टोक न थी। फिर वह राजज्योतिषी भी बन गया था। पिता जीवित रहते उसे राज-दरबार जाने से सदैव बचाते, पर अब तो वह बेरोक-टोक वहाँ जाने लगा। उससे राजमहल के सभी स्थान परिचित हो गये।

प्रारब्ध का खेल! एक दिन उसे अकस्मात् चोरी की प्रेरणा दुर्दम्य हो उठी और रात्रि में दीवार फाँद वह राज-प्रासाद में घुस पड़ा। खोज-खोजकर बहुमूल्य वस्तुओं की गठरी बाँधी। जब गठरी उठाने लगा, तो उसे एकाएक शास्त्र और सन्तों के उपदेश स्मरण हो आये: **'यथा स्तेनो हिरण्यस्य'** (छान्दोग्य-उपनिषद्, अ० ५ खण्ड १०) अर्थात् सोने का चोर महापापी होता है। उनमें कोई वस्तु ऐसी न थी, जिसमें सोना न लगा हो। लाचार हो बेचारा गठरी वहीं छोड़ खाली हाथ लौट आया।

प्रातःकाल महल की चोरी का समाचार विद्युद्-गति से फैल गया। खोज करने पर पता चला कि गठरी में बँधी सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों एक कोने में पड़ी हैं, उनमें से एक भी चोरी नहीं गयी। राजा ने आश्चर्यचकित हो कहा कि 'कैसा अद्भुत चोर है! महल में घुसा भी, पर कुछ नहीं ले गया! बेचारा·····!'

राजा ने घोषणा करवा दी कि 'यदि चोर स्वयं उपस्थित हो अपना अपराध स्वीकार कर ले, तो उसे क्षमा कर दिया जायगा। अन्यथा गुप्तचर-विभाग पता तो लगा ही लेगा। फिर तो उसे चोरी का दण्ड न देकर फाँसी, प्राण-दण्ड दिया जायगा।'

युवक राजज्योतिषी ने भी घोषणा सुनी। वह दौड़ता हुआ राजा के सामने उपस्थित हुआ और स्वयं को चोरी का अपराधी स्वीकार करने लगा। राजा को विश्वास ही नहीं हो रहा था। अन्त में जब उसने गठरी की कई चुरायी चीजों की हुलिया बतायी, तब राजा को विश्वास हुआ कि 'हाँ, यही चोर है।'

राजा उसकी चोरी का कारण समझ गया और उसने उसे न केवल क्षमा किया, प्रत्युत राजमन्त्री भी बना दिया। अब वह चोरी कर ही कैसे सकता है?

चोर के हाथ खजाने की चाबी जो सौंप दी ! चोरी का मूल कारण दरिद्रता था। सीमित आय से परिवार के व्यय की पूर्ति नहीं हो रही थी। राजा की कृपा से वह पूर्णतः नष्ट हो गयी।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'राजन्, आप समझ गये होंगे कि यदि प्रारब्ध के कारण मनुष्य कुकर्म में प्रवृत्त हो और पहले से ही सत्संग और शास्त्र का समर्थन उस कुकर्म के विरोध में प्राप्त कर ले, तो प्रारब्ध को दुर्बल हो जाना पड़ता है, अन्यथा वह प्रबल है ही।

इसे और समझने के लिए एक दार्शनिक सिद्धान्त पर ध्यान दें। जैसे : आजकल शिक्षा-क्षेत्र में तीन कक्षाएँ हैं—मैट्रिक, इण्टर और बी॰ ए॰। इसी प्रकार किसी काम में लगने या उससे अलग होने में तीन-तीन कक्षाएँ होती हैं—१. इष्ट-साधनता का ज्ञान, २. राग और ३. प्रवृत्ति। १. अनिष्ट-साधनता का ज्ञान, २. द्वेष और ३. निवृत्ति।

इस सिद्धान्त को यों समझें : पहले मनुष्य के मन में यह भावना होती है कि इस कार्य से मेरी इष्ट-सिद्धि होगी, कल्याण होगा। फिर, उसे करने की रुचि उत्पन्न होती है और अन्त में उसे करने के लिए वह उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार निवृत्ति को भी समझें। पहले मनुष्य के मन में यह भावना होती है कि इससे मेरा अहित होगा। इसीको 'अशुभ-भावना' या 'अशोभन-बुद्धि' कहते हैं। फिर उस काम में मनुष्य को द्वेष (अरुचि) होता है और वह उससे सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

इस तरह स्पष्ट हुआ कि किसी काम के करने में शुभ-भावना (शोभन-बुद्धि), राग एवं प्रवृत्ति तीनों का होना स्वाभाविक है। किसी काम से हटने में भी अशुभ-भावना (अशोभन बुद्धि), द्वेष और निवृत्ति, तीनों का होना अनिवार्य है।

कल्पना करें, दो शत्रु राजा हैं : एक, बम्बई का दूसरा, अहमदाबाद का। सीमा सूरत है। बम्बई का राजा विलासी हो जाता है। सुनहला अवसर पाकर अहमदाबाद का राजा उस राज्य को हड़पने का कार्यक्रम बनाता है। प्रथम तो वह सीमा पर आक्रमण करता है, फिर नगर घेरता और अन्त में राजमहल में प्रवेश करता है।

राजमन्त्री स्वामी को सूचना देता है कि 'शत्रु ने सीमा पर आक्रमण कर दिया है, यदि आपकी आज्ञा हो, तो प्रतीकार करें।' विलासी राजा बात अनसुनी कर देता है और विरोधी दल बिना प्रतिरोध के सीमावर्ती दुर्गों पर अधिकार करता बम्बई शहर तक पहुँच जाता है तथा नगर को चारों ओर से घेर लेता है। हितैषी मन्त्री से अब रहा नहीं जाता। पहरेदार के रोकने पर भी वह राज-

महल में राजा के पास पहुँच जाता है और प्रार्थना करने लगता है : 'राजन्, शत्रु ने अपना बहुत-सा प्रदेश हस्तगत कर लिया है। अब वह राजधानी पर आक्रमण के फेर में है। आपकी क्या आज्ञा है?' राजा क्रोधावेश में उत्तर देता है : 'नालायक कहीं का, रंग में भंग कर रहा है? हमारे नगर का पूर्वज-निर्मित लौहमय कोट दुर्भेद्य है। वर्षों तक शत्रु उसे तोड़ न सकेगा। जब उसे तोड़ नगर में घुस आयेगा, तब देखा जायगा।'

मन्त्री मौन हो सीधे वहीं बैठ जाता है। प्रतीकार न होने पर कुछ ही घण्टों में शत्रु-सेना शहर में प्रविष्ट हो राजमहल में घुस आती है। राजा को बन्दी बनाने के लिए शत्रु-नरेश दल-बल के साथ सीढ़ियाँ चढ़ रहा है। अब राजा घबड़ाता है। दौड़कर मन्त्री के पास आ कहने लगता है : 'मन्त्रिन्, रक्षा का कोई उपाय करो।' मन्त्री तिरस्कारपूर्वक उत्तर देता है : 'समय बीत गया! अब तो शत्रु के जेल की ही सैर कीजिये। आप जैसे अयोग्य स्वामी के सेवक होने के नाते मुझे भी कारावास की शरण लेनी पड़ेगी।'

सारांश, कुकर्म में शोभन-बुद्धि प्रारब्ध का पहला आक्रमण है। उसमें रुचि दूसरा आक्रमण और उस कर्म में प्रवृत्ति या लग जाना तीसरा आक्रमण है। यदि प्रारब्ध द्वारा कुकर्म में शोभन-बुद्धि हो रही हो और उसी समय सत्संग और शास्त्र का सहारा लेकर उसे रोक दिया जाय, तो प्रारब्ध दुर्बल और पुरुषार्थ प्रबल हो जायगा। शोभन-बुद्धि की तुलना सीमावर्ती दुर्ग पर आक्रमण से की जा सकती है। कुकर्म में रुचि दूसरा आक्रमण है, जो नगरावरोध के समान है। इस अवसर पर भी सत्संग और शास्त्र के सहयोग से रुचि के स्थान पर अरुचि उत्पन्न कर देने से प्रारब्ध हार खा सकता है। कुकर्म में प्रवृत्ति, उसमें लग जाना तीसरा आक्रमण है। इसकी तुलना राजमहल में घुसकर राजा की गिरफ्तारी से करनी होगी। इस तरह आपके लिए यह एक परीक्षण-यन्त्र (थर्मामीटर) दिया गया, जिससे आप सहज ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ के प्राबल्य-दौर्बल्य का परीक्षण कर सकते हैं।

तात्पर्य, प्रथम प्रारब्ध के दोनों आक्रमणों के समय ही पुरुषार्थ किया जाय तो, प्रारब्ध का गला घोंटा जा सकता है। पर यदि वह तीसरे आक्रमण की स्थिति में पहुँच जाय, तो निश्चय ही वह सर्वथा प्रबल हो जायगा। फिर पुरुषार्थ से कुछ करते-धरते न बनेगा।'

जामसाहब ने कहा : 'महाराज, प्रारब्ध और पुरुषार्थ का यह बड़ा ही सुन्दर विवेचन रहा। मात्र एक बात अभी खटक रही है। जैसे, प्रारब्ध की

प्रवलता में नल आदि के उदाहरण हैं, क्या पुरुषार्थ की प्रवलता का भी ऐसा कोई उदाहरण शास्त्रों में सुलभ है ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'एक नहीं, अनेक हैं। भारत के पुरुष ही नहीं, देवियों तक ने पुरुषार्थ से प्रारब्ध का गला घोंट दिया है। ऋषि मार्कण्डेय, जिनके प्रारब्ध में केवल आठ वर्ष की ही आयु लिखी थी, भगवान् रुद्र की आराधना से चिरजीवी वन गये।

सत्यवान् की पत्नी सावित्री ने एक वार नहीं, तीन-तीन वार प्रारब्ध को पछाड़ डाला। उसके प्रारब्ध में पति की मृत्यु, श्वशुर का अन्धत्व और राज्य का नाश लिखा था। सती-चक्र-चूड़ामणि मनस्वी सावित्री देवी ने यमपाश से वद्ध मृत पति को छुड़ाकर जीवित कर दिया। श्वशुर को चक्षुष्मान् वनाकर पुनः राज्यसिंहासनासीन करा दिया।

शिवपुराण में विप्रकन्या शारदा के अद्भुत साहस का वर्णन है। कहा है :

'शारदा विप्रतनया बालवैधव्यमागता।
तव भक्तेः प्रभावात्तु पुत्रसौभाग्यवत्यभूत् ॥'

शारदा के पिता ने वचपन में ही उसका विवाह कर दिया था। प्रारब्धवश अकस्मात् पति के मर जाने से वह विधवा हो गयी। वेचारी पति का शव गोद में ले शिव-मन्दिर में शिवाराधन करने लगी। घरवालों ने वहुत समझाने की चेष्टा की : 'वेटी, क्यों वृथा आग्रह कर रही है ? आज तक कोई भी गतात्मा लौट नहीं पाया।' पर उसने एक न सुनी। अन्न-जल त्याग कर निरन्तर शंकराराधना में लगी रही।

आखिर आशुतोष शंकर प्रकट हुए और उससे कहने लगे : 'वेटी, वर माँगो।' शारदा ने कहा : 'भगवन्, आप अन्तर्यामी हैं। आपको पता ही है कि नारी-जाति को क्या अभीष्ट हुआ करता है ?' शंकर शारदा की आराधना से प्रभावित थे। औघड़दानी शीघ्र वोल उठे : 'पुत्रवती भव'—'पुत्र-रत्न से तेरी गोद भरे।'

अब भोलेवावा अन्तर्धान होने चले कि शारदा ने धृष्टता की। जटाएँ पकड़कर उन्हें जाने से रोका और कहने लगी : 'प्रभो, मुझे यह वरदान नहीं, अभिशाप दे रहे हैं। मेरे पतिदेव मर चुके हैं। फिर सती को सन्तान कैसे हो ? अपनी वाणी सत्य करने के लिए मेरे पतिदेव को पुनर्जीवित करें।'

भगवान् शंकर सती के चंगुल में बुरी तरह फँस गये। विवश हो उन्हें सती के पति को पुनर्जीवित करना पड़ा। पश्चात् उनके सहवास से शारदा को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। क्या अब भी पुरुषार्थ से प्रारब्ध को जीतने में कोई सन्देह है ?

सन्त नामदेव की वाणी में स्पष्ट लिखा है : 'जो गुरुदेव ललाटे लेख।' तात्पर्य, गुरुदेव की कृपा होने पर ललाट की लिपि भी पलट जाती है। विधाता का विपरीत लेख भी मिट जाता है और मानव का भाग्य-सूर्य चमकने लगता है।

महाराज मनु ने नमस्कार और वृद्ध-सेवा से आयुष्यादि की वृद्धि स्पष्ट बतायी है। वह वचन भी तभी संगत हो सकता है, जब पुरुषार्थ से प्रारब्ध का निवारण माना जाय। मनु का वह वचन इस प्रकार है :

'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥'

(मनुस्मृति)

अर्थात् जो मनुष्य गुरुजनों को सादर प्रणाम करता है, मन लगाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल ये चार वस्तुएँ वृद्धिगत होती हैं।'

विचारपति भगवती ने कहा : 'धनादि की वृद्धि बिना प्रारब्ध के परिवर्तन के संभव नहीं। यह किसी उदाहरण द्वारा समझना चाहता हूँ।'

गुरु महाराज ने कहा : 'नमस्कार भाग्य के परिवर्तन का मन्त्र है। सनातन-धर्म के सिद्धान्तों में कोई-न-कोई रहस्य छिपा ही रहता है। आपकी यह शंका नयी नहीं। पहले भी सम्राट् अकबर ने अपने विचक्षण मन्त्री बीरबल से यही प्रश्न किया था। उसने पूछा : 'बीरबल ! मैंने हिन्दू-धर्म की कई किताबें पढ़ी हैं। उस धर्म पर मेरी आस्था है। यह भी चाहता हूँ कि पुनः जन्म लूँ तो ब्राह्मण बनूँ। दर्शनादि शास्त्रों का यथार्थ रहस्य समझूँ। फिर भी, हिन्दू-धर्म का यह सिद्धान्त मुझे खटकता रहता है कि शिष्य गुरु के चरणों में, पुत्र पिता के, छोटा भाई बड़े भाई के चरणों में और लोग देव-मन्दिरों में जाकर प्रणाम करें। इस्लामी प्रथानुसार यदि कोई किसीसे मिले, तो उसे 'सलाम' कहते हैं। जवाब में दूसरा कहता कि है 'तू भी इन्सान और मैं भी इन्सान ! फिर इन्सान को इन्सान सलाम क्यों करे ? उस परवरदिगार अल्लाताला को सलाम करो।' इसीलिए वह 'वालेकुम सलाम' कहता है।' अंग्रेजों की प्रथा तो निराली ही है। वे तो दूर से ईंट-सी फेंक देते हैं। न सिर झुकाते और न प्रभु की स्मृति दिलाते हैं। प्रातः-काल से रात्रि तक क्रमशः 'गुड मार्निंग, गुड नून, गुड आफ्टर नून, गुड इवनिंग और गुड नाइट' कहने की प्रथा है, यह सभी जानते हैं।

अकबर के प्रश्न का उत्तर बीरबल देते हैं : 'बादशाह आलम, सनातनधर्म

का साष्टांग नमस्कार भाग्य पलट देने का जादुई मन्त्र है। कुछ दिन ठहरें, आपको इसका उत्तर वाचिक ही नहीं, क्रियात्मक भी प्राप्त हो जायगा।'

कुछ दिन वाद! अकवर के पेशावरवासी सूवा के दुर्व्यवहार से चिढ़कर अफगानिस्तान के वादशाह ने सन्देश भिजवाया कि 'आप अपने सूवा को समझा दें। वह गुस्ताखी से पेश आ रहा है। हम पठान के वच्चे हैं, जान पर खेल जायँगे। भले ही हमारा वल कम हो और आप देहली के शाहन्शाह हों।'

अकवर मुदवर वादशाह ने वीरवल से इस पत्र का उत्तर लिखने को कहा। वीरवल ने कावुल के वादशाह को शान्त करने के लिए उचित पत्रोत्तर लिखा। अकवर पढ़े-लिखे न थे, इसलिए उनके नाम की मुहर वना ली गयी थी। उनके हस्ताक्षर के स्थान पर उसका उपयोग होता। वीरवल ने मुहर लगाते हुए वादशाह का ध्यान आकृष्ट किया :

'देखिये, इस मुहर के हर्फ उलटे हैं। अव चिट्ठी पर उसे लगाने से वे सीधे हो गये। इसी तरह मनुष्य के मस्तक पर यदि विधाता के लिखे हर्फ उलटे हों, तो देव-मूर्तियों या गुरुजनों के चरणों पर मस्तक रखते ही वे सोधे हो जाते हैं। नमस्कार से मनुष्य का भाग्य पलट जाता है।'

गुरुदेव ने आगे कहा : 'इसके समर्थन में लाहौर-निवासी एक सती की ऐतिहासिक कहानी स्मरण हो आयी। उसे भी सुन लें।

लाहौर में खानवहादुर नामक देहली के मुगल वादशाह का एक सूवा शासक था। एक प्रवासी की सती पत्नी पर उसकी कुदृष्टि हुई। वह पतिदेव की अनुपस्थिति में स्नान करके केश सुखाने के लिए अपने मकान की छत पर घूम रही थी। सद्यःस्नाता का सौन्दर्य देख पड़ोसी कुटनी को अच्छा शिकार हाथ लगा।

फिर क्या था, नवाव से पुरस्कार का वचन ले, उसे सूवा की वेगम वनाने के लिए कुटनी ने उस देवी पर अपना मायाजाल फैलाया। दुर्भाग्य से सती भी उस जाल में जा फँसी और वह नवाव के महल में जाने के लिए राजी हो गयी।

नवाव ने सती को सन्देश भिजवाया कि 'मेरे महल में आने से पहले जिससे मिलना चाहो, मिल लो। फिर कहीं जाने की इजाजत नहीं मिलेगी।'

सती के पतिदेव के एक गुरु थे, जो पहुँचे हुए महात्मा थे। सौभाग्य की वात! उसे प्रेरणा हुई और वह अन्तिम दर्शन के लिए उनके पास पहुँची। उसने सन्त को सभक्ति प्रणाम किया। त्रिकालज्ञ, तपोमूर्ति गुरुदेव समझ गये कि इसके भाग्य में धर्मभ्रष्ट होने का विधाता का लेख है। सन्त ने उसे पास वुलाया और उसके मस्तक पर हाथ फेरने लगे। गुरुदेव की कृपा से विधाता की विपरीत रेखाएँ मिट गयीं।

एकाएक सती की मति पलटी ! उसकी आँखों के सामने सती अनसूया, सीता, सावित्री, पद्मिनी आदि के आदर्श चित्र नाचने लगे । वह सीधे घर लौटी । उसने सोलह सिंगार किये और रात्रि में आँगन में चिता जलायी । फिर पति के चित्र को गोद में ले उस पर आरूढ़ हो गयी । भोर में घर से धुआँ और दग्ध मांस की गन्ध आती देख पास-पड़ोसवाले आ जुटे और दरवाजा तोड़ भीतर घुस पड़े । तव तक सती की राख हो गयी थी । भारतीय नारियों द्वारा आदर्श-रक्षा के लिए हँसते हुए धर्मवेदी पर वलि हो जाने का यह नव्य-भव्य आदर्श देख कुटनी की आँखें चौंधियाँ गयीं ।

अपने निरूपण का उपसंहार करते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'अव आप समझ गये होंगे कि पुरुषार्थ से प्रारब्ध पलटा जा सकता है, यदि वह प्रथम और द्वितीय आक्रमण की स्थिति में हो । तृतीय आक्रमण की स्थिति में प्रारब्ध का वदलना निश्चय ही कठिन वात है, पर असम्भव नहीं ।'

सभी उपस्थित शिष्ट-जनों ने गुरुदेव के प्रति सादर, सश्रद्ध कृतज्ञता व्यक्त की और उन्हें सभक्ति प्रणाम किये ।

सभी शिष्ट-जन आपकी झोपड़ी से श्री सर्वानन्दजी की झोपड़ी में दर्शनार्थ गये । तदनन्तर वे सभी लोग—जामसाहव, विचारपति भगवती और श्रीमती मुन्शी राज्यपाल मुन्शीजी के साथ गवर्नर-हाउस चले गये ।

काशी में

प्रयाग से ८ फरवरी सन् १९५४ को गुरु महाराज काशी पधारे । वहाँ लक्ष्मीकुण्ड पर ठहरे । सन्त गोविन्दानन्दजी ने आपके ठहरने के लिए स्थान की सुन्दर व्यवस्था पहले से कर रखी थी । साथ में ५०-६० सन्तों का मण्डल रहा ।

पता लगते ही काशी के आपके पूर्वपरिचित विद्वानों का आगमन-क्रम चल पड़ा । उनके साथ गुरुदेव शास्त्र-चर्चा में खूब रस लेते । भक्तजनों के लिए गुरु-देव की शास्त्र-निष्ठा, शास्त्रप्रेम एक अनुकरणीय आदर्श हो उठता । मण्डली की ओर से विद्वानों का यथायोग्य वस्त्र-दक्षिणा से स्वागत-सत्कार हुआ । आपके साथ इस वार लेखिका को भी यह सारा दृश्य देखने-सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

काशी से गुरु महाराज बम्बई आये । वहाँ से आबू के लिए प्रस्थान किया । २० अप्रैल तक आवू में निवास हुआ । आवू से वम्वई आ गये । वहाँ मुन्शीजी के आमन्त्रण पर नागपुर में होनेवाली 'विश्व-संस्कृत-परिषद्' में भाग लेने के लिए नागपुर जाने का निश्चय किया गया ।

उधर श्री सर्वानन्दजी गुरु महाराज के आदेश से नेपाल पशुपतिनाथ की यात्रा कर धर्म-प्रचारार्थ कलकत्ता पहुँचे। वहाँ वे पुष्पावहन के घर सिकरी-हाउस में ठहरे।

देवगढ़ वारिया में राज-परिवार के मुख्य प्रवन्धक जेठालाल ने आपकी प्रेरणा से वारिया में महारुद्र-यज्ञ करने का निश्चय किया। ग्रीष्म के कारण गुरु महाराज स्वयं वहाँ न जा सके। आपकी ओर से श्री सर्वानन्दजी कलकत्ते से वहाँ पहुँचे। वहाँ से वे अहमदावाद आ गये। यह सूचना पाकर कि 'उन्हें साथ ले गुरु महाराज नागपुर जायँगे', सर्वानन्दजी अहमदावाद से गुरु महाराज के पास वम्बई पहुँच गये।

नागपुर विश्व-संस्कृत-परिषद् में

गुरु महाराज श्री सर्वानन्दजी को साथ ले २३ अप्रैल १९५४ को बम्बई से नागपुर पहुँचे। वहाँ गोरापेठ में सेठ जेठालाल शामजी नारायणजी के पास ठहरे। श्री देवीवाई ने सभी सन्तों की सस्नेह सेवा की। ठहरने का स्थान नवीन ही वना हुआ था। सन्त थे ८ और कमरे २८ तथा वाथरूम १४। निवास आदि का अत्यन्त सुप्रवन्ध था।

विश्व-संस्कृत-परिषद् के अध्यक्ष राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी थे। श्री मुन्शीजी के अनुरोध पर गुरु महाराज ने खुले अधिवेशन में संस्कृत में भाषण किया। भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् पधारे थे। आपकी प्राञ्जल संस्कृत भाषा और गम्भीर विवेचन-पद्धति का सब पर गहरा प्रभाव पड़ा।

नागपुर में गुरु महाराज से मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल की भेंट हुई। संस्कृत के अन्ताराष्ट्रिय स्कालर और हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् डाक्टर रघुवीर भी आपसे मिले। वे आपको सादर अपने घर ले गये। संस्कृत में स्वरचित गीत सुनाये। मध्यप्रदेश के गवर्नर श्री पट्टाभि सीतारामैया भी आपसे मिले।

विश्व-संस्कृत-परिषद् में भाग लेनेवाले विद्वानों में त्रिवांकुर के कालटी ग्राम-निवासी विद्वान् का संस्कृत-भाषण विस्मयजनक रहा। वे आधुनिक घटनाओं का संस्कृत में ठीक वैसा ही सुन्दर चित्रण करते, जैसे आजकल के नवशिक्षित अंग्रेजी में करते हैं। परिषद् में काशी के विख्यात विद्वान् श्री सभापति उपाध्याय भी पधारे थे। विभिन्न दर्शनों पर विद्वानों के उल्लेख्य भाषण हुए।

विद्वानों ने संस्कृत-शिक्षा के प्रचार के सम्बन्ध में भी विचार किया। निश्चय हुआ कि संस्कृत-पाठशालाओं को, समय के प्रभाव से जिनका प्रतिदिन

ह्रास होता जा रहा है, यथापूर्व बनाये रखने के ठोस कदम उठाये जायँ। तेजी से घट रही संस्कृत छात्रों की संख्या रोकने के कार्यकारी उपाय अपनाये जायँ, जिनसे नवयुवकों की संस्कृत-भाषा की ओर रुचि बढ़े। संस्कृत के कठिन निबन्धों को सरल संस्कृत टीकाएँ लिखी जायँ, उनके हिन्दी अनुवाद हों। संस्कृत भाषा को सभी प्रान्तों की अंग्रेजी परीक्षाओं में अनिवार्य कर दिया जाय। परिषद् के अध्यक्ष राष्ट्रपति ने संस्कृत-साहित्य के प्रचार में सर्वविध सहयोग देने का वचन दिया।

विश्व-संस्कृत-परिषद् के बाद गुरु महाराज नागपुर से बम्बई, अहमदाबाद होते हुए माउण्ट आबू पधारे। उधर सर्वानन्दजी नागपुर से २७ अप्रैल को ग्वालियर चले गये। वहाँ सेठ बालचन्द के यहाँ ठहरे। पश्चात् हरिद्वार, मसूरी, शिमला, कुरुक्षेत्र तथा दिल्ली होते हुए ५ जुलाई १९५४ को अहमदाबाद आ गये। गुरु महाराज भी गुरुपूर्णिमा के लिए आबू से अहमदाबाद पहुँच गये।

१५ जुलाई १९५४ को अहमदाबाद में गुरुपूर्णिमा उत्सव धूमधाम से मनाया गया। तदनन्तर गुरु महाराज वहाँ से बम्बई पधारे। इस बार आपका निवास अन्धेरी में सेठ जीवनलाल चिनाई के बँगले में रहा। श्री सर्वानन्दजी पेटलाद में चातुर्मास्य कर बम्बई पहुँच गये। आपके आदेश से उन्होंने प्रातः प्रेमकुटीर और सायं माधवबाग में प्रवचन शुरू किये। दोनों स्थानों के प्रवचनों की पूर्णाहुति क्रमशः २६ सितम्बर और ७ अक्तूबर को हुई।

दूसरे ही दिन गुरु महाराज श्री सर्वानन्दजी के साथ पूना आये, जहाँ राय-बहादुर नारायणदास के विश्नीविला बँगले में ठहरे। यहाँ आपका ५-६ दिन निवास हुआ।

धर्मज में भागवत-सप्ताह

धर्मज के श्री रावजी बाघजी पटेल ने भागवत-सप्ताह के उपलक्ष्य में गुरु महाराज को सादर निमन्त्रित किया था। तदनुसार आप १५ अक्तूबर १९५४ को धर्मज पधारे। यहाँ आपका निवास विरक्त-आश्रम में हुआ। श्री रावजी-भाई ने अपने बड़े भ्राता श्री गोवर्धनभाई के परामर्श से भागवत-सप्ताह का आयोजन किया था। गुरु महाराज के साथी प्रायः सभी मण्डलेश्वर आमन्त्रित थे। इनमें श्री विद्यानन्दजी व्याकरणाचार्य, पद-वाक्य-प्रमाणतीर्थ देवप्रकाश शास्त्री, वयोवृद्ध स्वामी असंगानन्दजी, चलोत्तर के भीष्म-पितामह ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानीजी महाराज, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र ब्रह्मानन्दजी आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

व्यासपीठ पर श्री कृष्णशंकर शास्त्री वक्ता के रूप में प्रतिष्ठित थे। इस

अवसर पर विद्वानों के सारगर्भ व्याख्यान हुए। रावजी भाई, गंगामाता, प्रोफेसर धीरूवहन दत्तूभाई, तुलसीदास, नरसिंहभाई आदि सभी कुटुम्वी जनों ने साधुओं, ब्राह्मणों की तन, मन, धन से उल्लेख्य सेवा की। धर्मज में वृन्दावन का दृश्य उपस्थित हो गया। साधु-ब्राह्मणों को तो दक्षिणा-वस्त्रादि से सम्मानित किया ही गया, ग्राम की कन्याओं को भी वस्त्राभरण, द्रव्य-दानादि से सन्तुष्ट किया गया। ग्राम के प्रमुख लोग रावजी की ओर से ग्राम की कन्याओं का द्रव्यादि से सत्कार स्वीकार करना नहीं चाहते थे, किन्तु सन्तों के समझाने पर वे मान गये। रावजी ने इस अवसर पर प्रचुर औदार्य का परिचय दिया। इस भागवत-सप्ताह में प्रायः २५-३० हजार रुपये व्यय हुए।

गुरु महाराज धर्मज से वारिया राजमाता के आमन्त्रण पर वारिया आये। भक्तवर रायसाहव रूड़ारामजी भी आपके साथ थे। वहाँ से देहली पहुँचकर मार्गशीर्ष कृष्ण ८मी संवत् २०११ को कुरसिया घाट पर प्रवचन आरम्भ हुआ। गुरु महाराज तो कभी-कभी प्रवचन करते, वाकी आपकी आज्ञा से श्री सर्वानन्दजी ही प्रवचन का यह कार्यक्रम सम्पन्न करते रहे।

यहाँ २६ नवम्वर १९५४ को गुरु महाराज राष्ट्रपति-भवन में श्री मुन्शीजी से मिले। वे वहाँ किसी कार्यवश आये थे। दूसरे ही दिन लोकसभा के अध्यक्ष श्री दादासाहव मावलणकर से भेंट हुई। ३ दिसम्वर को आप उप-राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन् से मिले। ९ दिसम्वर तक आपका दिल्ली में निवास रहा।

१० दिसम्वर १९५४ को गुरु महाराज दिल्ली से कलकत्ता के लिए रवाना हुए। वहाँ पुष्पावहन के सिकरी-हाउस में निवास हुआ। आपके साथ श्री सर्वानन्दजी, कुलपति कृष्णानन्दजी और १४ सन्त थे। पहली जनवरी सन् १९५५ का अंग्रेजी नववर्ष का प्रथम दिन कलकत्ते में ही सम्पन्न हुआ। सायंकाल सत्यनारायण पार्क, लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर, अग्रसेन-भवन में प्रवचन होते रहे। प्रातः सिकरी-हाउस में गीता के ८वें अध्याय की स्वाध्याय-गोष्ठी होती थी। इसमें प्रमुख पंजावी और मारवाड़ी सेठ भाग लेते रहे। सेठ रामनारायण भोजनगरवाले का सपरिवार आपकी ओर विशेष आकर्षण रहा। वे पितृभक्त और धर्मप्रेमी तो पहले से ही थे। अव उनमें साधु-सेवा का भाव भी विशेष विकसित हो गया था।

गंगासागर-यात्रा

संवत् २०११ माघ कृष्ण ५मी (१३ जनवरी सन् १९५५) को गुरु महाराज ने कलकत्ते से गंगासागर-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। सेठ रामनारायणजी की ओर से सभी सन्तों एवं यात्रियों के लिए भोजनादि की पूर्ण व्यवस्था थी। उनके

भाई लक्ष्मीनारायणजी, द्वारकादासजी आदि भी यात्रा में साथ थे। भक्तवर कृष्ण-चन्द्र अरोड़ा यात्रियों की देखरेख एवं व्यवस्था में संलग्न थे। यात्रा के लिए तीन स्टीमरों की व्यवस्था की गयी थी। गुरु महाराज के स्टीमर पर लाउडस्पीकर लगा हुआ था, ताकि तीनों स्टीमर के लोग एक साथ कथा सुन सकें। यात्रियों की संख्या १२०० से कम न होगी। सेठ बालचन्द सपरिवार साथ थे। रामलुभाया अरोड़ा, पुष्पावहन सिकरी, ज्ञानमाता, करतारो, लज्जामामी ग्रोवर आदि माताएँ भी साथ थीं। श्रीमती मोहिनी करमचन्द थापर भी साथ थीं। यात्रियों के कीर्तन में ताल देने और नृत्य करने में समुद्र की तरंगें भी खूब साथ देतीं। उसके स्वर में समुद्र अपना प्रेम-मस्तीभरा मधुर सुर मिला रहा था। बड़े-बूढ़े कहते कि ऐसी प्रेम, भक्ति के उन्माद से भरी यात्रा हमने अभी तक नहीं देखी।

शुक्रवार १४ जनवरी १९५५ को गुरु महाराज ने गंगासागर में मकर-संक्रमण का स्नान और महामुनि कपिल का दर्शन-पूजन किया। उसी दिन रात्रि में स्टीमर से सभी कलकत्ता लौट आये। सभी यात्री १५ जनवरी को मध्याह्नो-त्तर अपने-अपने स्थान पर पहुँच गये। विना किसी कष्ट के, पूरे आनन्द के साथ यह यात्रा सम्पन्न हुई।

सेठ बालचन्द कार्यवश दूसरे ही दिन वायुयान से बम्वई जा रहे थे। उनके अनुरोध पर गुरु महाराज भी उनके साथ बम्वई पहुँच गये। वम्वई से आप विश्रामार्थ आबू में अपने आश्रम में आ गये।

'प्रेम-रतन' का प्रकाशन

चरित्र-लेखिका एक वर्ष से आवू में एकान्त निवास कर रही थी। वहाँ उसका प्रसिद्ध विद्वान् वियोगी हरि के 'प्रेमयोग' का स्वाध्याय चलता रहा। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। गुरु महाराज अपने प्रवचनों में इस पुस्तक में उद्धृत अनेक प्रेमी भक्त और प्रसिद्ध कवियों की मार्मिक उक्तियाँ सुनाते रहते हैं। लेखिका ने स्वान्तःसुखाय उसका गुजराती अनुवाद कर लिया था। गुरुदेव ने उसे सुनकर अपनी सरस भूमिका से अलंकृत भी कर दिया। अव लेखिका का उत्साह बढ़ा। इसी सन् १९५५ के आरम्भ में अहमदावाद में उसे छपवाकर उसने यह 'प्रेम-रतन' आवू में गुरु महाराज के पधारने पर उनके चरणों में समर्पित कर दिया। साहित्य-प्रेमी गुर्जर जनता ने इसे खूब पसन्द किया।

नड़ियाद में पादोत्तर-शताब्दि-महोत्सव

धर्मज में भागवत-सप्ताह के अवसर पर ही महन्त श्री जानकीदास ने मास्टर

श्री डाह्याभाई के साथ परामर्श कर श्री सन्तराम योगिराज महाराज का पादोत्तर-शताब्दि-महोत्सव मनाने का निश्चय कर लिया था। वहीं उन्होंने गुरु महाराज से इसमें भाग लेने की साग्रह प्रार्थना की थी। तदनुसार आप २४ जनवरी १९५५ को आबू से नड़ियाद पधारे।

इस पादोत्तर-शताब्दि-महोत्सव के अवसर पर विपुल संख्या में सन्त एवं ब्राह्मण निमन्त्रित थे और वे उपस्थित भी हुए। महन्तजी ने सभी सम्माननीय अतिथियों को स्वर्ण-दक्षिणा दी। सामान्य साधु और ब्राह्मण को भी एक-एक गिन्नी भेंट दी गयी। गुरु महाराज की भेंट ३५०० रुपये की गिन्नियों में थी, जिसे उन्होंने वापस कर दिया। आप प्रायः किसी भी सन्त के आश्रम में भेंट स्वीकार नहीं करते। आपकी मान्यता है कि सभी सम्प्रदायों के वयोवृद्ध महात्मा परस्पर गुरु-बन्धु हैं। साथ ही गुरुदेव के सम-सामयिक किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी महापुरुष गुरुकल्प ही है। गुरुस्थान में उपहार देना चाहिए, वहाँ से उपहार लेना उचित नहीं।

शनिवार ५ फरवरी १९५५ को सभी सन्तों एवं ब्राह्मण विद्वानों की एक सभा हुई। सोचा गया था कि इसमें स्वनामधन्य, परोपकारमूर्ति, विविध यज्ञों के अनुष्ठाता महापुरुष महन्त जानकीदासजी महाराज को मान-पत्र दिया जाय। तदनुसार मान-पत्र तैयार भी किया गया था। महन्तजी को इसका पता चलते ही वे सभा में उपस्थित नहीं हुए। तृष्णात्रयमुक्त महात्मा मान-पत्रों को कैसे स्वीकार कर सकता है? अतः वह मान-पत्र गुप्त रूप से उनके निवास पर पहुँचा दिया गया।

इसी सभा में गुरु महाराज के तप एवं वैदुष्य से प्रभावित हो गुर्जर-विद्वन्मण्डली की ओर से आपको भी मान-पत्र समर्पित किया गया। उत्तर में आपने देववाणी में अत्यन्त मार्मिक भाषण दिया। भाषण सुनकर गुजरात के सभी विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुए। श्री कृष्णशंकर शास्त्री और श्री गौरीशंकर ज्योतिषी गुजरात के देदीप्यमान रत्न हैं। इस उत्सव को सफल बनाने का अधिक श्रेय इन्हींको है। अतः सभा में आप दोनों को क्रमशः 'भागवत-भास्कर' और 'ज्योतिर्विद्-भास्कर' उपाधियों से विभूषित किया गया। ६ फरवरी १९५५ को इस अवसर पर आयोजित नवकुण्डी-यज्ञ, अष्टोत्तरशत भागवत-सप्ताह और अष्टादश महापुराण-पारायण की पूर्णाहुति हुई।

त्र्यम्बक में महारुद्र-यज्ञ

नड़ियाद से गुरु महाराज अहमदाबाद आये। वहाँ कुछ दिन ठहरकर नासिक-

त्र्यम्बकेश्वर पहुँचे, क्योंकि बम्बई में ही आपकी प्रेरणा से जमनादास डोसा ने नासिक में महारुद्र-यज्ञ करने का निश्चय कर लिया था। २८ फरवरी १९५५ को महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई। श्री सर्वानन्दजी भी आपके साथ थे।

२ मार्च १९५५ को गुरु महाराज नासिक से वृन्दावन पधारे। वहाँ धूम-धाम से वार्षिकोत्सव और होली-महोत्सव मनाया गया।

वृन्दावन से गुरु महाराज हरिद्वार, ऋषिकेश, अमृतसर होते हुए १८ अप्रैल १९५५ को बम्बई पहुँचे। यहीं एक सप्ताह बाद सेठ बालचन्द की सुपुत्री सौभाग्य-कांक्षिणी भगवन्ती का विवाह हुआ। दक्षिण हैदराबाद उदासीन-आश्रम के महन्त पूर्णदासजी भी इस अवसर पर उपस्थित थे।

२ मई १९५५ को गुरु महाराज बम्बई से आबू पधारे। आपके आदेशानुसार सर्वानन्दजी हरिद्वार गये। वहाँ ४ मई १९५५ को राम-धाम में राम-मन्दिर की प्रतिष्ठा की गयी।

२८ जून को गुरु महाराज आबू से अहमदाबाद आये। सर्वानन्दजी भी हरि-द्वार से वहाँ पहुँच गये। ५ जुलाई को गुरुपूर्णिमा-महोत्सव सोत्साह मनाया गया। बम्बई से भी अनेक भक्त गुरुदेव के पूजनार्थ उपस्थित थे। सर्वानन्दजी ने चातुर्मास्य अहमदाबाद में किया।

अहमदाबाद से गुरु महाराज बम्बई आये और वहाँ कुछ दिन ठहरकर पूना चले गये।

२ नवम्बर १९५५ को गुरु महाराज सर्वानन्दजी के साथ दिल्ली पधारे। वहाँ कुरसिया घाट पर निवास हुआ। प्रवचन का क्रम चल पड़ा।

१४ दिसम्बर को गुरु महाराज सर्वानन्दजी के साथ मेले के अवसर पर कुरुक्षेत्र आये। वहाँ आप गीता-भवन में ठहरे। गीता-सोसाइटी के संस्थापक, सनातन-धर्म-प्राण दयालीरामजी के सुपुत्र श्री केदारनाथजी ने आपके साथ के ३०० यात्रियों के ठहरने की सुन्दर व्यवस्था की थी। आपके साथ आनेवाले यात्रियों में भाई रूड़ाराम, दिवानचन्द भाटिया की भली माता, सेठ पोपटलाल भालकिया, सेठ बालचन्द, चरित्र-लेखिका आदि के नाम उल्लेख्य हैं। १७ दिसम्बर को आप लेखिका के साथ हरिद्वार पधारे। वहाँ आपको पुराणों के सूर्य-चन्द्र-वंशों के सम्बन्ध में कुछ अनुसन्धान करना था। श्री सर्वानन्दजी अमृतसर गये।

बम्बई में वेदान्त-सम्मेलन

श्री स्वामी प्रेमपुरीजी की प्रेरणा से सेठ हरिकृष्ण अग्रवाल, हरिलाल (बचु-भाई) ड्रेसवाला, प्रवीण नानावटी, जे० एम० कामदार आदि भक्त-मण्डली ने

बम्बई में वेदान्त-सम्मेलन का आयोजन किया। वेदान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान्, महात्मा आमन्त्रित किये गये थे। सन्त प्रेमपुरीजी तथा अन्य कई भक्तों ने गुरु महाराज से सम्मेलन में उपस्थित होने का साग्रह अनुरोध किया। तार भेजे गये और स्वयं प्रवीण नानावटी भी आये। फिर भी आप पौराणिक अनुसन्धान में विशेष व्यस्त होने के कारण उसमें भाग न ले सके। आपकी आज्ञा से श्री सर्वानन्दजी अमृतसर से २५ जनवरी १९५६ को बम्बई आये। २८ जनवरी १९५६ को वेदान्त-सम्मेलन आरम्भ हुआ। इसमें वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों पर विभिन्न विद्वानों के मनोरंजक एवं विवेचनापूर्ण भाषण हुए। श्री स्वामी सर्वानन्दजी एवं श्री अखण्डानन्दजी के भाषणों का जनता पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। तत्कालीन केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा ने भी सर्वानन्दजी के आग्रह पर सम्मेलन में भाग लिया।

सेठ रामनारायणभाई के आमन्त्रण पर श्री सर्वानन्दजी बम्बई से सीधे कलकत्ता गये। वहाँ लोहाघाट तथा डाँगा-धर्मशाला में सत्संग प्रारम्भ हुआ। सेठ रामनारायणभाई ने गुरु महाराज से भी कलकत्ता पधारने का साग्रह अनुरोध किया। सर्वानन्दजी ने भी लिखा कि आपका आना आवश्यक है। अतः दयाल मुनि, ईश्वर मुनि, सन्तोषजी आदि सन्तों के साथ आप १४ फरवरी, १९५६ को हरिद्वार से कलकत्ता पधारे। वहाँ आपका १५-२० दिन निवास हुआ। आपकी उपस्थिति से सत्संग में द्विगुणित उत्साह छा गया। ●

१४

लोक-संग्रह का सप्तम चरण

[संवत् २०१३ से २०१४ तक]

भारत के जगद्‌गुरुत्व का एकमात्र आधार है, चारित्रिक शिक्षा । इसीके कारण वह सदा से सब देशों में मूर्धन्य रहता आया और आगे भी रहेगा । जिस समय आज के तथाकथित बड़े राष्ट्रों का नाम-पता तक न था, हमारे देश में यह चरित्र-सूर्य मध्य आकाश में अपनी सहस्र-रश्मियों से चमक रहा था । यही कारण है कि आदि-शासक मनु महाराज के मुख से बड़े गर्व के साथ यह उक्ति निकली कि 'संसार के सभी प्राणी भारत के अग्रजन्मा से अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें' :

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्ष्येरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥'

(मनुस्मृति)

प्रश्न होगा कि 'आज विदेशों में भारत से कहीं उच्च कोटि के शिक्षालय विद्यमान हैं । वहाँ के प्राध्यापकों से भारत के प्राध्यापकों की तुलना ही क्या ? 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगुवा तेली ।' कदाचित् यह मान लें कि जब अन्य राष्ट्र पिछड़े थे, प्रारम्भिक अवस्था में थे, तब भारत से यह शिक्षा लेना उन्हें अनिवार्य रहा होगा । किन्तु आज के प्रगतिशील अणु-युग में यह कहना क्या हास्यास्पद नहीं ?' पर गम्भीरता से विचार करने पर इसका भी सहज समाधान हो जाता है ।

महाराज मनु ने यह चरित्र-शिक्षा भारत में भी किससे ग्रहण करने के लिए कहा है, यह देखिये । 'अग्रजन्मनः' यानी 'ब्राह्मण' से यह शिक्षा ग्रहण करें, यही उनका आग्रह है । यहाँ 'अग्रजन्मा' शब्द उस ब्राह्मण व्यक्ति का उपलक्षण है, जो ब्रह्म को जाने, ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार किये हो । जो ब्रह्म अर्थात् वेद को पढ़कर तदनुसार आचरण करे । जिसकी देह 'जीवित' रहते एकमात्र तप के लिए हो और 'मरने' पर मुक्ति पाने के लिए हो—ऐसा व्यक्ति ! सच्चे अर्थ में वही चरित्र की शिक्षा देने का अधिकारी है ।

बात यह है कि विषयों का सेवन करनेवाला, उनमें आसक्त रहनेवाला व्यक्ति कभी राग, द्वेष और अभिनिवेश से रहित नहीं रह सकता। ये राग, द्वेष और अभिनिवेश सत्तत्त्व के प्रकाशन के घोर परिपन्थी, उसके प्रकाशन में घने परदे हैं। ऐसा व्यक्ति यदि किसीसे कोई काम करने को कहे तो, न रहने पर भी, उसमें स्वार्थ की कुछ गन्ध आ सकती है, जो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कारण हमारे यहाँ बुरे का संसर्ग भी महापाप गिना गया है। किन्तु जो इन बातों से परे हो, उसकी वाणी का निश्चय ही प्रभाव पड़ता है। कारण उसे अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहता। उसका कोई अपना नहीं होता और होता भी है तो सभी अपने होते हैं। ऐसा व्यक्ति जो भी आचरण करने को कहे, वह 'चरित्र' यानी आचरण करने योग्य ही होगा। उससे आचरण-कर्ता का सर्वदा, सर्वथा उत्थान ही होगा, पतन कदापि नहीं।

दूसरी दृष्टि से चरित्र का अर्थ है, त्याग-प्रधान संस्कृति के अनुकूल आचरण। संसार में दो प्रकार की संस्कृतियाँ हैं: एक, भोग-प्रधान और दूसरी, त्याग-प्रधान। भोग-प्रधान संस्कृति का अन्तिम परिणाम है, अशान्ति। कारण भोग जितने भोगेंगे, आग में घी की तरह उनसे उनकी वासना ही बढ़ती जायगी। भोक्ता को कभी उनसे शान्ति संभव नहीं। अपनी भोग-सिद्धि के लिए उसे दूसरे को कष्ट देना ही पड़ेगा, उसकी रुचि के विपरीत आचरण करना ही होगा। फिर उस पीड़ित का शाप, उसका अन्तर्दाह उसे कभी चैन न लेने देगा। विषयों के साथ संगति के क्या-क्या परिणाम होते हैं, यह तो भगवान् ने गीता में ही 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' से 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' तक पूरे कार्य-कारणभाव के साथ बता दिया है। निश्चय ही उसका अन्तिम परिणाम सर्वनाश है। अतएव अन्ततः संसार को त्याग-प्रधान संस्कृति की ही शरण लेनी होगी। त्याग की उपासना से अमरता, मुक्ति तक प्राप्त होती है, यह स्वयं श्रुति भगवती बताती है: 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'

हमारे देश में इस त्याग-प्रधान संस्कृति का अनन्य उपासक एक बहुत बड़ा समाज अनादिकाल से चला आ रहा है और वह है, साधु-समाज। उसने सच्चे अर्थ में संसार से नाता तोड़ त्याग की शरण गही है। साधु-सन्त की ऋतम्भरा प्रज्ञा से जो आचरण बोधित होगा, निश्चय ही वह विश्व के लिए कल्याणकारी होगा। उससे विश्व सुव्यवस्थित ही बनेगा। उसमें कभी अव्यवस्था न आ पायेगी। प्रत्येक व्यक्ति अन्तिम लक्ष्यगामी अपनी जीवन-यात्रा में कभी ऐसा काम न करेगा, जिससे वह पथ-भ्रष्ट हो जाय। चरित्र का इतना व्यापक अर्थ है और उसके साधक हैं, त्याग-प्रधान संस्कृति के सेवी साधु, सन्त और उनका समाज।

वैसे आज चारित्रिक शिक्षा का अर्थ यम और नियमों की शिक्षा तक ही सीमित माना जाता है, पर वास्तव में वह उतनी ही नहीं। यह तो अतिस्वल्प वस्तु है। यदि हमारी व्यापक चारित्रिक शिक्षा से विश्व शिक्षित हो जाय, तो यम-नियम उसे अपने-आप सध जायेंगे।

इसकी अपेक्षा चरित्र का, धर्म का यदि कोई छोटे-से-छोटा और व्यापक-से-व्यापक अर्थ लेना हो, तो वह हमारी दृष्टि में यही हो सकता है कि 'दूसरे के साथ कभी ऐसा आचरण न करना, जो अपनी प्रकृति के प्रतिकूल हो' :

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

इसकी शिक्षा और आज के तथाकथित चरित्र की शिक्षा यदि कोई प्रभावकारी रूप में दे सकता है, तो वह हमारा सन्त-समाज ही है। कोई भी उपदेश तभी कार्यकारी होता है, जब कि उपदेष्टा स्वयं उसका आचरण करे। ऐसे उपदेष्टा ही 'आचार्य' कहे जाते हैं, जो स्वयं शास्त्रोक्त धर्म-कर्मों का आचरण कर दूसरों को उसका उपदेश दे आचार में प्रवृत्त कराते हैं। 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' से कभी काम नहीं चलता। हमारा सन्त-समाज यह काम सदा से करता चला आया है।

भारत साधु-समाज की स्थापना

देश स्वतन्त्र होने के वाद यह आवश्यक हो गया कि युग-प्रभाव से बढ़ती हुई परिणाम-विषा भौतिकता पर नियन्त्रण कर देश को व्यापक अर्थ में सच्चरित्र वनाया जाय। देश में इन चरित्र-निर्माणादि कार्यों के लिए देश के श्रद्धेय सन्तों का सहयोग मिले और शासकीय मन्त्रि-मण्डल को जनता की वास्तविक अवस्था का परिचय प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वर्षों से गुरु महाराज के साथ श्री गुलजारीलालजी नन्दा की वार्ता चलती रही। अब उसे साकार करने का अवसर आ गया। सन्त तुकड़ोजी, स्वामी शुकदेवानन्दजी के शिष्य सदानन्दजी, स्वामी अखण्डानन्दजी आदि उत्साही सन्तों के सहयोग से 'भारत साधु-समाज' की स्थापना का विचार जोर पकड़ने लगा।

इसी प्रसंग में श्री सर्वानन्दजी को दिल्ली बुलाया गया। वे कलकत्ते में डाँगा-धर्मशाला और लोहाघाट के सत्संग में व्यस्त थे। सत्संगियों का आग्रह था कि आप न जायँ, आपके जाने से सत्संग की धारा विच्छिन्न हो जायगी। किन्तु अन्ततः गुरु महाराज ने कार्य का गौरव देख लोहाघाट का सत्संग कुछ दिन स्थगित रखने का निर्णय दिया, डाँगा-धर्मशाला का सत्संग चलाने का

स्वयं उत्तरदायित्व उठा लिया और श्री सर्वानन्दजी को आदेश दिया कि वे शीघ्र दिल्ली पहुँच जायँ। तदनुसार स्वामी श्री सर्वानन्दजी दिल्ली चले गये।

गुरु महाराज ने सर्वानन्दजी की अनुपस्थिति में डाँगा-धर्मशाला का सत्संग और रात्रि का अमर-भवन का सत्संग स्वयं चलाया। यद्यपि इन दिनों वृद्धावस्था के कारण आपको बोलने में कुछ कष्ट का अनुभव होता, फिर भी दिल्ली के कार्य का गौरव देख आपने श्री सर्वानन्दजी को इस कार्य से मुक्त रखने के लिए यह कष्ट भी सह लिया। धर्म-सेवा के कार्य में अब तक कठिन-से-कठिन कष्टों को सहज ही झेल लेनेवाले महापुरुष के लिए यह बात ही क्या थी? हाँ, कलकत्ते की जनता को इससे चिर-प्रतीक्षित एक अकल्पित लाभ मिल गया। वह चिरकाल से आपकी सरस वाग्-गंगा में यथेच्छ गोते लगाने के लिए लालायित थी, फिर भी संकोचवश अपना लोभ सँवारे रही।

इधर श्री सर्वानन्दजी १७ फरवरी को वायुयान द्वारा दिल्ली पहुँचे और १८ फरवरी सन् १९५६ को 'भारत साधु-समाज' की स्थापना हुई। दिल्ली के बिड़ला-मन्दिर में विराट् अधिवेशन हुआ और १९ फरवरी को आप राष्ट्रपति से भी मिले। भारत साधु-समाज के शिष्ट-मण्डल के साथ आपने राष्ट्रपति से भारतीय संस्कृति के गौरव पर संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक वार्ता की। २१ फरवरी को स्वामी श्री सर्वानन्दजी पुनः कलकत्ता लौट आये।

श्री हरिप्रकाशजी का स्वर्गवास

गुरु महाराज को कलकत्ते में ही अकस्मात् उनके परम मित्र उदासीन-सम्प्रदाय के कर्णधार, देशभक्त, प्रकाण्ड विद्वान्, परोपकारी वीतराग महात्मा हरिप्रकाशजी के दुःखद स्वर्गवास का समाचार मिला। वैसे सन्तों का निधन शोचनीय नहीं होता। वे शरीर-बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर सर्वोत्कृष्ट आनन्दघन स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं। फिर भी मायिक संसार में रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठों को भी कुछ प्रातिभासिक कर्तव्य करने पड़ते हैं, सुख-दुःख दिखाने ही पड़ते हैं। सन्तों की प्रथा के अनुसार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के निमित्त तीर्थस्थान में समष्टि-भण्डारा हुआ करता है। अतः श्री स्वामी सर्वानन्दजी को गुरु महाराज ने परामर्श दिया कि पण्डितजी का भण्डारा हरिद्वार में किया जाय। (जिसका वर्णन आगे यथावसर किया जायगा।)

नेपाल पशुपति-यात्रा

गुरु महाराज ने कलकत्ते में रहते हुए नेपाल पशुपतिनाथ की यात्रा का

विचार किया। श्री सर्वानन्दजी प्रयाग-कुम्भ के पश्चात् सन् १९५४ में मण्डली-सहित यह यात्रा कर चुके थे, अतः उन्हें इस यात्रा का पूरा परिचय था। उन्होंने सलाह दी कि वायुयान से नेपाल पहुँचने पर धर्मशाला में न ठहरकर किसी नेपाली सज्जन के घर ठहरा जाय। उस समय शिवप्रकाश के भाई श्री प्रकाशचन्द्र (सालिगराम पन्नालाल कम्पनीवाले) वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने श्री सर्वानन्दजी से कहा कि 'हमारे एक प्रतिष्ठित नेपाली मित्र हीरालालजी हैं, जिनसे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको अभी पत्र लिखे देता हूँ।' भाई रामनारायणजी ने भी साथ जाने का निश्चय किया, ताकि गुरु महाराज को किसी प्रकार की असुविधा न हो।

तदनुसार २ मार्च १९५६ को गुरु महाराज हवाई जहाज से प्रातः कलकत्ता से चले और शाम ५ बजे नेपाल की राजधानी काठमाण्डू पहुँचे। आपके साथ भाई रामनारायणजी एवं उनकी पत्नी और प्रकाशचन्द्र, योगानन्द (ताया) तथा सन्तों में दयाल मुनि, ईश्वर मुनि, सूर्य मुनि एवं परमात्मानन्दजी थे।

नेपाल में हवाई अड्डे पर भक्तवर श्री हीरालाल स्वागतार्थ उपस्थित थे। उन्होंने गुरु महाराज को बड़े भक्ति-भाव से अपने घर ठहराया और प्रेमपूर्वक सर्वविध सेवा की। उनके पुत्र दिनभर कार लिये आपकी सेवा में प्रस्तुत रहते।

शनिवार, १० मार्च, महाशिवरात्रि को श्री पशुपतिनाथ का दर्शन-पूजन हुआ। रात्रि में जागरण किया गया। चारों प्रहरों की पूजाओं में श्रद्धालु भक्तों ने भाग लिया। तदनन्तर नेपाल के अन्यान्य प्रसिद्ध मन्दिरों (कृष्ण-मन्दिर, बुद्ध-मन्दिर, शक्ति-मन्दिर आदि) के दर्शन हुए। गुरु महाराज का नेपाल में ५ दिन निवास रहा।

मन्दिरों के सोने की कहानी

नेपाल में प्रायः सभी मन्दिरों पर सोना चढ़ा रहता है। लोगों का कहना है कि यहाँ के प्राचीन राजाओं के पास पारस था, जिसका स्पर्श कराकर वे लोहे को सोना बना देते।

यह भी किंवदन्ती है कि इस भूमि में कई स्थानों पर पारस-शिला के खण्ड बिखरे पड़े हैं। गाय, बकरी, घोड़े आदि के खुरों में लोहे की नाल लगा दी जाती है। कहीं न कहीं काकतालीय न्याय से पारस से छू जाने पर वह सोना बन जाती है।

यह भी दन्त-कथा है कि राणा जंगबहादुर ने लखनऊ के नवाब को परास्त करने में जब अंग्रेजी फौज को सहायता दी, तो बाद में लखनऊ की लूट से बहुत-

सा सोना उनके हाथ लगा। श्रद्धालु राजा ने लूट का माल राजकोष में न रखकर देव-मन्दिरों की सेवा में लगा दिया।

दो महात्मा : निःस्पृह और सन्त-सेवी

उदासीन-इतिहास में उल्लेख है कि महात्मा हरिदासजी नेपाल-स्थित धूनी साहब के सन्निकट गण्डक नदी की एक पाषाण-शिला पर पाँव धो रहे थे कि उनका लोहे का चिमटा उस शिला के स्पर्शमात्र से स्वर्णमय बन गया। वीतराग तपस्वी हरिदासजी ने तत्काल वह शिलाखण्ड और चिमटा नदी में फेंक दिया।

उदासीन-सम्प्रदाय के सच्चे नेता, कर्म-योगी, निष्काम-सेवक निर्वाण प्रीतमदासजी उनके साथ थे। यह दृश्य देख उन्होंने हरिदासजी से कहा : 'महाराज, यह क्या कर डाला ? यह पारस-बटी मुझे क्यों न दे दी ? इससे लाखों मन लोहे का सोना बनाता और दिल खोलकर कुम्भों पर सन्त-सेवा करता।'

'प्रीतम !'—महात्मा हरिदासजी ने कहा—'सोना आदि मायिक पदार्थ मुक्ति में बाधक हैं। पता चलने पर इस जंगल में आपका और हमारा रहना भी कठिन हो जायगा। धनलोलुप चोर-डाकुओं के आक्रमणों से साधना में महान् विक्षेप होता है।'

प्रीतमदासजी ने कहा : 'महाराज, मैं मुक्ति चाहता ही नहीं। मेरी दृष्टि में तो सन्त-सेवा ही सच्चा मोक्ष है। अखाड़ा तथा संस्था खड़ी कर अन्य सम्प्रदायों की तरह उदासीन-सम्प्रदाय की उन्नति करना ही मेरे जीवन का चरम ध्येय बन गया है।'

हरिदासजी प्रीतमदासजी की सन्त-सेवा की निष्काम लगन देख हँस पड़े। उन्होंने वर दिया : 'बेटा, तेरी यह कामना अवश्य पूर्ण होगी। सम्प्रदाय का गौरव दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ेगा। तुम्हारे साथी अन्य गुरु-बन्धु, तपस्वी-वर्ग के प्रयत्नों से कुछ ही दिनों में भारत के सभी प्रान्तों में मठों की स्थापना हो जायगी। और भी एक आनन्द की बात सुनाता हूँ। भविष्य में अपने सम्प्रदाय में न केवल तपस्वी, प्रत्युत कितने ही दिग्गज विद्वान् भी पैदा होंगे, जिनकी तुलना का विद्वान् भारत में विरला ही मिलेगा।'

ज्ञातव्य है कि निर्वाण प्रीतमदासजी को सम्प्रदाय की प्रगति की प्रेरणा मोरत-झाड़ी धूनीसाहबवाले सिद्ध-शिरोमणि बनखण्डी महाराज से मिली। निर्वाण प्रीतमदासजी ने वर्षों तक मोरत-झाड़ी की तपोभूमि में साधना की। संवत् १८३० में उनकी तपस्या से प्रसन्न हो बनखण्डी महाराज ने दर्शन दिये। वे इस

भूमि में निवास करते हुए भी योग-बल से अदृश्य ही रहते। सर्वसाधारण को उनका दर्शन दुर्लभ था। पूर्ण श्रद्धा देख उन्होंने निर्वाण प्रीतमदासजी को अपना शिष्य बना लिया। निर्वाणजी के 'दीक्षा-गुरु' मीहाँसाहब-शाखा के संगतदासजी थे और बनखण्डी महाराज 'सिद्ध-गुरु' थे, जो अलमस्त-परम्परा के रहे। उदासीनों में सिद्ध-साधक, गुरु-शिष्य-परम्परा अद्यावधि प्रचलित है।

बाबा रामदास का आतिथ्य

नेपाल से भाई रामनारायणजी आदि कलकत्ता लौट आये और गुरु महाराज हवाई जहाज से पटना में ही रुक गये। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' के अनुसार भगवान् अपने अनन्य भक्त का सर्वविध प्रबन्ध करने में कभी नहीं चूकते। नेपाल में तो हीरालालजी को उन्होंने खड़ा कर दिया और वह यात्रा बड़ी ही दिव्य हुई। अब पटना की बारी आयी। जहाज में सोचा जा रहा था कि पटना में तो कोई विशेष परिचित हैं नहीं। कहाँ ठहरा जाय और कैसे किया जाय? पर चिन्ता भगवान् को थी, जिसने सभी के प्रबन्ध का ठीका ले रखा है। फिर यह तो सन्त का संकल्प था। तब वह अपनी इस जंगम मूर्ति के प्रबन्ध से कैसे चूकता?

पटना हवाई अड्डे पर जहाज से उतरने के साथ ही देखा गया कि तीन कारें लेकर बाबा रामदासजी अपने कुछ मारवाड़ी भक्तों के साथ पुष्प-मालाएँ लिये उपस्थित हैं। बाबाजी सन्त-शिरोमणि उड़िया बाबा के साथ बहुत दिनों तक रहे हैं। उन्हें किसी तरह पता चल गया कि गुरु महाराज आज नेपाल से पटना पधार रहे हैं। साथ के भक्तजन आपका अचिन्त्य मनोबल देख आश्चर्यचकित थे।

स्वागत के बाद कारों में बैठाकर सभी सन्त श्रीचन्द्र सत्संग-भवन लाये गये और वहीं ठहराये गये। यह भवन बाबाजी की प्रेरणा से बना है और यहाँ सन्तों के निवास की सुन्दर व्यवस्था है। व्याख्यान-भवन भी भव्य बना है, जहाँ जनता प्रायः हरि-कथा-श्रवण का लाभ उठाती है। भवन का संचालन बाबाजी के भक्तों द्वारा होता है। यहाँ आपका तीन दिन निवास हुआ।

पटना के अन्य कई स्थानों पर भी गुरु महाराज के प्रवचन हुए। सुगृहीत-नामधेय निखिल-शास्त्रनिष्णात महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालुजी के सुपुत्र पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री आपसे मिले। उनके अनुरोध पर गुरु महाराज ने एक सभा में वैदुष्यपूर्ण दार्शनिक प्रवचन किया।

इस सभा का भी रोचक संस्मरण है। प्रथम शास्त्रीजी का प्रवचन प्रारम्भ हुआ। विद्वानों के योग्य शास्त्रीजी का प्रवचन जनसाधारण को कैसे पसन्द

पड़ता ? कुछ ही देर में जनता कानाफूसी करने लगी कि शास्त्रीजी अपना प्रवचन बन्द करें और महाराजश्री का प्रवचन प्रारम्भ हो। निपुणमति शास्त्रीजी ताड़ गये और हँसते हुए बोले : 'भाई, आप लोग फिर तो मेरे हाथ लगोगे नहीं। आज किसी तरह स्वामीजी महाराज की कृपा से चंगुल में आ गये, तो अपना पूरा प्रवचन सुनाकर ही दम लूँगा।'

गुरु महाराज ने भी जनता से कहा कि 'प्रभुप्रेमी भक्तो, सर्वसाधारण प्रवचन तो आप लोग प्रायः सुनते ही रहते हैं। आज पण्डितजी के युक्तिपूर्ण, अमृतमय दार्शनिक प्रवचन का भी थोड़ा रस चखें। वाद में मैं भी आपको अवश्य अपनी वात सुनाऊँगा।'

सभा ने समाहित हो शास्त्रीजी का प्रवचन हुआ। अन्त में गुरु महाराज ने अपनी दिव्य वाक्-सुधा की धारा से सबको आप्यायित कर दिया।

गया और काशी में

पटना से गुरु महाराज गया पधारे। राजगिरि के महन्त श्री हंसमुनिजी के सत्संग-भवन में निवास हुआ। महन्तजी उस समय कार्यवश वाहर गये थे। उनके सुयोग्य प्रवन्धक, साधुबेला के महन्त श्री हरिनामदासजी के शिष्य श्री बुधदासजी ने सबका समुचित प्रवन्ध किया। उदासीन-सम्प्रदाय के गृहस्थ शिष्य सर्वश्री बावू युगलकिशोर, विष्णुवावू आदि सज्जनों ने सबकी हार्दिक सेवा की। वे लोग दो कारें लेकर सदैव आपको सेवार्थ प्रस्तुत रहते।

यहाँ पटना के शिवप्रसादजी भोजनगरवाले के श्वशुर का पत्र पाकर सेठ डालमियाजी भी स्टेशन पर स्वागतार्थ उपस्थित थे। डालमियाजी ने आपसे अपने यहाँ ठहरने की प्रार्थना की। किन्तु आपने सम्प्रदाय के प्राचीन सेवक विष्णुवावू को प्रसन्न रखने के लिए सत्संग-भवन में ही ठहरना उचित समझा। सेठ डालमिया एवं अन्य प्रतिष्ठित मारवाड़ी सेठों के तत्त्वावधान में आयोजित विराट् सभा में आपका सुललित प्रवचन हुआ। गया और बुद्धगया के तीर्थों की भी यात्रा हुई।

गया से गुरु महाराज काशी आये। वहाँ चिरस्थापित उदासीन संस्कृत विद्यालय में ठहरे। आपके पधारने से कुलपति श्री कृष्णानन्दजी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यथाविधि पूजन, अर्चन के पश्चात् सवका दिव्य भोजन हुआ। दूसरे दिन आपने सभी छात्रों को वस्त्र, पाठ्य-पुस्तक एवं द्रव्यादि से पुरस्कृत किया। चिर-परिचित विद्वान् भी आपसे आ मिले। भव्य शास्त्र-चर्चा हुई और उनका भी स्वागत-सत्कार किया गया। काशी में आप तीन दिनों तक रहे।

२१ मार्च १९५६ को गुरु महाराज काशी से वृन्दावन धाम पधारे। श्री सर्वानन्दजी दो दिन पहले ही कलकत्ते से वृन्दावन पहुँच गये थे।

वृन्दावन से गुरु महाराज सिन्ध-पंजाब-क्षेत्र के मंगलोत्सव पर ऋषिकेश आये। वहाँ वीतराग स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी, तपोवनजी, लोकसंग्रही वैराग्यमूर्ति स्वामी रामकृष्णजी आदि से भेंट हुई।

७ अप्रैल को यहाँ वेद के गूढ़ सिद्धान्तों पर विचार हुआ। यहीं 'परमार्थ-निकेतन' में भारत साधु-समाज की सभा के सम्बन्ध में श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी, श्री अखण्डानन्दजी आदि प्रतिष्ठित सन्तों से विचार-विमर्श हुआ और तदनुसार हरिद्वार के राम-धाम में ९ अप्रैल को भारत साधु-समाज की सभा बुलायी गयी।

राम-धाम में साधु-समाज की सभा

राम-धाम की भारत साधु-समाज की इस सभा में सभी सम्प्रदायों के मण्डलेश्वर, अखाड़ों के महन्त एवं अभ्यागत उपस्थित थे। वयोवृद्ध मण्डलेश्वर स्वामी भागवतानन्दजी भी, जो आपके काशी के सहपाठी एवं मित्र थे, चिरकाल के अनन्तर यहाँ अनायास गुरु महाराज से मिले। केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारी-लाल नन्दा और अजमेर प्रान्त के मुख्यमन्त्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय भी सभा में उपस्थित थे।

श्री नन्दाजी गुरु महाराज के अति परिचित हैं। वे जब-तब आपसे मिलते ही रहते हैं। सन् १९२६ में शिकारपुर में पहली बार वे श्री स्वामी घनानन्दजी के साथ गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन दिनों वे मजदूर-महाजन सभा के मन्त्री थे। आपके साथ करीब एक सप्ताह रहने का उन्हें अवसर मिला। तब से आज तक श्रीचरणों में उनकी श्रद्धा और स्नेह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता आ रहा है। वे आपके अखण्डानन्द-आश्रम ट्रस्ट के एक ट्रस्टी भी हैं। वे राम-धाम में ही ठहरे थे।

इसी अवसर पर १० अप्रैल को गुरु महाराज के अभिन्न मित्र स्वर्गीय स्वामी श्री हरिप्रकाशजी की पुण्य-स्मृति में भण्डारा हुआ। वे उदासीन-सम्प्रदाय के हृदय-सम्राट् थे। अतः उनके भण्डारे में वृहत् संख्या में अनेक प्रतिष्ठित सन्त उपस्थित थे।

श्री हरिभाऊजी का भाषण

इसी अवसर पर अजमेर के मुख्यमन्त्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय का भाषण उल्लेखनीय था। आपने समय-समय पर देश के उत्थान और संस्कृत एवं हिन्दी-

साहित्य के निर्माण में सन्तों के सहयोग का स्वागत किया। उदासीन-सम्प्रदाय के १६वीं शताब्दी के जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्रजी की देश-सेवा, जाति-सेवा, राष्ट्रिय एकता एवं दिव्य चमत्कारों द्वारा विधर्मियों को प्रभावित करने की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। अन्य सन्तों के व्याख्यानों में वर्णित उदासीन-सम्प्रदाय की प्राचीनता और गौरव को सुनकर वे विशेष प्रभावित हुए।

सन्तों को धन्यवाद देते हुए उन्होंने कहा कि 'आज मुझे कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों की नवीन जानकारी प्राप्त हुई। जैसे, उदासीन-सम्प्रदाय के मूल पुरुष सनत्कुमार हैं और उन्हें परमहंस साधु-वेष में अवतीर्ण हंसावतार श्री विष्णु से इस सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त हुई।

इसी तरह आचार्य श्रीचन्द्रजी सनत्कुमार से १६५वीं पीढ़ी में आते हैं। उनके गुरु अविनाशी मुनि अर्बुद-पर्वत (माउण्ट आबू) पर रहा करते थे। इन्हींके उपदेश से राणा सांगा में अलौकिक शौर्य का संचार हुआ। मुगल बादशाहों के निरन्तर आक्रमण के कारण हतसैन्य, अपहृत दुर्ग और वन-वन भटक रहे नितान्त निराश राणा प्रताप को श्रीचन्द्र महाराज ने ही प्रोत्साहन दिया। उन्हींकी प्रेरणा पर भामाशाह की प्रचुर धनराशि मातृभूमि की सेवा में काम आयी।

इतना ही नहीं, शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास स्वामी जब पूर्वाश्रम में टाकली ग्राम में १८ वर्ष की अवस्था में तपश्चर्या कर रहे थे, तो उस 'नारायण' युवक को भी श्रीचन्द्रजी ने ही देशाटन और देश-सेवा का परामर्श दिया। उसीके फलस्वरूप छत्रपति शिवाजी मुगल-शासन को निर्मूल करने में सफल हुए।

उपाध्यायजी ने अन्त में कहा कि 'आप लोगों के आमन्त्रण पर मुझे इस सन्त-सभा में ऐसे महत्त्व के इतिहास सुनने को मिले, एतदर्थ मैं आप सबका आभारी हूँ।'

परम गुरुदेव की कृति का प्रकाशन

हरिद्वार से गुरु महाराज २० अप्रैल को बम्बई पधारे और २५ को अहमदाबाद गये। वहाँ के प्रेममूर्ति मंगलदास काकूभाई के भागवत-सप्ताह में सम्मिलित हुए। २९ अप्रैल को आप आबू में अपने आश्रम में आ गये। ४ जून तक वहीं रहे। बीच में आनन्द कुँवर बा और सेठ बालचन्दजी आपके दर्शनार्थ आये थे।

आबू में परम गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी महाराज द्वारा विरचित 'संक्षेप-शारीरक' के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का निश्चय हुआ। इसी बीच उदासीन संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री स्वामी योगीन्द्रानन्दजी काशी से यहाँ आये। उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक के प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

आबू से गुरु महाराज अहमदाबाद होते हुए १२ जून को बम्बई पधारे। वहाँ आप सेठ वालचन्दजी के बँगले में ठहरे। वेदान्त-सत्संग-मण्डली की प्रार्थना पर १६ जून से प्रेम-कुटीर में प्रवचन आरम्भ हुआ। आपके आदेश से प्रायः स्वामी श्री सर्वानन्दजी ही प्रवचन करते थे। कभी-कभी जनता के विशेष अनुरोध पर आप भी कुछ उपदेश दे दिया करते।

बम्बई में साधु-समाज की शाखा

इन्हीं दिनों भारत साधु-समाज के सभापति सन्त तुकड़ोजी, श्री स्वामी अखण्डानन्दजी आदि प्रतिष्ठित सन्तों की उपस्थिति में बम्बई में भारत साधु-समाज की शाखा संघटित हुई, जिसके सभापति श्री प्रेमपुरीजी निर्वाचित हुए। २ से ४ जुलाई तक गुरु महाराज की अध्यक्षता में भारत साधु-समाज का अधिवेशन हुआ और आपके हाथों इस शाखा का उद्घाटन हुआ।

सन्त देश-धर्मरक्षार्थ संगठित हों

अपने अध्यक्षीय भाषण में गुरु महाराज ने कहा : 'भारतीय सन्त राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। सन्तों की कृपा से आज तक देश और धर्म की रक्षा हुई और भविष्य में भी होती रहेगी। विदेशी मिशनरियों ने अस्पताल, स्कूल-कालेज खोलकर जब देश की जनता को प्राचीन भारतीय संस्कृति से डिगाने की चेष्टा की, तो पंजाब में मेरे दादा-गुरु सुन्दरदासजी महाराज ने अनेक वैद्य तैयार किये। उन्होंने निष्काम भाव से जनता की सेवा कर मिशनरी अस्पतालों के घातक प्रभाव से उसे बचाया। एक नहीं, असंख्य सन्तों ने गरीब भारतीय जनता को शिक्षित बनाने के लिए अपने मठ (डेरे) स्कूल-कालेजों के रूप में परिणत कर दिये। मैं उसी मठ-स्कूल का विद्यार्थी हूँ। जिन प्रान्तों में सन्तों का विशेष प्रभाव है, वहाँ विदेशी संस्कृति का कुप्रभाव नहीं-सा पड़ा है। दक्षिण में ईसाई इसीलिए अधिक बन गये कि वहाँ प्राचीन संस्कृति के संरक्षक सन्तों का अभाव था। अतः मेरी सन्तों से प्रार्थना है कि आप संगठित होकर देश, जाति, संस्कृति एवं धर्म की रक्षा करें। उपस्थित गृहस्थ भक्तों से अनुरोध है कि वे तन, मन, धन से सन्तों का साथ दें। मैं आशा करता हूँ कि इस तरह निःसन्देह भारत का यशोभानु यथापूर्व शीघ्र ही अपने अलौकिक प्रकाश के साथ चमक उठेगा।'

बम्बई में गुरुपूर्णिमा-उत्सव

इस वर्ष गुरुपूर्णिमा-उत्सव भक्तों के विशेष आग्रह पर बम्बई में ही मनाया

गया। गुरु महाराज यहीं रहे। सेठ वालचन्दजी के बँगले में यह उत्सव सम्पन्न हुआ। वम्बई के हजारों भक्तों ने, जो प्रतिवर्ष गुरुपूर्णिमा पर अहमदाबाद पहुँच नहीं पाते थे, अपना सौभाग्य मान वड़े उत्साह से गुरु महाराज का पूजन किया।

नासिक कुम्भ-पर्व

सन् १९५६ का नासिक-कुम्भ निकट था। प्रत्येक कुम्भ पर गुरु महाराज की छावनी में अन्न-क्षेत्र चलता है। अतः कुम्भ-मेला-प्रवन्ध के लिए आपने सन्त गोविन्दानन्द और ईश्वर मुनि को भेजा। अन्य कुम्भों की तरह यहाँ एक ही जगह विशाल छावनी लगाना संभव न था। कारण एक तो जमीन का अभाव था, दूसरे चातुर्मास्य के कारण मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। अतः त्र्यम्वक में एक धर्मशाला और एक किराये का मकान लिया गया। धर्मशाला में यात्रियों के ठहराने की व्यवस्था की गयी और किराये के मकान में अन्न-क्षेत्र चल पड़ा। सन्तरामपुर राज्य की माँ साहव और राजकुमारी आनन्द कुँवर बा के 'ओम्प्रकाश' बँगले में गुरु महाराज और श्री सर्वानन्दजी को ठहराने का निश्चय हुआ। आनन्द कुँवर वा के परामर्श से और भी कई मकान और बँगले किराये पर लिये गये। नासिक पञ्चवटी में मूलजी की धर्मशाला में अतिथियों के विश्राम एवं भोजनादि का प्रवन्ध किया गया। सेठ जीवनलाल चिनाई, जमनादास डोसा आदि वम्वई के प्रतिष्ठित भक्तों की सहायता से कई एक ट्रस्टों के आरोग्य-भवन भी अतिथियों के लिए प्राप्त किये गये। इस तरह देवलाली से त्र्यम्वक-क्षेत्र तक १९ अतिथि-केन्द्र खुले, जहाँ उनके विश्राम, भोजनादि की पूर्ण व्यवस्था की गयी थी।

२० जुलाई को वम्बई से गुरु महाराज मोटर द्वारा नासिक आये। आपके साथ लेखिका भी थी। बम्बई से सेठ जमनादास डोसा, अर्जुनदास दासवानी, नटवरलाल चिनाई, गोविन्दराम तथा मुरलीधर सेऊमल, सेठ वालचन्द, कृष्णचन्द चेलाराम, जीवनलाल चिनाई, मूलचन्द उत्तमचन्दानी, मथुरादास तथा लक्ष्मी-चन्द चावला, सेठ मथुरादास (वसियामल कंपनीवाले) आदि भक्तजन सपरिवार उपस्थित थे। पूना से रायवहादुर नारायणदास, दिल्ली से भाई रूड़ाराम, कल-कत्ता-निवासी भाई रामनारायण भोजनगरवाला, अमृतसर से 'महिला गुरु गंगेश्वर सत्संग' की नेत्री शकुन्तलावहन भी, अपनी प्रमुख बहनों—कैलाश, कमला, सत्या आदि के साथ उपस्थित थी।

माँ साहव तथा आनन्द कुँवर बा ने अपने बँगले में तथा आसपास के बँगलों में आये हुए अतिथियों की तन, मन, धन से सेवा की। कुम्भ के अन्न-क्षेत्र आदि

१८

के संचालन में चिनाई-परिवार, गोविन्दराम, मुरलीधर, रामनारायण, रूड़ाराम, जमनादास डोसा, वालचन्द और श्रीमती विश्नीवहन नागपाल ने विशेष सहयोग दिया।

साधुओं की यह अपूर्व एकता !

विगत कुम्भों से इस कुम्भ की यह विशेषता थी कि आपके प्रधान शिष्य श्री स्वामी सर्वानन्दजी के उत्साह एवं सतत प्रयत्न से सभी सम्प्रदायों के सन्तों ने सम्मिलित होकर वेद-नारायण का जुलूस निकाला। यों तो हर कुम्भ पर प्रत्येक सम्प्रदाय की पृथक्-पृथक् साही (जुलूस) निकलती ही रहती हैं। किन्तु सभी सम्प्रदायों का यह जुलूस अपनी निराली ही विशेषता रखता था। जुलूस में पुलिस-अफसर एस० पी० हरिश्चन्द्र सिंह का प्रवन्ध-कौशल प्रशंसनीय था। कभी-कभी कुम्भों पर सन्तों में साम्प्रदायिक विवाद भी उठ खड़े होते हैं। किन्तु स्वतन्त्र भारत के सन्तों ने इस कुम्भ पर पारस्परिक एकता का अलौकिक अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया।

त्र्यम्वक तथा नासिक के कैलास-मठ में क्रमशः १, २ सितम्वर को भारत साधु-समाज के तत्त्वावधान में सन्तों के विराट् सम्मेलन हुए, जिनमें सभी सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित सन्त सम्मिलित थे। सम्मेलन में देश में चरित्र-निर्माण, भ्रष्टाचार-निवारण आदि के निमित्त व्यापक अभियान के लिए सन्तों से प्रार्थना की गयी और उपस्थित भक्तों से उन्हें हर प्रकार की सहायता देने का अनुरोध किया गया। कैलास-मठ के सन्त-सम्मेलन का सभापतित्व सन्तों के अत्याग्रह पर गुरुदेव के शिष्य श्री सर्वानन्दजी ने किया था। सच पूछें तो श्री सर्वानन्दजी भारत साधु-समाज के प्राण थे। उन्होंने ही उसकी स्थापना करवायी, यत्र-तत्र शाखाएँ खुलवायीं और कुम्भ-पर्व पर विराट् अधिवेशन की योजना वनायी।

नासिक में बृहत् रोगी-सदन की स्थापना

नासिक के जिलाधीश सेवाभावी, गरीवों के हितेच्छु तथा सज्जन-स्वभाव के थे। उनके सहयोग से इसी अवसर पर यहाँ एक वृहत् रोगी-सदन की स्थापना हुई। यह कुम्भ-मेला २६ जुलाई से शुरू हुआ था, जो ४ सितम्वर १९५६ भाद्रपद पूर्णिमा को समाप्त हुआ।

परम गुरुदेव की स्मृति में आश्रम का उद्घाटन

गुरु महाराज नासिक कुम्भ-मेले के वाद बम्वई, अहमदावाद, माउण्ट आबू

होते हुए ७ अक्तूबर १६५६ को अमृतसर पधारे। वहाँ दुर्ग्याना वेद-भवन में प्रवचन आरम्भ हुआ।

सन् १९४४ की बात है, सेठ रघुवरदयालजी की कोठी में ब्रह्मलीन परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी महाराज के प्रथम वार्षिक समाराधन के निमित्त भागवत-सप्ताह और वृहत् भण्डारे का आयोजन हुआ था, जिसमें ५० हजार से अधिक लोगों ने प्रसाद पाया। इतना व्यापक उत्साह देख उसी समय तय हुआ कि परम गुरुदेव के स्मारक रूप में यहाँ एक आश्रम वनाया जाय। अनेक कारणों से उसका काम अभी तक रुका रहा। अब वह 'राम-धाम' नाम से तैयार हो गया। आश्रम के लिए भूमि सेठ दीनानाथ सूतरवाले के सुपुत्र श्री अमरनाथ ने दी और सर्वश्री सीताराम करमचन्द, वालकिशोर, रामलाल कपूर, दौलतराम, भक्त विशनदास, शिवप्रकाश पन्नालाल, राजकुमार वेलीराम, नन्दलाल सूतरवाला, फतेहचन्द आदि भक्त-मण्डली ने तन, मन, धन से परिश्रम कर आश्रम का निर्माण करवाया। धारीवाल कम्पनी के सेठ वालकृष्ण, हरिकृष्ण और श्रीकृष्ण, तीनों भाइयों ने मिलकर शिव-मन्दिर वनवाया।

संवत् २०१२ आश्विन शुक्ला शरत्-पूर्णिमा (१९-१०-'५६) को इस राम-धाम-आश्रम का उद्‌घाटन एवं मन्दिर में शंकर भगवान् की प्रतिष्ठा हुई। इस अवसर पर वृहत् भण्डारा किया गया। सैकड़ों की संख्या में साधु-ब्राह्मण पधारे थे। हजारों की संख्या में भक्तों ने प्रसाद पाया।

गोमाता का गौरव

गोशाला-कमेटी, अमृतसर की प्रार्थना पर गोपाष्टमी के दिन गुरु महाराज का गोमाता के गौरव पर मार्मिक प्रवचन हुआ।

वैदिक एवं पौराणिक प्रमाणों से गोमाता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए गुरु महाराज ने वताया : 'वेदों में कहा गया है कि गोमाता सदैव पावन एवं जगत् की पोषिका है। वह निष्पाप देवता है :

'सदा गावः शुचयो। विश्वधायसः।
सदा देवाः अरेपसः॥'

(सामवेद)

शुक्ल यजुर्वेद (१-१) में कहा है : 'आप्यायिध्वमघ्न्या।' गोमाता 'अघ्न्या' अर्थात् अहिंसनीय, हिंसा के अयोग्य, सदा रक्षणीया है : इस तरह वेदों में गो-महिमा के असंख्य प्रमाण हैं। पंचम वेद महाभारत में गौ के शरीर में सर्वदेवताओं

के निवास का वर्णन है। वहाँ का प्रसंग है कि जब सभी देवता गाय में प्रवेश कर चुके, तब गंगा और लक्ष्मी पहुँचीं। अत्यन्त अनुनय-विनय के करने पर गंगा को गाय के मूत्र में और लक्ष्मी को गोवर में स्थान मिला।

'मया गवां पूरीषं हि श्रिया श्रितमिति श्रुतम्।'

(महाभारत, अनुशासन पर्व)

इस तरह गाय का अंग-अंग हमारे लिए पूजनीय है।'

आपके व्याख्यान से प्रभावित हो जनता ने तत्क्षण हजारों रुपये गो-शाला को दान दिये।

वृन्दावन में भागवत-सप्ताह

अमृतसर से गुरु महाराज दिल्ली आये। वहाँ कुछ दिन रहकर ४ दिसम्बर १९५६ को वृन्दावन पधारे। यहाँ आपके परम भक्त सेठ नटवरलाल चिनाई द्वारा अपनी धर्मपत्नी निर्मलावहन के स्वर्गवास के निमित्त पूर्वनिश्चित श्रीमद्भागवत-सप्ताह का आयोजन किया गया था। अतएव आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक था।

श्रौतमुनि-निवास में सप्ताह के लिए भव्य मण्डप वनाया गया। वक्ता थे पण्डित रासविहारी शास्त्री। प्रतिदिन सायंकाल गुरु महाराज के भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र पर प्रवचन होते। नटवरभाई ने पूर्णाहुति के दिन बहुत बड़ा भण्डारा किया। हजारों की संख्या में ब्राह्मणों एवं सन्तों ने भोजन किया। पण्डित रास-विहारीजी को वस्त्राभरणादि तथा दक्षिणा से सन्तुष्ट किया गया।

इस अवसर पर स्वयं नटवरभाई ने इतना भावभरा कीर्तन किया कि वृन्दावन की जनता मन्त्रमुग्ध हो उठी। वह मुक्तकण्ठ से कहने लगी कि 'सेठ तो वहुत-से वृन्दावन में आते रहते हैं, सप्ताह भी होते हैं, किन्तु ऐसा भगवद्-भक्ति में रँगा सेठ हमने आज तक नहीं देखा।'

ज्ञातव्य है कि सेठ नटवरलालजी गुरु महाराज के पार्वतीय विश्राम-काल में प्रायः साथ रहा करते हैं। सन् १९५३ में आपने वम्वई के वरसोवा के अपने वँगले में रामायण-नवाह का पारायण करवाया था और उसमें भाग लेने के लिए गुरु महाराज को वुलाने कार लेकर स्वयं पञ्चगिनी आये थे। आप उन दिनों वहीं लेखिका के वँगले में विराजमान थे।

नटवरभाई चिनाई १४ दिसम्बर को वृन्दावन से अपने साथ गुरु महाराज को वम्वई ले गये।

इधर श्री स्वामी सर्वानन्दजी आपके आदेश से भारत साधु-समाज के अधि-

वेशन में भाग लेने के लिए नाथद्वारा चले गये। वहाँ वे डायाभाई की धर्मशाला में ठहरे। श्री नटवरलाल ने पहले से ही धर्मशाला के मैनेजर को पत्र लिखकर स्वामीजी के लिए समुचित प्रवन्ध करवा दिया था। नाथद्वारा का सम्मेलन और यात्रा करके श्री सर्वानन्दजी ग्वालियर आये। वहाँ हिन्दी-साहित्य के प्राण, मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री पडिण्त रविशंकर शुक्ल के स्वर्गवास का समाचार मिला। ग्वालियर की शोक-सभा में आपने शुक्लजी के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए इसे देश की अपूरणीय क्षति वताया। फिर वे ग्वालियर से भटिण्डा चले गये।

उधर गुरु महाराज १५ दिन वम्वई में नटवरलाल चिनाई के साथ रहकर ३१ दिसम्वर को नासिक-क्षेत्र गये। वहाँ ओम्प्रकाश वँगले में ठहरे। अंग्रेजी वर्ष सन् १९५७ का वर्षारम्भ-दिन नासिक में ही सम्पन्न हुआ। माँ साहव और आनन्द कुँवर वा आपकी सेवा करती रहीं। ग्वालियर से श्री ब्रह्मदेवजी और श्री गोविन्दानन्दजी आपके पास पहुँच गये। माँ-वेटी दोनों ने वँगला आपको अर्पण कर देने की इच्छा व्यक्त की। आपने आश्वासन दिया कि 'सर्वानन्दजी से सलाह करके ट्रस्ट वना दिया जायगा। किसी भी सम्पत्ति को व्यक्तिगत रखना ठीक नहीं होता।'

नासिक से गुरु महाराज पूना पधारे। वहाँ रायवहादुर नारायणदास के वँगले में ठहरे। वे धार्मिक, साधु-सेवी सज्जन हैं। उनकी पत्नी के गुरुदेव योगिराज फलाहारीजी महाराज आपके परम मित्र थे। उनकी अनुपस्थिति में विश्नीवहन आपकी आज्ञा का गुरु-आज्ञा के समान ही पालन करती हैं। सन् १९५३ में पतिदेव की अनुमति से उन्होंने हरिद्वार में अपने गुरुदेव का स्मारक 'फलाहारी-धाम' वनवाया। भूमि-खण्ड पहले से ही खरीद रखा था। विश्नीवहन ने भवन वनवाकर जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् एवं ब्रह्मलीन फलाहारीजी महाराज की मनोहर प्रतिमाएँ वहाँ स्थापित करवायीं, जिनके दिव्य दर्शन सड़क से अनायास हो जाते हैं। उन्होंने इसका ट्रस्ट वना दिया है। इस धाम के वर्तमान प्रवन्धक फलाहारीजी के शिष्य देवादासजी हैं। वे भजनानन्दी, शान्त-प्रकृति और निःस्पृही सन्त हैं।

३१ जनवरी १९५७ को गुरु महाराज पूना से वम्वई आ गये और सेठ वालचन्दजी के वँगले में ठहरे।

नवनिर्मित साधुवेला-आश्रम का महोत्सव

स्वर्गीय योगिराज वनखण्डी-सिंहासनासीन, हिन्दू-जाति के सच्चे हितैषी, उदासीन-सम्प्रदाय-भूषण स्वामी श्री हरिनामदासजी के साथ गुरु महाराज का

विशेष प्रेम रहा। अतएव उनके उत्तराधिकारी वर्तमान महन्त आचार्य गणेशदासजी वाल्यावस्था से ही गुरु महाराज की देखरेख में विद्याभ्यास करते रहे। वे पहले मण्डली में रहे। उसके वाद वृन्दावन के श्रौतमुनि-आश्रम में और अन्त में काशी के उदासीन संस्कृत विद्यालय में उन्होंने अध्ययन किया। गुरुदेव ने उन्हें सलाह दी कि वम्वई में साधुवेला का एक नया भव्य स्थान बनाया जाय। कारण प्राचीन स्थान के पाकिस्तान में चले जाने से अव कोई ऐसा भवन नहीं, जो साधुवेला-आश्रम के अनुरूप कहा जा सके। आपने सिन्धी भक्तों में भी यह भावना भर दी कि सिन्धदेश का यह अद्भुत पवित्र स्थान वम्वई में भी अवश्य होना चाहिए। तदनुसार महन्त गणेशदासजी ने वम्वई में साधुवेला का विशाल भवन वनवाया। महन्तजी कार्यदक्ष एवं उत्साह-मूर्ति हैं। नव-भवन के वास्तु-प्रवेश-मुहूर्त पर उन्होंने वृहत् उत्सव का आयोजन किया। उन्हींके साग्रह निमन्त्रण पर गुरु महाराज और सर्वानन्दजी वम्वई पधारे थे।

उत्सव में उदासीन-सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रतिष्ठित महापुरुषों ने भाग लिया। वयोवृद्ध तपस्वी वावा तोतारामजी जमात-सहित पधारे थे। गुरु रामराय दरवार, देहरादून के महन्त श्री इन्दिरेशचरणदासजी भी उपस्थित थे। वे साधुवेला के वर्तमान महन्तजी के घनिष्ठ मित्र हैं और सन् १९३८ में दीक्षा लेने के वाद कुछ समय साधुवेला, सक्खर में विद्याभ्यास के लिए ब्रह्मलीन स्वामी श्री हरिनामदासजी के सान्निध्य में भी रहे हैं। श्री इन्दिरेशचरणदासजी प्रयाग-विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं।[1] परम श्रद्धेय तपोमूर्ति, द्वितीय निर्वाण प्रीतमदास पूज्य श्री वावा पूरणदासजी महाराज भी श्री गणेशदासजी के

---

१. आजकल आप कई हाई स्कूल और कालेज चला रहे हैं। आपकी कई प्राथमिक पाठशालाएँ भी चलती हैं। विशेषता यह है कि स्वयं आप उनमें अध्यापन भी करते हैं। वहाँ विद्यार्थियों से अध्ययन-शुल्क नहीं लिया जाता। सुप्रसिद्ध देशभक्त स्व० गोविन्दवल्लभ पन्तजी ने एक वार आपसे कहा था कि 'महन्तजी, आप विना फीस के स्कूल-कालेज चला नहीं सकते।' महन्तजी ने उत्तर में कहा कि 'जव वे आपके प्रवन्ध में आ जायँगे, तो फीस लगा दीजियेगा।' मुझे अनुभव है कि गरीव पहाड़ी विद्यार्थियों में फीस देने की सामर्थ्य नहीं। हम साधुओं की भोजनादि सभी क्रियाएँ भी तो गृहस्थ भक्तों की ओर से निःशुल्क ही चलती हैं। फिर हम किसीसे फीस क्यों लें ? हमारे आश्रम में भोजन, निवास, अध्ययन, सव कुछ गुरु-कृपा से विना शुल्क ही चला और चलता रहेगा।'

स्नेहवश उत्सव में पधारे। महन्तजी ने आगत सन्तों एवं अन्य अतिथियों का उदारता के साथ स्वागत किया। सबको मार्ग-व्यय और भेंटें दी गयीं।

यह उत्सव १ली फरवरी से १२ फरवरी १९५७ तक चलता रहा। माघ शुक्ला १३ मंगलवार को पूर्णाहुति हुई। अपने नियमानुसार गुरु महाराज ने भेंट नहीं ली।

समर्थ दयालु गुरुदेव

स्पष्ट है कि इस आश्रम के निर्माण आदि में गुरु महाराज की ही व्यापक प्रेरणा रही, अतएव उत्सव-समाप्ति तक आपको उपस्थित रहने का आग्रह किया गया था। आपको वह अभीष्ट भी था। किन्तु आप किसी एक के नहीं, सबके हैं और सभी अपने-अपने शुभ कार्य पर आपका सान्निध्य चाहते हैं। दयालु-प्रकृति गुरु महाराज सभी की बात रखते हैं। यही कारण है कि उत्सव चल ही रहा था कि आप बिना सूचना दिये १२ फरवरी को अकस्मात् फ्रॉण्टियर मेल से अमृतसर चले गये।

वहाँ आपके भक्त-दम्पती कमला और लालचन्द भल्ला रहते थे, जो विशेष सम्पन्न न थे। फिर भी उनकी हार्दिक इच्छा थी कि गुरु महाराज हमारे यहाँ विवाह के अवसर पर उपस्थित रहें। उन्होंने आपको निमन्त्रण भी दिया। फिर भी सन्देह था कि बम्बई के धनिक-वर्ग को छोड़ आप वहाँ कैसे उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु अकस्मात् ठीक विवाह के दिन बिना सूचना दिये आपके पहुँच जाने से अमृतसर की जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने भेंट देने का आग्रह किया, पर आपने हँसते हुए कहा : 'आप घबड़ायें नहीं, जितना खर्च हुआ, बिना यत्न के ही जनता की ओर से मुझे भेंट में मिल गया है। पुत्र के विवाह में देना चाहिए, लेना नहीं।'

उधर श्री सर्वानन्दजी साधुवेला का महोत्सव पूरा कर अहमदाबाद आ गये और गुरु महाराज भी अमृतसर से जहाज द्वारा अहमदाबाद पहुँचे। सभी सन्त एवं भक्त इस चिन्ता में थे कि आप सन्तरामपुर राज्य के महाराज कृष्णकुमार के यज्ञोपवीत के अवसर पर १९ फरवरी को उपस्थित नहीं हो सकेंगे। कारण अमृतसर पहुँचने पर आपका शीघ्र आना कठिन होता है, क्योंकि वहाँ भक्तमण्डल ही इतना अधिक है। किन्तु आप श्री कृष्णकुमारजी की माँ साहब को वचन दे चुके थे। अपने वचन के अक्षरशः पालन में रघुकुल-मर्यादा आपका आदर्श रहा। १६ फरवरी को ही आप अहमदाबाद पहुँच गये। आपके पहुँचने से सर्वत्र आनन्द छा गया।

महाराज कृष्णकुमार का व्रतबन्ध

सन्तरामपुर राज्य के महाराज चिरंजीव कृष्णकुमार का यज्ञोपवीत-संस्कार १९ फरवरी १९५७ को वेद-मन्दिर में वैदिक विधि के अनुसार धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ। भूदेवों ने यज्ञोपवीत की वैदिक विधि सम्पन्न की और आपने अपने पावन हाथों यज्ञोपवीत पहनाकर उन्हें गुरु-मन्त्र से दीक्षित किया।

आजकल के युवक राजा यज्ञोपवीत पहनना कम पसन्द करते हैं। किन्तु आपके उपदेश से ऐसे अनेक राजकुमारों ने यज्ञोपवीत धारण किये हैं। जब आपकी प्रभावी वाणी से कोई भी आस्तिक श्रद्धालु यह सुन लेता है कि 'यज्ञोपवीत और गायत्री-ग्रहण त्रैवर्णिकों का अनिवार्य संस्कार है, उसके न करने पर वे 'व्रात्य' हो जाते हैं (जो हमारे शास्त्रों में अत्यन्त निन्दित शब्द है), तो फिर वह सर्वथा अनुपेक्षणीय इस कर्म से कभी प्रमाद नहीं करता। स्मरणीय है कि सन् १९४६ की जनवरी में देवगढ़ बारिया के वर्तमान महाराज जयदीप सिंह और उनके भ्राता कुँवर प्रदीप सिंह के भी यज्ञोपवीत-संस्कार आपके सान्निध्य में देवगढ़ बारिया में सम्पन्न हुए थे।

यज्ञोपवीत-धारण का गूढ़ रहस्य सयुक्तिक आपसे सुनने पर कितने ही नव-शिक्षित युवक श्रद्धापूर्वक यज्ञोपवीत-धारणार्थ उत्साहित हो चुके हैं और होते रहते हैं। आप उन्हें समझाते हैं कि 'यज्ञोपवीत ब्रह्म-महासूत्र का प्रतीक है। अन्तिम ध्येय के सूचनार्थ द्विजातियों के संस्कारों में इसे सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है। इस परम पावन ब्रह्मसूत्र के धारण से शरीर सदैव पवित्र रहता है। यह धारक को यश, बल, ज्ञान, वैराग्य, आत्मबुद्धि आदि गुणगणों को अनायास सुलभ करा देता है। अतः अन्तर्बाह्य शुद्ध्यर्थ एवं सर्वोत्कृष्ट साधन-प्राप्ति के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यावश्यक है।'

इस अवसर पर महाराज सन्तरामपुर की ओर से साधु-ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणा दी गयी।

फाल्गुन कृष्ण अष्टमी, गुरुवार को महाराज साहब का विवाह होनेवाला था। उस शुभ अवसर पर भी साग्रह आमन्त्रण पर गुरु महाराज मण्डलीसहित सन्त-रामपुर पधारे।

धर्मज में विष्णु-याग

गुरु महाराज सन्तरामपुर के महाराजा साहब का विवाह-महोत्सव सम्पन्न कर रावजीभाई गोवर्धनभाई पटेल-परिवार के आमन्त्रण पर मण्डली-सहित

२६ फरवरी को धर्मज पधारे। लगभग ५० सन्त वहाँ उपस्थित हुए। पण्डित विष्णुदेव सांकलेश्वर के नेतृत्व में और आपके तत्त्वावधान में सोमवार ४ मार्च को विष्णु-याग आरम्भ हुआ, जिसकी पूर्णाहुति ६ मार्च को हुई। बीच में ४ मार्च को वहीं आपके पावन हाथों नव-निर्मित धर्मशाला का उद्‌घाटन हुआ। इस पूरे उत्सव में सन्तों के प्रवचनों का कार्यक्रम विशेष उल्लेख्य रहा।

७ मार्च को गुरु महाराज धर्मज से अहमदाबाद आये। श्री सर्वानन्दजी को पैर में चोट आ जाने के कारण वे कुछ दिन वहीं रुके। फिर वहाँ से आप कार्य-विशेष से बम्बई आये।

उज्जैन का कुम्भ-पर्व

चैत्र कृष्ण १२शी संवत् २०१४ (गुरुवार ११ अप्रैल १९५७) को उज्जैन कुम्भ-पर्व के निमित्त गुरु महाराज उज्जैन पधारे। वहाँ बहुत विशाल छावनी बनायी गयी। सदैव की परिपाटी के अनुसार अन्न-क्षेत्र भी चालू हो गया। सन्तों एवं भक्तोंसहित करीब ५००० व्यक्तियों के निवास एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था का प्रबन्ध था।

इस अवसर पर उपस्थित भक्तों में निम्नलिखित लोग उल्लेख्य हैं: सर्वश्री महारानी पालीताना सीता बा, आरेछा की महारानी श्री कमला, माँ साहब तथा आनन्द कुँवर बा सन्तरामपुर, महारानी एवं महाराज कृष्णकुमारजी सन्तरामपुर, सपरिवार कलकत्ता-निवासी सेठ रामनारायणजी, नटवरलाल चिनाई, सपरिवार सेठ बालचन्दजी, गोविन्दराम सेऊमल, रायसाहब रूड़ाराम, श्री कौशल्या कोहली, देवगढ़ बारिया का राज-परिवार, लुधियाना के थापर-परिवार की बहनें—इन्द्र कौर, सोहनदेवी, देवकी माता आदि। गुरु महाराज की आज्ञा पर लेखिका भी इस अवसर पर उपस्थित थी। इस कुम्भ में अन्य कुम्भों की तुलना में जन-समुद्र अत्यधिक उमड़ पड़ा था।

गुरु महाराज का श्रौतमुनि-निवास-शिविर यहाँ का सर्वाधिक आकर्षण-केन्द्र रहा। समाचार-पत्र भी छावनी के सभी प्रमुख समाचारों को नियमतः प्रकाशित करते रहे। इस कारण इसका आकर्षण और भी बढ़ गया। मुख्यमन्त्री डाक्टर कैलाशनाथ काटजू और मालमन्त्री श्री मण्डलोईजी गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे थे। आपके साथ घण्टों उनकी ज्ञान-चर्चा चलती रही। श्री मण्डलोई तो घण्टे-भर तक पण्डाल में सानुराग आपका प्रवचन भी सुनते रहे।

भारत साधु-समाज का शिविर

श्री स्वामी सर्वानन्दजी के परामर्श से आपकी छावनी के सन्निकट ही भारत

साधु-समाज का भी शिविर लगा था। वहाँ के सम्मेलन में सभी सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित महात्माओं ने भाग लिया। ४ मई को केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी ने भी इसमें भाग लिया। नन्दाजी का निवास तो आपकी छावनी में ही सर्वानन्दजी के आवास के निकट एक कुटिया में था। वहाँ आप अपना प्रातःकालीन पूजा-पाठ आदि सम्पन्न किया करते और फिर साधु-समाज के अधिवेशन में भाग लेते। भारत साधु-समाज के सभी कार्यकताओं के भोजन का प्रवन्ध श्रौतमुनि-निवास-शिविर की ओर से ही होता रहा।

५ मई को सेठ गोविन्ददासजी आये। गोवध-निरोध, हिन्दीभाषा-प्रचार, राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण आदि पर गुरु महाराज के साथ उन्होंने गम्भीर मन्त्रणा भी की।

उज्जैन-कुम्भ का प्रथम स्नान वैशाख कृष्ण ४र्थी संवत् २०१४ (१८ अप्रैल १९५७) को हुआ। दूसरा स्नान वैशाखी सोमवती अमावास्या (२९ अप्रैल) को और तीसरा स्नान वैशाखी पूर्णिमा (१३ मई) को हुआ। इस दिन चन्द्र-ग्रहण भी था। कुम्भ के प्रमुख प्रवन्धक सन्त सर्वश्री ईश्वर मुनि, सन्तोष मुनि एवं श्री गोविन्दानन्दजी थे।

गुरु महाराज १४ मई को आबू चले गये। श्री सर्वानन्दजी हरिद्वार गये। कुम्भ के प्रवन्धक एवं अन्य सन्तजन कुम्भ-समारोह के वाद की सारी व्यवस्था पूरी कर आपके पास पहुँच गये।

आश्रम में महावीर-शंकर-मन्दिर की स्थापना

आबू से ५ जुलाई को गुरु महाराज अहमदावाद पधारे। उधर सर्वानन्दजी भी हरिद्वार, अमृतसर आदि का दौरा करते अहमदावाद आये। ८ जुलाई को कलकत्ते से श्री रामनारायणजी भोजनगरवाले वेद-मन्दिर, अखण्डानन्द-आश्रम में आये। उन्होंने यहाँ अपने स्वर्गीय पिता सेठ श्री अमरचन्दजी की पुण्य-स्मृति में श्री महावीर एवं भगवान् शंकर के मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर का नाम 'अमरेश्वर-मन्दिर' रखा गया।

२७ जुलाई १९५७ को गीता-पाठ का आयोजन हुआ और श्रावण शुक्ला नागपंचमी के शुभ दिन श्री हनुमान्जी एवं शंकर भगवान् के श्रीविग्रहों की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। श्री जगन्नाथ-मन्दिर के महन्त वयोवृद्ध वैष्णव महात्मा श्री नरसिंहदासजी के करकमलों से प्रतिमा का अनावरण हुआ। इस अवसर पर रामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदाय के नेता पण्डित श्री भागवताचार्य, श्री शंकराचार्य योगेश्वरानन्द तीर्थजी महाराज, सर्वश्री सेठ कस्तूरभाई लालभाई, पोपटलाल भाल-

किया, कानूभाई, मोतीलाल, मगनभाई, भीखाभाई, हरिगोपाल भाटिया आदि अहमदाबाद के प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे। मन्दिर का निर्माण-कार्य श्री पोपटलाल कण्ट्राक्टर ने सम्पन्न किया।

श्रीनगर में

अहमदाबाद से गुरु महाराज बम्बई पधारे। वहाँ से ट्रेन द्वारा पटानकोट आये और विमान द्वारा ९ अगस्त १९५७ को श्रीनगर पहुँचे। लेखिका एवं श्री नटवरलाल चिनाई आपके साथ थे। हवाई अड्डे पर सर्वश्री पुष्पाबहन जगदीश-चन्द्र मेहरा, विलायतीराम जेसीराम, गुरुसहायमल सहगल तथा जम्मूवाले श्री दयाल सिंह जवाहर सिंह स्वागतार्थ उपस्थित थे। श्री विलायतीराम जेसीराम ने आपको अपने बँगले में ठहराया। श्रीनगर में तीन दिन निवास हुआ।

श्रीनगर से आप पहलगाम आये। वहाँ लीडार नदी की रम्य-श्यामला भूमि में वैष्णवकोठी पर सेठ नटवरलाल रहे और और आप उसके पास ही श्री दयाल सिंह के मामा की कोठी में ठहराये गये। दयालसिंहजी सपरिवार सेवा में उप-स्थित थे। साथ में सर्वश्री ईश्वर मुनि, गोविन्दानन्द, सन्तोष मुनि, सूर्य मुनि एवं ब्रह्मदेवजी सन्तवृन्द था। श्री शिवप्रकाशभाई मनोहरलाल, विद्याबहन, श्रीमती हीरालाल एवं उनका परिवार सत्संग-निमित्त आपके साथ रहा।

यों तो लेखिका की यह काश्मीर-यात्रा चौथी बार रही। किन्तु उसे अब तक कभी अमरनाथ-यात्रा का अवसर नहीं आया था। श्री नटवरलाल चिनाई की इच्छा थी कि अमरनाथ-यात्रा की जाय। सर्वश्री सन्त गोविन्दानन्द, सन्तोष एवं सूर्य मुनि भी इसके लिए तैयार हो गये। गुरु महाराज तो पहले ही अमरनाथ-यात्रा कर चुके थे। वृद्धावस्था के कारण अब शरीर कुछ दुर्बल हो जाने से इस बार यह कठिन यात्रा का श्रम उठाना उचित नहीं माना गया। अतएव लेखिका भी अपने अनन्य आराध्य की सेवा में लगी रही। उसके लिए तो अमरनाथ या सर्वस्व गुरुचरण ही हैं। फिर भी अकस्मात् उन्हीं चरणों का उसे अमरनाथ-यात्रा का आदेश हुआ। विवशतः आदेश शिरोधार्य कर लेखिका ने ११ अगस्त १९५७ को यात्रार्थ प्रस्थान किया। साथ में अन्य भी १०-१२ भक्त जन थे। निर्विघ्न यात्रा कर तीसरे दिन सायंकाल सभी पुनः गुरुचरणों में वापस लौट आये।

पहलगाम में एक मास निवास रहा। शान्त सुरम्य वातावरण! चारों ओर से हिमाच्छादित धवल शिखर गगन को चूम रहे थे। उनके साथ ऊँचाई में स्पर्धा कर रहे वृक्षों की सघन छायाएँ और नीचे लीडार वैली को सफल करते लीडार

प्रपात (झरना) का शीतल प्रवाह अपूर्व स्वर्गीय सृष्टि की सर्जना कर रहा था। प्रकृति का सारा सौन्दर्य अहमहमिका से मानो सद्गुरु की सेवा में विनियुक्त हो अपने को कृतार्थ करने के लिए उतावला हो रहा था।

पहलगाम से मण्डली इच्छावल आयी। वहाँ भी एक सप्ताह निवास कर निसर्ग की लावण्यमयी सुषमा का आस्वाद लिया गया। बीच में एक दिन कुक्कड़नाग की यात्रा हुई। यह स्थान प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से अद्भुत है। इच्छावल से गुरु महाराज पुनः श्रीनगर वापस आये और वजीरबाग-स्थित श्री गुरुसहायमल सहगल की कोठी में ठहरे। सायंकाल कोठी के बाग में आपके ललित प्रवचन होते रहे। यहाँ भी विपुल संख्या में भावुक आपके वचनामृत से आप्यायित हुए।

जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् के 'श्रीचन्द्र-चिनार' स्थान पर १२५ रोट का प्रसाद चढ़ाया गया। जनता को प्रसाद-वितरण किया गया।

२४ सितम्बर, १९५७ को ज्ञान-सत्र (प्रवचन) की पूर्णाहुति हुई। इस अवसर पर श्री सहगल ने अपनी ओर से संगत को बूँदी का प्रसाद बाँटा गया। सहगल-परिवार के सभ्य श्री माताजी, भाई विश्वनाथ, इन्द्रनाथ, बलराम, उर्मिला, मलका, पुष्पा, इन्दुबाला आदि सभी ने भक्तिभाव से गुरु महाराज की सेवा की और सभी आपसे दीक्षित हो गये।

कश्मीर-राजमाता को दीक्षा

अपने पारिवारिक चिकित्सक काश्मीरी पण्डित डा० श्रीकण्ठ सिंहल के मुख से जम्मू-काश्मीर की महारानी श्री तारामाता ने गुरु महाराज की प्रशंसा सुनकर सभक्ति आपको राजमहल में आमन्त्रित किया। इस अवसर पर युवराज श्री कर्णसिंह एवं युवराज्ञी को भी आपके दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपके पावन दर्शन एवं उपदेश से महारानी साहिबा अत्यधिक प्रभावित हुईं। दूसरे दिन प्रातःकाल उनके अत्यन्त अनुरोध पर गुरु महाराज ने उन्हें दीक्षित किया। महारानी साहिबा ने ऐसे ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु को प्राप्त कर अपने अब तक के सत्कार्यों का सफल पुण्य-परिपाक माना।

काश्मीर-राज्य के साधु-भक्त सनातनधर्मी भावुक श्री श्यामलाल सर्राफ के आग्रह पर गुरु महाराज उनके बँगले पर भी पधारे। काश्मीर की क्षीरभवानी, गुलमर्ग आदि प्रमुख स्थानों की भी यात्रा हुई।

काश्मीर की यात्रा पूरी कर गुरु महाराज पहली अक्तूबर १९५७ को विमान द्वारा जम्मू पधारे। वहाँ श्री दयालसिंह जुहारसिंह के बँगले पर निवास हुआ। गीता-भवन एवं श्री रघुनाथ-मन्दिर में भी आपके प्रवचन हुए।

वहाँ से विमान द्वारा गुरु महाराज अमृतसर आ गये। ३ अक्तूबर १९५७, विजयादशमी को श्री शालिग्राम पन्नालाल के कारखाने का शिलान्यास था और तदर्थ उन्होंने आपसे अत्यन्त अनुरोध किया था।

अमृतसर से हरिद्वार होते हुए गुरु महाराज पहली नवम्बर १९५७ को बम्बई पधारे। श्री स्वामी सर्वानन्दजी भी अहमदाबाद से बम्बई पहुँच गये। ●

१५

लोक-संग्रह का अष्टम चरण

[संवत् २०१४ से २०१६ तक]

यों तो उदासीन-सम्प्रदाय आरम्भ से ही पञ्चदेवोपासना का प्रवर्तक और प्रचारक रहा है। इस माध्यम से वह भारतीय सगुणोपासना-क्रम में विभिन्न सम्प्रदायों के वीच सामञ्जस्य-स्थापन में एक अटूट कड़ी का काम करता आ रहा है, यह वात पिछले प्रकरणों में विस्तार से वर्णित है। किन्तु परम पूजनीय गुरु महाराज ने अपने लोक-संग्रह-प्रसंग में इसे सक्रिय रूप में बद्धमूल कर दिया। एक जमाना था, जव शैव लोग भगवान् शिव को ही सव कुछ मानते, वैष्णव भगवान् विष्णु को, तो शाक्त भगवती पराम्वा को ही। उपासक के लिए अपने उपास्य को सव कुछ मानना अनुचित नहीं। वास्तव में उपासना-धारा अखण्ड वनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु उसमें कभी-कभी अस्मिता वढ़ जाती है और एक उपासक दूसरे के उपास्य से दुराव, घृणा और द्वेष तक करने लगता है। हमारा मध्यकालीन धार्मिक इतिहास इसका दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण है। यह साम्प्रदायिक विद्वेष इस कोटि तक पहुँच जाता है कि उपासक उसीको सँजोने में उपासना के मूल लक्ष्य से ही कोसों दूर हो जाते हैं। ऊपर से प्रत्यवाय भी सिर चढ़ वैठता है। कारण अद्वितीय परव्रह्म की विभूति-विशेष शिव, विष्णु आदि किसी देव का अपमान करना उस परव्रह्म का ही अपमान करना है, जो उपासक का अन्तिम गन्तव्य स्थान वताया गया है।

उदासीन-सम्प्रदाय श्रौत-सम्प्रदाय होने से उसका कर्तव्य होता है कि इन समस्त मतभेदों का शमन कर एकेश्वरवाद की प्रस्थापना करे, जो वेद का चरम सिद्धान्त है। किन्तु वेद भी एकेश्वरवाद की स्थापना के प्रसंग में व्यवहार-दशा में वहुदेवतात्व का अपलाप नहीं करता। वह उन सवका परस्पर सामञ्जस्य वैठाता हुआ ही एकेश्वरवाद पर पहुँचता है। सगुण-उपासना के प्रसंग में इस गम्भीर वात पर विशेष ध्यान रखना उदासीन-सम्प्रदाय की मौलिक विशेषता है। पञ्चदेवोपासना की प्रतिष्ठापना और प्रसार करते हुए उसने इसे सफलता के साथ निभाया है। कहना होगा कि उसके पञ्चदेवोपासना के क्रम ने देश में पिछले

दिनों चलनेवाले उपास्य-कलह पर बहुत कुछ नियन्त्रण पाया और विभिन्न साम्प्रदायिक उपासकों को समय-समय पर एक मञ्च पर ला खड़ा कर दिया है। भारत के धार्मिक-जगत् के लिए इस सम्प्रदाय का यह बहुत बड़ा वरदान है।

गुरु महाराज ने इस सम्बन्ध में अब तक जो मौखिक उपदेश दिये, उन्हें सामूहिक रूप में साकार कर दिखाने का भगवान् का कुछ संकेत था। अब तक पृथक्-पृथक् विभिन्न देवों के प्रीत्यर्थ अनेक याग हुए, पर पञ्चदेवों का कोई सम्मिलित महायज्ञ कभी देखने को नहीं मिला। अतएव उस अन्तःप्रेरक ने गुरु महाराज के तपःपूत अन्तर में अकस्मात् इस संकल्प का उन्मेष कर दिया। यह घटना विगत काश्मीर-यात्रा के पूर्व की है। उन्होंने भी अपने भक्तों के समक्ष इसका संकेत कर दिया। फिर क्या था? तत्काल प्रमुख भक्तों के प्रयत्न से एक विराट् पञ्चदेव-महायज्ञ समिति संगठित हो गयी और उसके अध्यक्ष साधुवेला के महन्त श्री गणेशदासजी महाराज, कोषाध्यक्ष श्री मथुरादास (फर्म धनराजमल चेतनदास चावला) और उनके सहयोगी अमृतसर-निवासी श्री दौलतराम चावला चुने गये। उधर गुरु महाराज काश्मीर-यात्रा पर चले गये और इधर समिति इस आयोजन की रूपरेखा बनाने और योजना को क्रियात्मक रूप देने में जुट गयी।

समिति ने सेठ नटवरलाल चिनाई के प्रयत्न से इस यज्ञ के लिए बम्बई के धोबी-तालाब-स्थित क्रास-मैदान की विशाल भूमि प्राप्त कर ली। वेदान्त-मण्डल के सदस्य श्री हरिकृष्ण अग्रवाल, हरिभाई ड्रेसवाला, जे० एम० कामदार, भगवान्-दास कामदार आदि का पूर्ण सहयोग रहा।

समिति के निर्णयानुसार यज्ञस्थली का नामकरण 'श्रीचन्द्र-नगर' किया गया। वहाँ नगर-सुलभ सभी उपकरण जुटाये जाने लगे। पहली नवम्बर को गुरु महाराज के काश्मीर-यात्रा से लौटकर बम्बई आ जाने से कार्यकर्ताओं का उत्साह द्विगुणित हो उठा। श्री स्वामी सर्वानन्दजी भी अहमदाबाद से पहुँच गये और आयोजन के सफलतार्थ जुट गये। २४ नवम्बर तक भव्य यज्ञ-मण्डप, विशाल पण्डाल, छोलदारियाँ आदि तैयार हो गये। केवल पण्डाल पर ही ५० हजार रुपये खर्च हुए। यज्ञ-शाला, प्रवचन-भवन, अतिथि-निवास, कोटार, भण्डार, स्नानागार आदि की भी सुन्दरतम व्यवस्था हो गयी। नगर में प्रवेश करनेवालों को नगर की सारी गतिविधि का पता देने के लिए चुस्त पूछताछ-विभाग तैनात हो गया। २२ नवम्बर को प्रेस-कान्फरेंस हुई, जिसमें यज्ञ-समिति की ओर से प्रस्तुत यज्ञ की सामयिकता एवं महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया। सारी स्थिति से अवगत होने पर पत्रकारों ने इसके प्रचार में पूर्ण सहयोग देने का

आश्वासन दिया। अद्भुत आकर्षक और सर्वविध सुविधाओं से सम्पन्न नगर-रचना पर पत्रकार-बन्धु अत्यन्त प्रभावित थे।

वैसे तो इस महायज्ञ की सफलता के लिए पूरी बम्बई और देश के विभिन्न भागों के श्रीमान् वर्ग ने उल्लेख्य सहयोग दिया। उनसे न केवल आर्थिक सहयोग मिला, प्रत्युत शारीरिक और मानसिक सहयोग के साथ उदारतापूर्वक उन्होंने अपने बहुमूल्य उपकरण भी यज्ञ की सफलता के लिए सुलभ कर दिये। फिर भी निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेख्य हैं : सर्वश्री सेठ वालचन्द और उनके पुत्र जयकृष्णदास एवं लक्ष्मणदास, मूलचन्द उत्तमचन्दानी, लोकराम उत्तमचन्दादी, केवलराम, कृष्णराज ठाकरसी, जमनादास डोसा, लक्ष्मीचन्द चावला, लक्ष्मीचन्द नागपाल, पुरुषोत्तमदास पटेल, गोवर्धनभाई पटेल, अर्जुनदास दासवानी, गोविन्दराम तथा मुरलीधर सेऊमल, जीवनलाल तथा नटवरलाल चिनाई, सुन्दरदास नरसीमल, श्रीमती राजकुमारी मुकुन्दलाल पित्ती, श्रीमती कोकिलाबेन रणछोड़दास मेहता, रतनवहन फोजदार, गंगामाँ तथा उनकी सुपुत्री धीरेन्द्रवाला पटेल, जयकृष्ण माँ, माँ साहब सन्तरामपुर, राजकुमारी आनन्द कुँवर बा आदि।

मार्गशीर्ष शुक्ला ४र्थी संवत् २०१४ (२५ नवम्बर '५७) के शुभ दिन श्रीमद्भागवत-सप्ताह के साथ समारोह का श्रीगणेश हुआ। भागवत के मुख्य वक्ता थे, नड़ियाद के श्री कृष्णशंकर शास्त्री। अन्य वक्ताओं के अतिरिक्त १०८ जापक भी थे। संख्या-पूर्ति के बाद भी आगत कितने ही ब्राह्मणों को विमुख न लौटाकर जापकों में वरण कर लिया गया। इस तरह जापकों की संख्या २०० को पार कर गयी। सप्ताह-पारायण में कुल ३०८ ब्राह्मणों ने भाग लिया।

पञ्चदेव-याग २७ नवम्बर से प्रारम्भ हुआ। ज्ञातव्य है कि इस समष्टि-याग में क्रमशः सूर्य-याग, विष्णु-याग, सहस्रचण्डी-याग, महारुद्र-याग और गणपति-याग सम्मिलित हैं। महायज्ञ के निरीक्षक याज्ञिक-चक्रचूड़ामणि श्री विष्णुदत्त शास्त्री थे। पञ्चदेव-याग में करीब २०० ब्राह्मणों का वरण हुआ। इस तरह कुल मिलाकर ५०८ ब्राह्मणों का विशाल समूह यह धर्म-कार्य सम्पन्न कर रहा था।

महायज्ञ के साथ-साथ ज्ञान-सत्र भी अखण्ड और उन्मुक्त चलने लगा। देश के ख्यातिप्राप्त विद्वान्, व्याख्याता एवं सन्त-महन्तों के प्रवचन-पीयूष का पान करने के लिए प्रतिदिन एक लाख से अधिक जनता पूरे समय तक उपस्थित रहती। यज्ञ-दर्शनार्थ आनेवालों की संख्या की तो गणना ही नहीं ! बम्बई का धर्मानुरागी जन-समुद्र यहाँ दूसरी चौपाटी का दृश्य खड़ा कर रहा था। दिल्ली, अमृतसर, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, राजकोट, जयपुर, श्रीनगर, पूना, नासिक

आदि विभिन्न नगरों से भी अनेक भावुक दर्शक यज्ञनारायण के दर्शनार्थ पधारे थे। वम्बई के राज्यपाल एवं मन्त्रिगण भी समारोह में उपस्थित हुए।

ज्ञान-सत्र के लिए भारत के विभिन्न भागों से विद्वान्, व्याख्याता, सन्त-महन्त, मण्डलेश्वर एवं सभ्य जन आमन्त्रित थे, जो करीव ५०० की संख्या में उपस्थित हुए। इनमें निम्नलिखित कुछ नाम उल्लेख्य हैं :

सर्वश्री उदासीन-सम्प्रदाय के मण्डलेश्वर गुरुमण्डलाधीश रामस्वरूपजी शास्त्री, ओंकार मुनि, विद्यानन्दजी, कृष्णानन्दजी, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र ब्रह्मानन्दजी, कुलपति कृष्णानन्दजी, रतनदेवजी, स्वामी असंगानन्दजी, वुद्धिप्रकाशजी, देवप्रकाशजी, सुवेद मुनि, प्रीतम मुनि, शंकरानन्द एम० ए०, अमर मुनि एम० ए०, सत्यस्वरूप शास्त्री, वयोवृद्ध ज्ञानीजी महाराज, वैष्णव-सम्प्रदाय के मण्डलेश्वर भागवताचार्यजी, दशनामी सम्प्रदाय के मण्डलेश्वर भागवतानन्दजी, प्रेमपुरीजी, पूर्णानन्द आदि त्यक्त-दण्डि स्वामी अखण्डानन्दजी।

तपस्वी श्री तोतारामजी का निर्वाण-मण्डल प्राचीन ऋषि-मण्डल की स्मृति ताजी कर रहा था। प्रातःस्मरणीय उदासीन-सम्प्रदायभूषण, अभिनव-निर्वाण प्रीतमदास, तपस्वी वावा पूरणदासजी ने भी पधारकर यज्ञ की शोभा में चार चाँद लगा दिये।

जनता के अनुरोध पर पहली दिसम्वर को कालवादेवी से विराट् नगर-शोभा-यात्रा चल पड़ी, जिसमें गुरु महाराज एवं सभी सम्प्रदायों के मण्डलेश्वर, महन्त, तपस्वी, विद्वान् तथा असंख्य शिष्ट जन सम्मिलित थे। जुलूस लगभग दो मील लम्वा रहा। लोगों के सिर ही सिर दीख पड़ते। जुलूस प्रमुख वाजारों से गुजरता यज्ञ-भूमि श्रीचन्द्र-नगर में आकर विसर्जित हुआ।

लक्ष्मी के लाड़ले पुत्रों ने ब्राह्मण एवं सन्तों के इस अपूर्व सेवा-पर्व पर अपनी तिजोरियाँ खोल दीं और मुक्तहस्त से दान दे अनन्त सुकृत लूटा। प्रवन्धकों को आशा से अत्यधिक अन्नों के वोरे, चीनी की वोरियाँ, घी के टीन, फलों की पेटियाँ आदि सामग्री प्राप्त हुई। जनता की ओर से भेजी गयी यह भोजन-सामग्री ही लाखों कीमत की होगी। यज्ञ में एक दाता ने अकेले एक लाख पचास हजार का गुप्त दान दिया। दान-पेटी से भी सौ और हजार के नोट निकला करते। १२ दिन समष्टि-भण्डारे हुए, जिनमें न केवल ब्राह्मण और सन्तों ने, अपितु असंख्य भक्तों ने भी प्रसाद पाया। दरिद्र-नारायण का भी यथेष्ट सन्तर्पण किया गया। कितने ही प्रतिष्ठित भक्त जनों ने सन्तों एवं ब्राह्मणों के आवागमन के लिए सैकड़ों मोटरें खड़ी कर दी थीं। श्री सेठ वालचन्दजी की तीन मोटरें तो लगातार दिन-रात चक्कर काटतीं।

सेठ जीवनलाल चिनाई ने एक स्टेशन-वैगन का भी प्रवन्ध कर दिया था। इसके अतिरिक्त समिति की ओर से वस आदि सवारियों का खासा प्रवन्ध था।

महायज्ञ की पूर्णाहुति ५ दिसम्वर १९५७ को हुई। यज्ञ के अन्त में निमन्त्रित साधु एवं ब्राह्मणों का वस्त्र, दक्षिणा, मार्ग-व्यय आदि से यथेष्ट सम्मान किया गया। इस महायज्ञ में नकद साढ़े तीन लाख रुपये खर्च हुए। दूर से आनेवाले कितने ही अतिथियों को जहाँ उपहार में १०१) दिया गया, वहीं उनका मार्ग-व्यय ५००) चुकाया गया। गुरु महाराज के आदेश से समिति के सदस्यों ने अतिथियों की सत्कार-सम्भावना में पूरी उदारता से काम लिया। किसी तरह का संकोच या वित्तशाठ्य नहीं होने दिया। उन्हें मुँहमाँगी वस्तुएँ दी गयीं। किसी साधारण अतिथि ने प्रथम श्रेणी का टिकट माँगा, तो वह भी उसे विना ननु-नच के दे दिया गया। कई अतिथि विमान द्वारा भी वापस भेजे गये। उदासीन पञ्चायती वड़े अखाड़े की जमात दूर रहने के कारण वम्वई न पहुँच सकी। उसके पास हाथी, घोड़े, ऊँट आदि हुआ करते हैं। सवको लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर इतने शीघ्र पहुँचना उनके लिए सम्भव नहीं होता। अतएव जमात के चारों महन्तों एवं ५० साधुओं की पूजा, सम्मान वहीं (गुजरात के नड़ियाद नगर-स्थित सन्तराम-मन्दिर में) भेज दिया गया, जहाँ वे लोग ठहरे थे।

सभी सम्प्रदायों के मण्डलेश्वर तथा जो भी सन्त, विद्वान्, श्रीमान् इस महायज्ञ का दर्शन कर गये, उन्होंने गुरु महाराज के अद्‌भुत तपःप्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनका अभिमत था कि महायज्ञ तो भारत में होते ही हैं, पर ऐसा महायज्ञ 'न भूतो न भविष्यति' था। आपके अद्‌भुत प्रेम ने सभी सम्प्रदायों के मण्डलेश्वरों को एक मञ्च पर ला विठाया। सभीका समानरूपेण यथोचित सम्मान किया गया। शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य और सौर सभी सम्प्रदायों के उपासकों को एक उपासना-मण्डप में विठाकर समष्टि-रूप पञ्चदेव-उपासना को साकार कर दिखाना सचमुच एक ऐतिहासिक घटना है। आदि से अन्त तक पूरे आयोजन में सर्वत्र शान्ति, सौमनस्य और प्रसन्नता का वातावरण वना रहना प्रस्तुत महायज्ञ की अपनी विशेषता थी।

समाचार-पत्र नित्य वड़ी प्रमुखता के साथ यज्ञ के सभी महत्त्वपूर्ण समाचार प्रकाशित करते। प्रकासित समाचारों की कटिंगें इकट्ठी की गयीं, तो वड़ी वड़ी दो जिल्दें वन गयीं। सेठ वालचन्दजी के सुपुत्र लछमनदासजी ने यज्ञ के विभिन्न प्रसंगों की फिल्में भी तैयार करवायीं, जो आज भी उनके पास हैं और कभी-कभी वे सहर्ष भावुकों को दिखाते हैं। मण्डल आदि के चित्रों का आकर्षक अलवम भी उनके पास है, जो एक वृहत् पुस्तक के आकार का वन गया है।

सचमुच यह यज्ञ अपने ढंग का बेजोड़ रहा, जिसे देखने का सौभाग्य इन पंक्तियों की लेखिका को भी प्राप्त है। इसका यथास्थित वर्णन तो एक स्वतन्त्र पुस्तक का विषय है।

इतना सारा होते हुए भी गुरु महाराज 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' पूर्ण अलिप्त रहे। यों मुख्य राजकीय अधिकारियों के साथ बैठने, परिचय करने आदि की लोगों में स्वाभाविक उत्कण्ठा पायी जाती है। किन्तु अलौकिक विभूति हमारे गुरु महाराज जिस दिन राज्यपाल एवं प्रमुख मन्त्रिगण पधारे थे, उस दिन कार्य-कर्ताओं के बार-बार अनुरोध करने पर भी मञ्च पर नहीं आये।

वैसे भी आप यज्ञ-मण्डप के निकट बनी अपनी कुटिया में प्रतिदिन केवल एक-दो घण्टे के लिए आया करते और पुनः अपने निवास, सेठ बालचन्द के बँगले पर वापस चले जाते। आपके श्रीचन्द्र-नगर पहुँचते ही दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ पड़ती। आप भाषण-मञ्च पर भी कम ही उपस्थित होते थे। पूरे आयोजन में केवल एक दिन सभी भक्तों और मित्र मण्डलेश्वरों के अत्याग्रह पर आपने वहाँ यज्ञ-महिमा पर प्रवचन किया। श्रद्धालु जनता प्रतिदिन नियत घण्टे-दो घण्टे के अल्प निवास-काल में ही आपके चरणों पर कभी दस-दस हजार, तो कभी बीस-बीस हजार भेंट चढ़ा जाती। पञ्चभूत-विजयी योगी के घर सारी सिद्धियों के पानी भरने की बात महर्षि पतञ्जलि जाने कब की कह चुके हैं! गुरु महाराज के चरणों पर जो कुछ चढ़ता, तत्काल वह समिति के कोषाध्यक्ष को सौंप दिया जाता और आप सब उपाधियों से मुक्त हो पुनः सेठ बालचन्दभाई के बँगले पर वापस चले आते।

सेठजी के बँगले पर भी गुरु महाराज के साथ करीब ५० प्रमुख प्रतिष्ठित महात्मा ठहरे हुए थे। उन सबकी सेवा के लिए अनेक भक्तों तथा स्वयं लेखिका की भी कार सदैव प्रस्तुत रहती। बालचन्दभाई ने इन सन्तों की सभक्ति सेवा की और यज्ञ में भी दिल खोलकर सहायता की। आपने पहले से ही कह दिया था कि सभीके भोजन का व्यय मेरी ओर से हो, फिर वह कितने ही हजार क्यों न हों। किन्तु जनता की अत्यधिक धर्म-भावना के कारण इतने भण्डारे हुए कि बालचन्दभाई को अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए कठिनाई से केवल एक ही दिन मिल पाया।

गुरु महाराज के दिव्य तपोबल के साथ ही व्यावहारिक रूप में इस अद्भुत महायज्ञ के प्रमुख सूत्रधार थे श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज। आपको इस कार्य में समिति के अध्यक्ष साधुबेला के महन्त श्री गणेशदासजी महाराज के अतिरिक्त सर्वश्री शंकरानन्दजी, सत्यस्वरूप शास्त्री और रामस्वरूपजी का भी नितान्त स्तुत्य

सहयोग मिला। मण्डली के सभी सन्तों ने यज्ञ में पधारे अतिथियों का श्रद्धा-भक्ति के साथ सेवा-सत्कार किया, जिनमें सर्वश्री ईश्वर मुनि, गंगोत्री-निवासी, कुम्भों के प्रवन्धक दयाल मुनि, वीतराग ब्रह्मदेवजी, गोविन्दानन्दजी, सर्वज्ञ मुनि, सन्तोष मुनि, रमेश मुनि आदि सन्तों के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

ओम्प्रकाश-बँगले का ट्रस्ट

पञ्चदेव-महायज्ञ के शुभ अवसर पर सन्तरामपुर को माँ साहव वम्बई पधारी थीं। इसी समय स्वयं इच्छा न रहते हुए भी माँ साहव के अत्यधिक अनुरोध पर गुरु महाराज ने उनका नासिक-स्थित ओम्प्रकाश-बँगला स्वीकार कर लिया और २३ दिसम्वर को उनका सार्वजनिक ट्रस्ट स्थापित कर दिया।

महायज्ञ के विराट् आयोजन से श्री स्वामी सर्वानन्दजी एवं मण्डली के सन्त अत्यधिक श्रान्त हो गये थे। अतएव ट्रस्ट होने के दूसरे ही दिन २४ दिसम्वर को सन्तरामपुर की माँ साहव की प्रार्थना पर गुरु महाराज मण्डली-सहित नासिक-स्थित ओम्प्रकाश-बँगले पर विश्रामार्थ पहुँचे।

नासिक के विश्राम के वाद गुरु महाराज वम्बई, अहमदावाद होते हुए २७ जनवरी को दिल्ली पधारे। वहाँ आप श्री किशनचन्द वधवा की कोठी में ठहरे। स्थानीय अजमल खाँ पार्क में प्रातः-सायं आपके प्रवचन होते रहे, जिनसे प्रतिदिन हजारों की संख्या में जनता लाभ उठाती रही। १३ फरवरी को पण्डाल में तत्कालीन केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी भी पधारे थे। सामान्य धार्मिक सत्संग में इतनी विराट् जन-उपस्थिति देख आश्चर्यचकित होते हुए उन्होंने कहा : 'अभी जनता में धर्मानुराग है, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। सामयिक, राजनैतिक सभाओं से भी अधिक भीड़ इस आध्यात्मिक सभा में देख सचमुच मुझे भारतीयों की धर्म-निष्ठा पर गर्व हो रहा है।'

वृन्दावन में भागवत-सप्ताह

विगत सन् १९५७ में ही गुरु महाराज के प्रमुख भक्त श्री गोविन्दराम और मुरलीधर सेऊमल की माता श्री खेमीवाई का स्वर्गवास हो गया था। दोनों वन्धु उनकी पावन स्मृति में भागवत-सप्ताह का संकल्प किये थे। किन्तु वड़े भाई श्री मुरलीधरजी के आवश्यक कार्यवश पाकिस्तान चले जाने से इस कार्य में विलम्ब हो रहा था। श्री गोविन्दभाई उनकी प्रतीक्षा में थे। उनके भारत पहुँचते ही गोविन्दभाई अपने भ्राता श्री मुरलीधर के साथ सपरिवार, अपनी दोनों वहनों, पार्वती एवं लक्ष्मी को लेकर वृन्दावन पहुँचे और गुरु महाराज को भी वहाँ पधा-

रने का सविनय अनुरोध किया। तदनुसार आप अपनी मण्डली-सहित १८ फरवरी को वृन्दावन पधारे।

श्रौतमुनि-निवास, वृन्दावन में संवत् २०१४ की फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् से माता श्री खेमीवाई की पुण्य-स्मृति में बन्धुद्वय ने श्रीमद्भागवत का सप्ताह कराया, जिसकी पूर्णाहुति फाल्गुन शुक्ला ७मी को हुई।

तदनन्तर वृन्दावन-आश्रम का ऐतिहासिक होली-उत्सव सम्पन्न कर हरिद्वार, ऋषिकेश होते हुए १८ मार्च को गुरु महाराज अमृतसर पधारे। वहाँ राम-धाम, शिव-मन्दिर में निवास हुआ। श्री लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर, सरोवर-तट पर वेद-भवन में प्रवचन प्रारम्भ हुआ।

अमृतसर में पुनः धन-वृष्टि

संवत् २०१५ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान भक्तों के साथ अमृतसर के दुर्ग्याना-सरोवर में हुआ। गुरु महाराज वहीं ठहर गये और स्वामी श्री सर्वानन्दजी वहाँ से ११ अप्रैल को हरिद्वार चले गये। उनके आग्रह पर भी आप हरिद्वार नहीं गये, कारण वर्षों से अधूरा एक कार्य पूरा करने का आपका निश्चय हो गया था। दुर्ग्याना के वेद-भवन को दरवाजे नहीं लगे थे। गैलरी को जंगला भी नहीं था। प्रतिवर्ष थोड़ा-थोड़ा काम कर दुर्ग्याना-कमेटी के सदस्य उसे पूरा करने के प्रयत्न में लगे थे, पर काम पूरा नहीं हो रहा था।

इन दिनों गुरु महाराज संस्थाओं के कार्यों में विशेष रुचि नहीं रखते थे। कुछ वर्षों से आपने यह सारा कार्य श्री सर्वानन्दजी को ही सौंप दिया था। फिर भी अपने हाथों लगाये वेद-भवन-वृक्ष को मुरझाते देख अपने कृपा-वारि से सिंचित कर हरा-भरा कर देने का संकल्प अकस्मात् जाग उठा।

फिर क्या था ? तीन दिन प्रवचन होते ही कुछ वर्ष पूर्व जैसी पुनः धन-वृष्टि होने लगी। सेठ राधाकृष्ण सर्वदयाल के भाई शाहजादावाले ने अपने बन्धुओं के परामर्श से जंगला लगाने का वचन दिया। जंगले का आनुमानिक व्यय ७ हजार पड़ रहा था। उदार-हृदय राधाकृष्णजी ने कहा कि 'जंगला बनवाया जाय, जितना भी खर्च पड़े, दिया जायगा।' एक ही दिन में शेष १३ हजार रुपये भी मञ्च पर संगृहीत हो गये।

तुरन्त गुरु महाराज ने जनता के बीच घोषणा करवा दी कि 'वेद-भवन के लिए २० हजार रुपयों की आवश्यकता थी, वह पूरी हो गयी। अब किसीका एक भी पैसा नहीं लिया जायगा। जिन्होंने जेब से रुपये-नोट निकाले हों, वे पुनः उन्हें जेब में डाल लें।' आपने उपस्थित जनता से यह भी कहा कि 'कल वैशाखी

का महान् पर्व है। दुर्ग्याना-सरोवर में, जिसमें भगवान् लक्ष्मी-नारायण की कृपा से सब तीर्थों का निवास है, मेरे साथ सामूहिक स्नान करें।'

वैशाखी के दिन प्रातः हजारों की संख्या में स्नानार्थियों का ताँता लग गया। सभीने आपके साथ सरोवर में स्नान कर अपने को कृतार्थ माना। इस अवसर पर अपने संक्षिप्त भाषण में गुरु महाराज ने आदेश दिया कि 'उचित तो यह है कि आप अमृतसर-निवासी प्रतिदिन सरोवर में स्नान करें। किन्तु यह न सध सके, तो दिवाली, होली, रामनवमी, वैशाखी, जन्माष्टमी, शरत्-पूर्णिमा आदि पर्वों पर तो अवश्य यहाँ स्नान किया जाय। गंगा-दशहरा की तरह शरत्-पूर्णिमा इस तीर्थ के आविर्भाव की तिथि है। उस तिथि का स्नान सर्वाधिक महत्त्व का है।'

सोलन में वीर-सन्तान की प्रशस्ति

अमृतसर से गुरु महाराज १५ अप्रैल को सोलन पधारे। सर्वश्री लज्जामामी, श्रीमती मुन्शीराम ग्रोवर, पुष्पा सिकरी आदि आपके श्रद्धालु भक्तों ने वहाँ अपने स्वराज्य-भवन में आपको ठहराने की व्यवस्था पहले से ही कर रखी थी। १० जून तक आपका वहाँ निवास हुआ। सर्वश्री स्वामी कृष्णानन्दजी, वैद्य दयानन्दजी, सत्यस्वरूप शास्त्री आदि १५ व्यक्ति आपके साथ थे। कोठी में कलकत्ता आदि से कई परिवार आ गये थे। कुल मिलाकर ४५ सदस्य थे। उपर्युक्त बहनों ने सबका भाव-भीना आतिथ्य किया। श्री गोविन्दराम सेऊमल का परिवार भी बम्बई से पहुँच गया था।

गुरु महाराज के दर्शनार्थ सोलन-नरेश श्री दुर्गासिंह और पंजाब-केसरी रणजीत सिंह के कमाण्डर हरिसिंह नलवा के पौत्र भूतपूर्व डी० सी० बलवन्त सिंह भी आये थे। सोलन के राजा साहब तो आपके पूर्व-परिचित थे ही। वीर पुरुष के वंशधर डी० सी० साहब से भी मिलकर आपको परम सन्तोष हुआ। आपने उनकी प्रशस्ति में कहा :

'मुझे आपसे मिलकर विशेष प्रसन्नता इसलिए हुई कि आप उस धार्मिक वीर-पुरुष की सन्तान हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम से हजारों वर्षों से हो रहे विदेशी आक्रमणों का प्रवाह ही बदल डाला। पहले यही भय होता था कि सिकन्दर, बाबर, अहमदशाह, नादिरशाह भारतवर्ष पर ससैन्य आक्रमण के लिए आ रहे हैं। किन्तु अब विदेशियों को चिन्ता होने लगी कि कहीं महाराजा रणजीत सिंह, हरिसिंह नलवा, फूलसिंह, अकाली राजा गुलाबसिंह, राजा ध्यानसिंह डोंगरे के हम पर आक्रमण न हो जायें।'

डी० सी० साहब गुरु महाराज द्वारा की गयी वीर-प्रशस्ति से गद्गद हो उठे और अपने को धन्य-धन्य मानने लगे। आपके हृदय में ज्ञानी और भक्तों के समान वीर-पुरुषों के प्रति भी अटूट आदर पाया जाता है। आपके अन्तर में वीर-भूमि पुण्यस्थली पूना, शिवाजी के दुर्ग प्रतापगढ़, सिंहगढ़ आदि की यात्रा का संकल्प बना रहता है। आप चाहते हैं कि 'भारत की वीर-भूमि मेवाड़ के चित्तौड़गढ़ का कब दर्शन होगा।'

भगवान् भक्त के वश में

सोलन में ही डाक्टर रघुवंश बहादुर माथुर ने गुरु महाराज के पास सन्देश भेजा कि 'राम-धाम, हरिद्वार में श्रीमद्भागवत का सप्ताह करना चाहता हूँ। आपसे सानुरोध नम्र प्रार्थना है कि इस शुभ कार्य में उपस्थित हो हमें कृतार्थ करें।' किन्तु आपने इसे स्वीकार नहीं किया। भक्त की प्रकृति भी बड़ी कोमल हुआ करती है। वह सदा सतर्कता के साथ यही प्रयत्न करता है कि मेरी किसी भी क्रिया से मेरे इष्टदेव को किंचित् भी कष्ट न पहुँचे। आपको कष्ट से बचाने के लिए डाक्टर माथुर ने अपना यह आग्रह त्याग दिया। किन्तु स्वामी सेवक के, भगवान् भक्त के आग्रह-हीन, निष्काम प्रेम से पिघल उठे। सन्त-मण्डल के साथ बिना सूचना दिये ही हरिद्वार पहुँच गये। डाक्टर साहब, उनकी माताजी और परिवार के हर्ष का ठिकाना न रहा। १२ जून को आपके सान्निध्य में सप्ताह की पूर्णाहुति हुई।

उधर स्वामी सर्वानन्दजी गुरु महाराज के आदेशानुसार भक्तवर भगवानदास एवं पुष्पावहन कामदार के सुपुत्र चि० विक्रम भाटिया के उपनयन-संस्कार में भाग लेने के लिए हरिद्वार से बम्बई चले गये। उनका हार्दिक आमन्त्रण होने पर भी गर्मी के कारण आप स्वयं वहाँ नहीं पहुँच सके। गुरुवार २४ अप्रैल १९५८ को चि० विक्रम का उपनयन-संस्कार सविधि सम्पन्न कर पुनः वे हरिद्वार वापस आ गये और डाक्टर माथुर के सप्ताह तक वहीं रहे। फिर इन्दौर होते हुए अहमदाबाद पहुँचे। गुरु महाराज १० जुलाई तक हरिद्वार में ही रहे।

१६ जुलाई को गुरुपूर्णिमा-उत्सव पर गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। लेखिका भी दो दिन पूर्व बम्बई से अहमदाबाद पहुँच गयी थी। प्रतिवर्षानुसार शिष्यों एवं भक्तों ने भक्ति-श्रद्धा के साथ गुरु-पूजन किया। उत्सव के बाद आप बम्बई आ गये और सेठ बालचन्दजी के यहाँ ब्रीचकैण्डी-स्थित मेघराज-भवन में ठहरे। श्री सर्वानन्दजी ने अहमदाबाद में ही चातुर्मास्य किया।

सुदर्शन मुनि का स्वर्गवास

कुछ दिनों वाद गुरु महाराज पूना में रायवहादुर नारायणदास के यहाँ पधारे। १ली अगस्त से २० सितम्वर तक वहीं रहे। इस वीच १२ सितम्वर १९५८ को आपके प्रमुख शिष्य एवं सर्वानन्दजी के सहपाठी श्री सुदर्शन मुनि का पटियाला के सन्निकट गंघा ग्राम में स्वर्गवास हो गया। यह दुःखद समाचार श्री सर्वानन्दजी के पत्र से आपको पूना में मिला। इस प्रसंग में 'दुःखेष्वनुद्विग्न-मनाः' का गीता का आदर्श आपमें साकार देखते वनता था!

डलहौजी में

सेठ नटवरलाल चिनाई ने गुरु महाराज से अपने साथ डलहौजी हिल-स्टेशन चलने की प्रार्थना की। किन्तु आप आकस्मिक कार्यवश वहाँ विलम्व से पहुँचे। लेखिका भी गुरु महाराज के साथ हो ली। प्रथम अमृतसर में राम-धाम-आश्रम में कुछ दिन ठहरना हुआ और वहाँ से सभी लोग डलहौजी पहुँचे। भक्तवर भाई नटवरलाल के परम मित्र श्री किशनचन्द सावलानी ने वहाँ गुरु महाराज की विशेष सेवा की। पुष्पा टण्डन ने अपनी लाल कॉटेज कोठी में आपके निवास को व्यवस्था की। अमृतसर से किशनचन्द सावलानी की कार द्वारा हम लोग डलहौजी पहुँचे।

चुम्बा में शिला-दर्शन

डलहौजी से २० मील दूर रावी के तट पर चम्वा नामक एक ऐतिहासिक नगरी वसी है। वहाँ जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् से सम्वद्ध एक दिव्य ऐतिहासिक शिला है। एक दिन प्रातःकाल श्री किशनचन्द सावलानी की कार में गुरु महाराज के साथ हम लोग इस शिला के दर्शनार्थ पहुँचे। आपके श्रीमुख से आचार्य श्रीचन्द्र के अनेक दिव्य चमत्कारों का वर्णन सुना था। अतएव अनायास यह अवसर प्राप्त होने से उत्साह और आनन्द द्विगुणित हो उठा। सद्गुरु के साथ इस पवित्र शिला के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होने पर लेखिका को जो आत्मतुष्टि हो रही थी, वह अवर्णनीय है। गुरु महाराज के श्रीमुख से सुना इस शिला का संक्षिप्त इतिहास निम्नलिखित है।

'चल री शिला सामने पार!'

एक दिन की वात है! सूर्योदय के पूर्व भगवान् श्रीचन्द्राचार्य अपने एक परम शिष्य के साथ सामने पार जाने के लिए रावी-तट पर पधारे। किनारे पर

एक नौका खड़ी थी, जिसमें एक ही यात्री सवार था। उसके निकट खड़े मल्लाह से भगवान् ने कहा : 'मुझे पार उतार दो।'

नाविक ने व्यंग्य कसते हुए कहा : 'स्वामीजी, आप तो रघुकुल-दीपक भगवान् श्रीराम के वंशधर हैं न ? सुना है, राम-नाम से पत्थर भी तैर जाते हैं। फिर आपको नाव की क्या आवश्यकता ?' नाविक के कथन में श्रीराम की सामर्थ्य के प्रति संशय की स्पष्ट छाया थी।

भगवान् सोचने लगे—यदि इसी समय इस संशयालु का समाधान न किया गया, तो श्रीराम के प्रताप और गौरव पर धूमिल छाया पड़ने की आशंका है। तत्काल उन्होंने जिस शिला पर खड़े थे, उसे ही आदेश दिया : 'चल री शिला सामने पार !'

कहने की देर थी कि धनुर्मुक्त राम-वाण की तरह शिला देखते-देखते परले पार पहुँच गयी। भगवान् उससे उतरे और चम्वा के घने वन में अदृश्य हो गये। शिष्य, यात्री और मल्लाह ठक-से देखते रह गये।

श्री नटवरलाल चिनाई, किशनचन्द सावलानी, लेखिका और ५-६ गृहस्थ एवं सन्त मिलाकर कुल १५ व्यक्ति गुरु महाराज के साथ थे। आपके आदेशानुसार श्री ईश्वर मुनि ने भगवान् श्रीचन्द्र को भोग लगाने के लिए घर से रोट-प्रसाद तैयार करवा लिया था। सभी लोग चम्बा-नरेश के मन्त्री भाई देशराज की कोठी में पहुँचे। डलहौजी से पिता के पत्र द्वारा सूचना पाकर उन्होंने पहले से ही अतिथियों के निवास का पूर्ण प्रवन्ध कर रखा था। महापुरुष की चरण-रेणु से अपना भवन पवित्र होने के सौभाग्य से देशराज-दम्पती परम प्रसन्न थे। उन्होंने सभक्ति सबका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर वे सबको श्रीचन्द्र-मन्दिर ले गये। वहाँ प्रथम गुरुदेव ने अपने पूज्य आचार्य की अर्चना की। तदनन्तर अन्य सभीने पूजा कर भोग चढ़ाया। आरती के बाद सभी उपस्थित जनों को रोट-प्रसाद बाँटा गया।

इस दिव्य प्रसंग से सभी लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा। जब कि वृत्ति-विहीन आराध्यचरणों के अन्तर का आनन्द-सागर ऊफान भर रहा था, तो अन्य लोगों की वात ही क्या ? गुरु महाराज ने भक्तों से कहा : 'जब वर्षों पूर्व शिला का दर्शन किया था, तो यह अधिक ऊपर थी। अव धीरे-धीरे भूगर्भ में धँसती चली जा रही है। फिर भी जब तक आप जैसे अनन्य प्रेमी श्रद्धालु भक्त इस धरा-धाम पर रहेंगे, इस पवित्र शिला का दर्शन होता ही रहेगा।'

वहाँ से घर वापस आने पर भाई श्री देशराज ने विविध स्वादिष्ट वस्तुओं के भोजन द्वारा सवका सत्कार किया। दोपहर में विश्राम कर सायंकाल उनके

साथ विभिन्न मन्दिरों के दर्शन किये गये। यहाँ श्री राधा-कृष्ण, श्री चक्रगुप्तेश्वर, श्री गौरी-शंकर, श्री लक्ष्मी-दामोदर आदि के अति प्राचीन और कलापूर्ण मन्दिर हैं।

व्यालू (रात्रि-भोजन) के बाद श्री देशराजभाई ने अपने जीवन की कतिपय आध्यात्मिक अनुभूतियाँ सुनायीं। उन्होंने गुरु महाराज से १-२ दिन और ठहरकर कुछ सत्संग-लाभ कराने की प्रार्थना की। किन्तु सभीको अपने-अपने कई अत्यावश्यक कार्य होने से रुकना संभव न था। दूसरे ही दिन प्रातःकाल पुनः मोटर से सभी डलहौजी वापस आ गये।

एक मास डलहौजी हिल-स्टेशन पर विश्राम कर गुरु महाराज ३ नवम्बर को अमृतसर पधारे। मण्डी-निवासी आपके परम भक्त-दम्पती श्री यादव सिंह वजीर और श्रीमती शाकम्भरी देवी के आमन्त्रण पर लेखिका उनके पास मण्डी गयी। वहाँ से बिजौरा, कुल्लू एवं मनाली भी हो आयी। मनाली सुन्दरतम शान्त पर्वतीय प्रदेश है।। तीन दिन वहाँ ठहरकर जोगीन्द्रनगर होते हुए वह पठानकोट से वापस बम्बई पहुँच गयी। गुरु महाराज अमृतसर में ही रह गये।

वेदान्त-सम्मेलन

वेदान्त-सम्मेलन के सर्वस्व, वेदान्त-केसरी सन्त निर्मलजी, सम्मेलन के मन्त्री श्री जयकृष्ण ज्ञानीजी तथा स्वागताध्यक्ष सेठ राधाकृष्ण शाहजादा के विशेष अनुरोध पर गुरु महाराज ने अमृतसर में उनके विराट् वेदान्त-सम्मेलन में भाग लिया। श्री सर्वानन्दजी भी अहमदाबाद से दिल्ली होते हुए ८ नवम्बर को अमृतसर पहुँच गये। सम्मेलन में गुरु महाराज का विद्वत्ता-प्रचुर उल्लेख्य भाषण हुआ, जिससे पंजाब विधान-सभा के अध्यक्ष सरदार गुरुदयाल सिंह ढिल्लो, डिप्टी डिफेन्स मिनिस्टर सरदार सुरजीत सिंह मजीठिया विशेष प्रभावित हुए। उन्होंने अपने सेक्रेटरी को आपके पास यह सन्देश देकर भेजा कि 'यदि कल भी महाराज का भाषण होनेवाला हो, तो वह किस समय होगा, यह सूचित करने की कृपा करें, ताकि उसका भी अलभ्य लाभ उठाया जा सके।'

आपने उत्तर में सूचित किया कि 'आजकल मैं अधिक भाषण नहीं देता। केवल कतिपय भक्तों के अनुरोध पर यहाँ एक दिन भाषण करना पड़ा। मैं नहीं चाहता कि आप जैसे स्नेही देशभक्तों को निराश किया जाय। किन्तु क्या करूँ ? अब वृद्धावस्था के कारण शरीर साथ नहीं दे रहा है।'

आपके शिष्य श्री सर्वानन्दजी को वेदान्त-सम्मेलन की एक बैठक का अध्यक्ष बनाया गया था। अध्यक्ष-पद से उनका भी अद्वैत-सिद्धान्त पर ओजस्वी, मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक भाषण हुआ।

अद्वैत-सिद्धान्त पर गुरु महाराज के भाषण की शैली अपना अलग महत्त्व रखती है। आप अत्यन्त सुबोध भाषा में कठिन-से-कठिन विषयों को रोचक और व्यावहारिक अनेक उदाहरणों द्वारा हृदयंगम करा देते हैं। एक नमूना देखिये।

वेदान्त को व्यावहारिक बनाइये !

गुरु महाराज ने कहा : 'वेदान्त केवल वाचिक ही नहीं होना चाहिए। उसे व्यावहारिक बनाने में देश, जाति एवं विश्व का कल्याण है। विश्व में अद्वैत का विकास-क्रम उदरम्भरी (देहात्मवादी) न होकर क्रमशः परिवार-सेवक, जाति-सेवक एवं ब्रह्माण्ड-सेवक बनने में है। साधारण जन का दायरा, परिधि अति संकुचित रहती है। वह केवल शरीर को ही आत्मा मानकर उसके भरण-पोषण में लगा रहता है। उसकी दृष्टि साढ़े तीन हाथ की सीमित देह तक ही केन्द्रित रहती है। उसकी तुलना चार अंगुल के वर्तुल में घूमनेवाले 'लट्टू' से की जा सकती है। इसे मिडिल का छात्र कहा जा सकता है।

फिर वह विवाह करता और सन्तान पैदा करता है। अब उसकी दृष्टि केवल अपने शरीर तक सीमित न रहकर कुछ विस्तृत बनती है। अब उसे केवल शरीर का ही नहीं, प्रत्युत सन्तानसहित पत्नी के पोषण का भी ख्याल रखना पड़ता है। दूसरे शब्दों में अब वह अपने शरीर की तरह पत्नी एवं बच्चों को भी अपनी आत्मा मानने लगता है। कहना न होगा कि अब पहले से उसकी अद्वैत-दृष्टि विशेष विकसित हुई। इसकी तुलना मैट्रिक के छात्र से की जा सकती है। तेली का बैल, जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी हो, मालिक के भय से निरन्तर चक्कर काटता रहता है। किन्तु उसकी परिधि 'लट्टू' से अधिक विस्तृत रहती है। परिवार-सेवक प्राणी भी परिवार के मोह में फँसकर आजीवन तेली के बैल की तरह सीमित क्षेत्र में चक्कर काटता है। हाँ, देहात्मवादी विरोचन-पन्थी उदर-म्भरी या पेटू से इसकी कक्षा अवश्य ऊँची रहती है, फिर भी अभी दृष्टि अपूर्ण ही है। परिवार के मोह में पड़कर वह कभी-कभी जाति, देश और विश्व का अनिष्ट भी कर बैठता है। तेली के बैल की तरह उसके प्रज्ञारूप नेत्रों पर मोह का आवरण जो रहता है।

परिवार-सेवक से जाति-सेवक का वर्तुल अपेक्षाकृत विशाल है। वह देह या परिवार को ही अपनी आत्मा न मानकर समस्त जाति में आत्म-भावना रखता है। इस कक्षा के महापुरुष जाति-रक्षा की वेदी पर अपने शरीर और परिवार का बलिदान करने में भी नहीं हिचकिचाते। इन्हें इण्टरमीडिएट के छात्र कहा

जा सकता है। इसका उदाहरण घुड़दौड़ का घोड़ा है। उसका वर्तुल लद्दू के चार अंगुल और तेली के वैल के चार-पाँच गज के वर्तुल से विशाल है। वह रेस में दूसरे घोड़ों के मुकावले में जीतने के लक्ष्य से मील या दो मील के घेरे का चक्कर काटता है। इस तरह जाति-सेवक में दृष्टि अवश्य विकसित हुई। वह परिवार को छोड़कर जाति को अपना स्वरूप मानने लगा। फिर भी वह अपूर्ण-दृष्टि है। अतएव वह कभी-कभी अपनी जाति का पक्षपात कर देश के अन्यजातीय मनुष्यों का अनिष्ट करने पर भी उतारू हो जाता है।

जाति-सेवक से उच्च स्थान देश-सेवक का है, जिसके हृदय में समस्त देश के लिए आत्म-भावना है। उसे अपने शरीर, परिवार तथा जाति का जरा भी अध्यास नहीं रहता। वह समस्त देश को अपना स्वरूप समझने लगता है। देश के हित को आत्महित और देश की पीड़ा को आत्मपीड़ा के रूप में अनुभव करता है। इसकी तुलना किसी ग्रेजुएट से करनी होगी। इसका उदाहरण सूर्य नारायण हैं, जो समभाव से समस्त संसार को प्रकाश देते हैं। फिर भी इसे पूर्ण कहना संभव नहीं। कारण अपने देश को ऊँचा उठाने के लिए देश-सेवक दूसरे देशों को गिराने के कार्यक्रम भी रच सकता है। आप लोगों को इसका अनुभव है ही कि रूजवेल्ट, स्टालिन और हिटलर के पारस्परिक षड्वर्षीय महायुद्ध के कारण कितना भयंकर नर-संहार हुआ! वह तथाकथित देश-सेवकों की स्पर्धा का ही कुपरिणाम था।

अतएव ब्रह्माण्ड-सेवक का स्थान ही सर्वोपरि है। उसकी दृष्टि में समस्त विश्व अपना स्वरूप वन जाता है। उसमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की श्रौत अद्वैत-भावना सर्वथा परिपूर्ण रूप में निष्पन्न हो जाती है। अपने-परायेभाव का उन्मेप तक नहीं होता। फलस्वरूप वह विश्व के सुख को आत्मसुख और विश्व के दुःख को आत्मदुःख मानने लग जाता है। निम्नलिखित शास्त्रीय वचन इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है:

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥'

जब तक हृदय अशुद्ध रहता है, 'यह मेरा, यह तेरा, यह दूसरे का' यह द्वैत-भावना पनपती रहती है- हृदय-तल शुद्ध होकर जब वहाँ प्रसन्न-गम्भीर अद्वैत-मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगती है, तव तुच्छ भावनाओं के ये सारे शैवाल जाने कहाँ वह जाते हैं। उस विश्वात्मदर्शी महात्मा का सारा ब्रह्माण्ड ही परिवार वन जाता है।

सूर्य में प्रकाश के साथ उष्णता की तरह देश-भक्तों में देश-प्रेम के साथ दूसरे देश की अनिष्ट-भावना और अपने देश को सर्वोच्च बनाने की महत्त्वाकांक्षा जुड़ी रहती है। किन्तु ब्रह्माण्ड-सेवक तो शीतल सुधांशु होता है। वह समस्त विश्व को सुधासिक्त, दुग्ध-धवल कौमुदी से आप्यायित कर आलोकित तो कर देता है, पर किसीको उसकी किरणों से कभी आँच लगी, यह नहीं सुना गया। वह तो 'अमृत-किरण' कहा जाता है। उसकी तुलना एम० ए० के छात्र से की जा सकती है।

इस तरह स्पष्ट है कि हमें केवल शरीर, परिवार, जाति और देश के स्नेही, सेवक न बनकर ब्रह्माण्ड-स्नेही, ब्रह्माण्ड-सेवक ही बनना चाहिए। हम इसी दिशा से अद्वैत-वेदान्त का व्यवहार में समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित कर सकते हैं।'

इह भाषण में गुरु महाराज ने जहाँ वेदान्त के गम्भीर प्रमेयों का सरल विश्लेषण कर दिया, वहीं उसके साथ सेवा की भावना जोड़ भक्ति का सुन्दर समन्वय भी कर दिखाया, जो उदासीन-सम्प्रदाय का चरम सिद्धान्त है।

दिल्ली में

शुक्रवार ५ नवम्बर को गुरु महाराज अमृतसर से दिल्ली आये। वहाँ राम-तीर्थ-आश्रम द्वारा आयोजित विराट् सम्मेलन में आपका अध्यक्ष-पद से मार्मिक भाषण हुआ।

१६ नवम्बर से अजमल खाँ पार्क में आपके प्रवचन का क्रम शुरू हुआ। २६ नवम्बर को केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा सभा में उपस्थित हुए और उन्होंने भाषण भी दिया। यहाँ प्रतिदिन दिल्ली की जनता वृहत् संख्या में उपस्थित हो आपके प्रवचन-पीयूष का उत्साह के साथ समास्वादन करती रही।

पहली दिसम्बर को जयदेवी बहन के सत्संग-मण्डल के वार्षिकोत्सव पर नीलकटरे में गुरु महाराज का नाम-स्मरण पर उपदेशप्रद प्रवचन हुआ। ये बहन महिला-वर्ग में धार्मिक जागर्ति का कार्य बड़ी लगन के साथ करती हैं। आपने उनके इस धर्म-कार्य पर पूर्ण सन्तोष व्यक्त किया।

इन्दौर में विष्णु-याग

बाबा बालमुकुन्द की प्रार्थना पर गुरु महाराज १५ दिसम्बर को इन्दौर पधारे। वहाँ उन्होंने गीता-जयन्ती उत्सव का विराट् आयोजन किया था। १७ दिसम्बर को आपके कर-कमलों से उत्सव का उद्घाटन हुआ। मारवाड़ी कन्या-विद्यालय,

महेश्वरी हाईस्कूल, ॐकार चुन्नीलाल संस्कृत विद्यालय, छतरीवाग आदि की सभाओं में आपके विविध विषयों पर प्रवचन हुए।

गुरु महाराज के आदेश से यहाँ २१ दिसम्वर से विष्णु-याग आरम्भ हुआ, जिसकी पूर्णाहुति २६ दिसम्वर को हुई। सेठ श्री रामकृष्ण सूरी यजमान थे। २७ दिसम्वर को श्री सर्वानन्दजी ने समस्त मण्डली के साथ याज्ञिक ब्राह्मण एवं सभ्यों को लेकर ॐकारेश्वर में यज्ञान्त अवभृथ-स्नान किया।

पौष शुक्ला ७मी संवत् २०१५ को अंग्रेजी का नया वर्ष सन् १९५९ इन्दौर में ही मनाया गया। यहाँ होलकर संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री टिल्लू शास्त्री आदि विद्वान् गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उनके साथ आपकी गम्भीर शास्त्र-चर्चा भी हुई।

रतलाम में महारुद्र-यज्ञ

५ जनवरी को गुरु महाराज इन्दौर से रतलाम आये। यहाँ आपके आदेश से प्रथम ही त्रिवेणी-तट पर महारुद्र-यज्ञ आरम्भ हो गया था। यज्ञ-मण्डप में यज्ञ के महत्त्व पर आपका भाषण हुआ। आप यहाँ अपने अतिस्नेही वैद्य महन्त रामविलासजी के पास रामसनेही-सम्प्रदाय के राम-द्वारा में ठहरे थे। ८ जनवरी को धूमधाम के साथ नगर-शोभा-यात्रा निकली। ९ जनवरी को महारुद्र-यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। महन्त रामविलासजी के सन्तों ने मण्डली की खूब सेवा की। प्रस्थान के अवसर पर गुरु महाराज के चरणों पर १००१) की भेंट रखी गयी। किन्तु आपने अपने नियमानुसार उसे स्वीकार नहीं किया। पाठक पढ़ ही चुके हैं कि गुरु महाराज किसी संस्था या आश्रम से कभी भेंट नहीं लिया करते।

ग्वालियर में मननीय भाषण

१० जनवरी को गुरु महाराज ग्वालियर पधारे। वहाँ सेठ वालचन्द के वँगले पर ठहरे। सेठजी सपरिवार आपकी अखण्ड सेवा में रहे। सनातनधर्म-सभा, राम-मन्दिर में आपके सनातनधर्म के गौरव पर मार्मिक भाषण हुए।

यहाँ सेठजी के साग्रह अनुरोध पर १७ जनवरी से गुरु महाराज ने चेमर में 'गीता में अध्यात्मवाद और चरित्र-निर्माण' पर धारावाही प्रवचन किये। परम धार्मिक, श्रद्धा-मूर्ति, ग्वालियर की महारानी श्री विजया राजे सिंधिया भी इस अवसर पर उपस्थित रहती थीं।

चरित्र-निर्माण के दो आधार

गुरु महाराज ने चरित्र-निर्माण की मुख्य कुंजी परलोक-विश्वास और ईश्वर-श्रद्धा को वताया। आपने कहा : 'जो मनुष्य देह से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता

को जान ले, उसे सदैव यह भय बना रहेगा कि शरीर त्यागने के बाद परलोक में मुझे अपने किये कुकर्म का निश्चय ही दण्ड भुगतना पड़ेगा। फिर वह परलोक के भय से इस जन्म में अनाचार की ओर कदम उठा ही कैसे सकता है ?

इसी प्रकार जो मनुष्य यह अनुभव कर ले कि भगवान् सर्वव्यापक हैं और अदृश्य रहकर भी मेरी सभी भली-बुरी क्रियाओं का निरीक्षण कर रहे हैं, उससे ज्ञानतः भूल होने की सम्भावना ही नहीं। जब आप साधारण, प्राकृत राजकीय डी० सी० आदि की उपस्थिति में किसी प्रकार का अपराध करने में हिचकते हैं, सोचते हैं कि यदि इसने मुझे देख लिया तो छुटकारा नहीं, तो उस सर्वसाक्षी की सर्वत्र अखण्ड-अनिवार्य सत्ता रहते आपको अपराध करने का साहस ही कैसे हो पायेगा ?

बड़ी प्रसिद्ध कहानी है। दो शिष्यों को दो पक्षी देकर उनके आचार्य ने कहा कि 'इन्हें एकान्त में ले जाकर इस तरह मारो कि कोई भी देख न पाये।' छात्रों में एक आस्तिक-बुद्धि था, तो दूसरा नास्तिक। नास्तिक निर्जन जंगल में एकान्त में पहुँचा और किसीके न देखते पक्षी का वध कर डाला। वह मरे पक्षी को लेकर गुरु के पास पहुँच गया। उधर आस्तिक छात्र कहीं भी सर्वथा एकान्त न पाकर पक्षी को बिना मारे ही ले पहुँचा। गुरु ने उससे अपना आदेश पालन न करने का कारण पूछा। आस्तिक शिष्य ने कहा : 'आपका आदेश था कि पक्षी का वध वहीं किया जाय, जहाँ उसे कोई न देखे। किन्तु मुझे ऐसा कोई स्थल न मिला, जहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, जगदाधार, जगदीश्वर न देख रहे हों।'

इस कथा से भी यही तात्पर्य निकलता है कि जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ भी सर्वशक्तिमान् प्रभु देखता ही है। अतः उसके भय से तो हम दुष्कृत्य से बचें। इस तरह ईश्वर-श्रद्धा और उसके सर्वनियन्तृत्व पर विश्वास अपराध से बचकर चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा सहायक होता है। आज पदे-पदे चरित्र-निर्माण की आवश्यकता अनुभूत हो रही है। देश के नेतागण भी इसके लिए चिन्तित हैं। इसलिए हम चरित्र-निर्माण के दो मूलाधार—परलोक-विश्वास और ईश्वर-श्रद्धा को अधिकाधिक दृढ़ बनायें।'

गीता में अध्यात्मवाद पर प्रकाश डालते हुए गुरु महाराज ने जो विस्तृत विवेचन किया, उसका सारांश निम्नलिखित है[1] :

---

१. यद्यपि यह विषय एक बार पीछे एक अन्य प्रकरण में आ गया है, फिर भी विषय का गौरव एवं यहाँ उसके उपन्यास की नयी शैली से उसे संकलित करने का मोह संवरण नहीं किया जा सकता।

गीता में अध्यात्मवाद तो प्रथमाध्याय से ही स्पष्ट है। लोग समझते हैं कि वह तो महाभारत-युद्ध की पूर्वभूमिका है, इतिहास है, पर गम्भीर मनन करने पर उससे भी अध्यात्मवाद स्पष्ट हो जाता है। गीताकार ने वहाँ प्राणी के सात्त्विक विचारों के प्रतीक रूप में पाण्डवों को रखा है और राजस-तामस विचारों के प्रतीक हैं, कौरव। पाण्डव देव हैं, तो कौरव दानव। ऐतिहासिक महाभारत-संग्राम को आज ५००० वर्ष हो गये, किन्तु शुभाशुभ-विचाररूप कौरव-पाण्डवों का तुमुल युद्ध तो धर्मानुष्ठानार्थ ईश्वर-प्रदत्त कर्मभूमि इस शरीर में सतत चालू ही है। शरीर ही धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र है, इस विषय में भगवत्-वचन ही प्रमाण है :

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'

(गीता १३-१)

यहाँ भगवान् ने शरीर को स्पष्टतः 'क्षेत्र' कहा है। इसी तरह 'शरीरं रथमेव तु' (कठोपनिषद् ३-३) यह अन्य श्रुति-वचन है, जिसमें कहा गया है कि यह शरीर रथ है और इस रथ के घोड़े हैं इन्द्रियाँ। रथी है, अर्जुन यानी अनेक जन्मों में पुण्य-पापात्मक कर्माशय का अर्जन, संग्रह करनेवाला जीवात्मा। ज्ञातव्य है कि व्याकरण-शास्त्र में 'अर्ज' धातु का अर्थ होता है, अर्जन करना, संग्रह करना। 'अर्जुन' शब्द उसीसे बना है। फिर, इन घोड़ों की लगाम है मन। 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' (गीता ७-१०), 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' (कठ० ३-३) के अनुसार वुद्धि श्रीकृष्ण हैं, इस रथ के सारथी। उन्हें इन घोड़ों की लगाम पकड़ा दो। फिर आपके ये इन्द्रिय-घोड़े आपके शरीररूप रथ को अवनति के गर्त में कभी न ढकेल पायेंगे। चतुर सारथी उद्धत-से-उद्धत घोड़ों पर भी सहज ही नियन्त्रण पा लेता है।

प्रायः सभी मुमुक्षु, जिज्ञासु परेशान रहते हैं कि 'हमने तीर्थ-यात्राएँ कीं, व्रतादि नियम पाले, सद्ग्रन्थों का मनन किया, योग्य महात्माओं से आत्मश्रवण किया, फिर भी मन वावरा अपनी चंचलता नहीं तजता ! क्या करें ? वर्षों की साधना से भी मन स्थिर नहीं हो पाता।' किन्तु इस उधेड़वुन का समाधान गीता के प्रथम अध्याय में ही भरा पड़ा है। उसके आध्यात्मिक रहस्य पर गम्भीर ध्यान देना चाहिए और तदनुसार अपने रथ की बागडोर भगवान् श्रीकृष्ण के हाथों सौंप देनी चाहिए। हमारी भारी भूल यही है कि हम अपना मन अनन्य-भाव से भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों पर समर्पित नहीं कर देते। प्रभु के चरणों में मन का समर्पण ही अपने रथ की वागडोर उसके हाथों सौंपना है। उस प्रभु के

रहते क्या कभी स्वप्न में भी आत्म-निवेदक भक्त के अनिष्ट की सम्भावना हो सकती है ?'

ग्वालियर में ही भक्तवर सिन्धी लद्धाराम पालूमल शिकारपुरी चैनाराम के साथ आ पहुँचे और उन्होंने गुरु महाराज से विष्णु-याग में वृन्दावन उपस्थित होने की साग्रह प्रार्थना की। भक्त लद्धाराम सच्चे सनातनी और उदारमना दानी हैं। सन् १९४१ में श्रौतमुनि-निवास के शिलान्यास के अवसर पर गुरु महाराज उन्हींकी धर्मशाला में ठहरे थे। उसी समय उन्होंने आपसे दीक्षा ग्रहण की थी। आपकी प्रेरणा से उन्होंने उत्तरकाशी आदि स्थानों में कई यज्ञ किये। उनके आग्रह पर उनकी सुपुत्री सुश्री सुशीला के विवाह पर आप शिकारपुर भी पधारे थे। जब से वे आपकी शरण आये, तब से आपके आदेश के बिना कोई भी कार्य नहीं करते। श्रौतमुनि-आश्रम के निर्माण में उनका पूर्ण सहयोग रहा। श्री लद्धारामजी कुम्भ-पर्व पर भी आपके पास ठहरकर तन, मन, धन से सन्तों की सेवा करते हैं। उनका विचार यह यज्ञ उत्तरकाशी में करने का रहा, किन्तु गुरु महाराज ने वहाँ उपस्थित होने से अस्वीकार कर दिया। इसलिए यह विष्णु-याग वृन्दावन में ही आयोजित किया गया। अतएव गुरु महाराज ग्वालियर से सीधे वृन्दावन पधारे।

वृन्दावन में महाविष्णु-याग

३ फरवरी से २० फरवरी तक १८ दिन जपात्मक महाविष्णु-याग का प्रयोग रखा गया। ब्राह्मणों की संख्या ५० थी। भक्तजी ने इस यज्ञ में साधु और ब्राह्मणों की अत्यन्त उदारतापूर्वक सेवा की। २१ फरवरी को श्रौतमुनि-निवास आश्रम में समष्टि-भण्डारा हुआ, जिसमें नौ सौ सन्त एवं तीन-चार सौ ब्राह्मणों ने भोजन किया।

२२ फरवरी को ही गुरु महाराज वृन्दावन से दिल्ली पधारे। वहाँ आपकी प्रेरणा से पटेलनगर की सनातनधर्म-सभा ने एक भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया था, जिसका उद्घाटन-समारोह २२ फरवरी से २५ फरवरी तक रखा गया था। मन्दिर में भगवान् लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम तथा शंकर भगवान् की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गयी। इस अवसर पर विष्णु-याग का भी आयोजन किया गया था। यह सारा उत्सव आपके तत्त्वावधान में धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

७ मार्च, शिवरात्रि के दिन एक अप्रिय घटना घटी। आपके कृपापात्र प्रकाण्ड वक्ता श्री देवप्रकाश शास्त्री का बम्बई में दुःखद देहावसान हो गया, जिसका

दारुण समाचार साधुबेला के महन्त श्री स्वामी गणेशदासजी ने आपको तार द्वारा सूचित किया।

इन्हीं दिनों 'सद्‌गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक ट्रस्ट' बनाया गया, जिसके तत्त्वावधान में आश्रम बनाने के लिए ईस्ट पार्क एरिया, करोलबाग में एक भूमिखण्ड खरीदा गया। २४ फरवरी से १५ मार्च तक उदासीन-आश्रम, पँचकुइयाँ रोड पर आपके प्रवचन होते रहे।

दिल्ली से गुरु महाराज १८ मार्च को श्री वृन्दावन धाम पधारे। वहाँ आपने श्रौतमुनि-निवास आश्रम में २० से २४ मार्च तक मनाये जा रहे होली-महोत्सव में भाग लिया। वहाँ श्री आनन्दमयी माँ के आमन्त्रण पर उनके आश्रम में भी हरिबाबा के जन्मोत्सव में २३ मार्च को रात १० बजे सम्मिलित हुए। दूसरे दिन उड़िया बाबा के आश्रम में चैतन्य महाप्रभु के जन्मोत्सव में भाग लिया। उस उत्सव में आपका अध्यक्षीय भाषण उल्लेख्य रहा।

२८ मार्च को गुरु महाराज वृन्दावन से अमृतसर गये। ९ अप्रैल को नव वर्ष २०१६ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान अमृतसर में ही हुआ। श्री स्वामी सर्वानन्दजी अमृतसर में ठहर गये।

जोगीन्द्रनगर एवं कुल्लू घाटी में

गुरु महाराज तीन-चार दिन अमृतसर ठहरकर जोगीन्द्रनगर होते हुए कुल्लू घाटी गये। वहाँ आप श्री यादव सिंह वजीर की कोठी में ठहरे। भक्त गोविन्दराम सेऊमल आपके साथ थे। वजीर साहब के छोटे भाई श्री सूरज सिंहजी सपरिवार आपके दर्शनार्थ आये। आपके सान्निध्य से अत्यन्त प्रभावित हो सूरज सिंहजी आपके अत्यन्त भक्त बन गये। उन्होंने और उनकी पुत्र-वधू अरुणा एवं पुत्र चि० सुरेशकुमार ने आपसे दीक्षा ग्रहण की। बड़े वजीर साहब की धर्मपत्नी श्रीमती शाकम्भरी देवी, उनकी देवरानी श्रीमती विद्याबहन और पुत्र-वधू कुसुम तो पहले से ही दीक्षित थीं।

जज साहब श्री देवकीनन्दनजी के जामाता श्री रमेशचन्द्र और उनकी पत्नी श्रीमती निरुपमा देवी भी आपके दर्शनार्थ आये। श्री रमेशचन्द्र प्रकृति के उदार और सेवाभावी युवक हैं। आपकी शरण आने से उनमें अलौकिक परिवर्तन हो गया। वजीर साहब का परिवार सोचता था कि लड़का नये विचार का है और बोलने में कुछ संकोच भी नहीं रखता। कहीं कोई अनुचित शब्द न कह दे। परन्तु गुरु महाराज के दर्शन होते ही वह मन्त्रमुग्ध हो गया और उसी दिन से

आपकी तन-मन-धन से सेवा करने लगा। वह आपका शिष्य भी वन गया और भविष्य में दिल्ली जाकर उसने आपके सहवास से लाभ उठाने का निश्चय किया।

श्री वजीर साहव एवं श्रीमती शाकम्भरी देवी आदि समस्त परिवार ने मण्डली की वड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ सेवा की। विना कहे सदैव सव वस्तुएँ समय पर उपस्थित रखने के आप लोगों के सेवाभाव से सन्त-मण्डली में विशेष प्रसन्नता दीख पड़ी।

मण्डी का अद्भुत वेदान्त-प्रवचन

वजीर साहव गुरु महाराज को अपने घर मण्डी ले गये। कुछ दिन वहीं आपका निवास हुआ। इस वीच आपके प्रवचन होते रहे। जनता के विशेष आग्रह पर एक दिन गीता-भवन में भी प्रवचन हुआ। इस प्रवचन में आपने कतिपय शब्दों में समस्त वेदों, अष्टादश पुराणों, महाभारत, गीता आदि शास्त्रों का सार लोगों को वताया।

वेद-सार : आपने कहा : 'चारों वेदों का सार दो ही शब्दों में है, 'सोऽहम्'– वही मैं हूँ। शुक्ल यजुर्वेद, काण्वशाखा (४०-१६) के इसी मूल वाक्य का विभिन्न वेदों एवं उपनिषदों में चार महावाक्यों के रूप में विवरण किया गया है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह ऋग्वेद और ऐतरेय-उपनिषद् (३-३) का प्रथम महावाक्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेद काण्वशाखा और वृहदारण्यक-उपनिषद् (१-४-१०) का द्वितीय महावाक्य है। 'तत्त्वमसि' सामवेद और छान्दोग्य-उपनिषद् (६-८-७) का तृतीय महावाक्य है तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' अथर्ववेद और माण्डूक्य-उपनिषद् (मन्त्र २) का चतुर्थ महावाक्य है।'

पुराण-सार : पुराणों का सार वतलाते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'प्रमुख अष्टादश पुराणों में भगवान् वेदव्यास ने दो ही वातें साररूप में वतायी हैं—सवसे महान् पुण्य परोपकार और सवसे महान् पाप गरीवों को सताना है :

'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥'

भाषा के कवि भी कहते हैं :

'गरीबों को मत सता, गर गरीब रो देगा।
सुनेगा उसका मालिक तो जड़ से खोदेगा॥'

महाभारत-सार : महाभारत का सार-सर्वस्व वतलाते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'महाभारत में पाण्डव-विजय के वाद विजय के कारणों की मीमांसा चल

पड़ी। किसीने भीम के बाहुबल को इसका श्रेय दिया, तो किसीने अर्जुन के अमोघ धनुष्कौशल को, किसीने युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा को, तो किसीने कृष्ण परमात्मा के सहयोग के सिर विजय का सेहरा बाँधा।

सब कुछ सुन लेने के बाद वेदव्यास ने गम्भीर स्वर में कहा : 'आप लोग व्यर्थ तरह-तरह की कल्पना करते बैठे हैं। वास्तव में विजय का मूल कारण युधिष्ठिर की प्रसव-वेदना-पीड़ित शबर-पत्नी (भीलनी) पर दया है। सुनिये :

एक दिन की बात है ! युधिष्ठिर घोड़े पर सवार हो कहीं जा रहे थे कि जंगल में एक भीलनी पर उनकी दृष्टि पड़ी। बेचारी प्रसव-वेदना से छटपटा रही थी। धर्मराज से देखा नहीं गया। चट घोड़े से उतर पड़े और अन्तर्वत्नी (गर्भिणी) भीलनी के पेट पर हाथ फेरने लगे। परिणामस्वरूप उस पर ऊष्मा (गर्मी) चढ़ी और बेचारी को शीघ्र प्रसव हो गया।

असहाय देवी वेदना-मुक्त हो गयी और धर्मपुत्र के प्रति उसके ये अन्तरात्मा के सहज उद्‌गार निकल पड़े : 'महाराज ! जैसे आपने मुझे कष्ट-मुक्त किया, भगवान् कष्ट के समय आपको भी इसी तरह संकट से छुड़ाये।' बस, पाण्डवों की विजय का मूल कारण शबरी का यह आशीर्वाद ही है।'

गीता-सार : गीता का सार बतलाते हुए आपने कहा कि 'गीता में ७०० श्लोक हैं। सबका सार आदि और अन्त के पद जोड़ने पर निकल आता है। उसके पहले श्लोक का प्रथम चरण है, 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' और अन्तिम श्लोक का अन्तिम चरण है, 'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।' इनमें पहले श्लोक का 'धर्म' और अन्तिम श्लोक का 'मम' पद जोड़ने पर 'धर्मो मम' यह वाक्य बन जाता है। तात्पर्य, संसार का कोई भी पदार्थ मेरा नहीं। महाप्रस्थान के समय सबके सब यहीं धरे रह जाते हैं। केवल धर्म ही मेरे साथ जाता है। वह इहलोक का हो नहीं, परलोक का भी साथी है। एकमात्र वही प्राणी के साथ जाता है।

यदि आप पहले श्लोक का पूरा पद 'धर्मक्षेत्रे' ले लें और अन्तिम श्लोक के 'मतिर्मम' को लें, तो भगवान् का यही निर्णय निकलता है कि 'धर्मक्षेत्रे मतिर्मम'— मेरी बुद्धि का पक्षपात धर्मक्षेत्र से ही है, और किसी क्षेत्र से नहीं।

गीता महाभारत का मध्यवर्ती दीप है। उसका सार यदि धर्म है, तो महाभारत भी अपना सार उसे ही बताता है। किसी वस्तु के उपक्रम-उपसंहार से उसका तात्पर्य निकाला जाता है। महाभारत के अन्तिम स्वर्गारोहण पर्व की घटना से उसका यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। युधिष्ठिर महाप्रस्थान कर रहे हैं। क्रमशः पत्नी और चारों भ्राता उनका साथ छोड़ देते हैं। सभी मार्ग में ही हिमपात से धराशायी हो जाते हैं। किन्तु एक कुत्ता अन्त तक उनका साथ देता है।

देवदूत युधिष्ठिर को स्वर्ग ले जाने के लिए विमान लेकर उपस्थित होते हैं और प्रार्थना करते हैं कि 'आप सदेह स्वर्ग पधारें। आपकी सत्यनिष्ठा से तुष्ट हो देवराज इन्द्र ने यह नूतन प्रथा चलायी है। आज तक कोई भी सशरीर स्वर्गारोहण नहीं कर सका।'

युधिष्ठिर कहने लगे : 'मैं अपने सच्चे साथी इस श्वान को छोड़कर जाना पसन्द नहीं करता। क्या आप मेरे साथ इसे भी सशरीर स्वर्ग ले चलेंगे ?' देवदूतों ने कहा : 'राजन्, यह संभव नहीं। आप चलें, कुत्ते को साथ ले चलने का व्यर्थ आग्रह न करें।'

युधिष्ठिर अड़ गये। पत्नी और भाइयों के साथ छोड़ देने पर भी जिस वफादार प्राणी ने उनका साथ निभाया, उसे वे कभी छोड़ नहीं सकते थे। उन्होंने स्वर्ग जाने से स्पष्ट अस्वीकार कर दिया।

परीक्षा पूरी हो गयी ! कुत्ते के रूप में आये धर्मराज ने अपना वह कलेवर त्याग दिया, वास्तविक रूप में सामने खड़े हो गये तथा प्रसन्न हो अपने साथ युधिष्ठिर को सशरीर स्वर्ग ले गये।

इस घटना से स्पष्ट होता है कि महाभारत का अन्तिम सिद्धान्त शाश्वत धर्म ही है, जो मनुष्य का सच्चा सहचर और मित्र के रूप में वहाँ वर्णित है। पीछे बताया हुआ 'दया' रूप सार भी धर्म का ही एक विशेष रूप है।'

इस प्रकार वेदादि शास्त्रों के ये नवनीतकल्प सिद्धान्त सुन जिज्ञासु भावुक भक्त अत्यन्त प्रसन्न हो उठे।

कुल्लू-घाटी की ओर

जज साहब का परिवार गुरु महाराज को अपने ठेकेदार हाउस में सादर लिवा गया और वहाँ आपने सन्तमण्डली-सहित उनका आतिथ्य ग्रहण किया। श्री हीरालाल ठेकेदार के परिवार की संख्या ५० होगी। सबके सब श्रद्धालु एवं सन्तप्रेमी पाये गये। सभी १६ वर्ष पूर्व सन् १९४२ में जब गुरु महाराज कुल्लू पधारे थे, आपसे दीक्षित हो चुके थे।

लाला देवकीनन्दन, जज साहब गुरु महाराज को मण्डी से बिजौरा ले गये। वहाँ अपनी कोठी में ठहराया। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर है। कोठी के आसपास विस्तृत बगीचा है, जिसमें आलूबुखारा, खुरमानी, सेव आदि के विविध वृक्ष लगे हैं। मध्य में एक सुन्दर झरना बहता है। तैरने के लिए एक टैंक बना है। व्यासा नदी के शान्त तटवर्ती यह एकान्त रमणीय स्थान देखते ही बनता है। यहाँ से कुल्लू शहर केवल ९ मील है।

गुरु महाराज के दर्शनार्थ मण्डी, कुल्लू, भुवन्तर आदि आसपास के शहरों से प्रतिदिन भक्त जन आते थे। आपके साथ मण्डली के कई सन्त थे। जज साहब ने सबकी बड़े उत्साह के साथ मन लगाकर सेवा की।

जज साहब के अनुरोध पर गुरु महाराज ने एक दिन कुल्लू और मनाली की भी यात्रा की। कुल्लू-घाटी में कई एक विदेशी परिवार बसे हुए हैं। उन्होंने वहाँ अपने बड़े-बड़े बगीचे आबाद कर रखे हैं। सन् १९४२ में प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू अपने एक रूसी मित्र के पास मनाली पधारे थे। वैसे भी कभी-कभी वे विश्रामार्थ मनाली जाते रहे।

यह पर्वतीय प्रदेश अति शान्त और परम रमणीय है। गुरु महाराज यहाँ एक विदेशी सज्जन की कोठी में ठहरे। आजकल ये विदेशी सज्जन भी भारतीय बन गये हैं। इन लोगों ने अपने विवाह इसी प्रदेश की स्त्रियों के साथ कर लिये हैं। अपने अतिथियों के निवासार्थ उन्होंने यहाँ होटल भी खोल रखे हैं। यहाँ के एक नवयुवक भूतपूर्व यूरोपियन सज्जन ने आपकी श्रद्धापूर्वक सेवा की और कई आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान भी प्राप्त किया।

यहाँ वशिष्ठ-आश्रम है। पास में एक सुन्दर तप्तजल का कुण्ड है, जिसमें स्नान करने पर यात्रियों को अद्भुत आनन्द मिलता है। भीमसेन पाण्डव की पत्नी और घटोत्कच की माता हिडिम्बा का भी स्थान है। लोगों की धारणा है कि भीम की हिडिम्बा से यहीं भेंट हुई थी।

रिवालसर की अद्भुत घटना

कुल्लू से गुरु महाराज मण्डी लौटे। मण्डी के निकट १४॥ मील की दूरी पर 'रिवालसर' तीर्थ है। यहाँ एक झील है। आपने यहाँ की यात्रा की।

यहाँ एक चमत्कारी दृश्य है। कहा जाता है कि लोमश ऋषि की तपश्चर्या से प्रसन्न हो शंकर आदि देवगण पर्वत बनकर झील में तैरने लगे। लोमश को पता नहीं चला। स्वप्न में उन्हें सूचना मिली कि 'तुम्हारी तपस्या सफल हो गयी।'

लोमश ने पूछा : 'भगवन्, मैंने तो यह साधना देवों के दर्शन के लिए की थी। वह अभी तक सुलभ नहीं हो सका। फिर तपस्या सफल कैसे ?'

उत्तर मिला : 'वत्स, हम लोग शंकर, पार्वती, गणेश, विष्णु आदि सात देव तुम्हें दर्शन देने के लिए पार्श्ववर्ती झील में पर्वत बनकर तैर रहे है।'

लोमश जागे। सामने झील में सचमुच उन्हें पर्वताकृति देवों के दर्शन हुए। उन्होंने प्रार्थना की : 'प्रभो, कलियुगी जीवों के कल्याणार्थ आप इसी तरह यहाँ तैरते हुए जनता को सदैव दर्शन देते रहें।'

भक्त की विनती स्वीकार कर आज तक सप्तदेव वहीं तैर रहे हैं। ये वड़े-वड़े शिला-खण्ड हैं । उन पर लताएँ एवं वृक्ष भी हैं ।

पर्वतीय जनता इन्हें मनौतियाँ मानती है और मनोरथ पूर्ण होने पर उन शिला-खण्डों में स्थित वृक्ष की शाखाओं पर 'झण्डा' भी लगाती हैं । विचित्रता यह है कि भावुक भक्त तट पर वैठ जाता है । उसकी पूजा-सामग्री ग्रहण करने के लिए इन सात पर्वतों में से एक या दो उस तीर से इस तीर पर आते और पूजा ग्रहण कर चले जाते हैं ।

गुरु महाराज के साथ अंग्रेजी विचारधारा के कई सज्जन भी थे । उनकी धारणा थी कि 'ये तो सारी वनावटी वातें हैं । क्या पर्वत कभी पूजा ग्रहण करने के लिए अपने पास आ सकता है ? चलें, अव मण्डी लौट चलें ।'

उन्होंने बात तो वहुत धीरे से कही, पर गुरु महाराज ने उसे सुन लिया । तत्काल आपने कहा : 'मुझे यहाँ सात दिन क्यों न ठहरना पड़े । पुराण-वर्णित सत्यता को प्रमाणित किये विना नहीं लौटूँगा ।'

फिर क्या था, सन्त एवं भक्त आपके साथ मिलकर तट पर गीता-पारायण करने लगे । एक सन्त रिवालसर का माहात्म्य पढ़ने लगा । माहात्म्य में लोमश ऋषि की कथा चार अध्यायों में वर्णित है ।

इन पर्वतों को 'वेड़ा' भी कहते हैं । कुछ ही देर वाद उस तीर से 'शंकर' नामक वेड़ा आपकी ओर चल पड़ा, पर कुछ दूर आकर झील में ही ठहर गया, किनारे नहीं लगा । एक-दो मिनट ठहरकर दूसरी ओर चला गया । भक्तमण्डली निराश होने लगी । सहसा वड़े वेग के साथ 'गणपति-वेड़ा' आपकी ओर आता दीख पड़ा । लगता था, मानो निराश भक्तों को दर्शन देने की तीव्रता में दौड़ता आ रहा हो । साथ ही अपनी सत्यता का प्रमाण भी दे रहा हो । वेड़ा किनारे लगा । सवने भेंट चढ़ायी, सभक्ति पूजा कर आरती उतारी । फिर सभी सन्तुष्ट हो मण्डी लौट आये ।

मण्डी से गुरु महाराज जोगीन्द्रनगर, पालनपुर, नगरौटा, पठानकोट के रास्ते अमृतसर पहुँचे । वहाँ आपके परम भक्त सेठ नन्दलाल सूतरवाले के पुत्र चि० जगदीश का ६ मई सन् १९५९ को विवाह था। श्री सर्वानन्दजी इसी विवाह के लिए हरिद्वार से ४ मई को ही अमृतसर आ गये थे । किन्तु गुरु महाराज का आदेश पाकर वे स्वामी कृष्णानन्द एवं श्री स्वामी गोविन्दानन्द मण्डलेश्वर-द्वयी द्वारा नवनिर्मित भगवद्धाम के उद्घाटन-उत्सव एवं भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन में भाग लेने के लिए हरिद्वार चले गये । जब आप जोगीन्द्रनगर थे, उसी समय मण्डलेश्वर-द्वयी ने आपको इस उत्सव में भाग लेने के लिए साग्रह आमन्त्रित किया था । पत्र एवं

तार भी भेजे, फिर भी विशेष कारणों से आप उसमें भाग न ले सके। अतएव अपने शिष्य सर्वानन्दजी को वहाँ भेजा।

नेह की पाती

गुरु महाराज ने मण्डलेश्वर-द्वयी के आमन्त्रण के उत्तर में जो पत्र लिखा, वह वड़ा ही मनोरञ्जक और स्नेहभरा था। आपने लिखा : 'वड़ों की सदैव यह तीव्र इच्छा रहती है कि अपने स्नेहास्पद जनों के उत्सव में भाग लें और असीम हर्ष का अनुभव करें। किन्तु यह विना सौभाग्य के सम्भव ही कहाँ ? नन्दवावा की तीव्र इच्छा रही कि अपने लाल श्रीकृष्ण का विवाह-महोत्सव देखें। श्रीकृष्ण प्रभु ने इस अभिप्राय से भी वहुत-से विवाह कर लिये कि कभी तो नन्दवावा मेरे विवाह के अवसर पर उपस्थित हो ही जायँगे। पर नन्दवावा के भाग्य में था ही नहीं कि अपने लाड़ले के लग्न में सम्मिलित हो असीम आनन्द का अनुभव करें। भाग्य के आगे किसीकी एक नहीं चलती। अस्तु, वहुत दूर और ग्रीष्म के कारण हरिद्वार में आपके उत्सव पर उपस्थित होने में असमर्थ हूँ। मेरे आदेश से सर्वानन्दजी आपके उत्सव में पूर्ण सहयोग देंगे। निश्चिन्त रहें। गुरु और प्रभु की कृपा से उत्सव निर्विघ्न सम्पन्न होगा और अति सफल रहेगा।'

श्री स्वामी सर्वानन्दजी हरिद्वार गये और मण्डलेश्वर-युगल का उत्सव-कार्य सोत्साह सम्पन्न किया। तव से वहाँ प्रतिवर्ष भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन होता आ रहा है।

डलहौजी में

इधर गुरु महाराज सन्तों के साथ अमृतसर से डलहौजी पहुँचे। वहाँ वकरौटा में वक्शी टेकचन्द की कोठी में ठहरे। सन्त गोविन्दानन्दजी ने पहले से ही वहाँ पूरा प्रवन्ध कर रखा था। गोविन्दराम एवं मुरलीधर सेऊमल सपरिवार आपके चरणों में उपस्थित हुए। मण्डी से सपत्नीक यादव सिंह वजीर साहव एवं काश्मीर के गुरुसहायमल सहगल भी सपत्नीक दर्शनार्थ आ गये। सहगल की कन्या तृप्ता की लखनऊ में दुःखद मृत्यु हो जाने से उन दम्पती का मन अत्यन्त खिन्न था। उनके पुत्र निपुणमति चि० विश्वनाथ ने परामर्श दिया कि 'पिताजी, आप स्वामीजी महाराज के पास डलहौजी जायें।' गुरु महाराज को भी लिखा कि 'इस मानसिक क्लेश के समय पूज्य पिताजी को अपने सान्निध्य में कुछ दिन रखें और अपने उपदेशामृत से शान्त करें।' सहगलजी डलहौजी में सन्तों के संग में रहे। प्रतिदिन आध्यात्मिक वार्तालाप और हरि-कथा-श्रवण से उनका पुत्री-शोक जाता रहा।

आपकी प्रेरणा से मण्डली ने चम्बा की यात्रा की। सन् १९५८ में भी गुरु महाराज चम्बा में श्रीचन्द्र-शिला के दर्शनार्थ पधारे थे। लेखिका को भी उनके साथ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। इस बार आपके साथ सेठ वालचन्द, मण्डी के वजीरसाहब श्री यादवसिंह, काश्मीर के गुरुसहायमल सहगल और गीता-भवन, इन्दौर के संस्थापक बाबा बालमुकुन्द भी थे। इस बार भी आप भाई देशराज की कोठी पर ठहरे और उन्होंने बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ आतिथ्य-सत्कार किया। उनके घर के समीप ही यह ऐतिहासिक शिला है। इस बार वहाँ के सम्पादक भक्तवर संसारचन्द्र गुरु महाराज से मिलने आये और दोनों की भेंट हुई। उन्होंने शिला-कहानी का उत्तरार्ध सुनाया, जो बड़ा ही रोचक है। आपने कहा :

श्रीचन्द्र-शिला की उत्तर-कथा

'आचार्य श्री जगद्गुरु भगवान् श्रीचन्द्र ने जब शिला को चलाकर दिखा दिया, तो इस चमत्कार से प्रभावित जनता उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। उसने महाराज चम्बा-नरेश से अनुरोध किया कि आप आचार्यश्री के दर्शनार्थ चलें। राजा निःसन्तान थे। उन्होंने मन में संकल्प किया कि 'मैं तभी मुनिराज की महिमा मानूँ, जब मुझे पुत्र-रत्न प्राप्त हो जाय।'

आचार्यश्री राजा का भाव समझ गये और दर्शनार्थ आने पर उनसे कहा कि 'आप निश्चिन्त रहें। भगवान् शंकर की अनुकम्पा से आपका मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा।' उसी वर्ष राजा को आचार्यश्री के आशीर्वाद से पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई।

चम्बा-नरेश ने नवजात शिशु का नाम श्रीचन्द्रसिंह रखा और प्रजा को यह आदेश दिया कि 'प्रत्येक किसान अपनी कमाई से यथाशक्ति शिला के उपहार-स्वरूप अन्न देता रहे।' अभी तक देशी राज्यों के विलय से पूर्व किसानों की ओर से यह अन्न मिलता रहा।

यहाँ की जनता से एक और ताजी घटना सुनी गयी। लोग कहते थे कि श्रीचन्द्र भगवान् के भक्त केवल हिन्दू ही नहीं थे। उनके चरणों में अनेक मुसलिम बन्धुओं का भी असीम विश्वास था। एक मुसलिम भक्त दो-तीन वर्ष पूर्व यहाँ आया। वह भगवान् का परम भक्त था। आचार्यश्री के दर्शन की लालसा से उसने चम्बा-राज्य में रावी-तट पर डेरा डाल रखा था। उसका संकल्प था कि श्रीचन्द्र महाराज के दर्शन करके ही यहाँ से उठूँगा। उसका काष्ठ-मौन था। लोग पहुँचा हुआ फकीर समझकर उसके पास आने-जाने लगे। फिर भी वह

किसीसे न बोलता। उसकी तपस्या से प्रसन्न हो आचार्य भगवान् श्रीचन्द्र ने उसे दर्शन दिया, तब उसका मौन टूटा। फिर उसने अन्तरंग भक्तों से कहा कि 'कल प्रातःकाल मैं शरीर त्याग दूँगा।' समाचार सुनते ही दूसरे दिन प्रातःकाल जनता उसकी ओर उमड़ पड़ी। देखते-देखते जगद्गुरु श्रीचन्द्र के मधुर-मंगल घोष के साथ उस मुसलिम-बन्धु ने प्राण-विसर्जन कर दिये। जनता ने वहीं उसकी समाधि बनवा दी।'

महापुरुषों का जीवन ही चमत्कारमय हैं। फिर उसमें चमत्कार हों तो आश्चर्य ही क्या है?

चम्बा से गुरु महाराज पुनः डलहौजी चले आये।

डलहौजी से गुरु महाराज हरिद्वार, देहली होते हुए गुरुपूर्णिमा-महोत्सव के निमित्त १५ जुलाई १६५६ को अहमदाबाद पहुँचे। २० जुलाई को वहाँ गुरु-पूर्णिमा-महोत्सव धूमधाम से मनाया गया। लेखिका भी बम्बई से इस उत्सव में पहुँच गयी थी।

पश्चात् गुरु महाराज ने बम्बई, पूना तथा नासिक में कुछ दिन विश्राम किया। श्री सर्वानन्दजी काश्मीर, अमरनाथ की यात्रा करके २२ सितम्बर को कलकत्ता पहुँच गये। वहाँ के सेठ श्री रामनारायणजी एवं सर्वानन्दजी के अनुरोध पर गुरु महाराज भी १६ अक्तूबर शरत्-पूर्णिमा के दिन कलकत्ता पधारे और सेठजी के अमर-भवन में ठहरे। कलकत्ते में आपके 'ऋग्वेद में आध्यात्मिक वाद' पर प्रवचन हुए। यहाँ सर्वश्री लालबाबा, सेठ पूरनमल जयपुरिया, छोटेलाल कानोड़िया, मनसुख राय मोर, वंशीधरजी, पीताम्बरजी तथा 'सन्मार्ग' के प्रधान व्यवस्थापक श्री सूर्यनाथ पाण्डेय, वकील से भेंट हुई। उनके साथ सनातनधर्म के विभिन्न सिद्धान्तों पर गम्भीर वार्तालाप हुआ।

सेठ मनसुख राय मोर वेद-पुराणों के अत्यन्त भक्त हैं। वे विभिन्न पुराणों के मूल ग्रन्थ छपवाते और विद्वानों एवं जिज्ञासुओं को निःशुल्क वितरण किया करते हैं। एक पुराण पर तो उन्होंने गुरु महाराज का चित्र भी छपवाकर उसे जनता में वितरित किया है।

६ नवम्बर को कलकत्ते से गुरु महाराज दिल्ली पधारे। वहाँ सेठ किशनचन्द वधवा के मोहन-भवन में ठहरे। दिल्ली में आश्रम-निर्माणार्थ आपने १३, पार्क एरिया, करोलबाग में जो भूमि-खण्ड खरीद रखा था, वहीं प्रवचन प्रारम्भ हुआ। आप १६ दिसम्बर तक दिल्ली रहे। यहाँ योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी और प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय सन्त तुकड़ोजी के साथ वार्ता हुई। दिल्ली के इन प्रवचनों का जनता

पर विशेष प्रभाव पड़ा और वह शीघ्र-से-शीघ्र यहाँ भव्य आश्रम खड़ा देखने के लिए अति उत्सुक हो उठीं।

श्री सन्त गोविन्दानन्दजी को प्रयाग के अर्धकुम्भी मेले के प्रवन्ध के लिए भेज गुरु महाराज दिल्ली से मण्डली-सहित १७ दिसम्वर को भटिण्डा पहुँचे। वहाँ आप कुत्तीवाल के सरदार चेतनसिंह की नयी कोठी में ठहरे। ग्रामोद्धार के लक्ष्य से भटिण्डा जिले के शमोरकोट, कुत्तीवाल आदि ग्रामों में यात्रा हुई और ग्रामीण जनता मे धर्मोपदेश, नीति-शिक्षा आदि का व्यापक प्रचार किया गया।

१६

लोक-संग्रह का नवम चरण

[संवत् २०१७ से २०१८ तक]

नीतिकारों का कथन है :

'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम् ।'

अर्थात् 'प्रशस्तमना और अपने कार्य की सफलता चाहनेवाला पुरुष वीच में पड़नेवाले सुख या दु:खों की तनिक भी परवाह नहीं करता।' भारतीय इतिहास में इन मनस्वियों के उदाहरणों से कितने ही पृष्ठ रँगे पड़े हैं। विभूतियों में ही यह वात देखने को मिलती है, सामान्य जनों में नहीं। वे तो वीच में पड़नेवाले सुख-दु:खों के प्रवाह में वहकर लक्ष्य से अपेक्षाकृत इधर-उधर विचलित हो जाते हैं।

कहा जाता है कि लोकमान्य तिलक अपने कमरे में वैठकर राष्ट्र-हितविषयक कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे कि उनके भृत्य ने आकर वताया : 'आपके पुत्र की मृत्यु हो गयी, चलिये।' लोकमान्य ने जवाव दिया : 'वह मर गया, तो उसे श्मशान पहुँचाकर जलानेवाले लोग तो हैं ही। वे अपना काम करें। मैं भी अपना काम पूरा कर पहुँच जाऊँगा।' मुखमुद्रा या स्वर में किसी भी प्रकार की विकृति न लाते हुए सहज भाव से दिया हुआ उनका यह उत्तर सुनकर भृत्य और सभी उपस्थित लोग स्तब्ध रह गये ! और सचमुच उन्होंने वैसा ही किया।

'आत्मा वै पुत्रनामासि'—भगवती श्रुति ने पुत्र को अपनी आत्मा वताया है। पत्नी का 'जाया' नाम भी इसीकी ओर संकेत करता है। 'जायते अस्यां पतिः पुत्ररूपेण इति जाया' अर्थात् जिस स्त्री में पति स्वयं पुत्ररूप में जन्म ग्रहण करता है, वह 'जाया' कहलाती है। फिर, यह आत्मा कितना प्रियतम हुआ करता है, यह भी श्रुति ही वतलाती है : 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' अर्थात् सभी प्रिय वस्तुओं की प्रियता का पर्यवसान आत्मा की तुष्टि ही है। भला ऐसा आत्मस्वरूप पुत्र प्राणी को कितना प्रियतम हो सकता है, यह पृथक् वताने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

शास्त्रों की दृष्टि से देखें, तो पुत्र हमें इसलिए प्रिय होता है कि वह हमारे प्रजातन्तु को अखण्ड-अव्याहत वनाये रखता है, जिसकी अनुपेक्ष्यता का आदेश

समावर्तन के समय भगवती श्रुति हमें आचार्य के माध्यम से देती है : 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।'

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शास्त्रों की मान्यता के अनुसार यह 'प्रजातन्तु' या दूसरे शब्दों में 'वंश' दो प्रकार का हुआ करता है : एक, जन्म-कृत और दूसरा, विद्या-कृत। जन्म-वंशज सन्तान जैसे अपने पूर्वजों का उद्धार करती है, वैसे ही विद्या-वंशज सन्तान भी। इनमें किसी तरह का तर-तमभाव नहीं माना जाता। यही कारण है कि पिता के पाँच प्रभेदों में एक गुरु की भी गणना की गयी है। पुत्र के विना, फिर वह जन्म-कृत हो या विद्या-कृत, मनुष्य की गति नहीं : 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।' तव प्रश्न होता है कि ऐसे सर्वथा महत्त्वशाली परम प्रेमास्पद पुत्र की मृत्यु पर लोकमान्य तिलक जैसे पुरुष—जिन्हें निःसन्देह गँवार या पशु नहीं कहा जा सकता—अपना काम पूरा करने की दृढ़ता कैसे रख पाते हैं ? उत्तर स्पष्ट है : 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।'

ध्यान देने की वात है कि यहाँ जो 'मनस्वी' शब्द कहा गया है, उसका अर्थ है, 'प्रशस्त-मना'। मन का यह प्राशस्त्य क्या है और किस कारण है ? तो गीता-कार के शब्दों में उसे स्थितप्रज्ञता ही वताना होगा। कारण वे स्थितप्रज्ञ के लक्षण भी ऐसे ही वताते हैं :

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥'

अर्थात् त्रिविध महान् दुःख पड़ने पर भी जिनका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख पाने पर जिनकी तृष्णा नहीं बढ़ती और जिनमें से राग, भय एवं क्रोध चला गया है, वे मननशील आत्मज्ञ संन्यासी ही स्थितप्रज्ञ कहे जाते हैं। वैसे 'वीतरागभय-क्रोधः' तो एक हद तक कुछ लोग देखे भी जा सकते हैं या कोई प्रदर्शन के तौर पर कुछ समय के लिए उतना संयम कर भी सकता है। किन्तु 'दुःखेषु अनुद्विग्न-मनाः' और 'सुखेषु विगतस्पृहः' यानी सुख में तृष्णा न होने देना और दुःख में उद्विग्न न होना सिवा स्थितप्रज्ञ के संभव नहीं। इस प्रकार कहना पड़ता है कि 'गीता-रहस्य' की शब्द-मूर्ति गढ़नेवाले अमरशिल्पी लोकमान्य तिलक इन्हीं स्थित-प्रज्ञों की कोटि में आते हैं। ऐसा स्थितप्रज्ञ ही स्वयं समाहित-चित्त एवं शान्त रहकर कोई उल्लेख्य कार्य कर पाता है।

आखिर हम दूर जाकर इसकी सत्यता परखने का प्रयास क्यों करें ? 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' हमारे घर के कोने में ही मधु मिलता हो, तो उसे खोजने दूर पहाड़ पर जाने का प्रयास क्यों ? प्रत्यक्ष हमारे गुरु महाराज इसके

ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारतीय वैदिक संस्कृति के प्रसार-प्रचार में अपना समग्र जीवन होम देने का अखण्ड व्रत चलानेवाले गुरुदेव को अव तक प्रसंग-विशेषों में कितने दुःखों और कष्टों का सामना करना पड़ा, यह तो अव तक का उनका यह चरित्र पढ़ने पर वहुत कुछ सुस्पष्ट हो जाता है। फिर भी आप उन सवकी तनिक भी परवाह न कर, तृणवत् उनकी उपेक्षा कर लोक-संग्रह के पावन पथ पर उत्तरोत्तर तीव्रता के साथ अग्रसर होते जा रहे हैं। इसीसे आपकी मनस्विता, स्थितप्रज्ञता स्पष्ट हो जाती है।

आपकी यह स्थितप्रज्ञता तव और निखर उठती है, जव आप क्रमशः अपने कृपापात्र, प्रकाण्ड वक्ता देवप्रकाश शास्त्री; परम स्नेह और श्रद्धा के भाजन और स्वयं की असुविधाओं की परवाह न कर आपकी सुख-सुविधा का ध्यान रखनेवाले सुयोग्य विद्वान् और अद्भुत वक्ता श्री स्वामी शान्तानन्दजी; अनन्य मित्र अवधूत हंसदेवजी, तपस्वी पूर्णदासजी और अन्त में अपने प्रियतम परम स्नेहास्पद प्रधान शिष्य, दूसरे शब्दों में अपने 'दक्षिण हस्त' श्री स्वामी सर्वानन्दजी को भी कराल काल द्वारा निर्ममता के साथ अपनी तीक्ष्ण दंष्ट्राओं में दवाते देखकर भी तनिक विचलित नहीं होते और स्थिरमति वने रहते हैं। इतना ही नहीं, आगे भी उसी पूर्व उत्साह के साथ कदम वढ़ाते हुए पता ही नहीं लगने देते कि क्या हुआ और क्या नहीं हुआ ?

सचमुच सर्वश्री स्वामी शान्तानन्दजी, देवप्रकाश शास्त्री, अवधूत हंसदेवजी, तपस्वी पूर्णदासजी आदि की मृत्यु गुरु महाराज को क्षणभर विचलित कर देने के लिए कम न थी, पर स्वामी सर्वानन्दजी के आकस्मिक महाप्रयाण ने तो सीमा ही तोड़ दी। साधारण पंजावी और हिन्दी पढ़े-लिखे 'साधुराम' नामक सेवाभावी एक होनहार नवयुवक को आपने मित्रों के आग्रह पर ३६ वर्ष पूर्व (चैत्र शुक्ला प्रतिपद् संवत् १६८० में) अपनी शरण लिया और 'सर्वानन्द' वनाया। फिर तपस्या, ध्यान और ज्ञान की छेनी से उसकी दिव्य मूर्ति गढ़ी। उसमें ऐसे संस्कार और प्राण डाले कि शरीर दो होने पर भी आत्मा अपने से सर्वथा अभिन्न हो गयी। उत्साहावतार, सर्वानन्दजी आत्मवल और शारीरिक वल की संगम-स्थली होकर भी विनय एवं गुरु-भक्ति में अभिनव आरुणि थे। वे सच्चे अर्थ में आपकी ज्ञानमयी प्रजा के सुपुष्ट तन्तु थे। ऐसा शिष्य निर्माण कर गुरु महाराज जीवन के ८० वर्ष तक अव्याहत चलाये हुए लोक-संग्रह के कार्य से अव कुछ विश्राम लेने की सोच रहे थे। उसके उपक्रम के रूप में आपने इधर वर्षों से सभा-सोसाइटियों के कार्यों से अधिकांशतः विरति ग्रहण कर ली थी कि इसी वीच अकस्मात् इस लहलहाते वृक्ष का समूलच्छेद हो जाना साधारण जन की वात ही क्या, वड़ों-वड़ों

को सदा के लिए शोक के गर्त में डाल देनेवाला होगा। किन्तु गुरु महाराज इस भीषणतम प्रसंग में भी किस तरह अविचल रहकर अपनी स्थितप्रज्ञता स्पष्ट करते हैं, यह सारा प्रसंग इस प्रकरण में पढ़ें।

प्रयाग की अर्धकुम्भी

हाँ, तो गुरु महाराज ५ जनवरी १९६० को भटिण्डा से अर्धकुम्भी मेले के निमित्त प्रयागराज पधारे। मेले का पूरा प्रवन्ध यथापूर्व श्रौतमुनि-निवास शिविर में किया गया था। २१ जनवरी को आपकी छावनी में साधुवेला के महन्त सर्वश्री गणेशदासजी, गुरुमण्डल के महन्त मण्डलेश्वर रामस्वरूपजी, राजगिरि के महन्त मण्डलेश्वर हंसमुनिजी, कूटस्थजी अपने-अपने भक्त एवं सन्त-मण्डल के साथ पधारे और आपके पास ही ठहरे। तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य एवं सनातन-धर्म के अन्यान्य प्रमुख तत्त्वों पर विद्वान् महात्माओं के प्रवचन होते रहे। पूर्व कुम्भों की तरह अन्न-सत्र, सन्त-सेवा आदि के कार्यक्रम भी भव्य रूप में चलते रहे।

विभिन्न प्रदेशों से गुरु महाराज के भक्तजन अन्य कुम्भों की तरह यहाँ भी सेवा में पहुँचे थे। लेखिका को भी आपके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भक्त यात्री-मण्डल में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम उल्लेख्य हैं : सर्वश्री सेठ नटवरलाल चिनाई, सेठ वालचन्द, गोविन्दराम एवं मुरलीधर सेऊमल, सेठ राम-नारायण भोजनगरवाले, बंशीधर खेमका, हीरालाल सूतरवाला, सेठ पीताम्वर, लक्ष्मीचन्द चावला, गंगामाँ पटेल, जयावती प्राणलाल आदि।

उदासीन-परिषद्

यहाँ २६ जनवरी १९६० को छावनी में उदासीन-परिषद् का आयोजन हुआ, जिसका शुभारम्भ तपस्वी श्री पूर्णदासजी महाराज के वरद-हस्त से हुआ। केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा भी छावनी में पधारे थे। देश की उन्नति में महात्माओं के सहयोग पर आपके साथ उनका विचार-विमर्श हुआ।

अर्धकुम्भी के अवसर पर 'भारत साधु-समाज' का भी अधिवेशन त्रिवेणी-तट पर रखा गया था।

कुम्भ के पश्चात् ३० जनवरी को गुरु महाराज कार द्वारा काशी पधारे। लेखिका, सेठ वालचन्द, सेठ नटवरलाल चिनाई आदि कई प्रमुख भक्त आपके साथ थे। काशी में दो-तीन दिनों तक निवास हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय, सार-नाथ, विश्वनाथ-मन्दिर आदि दर्शनीय स्थानों की यात्रा हुई। उदासीन संस्कृत

महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए भण्डारा हुआ और सुयोग्य शिक्षार्थियों को वस्त्र, दक्षिणादि से पुरस्कृत किया गया। इस अवसर पर सदैव के क्रमानुसार गुरु महाराज ने काशी के प्रमुख परिचित विद्वानों की सत्कार-सम्भावना एवं उनके साथ शास्त्र-चर्चा भी की।

काशी से ४ फरवरी को गुरु महाराज बम्बई पधारे। वहाँ आप सेठ बालचन्द के बँगले में ठहरे। सिन्धी सेठ श्री तुलसीदास नागपाल ने डी रोड, चर्च गेट-स्थित अपने तुलसी-निवास का हाल सत्संग के लिए देने का पहले ही वचन दे रखा था। सन्तों की भोजनादि-व्यवस्था के लिए पैडल रोड पर पद्म-बिल्डिंग ग्राउण्ड के फ्लोर में श्री गोविन्दराम सेऊमल ने अपनी स्वर्गीय माता की पुण्यस्मृति में एक भूमि-खण्ड (फ्लैट) ट्रस्ट को दान दिया। एक दूसरा फ्लैट बम्बई की भक्त-मण्डली की एकत्रित धनराशि से मैरीन ड्राइव पर गोविन्द-महल में लिया गया। सन्तों के निवास के लिए किराये के एक फ्लैट की व्यवस्था तुलसी-निवास में की गयी।

भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन

इस प्रकार सन्तों के निवासादि की उचित व्यवस्था के बाद 'उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जनकल्याण ट्रस्ट' के निश्चयानुसार दैनिक सत्संग आरम्भ करने के लिए तुलसी-निवास-हाल में ७ फरवरी से ७ मार्च १९६० तक एक मास का भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन आयोजित हुआ।

सेठ श्री लोकूमल के सुपुत्र सेठ श्री ढालूमल ने अपने पिता की पुण्यस्मृति में उपनगर 'खार' में 'लोकहित-कुटीर' का निर्माण कराया था। इन्हीं दिनों उसका भी उद्घाटन-उत्सव रखा गया था। सेठ ढालूमल के मित्र सेठ लक्ष्मीचन्द चावला ने प्रयाग-अर्धकुम्भी पर ही सुयोग्य विद्वान् एवं तपस्वी महात्माओं को इस उत्सव में भाग लेने के लिए सेठजी की ओर से आमन्त्रित किया था।

गुरु महाराज के परामर्श से भवन की उद्घाटन-विधि पूज्य तपोमूर्ति श्री पूरणदासजी महाराज ने की। वे सदा ही मेले के अनन्तर कुछ दिन तीर्थ-स्थान में निवास किया करते हैं। अतएव उनका इतने शीघ्र बम्बई आने का विचार न था। फिर भी आपके आग्रह पर उन्होंने पधारना स्वीकार कर लिया।

लोकहित-कुटीर के उद्घाटन-समारोह का संचालन साधुबेला के महन्त कर रहे थे। अतएव इस महोत्सव में अनेक सन्त एवं विद्वान् पधारे। वे सभी भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन में भी यथासमय उपस्थित होते और प्रवचनादि से जनता को

कृतार्थ करते। सच तो यह है कि लोकहित-कुटीर के उत्सव से तुलसी-निवास के इस सम्मेलन में चार चाँद लग गये। दोनों उत्सव एक-दूसरे के सहयोग से विशेष सफल रहे।

श्री स्वामी सर्वानन्दजी गुरु महाराज के आदेशानुसार प्रयाग से सीधे कलकत्ता गये। वहाँ सुशीलकुमार जैन द्वारा सर्वधर्म-सम्मेलन आयोजित था। उस सम्मेलन में भाग लेकर स्वामीजी १२ फरवरी को बम्बई आ गये। गुरु महाराज की भक्तवत्सलता से पाठक समय-समय पर सुपरिचित ही हैं। आप किसीको कोई वचन दे देते हैं, तो फिर उस समय कितना ही आवश्यक कार्य क्यों न हो, उसे पूरा किये विना नहीं रहते। इस वार भी ऐसी ही घटना हुई। भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन को बीच में छोड़कर अन्यत्र जाना बड़ा कठिन था। फिर भी आप भक्त को दिया हुआ वचन निभाने के लिए विमान द्वारा १४ फरवरी को एकाएक अमृतसर पहुँच गये। वहाँ आपकी भक्ता श्री रामलाल कपूर की पुत्री श्री शकुन्तला-देवी की कन्या सुश्री शारदा का विवाह था। आपके वहाँ उपस्थित हो जाने से सभी भक्त-मण्डली को अत्यन्त समाधान हुआ और गुरुदेव की अखण्ड कृपा-छाया का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ।

श्री शकुन्तला आपकी अनन्य भक्ता थी। उसने महिला-मण्डल सत्संग चलाकर अमृतसर के नारी-वर्ग में ब्रह्मविद्या का व्यापक प्रचार किया है। उसकी प्रतिज्ञा थी कि आपकी उपस्थिति में ही कन्या का विवाह करूंगी। दयालु गुरुदेव ने अनेक असुविधाएँ अलग रखकर सच्छिष्या की प्रतिज्ञा पूरी कर दी।

१८ फरवरी को आप अमृतसर से पुनः बम्बई वापस आ गये। इसी अवसर पर भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन के अंगरूप में सिन्धी ब्राह्मण-मण्डल द्वारा शिवरात्रि-सप्ताह महोत्सव मनाया गया और महारुद्र-याग किया गया, जिसमें श्री टीकमदास, शिवकुमारजी आदि सुयोग्य विद्वानों का प्रयास स्तुत्य रहा। उत्सव में सन्तों के अतिरिक्त ब्राह्मण विद्वान् भी इकट्ठे हुए थे। शिवरात्रि के दिन रात्रिभर जागरण तथा विधिवत् चारों प्रहर की पूजाएँ सम्पन्न हुईं।

तुलसी-निवास का सत्संग

इस तरह अपने शानदार आरम्भ से तुलसी-निवास सत्संग का बम्बई की जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अब तो दैनिक सत्संग में प्रचुर संख्या में प्रतिष्ठित सेठ, वकील, बैरिस्टर, अफसर आदि सभी वर्ग की जनता उपस्थित हो दर्शन एवं श्रवण का लाभ उठाने लगी। क्रमशः बम्बई की भक्त-मण्डली ने उदारता के साथ सत्संग को सुदृढ़ एवं स्थायी बना दिया। अब विश्वास के साथ

कहा जा सकता है कि 'उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जनकल्याण ट्रस्ट' के तत्त्वावधान में चलनेवाला यह सत्संग निरन्तर जनता-जनार्दन की सेवा करता रहेगा।

सत्संग के संचालन का स्थायी भार भक्तवर सर्वश्री अर्जुनदास दासवानी, सेठ लक्ष्मीचन्द नागपाल (लखाभगत), पुरुषोत्तमदास पटेल ने विशेष रूप से अपने ऊपर ले रखा है और उन्हें निम्नलिखित भक्तों का विशेष सहयोग प्राप्त है : सर्वश्री सेठ तुलसीदास नागपाल, सेठ बालचन्द, मुरलीधर एवं गोविन्दराम सेऊमल, नटवरलाल चिनाई, सुन्दरदास नरसूमल, श्रीमती कला गोपालदास, सेठ लोकूमल उत्तमचन्दानी, केवलराम तथा मूलचन्द उत्तमचन्दानी, भोगीलाल (दास एण्ड कम्पनीवाले), जमनादास डोसा, सन्तरामपुर राज्य की माँ साहब, राजकुमारी आनन्द कुँवर बा, लेखिका आदि।

युगों से अविद्याच्छन्न एवं पीड़ित जीवों के सतत जागरण, उत्थान एवं आत्म-कल्याण के लिए ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषों का संग, शास्त्र-श्रवण एवं सदुपदेश अनिवार्य है। भारत देश की सन्तान पहले की तरह संयमी, सदाचारी, ज्ञाननिष्ठ, धर्मानुरागी एवं सुसंस्कारसम्पन्न हो और अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृति एवं सनातन-धर्म पर सुदृढ़ रहे; वह वीर एवं चरित्रवान् पुत्रों को उत्पन्न करे और भारत के भावी नर-रत्नों को यथोचित आर्य-शिक्षा से दीक्षित करे एवं अपना ऐहिक-पारलौकिक श्रेय साधने में समर्थ हो—इस लक्ष्य से गुरु महाराज ने स्थान-स्थान पर सत्संग-मण्डल संगठित किये हैं। शान्ति, संगठन, मैत्री, पारस्परिक ऐक्य और प्रेम के विस्तार के लिए आप जैसे दयालु महापुरुष समय-समय पर विभिन्न ग्रामों एवं नगरों में घूमते रहते हैं। वे अपनी अमृतमयी ज्ञान-गंगा द्वारा त्रिविध तापों से संतप्त जीवों को हार्दिक शीतलता प्रदान करते हैं। ऐसे महापुरुषों का ऋण एक ही प्रकार से, आंशिक रूप में चुकाया जा सकता है। वह है, निरन्तर उनके आदर्श उपदेशों के अनुसरण का प्रयास, उनके उदात्त जीवन-रत्नाकार की तह में पहुँचकर उज्ज्वल एवं देदीप्यमान रत्नों को निकाल अपना जीवन विभूषित करना और दिग्-दिगन्त को प्रोज्ज्वल बनाना।

आज चार वर्षों से यह सत्संग निरन्तर चला आ रहा है। समय-समय पर यहाँ सुयोग्य महापुरुष एवं विद्वान् पधारते हैं और जनता को उनके उपदेशों का लाभ मिलता रहता है।

स्मरण रहे कि इस सत्संग की स्थापना और इससे पूर्व भू-खण्ड (फ्लैट) आदि की व्यवस्था को अद्यावधि व्यवस्थित चलाते आने का श्रेय गुरु महाराज के प्रमुख शिष्य व्याकरणाचार्य एवं तर्क-मीमांसातीर्थ श्री ओंकारानन्दजी को है। वे ट्रस्ट एवं मण्डल को समय-समय पर उचित परामर्श देते हैं। किस समय किस

विद्वान् को बुलाने से सत्संग की शोभा बढ़ेगी और किन-किन विषयों पर उनके प्रवचन रखे जायँ, उसकी आर्थिक स्थिति कैसे प्रबल बने आदि बातों का आप पूरा ध्यान रखते हैं। किसी विद्वान् के प्रवचन के आरम्भ एवं समाप्ति पर स्वयं उपस्थित हो वक्ता एवं मण्डल का उत्साह बढ़ाते हैं। पहले वर्ष अन्य वक्ताओं की अनुपस्थिति में पाँच महीने स्वयं आपने प्रवचन किये और अपने मित्र सर्वश्री हंसमुनि, कूटस्थानन्द, कृष्णानन्द, गोविन्दानन्द आदि प्रख्यात विद्वानों के प्रवचनों की योजना बनायी। संक्षेप में श्री ओंकारानन्दजी इस ट्रस्ट एवं सत्संग-मण्डल के प्राण हैं।

गुरु महाराज यहाँ केवल चातुर्मास्य में पधारते हैं और उन दिनों प्रवचन का उत्तरदायित्व श्री ओंकारानन्द मुनि ने ही ले रखा है। वाचिक सहायता के अतिरिक्त वे हरिद्वार में सन्त-सेवार्थ ३००) मासिक की मदद भी देते हैं। गुरु महाराज ने ट्रस्ट को आदेश दिया है कि 'वह बम्बई-सत्संग का संचालन मुनिजी के परामर्शानुसार ही किया करे।'

१७ मार्च १९६० को श्री स्वामी सर्वानन्दजी कार्यवश अहमदाबाद चले गये और श्री ओंकारानन्दजी गुरुदेव की आज्ञा से सत्संग में प्रवचन करने लगे।

सूरत में

इधर गुरु महाराज सूरत-निवासी भक्तवर सेठ चुनीलाल रेशमवाला के विशेष अनुरोध पर बम्बई से सूरत पधारे। वहाँ आप हंसबाग, मन्छूभाई के बँगले में ठहरे। २८ मार्च '६० को संवत् २०१७ की वर्ष-प्रतिपद् का स्नान वहीं ताप्ती नदी में हुआ। इस बार आप पहले की तरह नगर के किसी धार्मिक केन्द्र में प्रवचन के लिए नहीं गये। पाठक जानते ही हैं कि कुछ वर्षों से आपने अवस्थावश प्रवचनों से निवृत्ति पा ली है। फिर भी यहाँ आपके निवास पर प्रतिदिन दर्शनार्थियों की भीड़ लगी ही रहती थी। आपके शिष्य श्री ब्रह्मदेवजी योग, वेदान्त, भक्तिसम्बन्धी भावुकों के प्रश्नों का समाधान करते। गुरु महाराज निकट में बैठकर शिष्य के निरूपण-वैदुष्य को सुनते रहते। कभी-कभी तरंग आ जाने पर बीच में पड़कर स्वयं भी कई जटिल प्रश्नों के समाधान में जुट जाते। शास्त्र का व्यसन भी साधारण नहीं होता! प्रसंग उपस्थित होने पर विशेषज्ञ चुप रह ही नहीं सकता! ऐसे प्रश्नों में कुछ प्रश्न ये हैं: 'भक्ति क्यों की जाय? भगवान् किसकी भक्ति करता है?' आदि। जिज्ञासु आपसे इनके मार्मिक समाधान प्राप्त कर कृतार्थ हो जाते।

श्री हंसदेवजी का कैलासवास

इसी बीच १३ अप्रैल सन् १९६० को उदासीन-सम्प्रदाय के प्रमुख महापुरुष, भारत की दिव्य-विभूति, प्रातःस्मरणीय अवधूत हंसदेवजी महाराज का जसीडीह (वैद्यनाथ धाम, बिहार) में कैलासवास हो गया। उनका शव वाराणसी में लाकर गंगा में प्रवाहित किया गया। सूरत में यह समाचार मिलते ही धार्मिक जनता में विलक्षण शोक छा गया। कारण लगभग ६० वर्षों तक अवधूतजी ने अपने दर्शन एवं उपदेशों से सूरतवासियों को कृतार्थ किया था। उनके दिव्य चमत्कार एवं उपदेशों से सूरत का जन-जन अत्यन्त प्रभावित था।

कैलासवासी श्री अवधूतजी को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने के लिए विट्ठलवाड़ी में विराट् शोक-सभा का आयोजन हुआ, जिसका सभापतित्व स्वयं गुरु महाराज ने किया। सूरत के प्रतिष्ठित सेठ, विद्वान् एवं शिक्षाशास्त्रियों की ओर से दिवंगत महापुरुष को श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित की गयीं।

गुरु महाराज ने अवधूतजी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए जनता को आश्वस्त किया कि 'अवधूतजी अब भी आप लोगों के बीच हैं। सन्त अमर होते हैं, केवल उनका लीला-विग्रह अदृश्य होता है। मेरी तो उनसे विशेष मैत्री थी और वयोवृद्ध महापुरुष के नाते श्रद्धा भी। आप लोग उनके उपदेशों को आचरण में लायें। गुरु का उपदेश मानकर अपने जीवन को उन्नत बनाना ही सच्ची गुरु-भक्ति है। अवधूतजी के लिए यही वास्तविक श्रद्धाञ्जलि है कि आप लोग उनके द्वारा स्थापित आश्रमों का सुचारु रूप से संचालन करें और कुम्भों पर उनके द्वारा चलायी गयी सन्त-सेवा अखण्ड जारी रखें।'

गुरु महाराज ने भक्त-मण्डली को परामर्श दिया कि सूरत के सिद्ध-कुटीर में अवधूतजी की पुण्य-स्मृति में भण्डारा किया जाय और हरिद्वार में भी उनके स्वरूप के अनुरूप विशाल भण्डारे को योजना करें। उपस्थित जनता ने तत्काल बड़ी श्रद्धा के साथ इसकी स्वीकृति दे दी।

सूरत में गर्मी बढ़ जाने से सेठ चुनीलालजी के अनुरोध पर गुरु महाराज डूमस में, समुद्र-तटवर्ती उनके बँगले में चले गये। गोविन्दानन्दजी, ब्रह्मदेवजी, भास्करजी आदि सन्त आपके साथ थे। चुनीलालजी के लघु भ्राता सेठ श्री छगनलाल सपरिवार आपकी सेवा में लगे रहे। बीच-बीच में भाई चुनीलाल और उनके मित्र श्री ठाकुरभाई जरीवाला डुम्मस में आपके दर्शनार्थ आते रहते।

लाल बाबा का गोलोकवास

इन्हीं दिनों अत्यन्त खेद की बात तो यह हुई कि अवधूत श्री हंसदेवजी के

स्वर्गवास के पाँचवें ही दिन १७ अप्रैल १९६० को साधुशिरोमणि, दीन-दुखी तथा गो-अतिथि के सेवक उदासीन लाल बाबा का भी कलकत्ते में अकस्मात् गोलोक-वास हो गया। लाल बाबा कलकत्ते में वर्षों रहे और वहाँ से गंगासागर-मेले के अवसर पर आनेवाले सन्तों की उल्लेख्य विशेष सेवा करते। आपके आश्रम में हजारों सन्त ठहरते थे। आपने कई स्थानों पर बड़ी-बड़ी गोशालाएँ बनवायीं, जहाँ हजारों की संख्या में गोमाताओं की सेवा चलती। आप प्रत्येक पूर्णिमा को दरिद्र-नारायण की सन्तुष्टि के निमित्त विशाल भण्डारा किया करते। गुरु महाराज के विशेष अनुरोध पर आप सन् १९६० में अर्धकुम्भी के अवसर पर प्रयाग भी पधारे थे और गुरुदेव की छावनी में ही ठहरे थे। गुरुदेव को आश्चर्य हुआ कि क्या अवधूतजी और लाल बाबा ने एक-दूसरे के तत्काल पश्चात् ही उपास्य-लोक में गमन का कोई कार्यक्रम सोच रखा था !

३ मई को अवधूत श्री हंसदेवजी के भण्डारे का कार्यक्रम निश्चित हुआ। अतः उसमें सम्मिलित होने के लिए गुरु महाराज डुम्मस से पुनः सूरत आ गये। इस अवसर पर साधुबेला के महन्त श्री गणेशदासजी और स्वामी ओंकारा-नन्दजी भी यहाँ पधारे थे। गुरु महाराज के आदेशानुसार अवधूतजी के चारों शिष्य—सर्वश्री आत्मदेव, कृष्णदेव, कूटस्थानन्द और निरञ्जनदेव क्रमशः ऊटी (नीलगिरि), भड़ौच, सूरत एवं जसीडीह आश्रमों के महन्त नियुक्त किये गये।

गुरु महाराज सूरत से माउण्ट आबू पधारे। वहाँ आप दो मास तक अवि-नाशी-धाम (कैलाश-भवन) में ठहरे। सूरत के भक्त रमणलाल ठाकुरभाई और उनके बहनोई चम्पकलाल तथा भक्त रतिलाल के सुपुत्र जनकभाई सपत्नीक सूरत से यहाँ दर्शनार्थ आये।

उधर पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार सूरत की भक्त-मण्डली हरिद्वार पहुँची और राम-धाम में ठहरी। गुरु महाराज के प्रधान शिष्य दर्शनरत्न मण्डलेश्वर श्री सर्वानन्दजी के परामर्श से चेतनदेव की कुटिया में अवधूत श्री हंसदेवजी का विशाल भण्डारा हुआ। श्री सर्वानन्दजी ने भण्डारे में सब प्रकार से सहयोग दिया, यद्यपि उन दिनों वे पूर्ण स्वस्थ नहीं हुए थे।

ज्ञातव्य है कि प्लाट नं० १३, पार्क एरिया, करोलबाग, नयी दिल्ली में २८ अप्रैल, १९६० गुरुवार अक्षय-तृतीया के दिन जब नव-आश्रम का शिलान्यास हुआ, ता उसी समय श्री सर्वानन्दजी को अर्धांग-वायु (लकवे) का भयंकर आक्रमण हो गया। सुयोग्य डाक्टर बहल के तत्काल उपचार से कुछ लाभ तो हुआ, पर रोग का प्रकोप बना ही रहा।

आबू से गुरु महाराज अहमदाबाद आये। उधर श्री सर्वानन्दजी भी हरिद्वार से अहमदाबाद पहुँच गये। ८ जुलाई १९६० को वेद-मन्दिर में गुरुपूर्णिमा-महोत्सव मनाया गया। उत्सव के बाद गुरु महाराज बम्बई आ गये और सेठ बालचन्द के बँगले में ठहरे। श्री सर्वानन्दजी अहमदाबाद में ही ठहर गये। आपके आदेश से श्री ओंकारानन्दजी तुलसी-निवास हाल (बम्बई) में चातुर्मास्य का सत्संग करते रहे। गुरु महाराज भी सत्संग में प्रायः दर्शन देते। कभी-कभी जनता को १०-१५ मिनट आपका भी हृदयग्राही उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता।

१४ अगस्त १९६० को जन्माष्टमी-उत्सव बम्बई में तथा ३१ अगस्त (भाद्रपद शुक्ला ९मी) को जगद्गुरु आचार्य श्रीचन्द्र का जन्मोत्सव पूना में सोत्साह मनाया गया।

सितम्बर में गुरु महाराज सेठ नटवरलाल माणिकलाल चिनाई की प्रार्थना पर नैनीताल पधारे। आपके साथ सेठ गोविन्दराम सेऊमल तथा लेखिका भी थी। सन्त गोविन्दानन्दजी आदि आपकी सेवा में रहे। नैनीताल में एक मास निवास हुआ। नैनीताल के लिए काठगोदाम स्टेशन पर पहुँचने पर सेठ मुरलीधर सेऊमल के सम्बन्धी रत्तूमलभाई बैण्डबाजा और हलद्वानी की बहुत-सी भक्त-मण्डली के साथ स्वागतार्थ उपस्थित थे। स्टेशन पर ही गुरु महाराज का धूमधाम से स्वागत किया गया और वहाँ से कार द्वारा आपको नैनीताल लाया गया। रत्तूमलभाई बीच-बीच में हलद्वानी से नैनीताल उपस्थित हो आपकी सेवा में रहते। उनकी श्रद्धा-भक्ति देखते ही बनती।

गुरु महाराज अक्तूबर के द्वितीय सप्ताह में गोविन्दराम सेऊमल के साथ नैनीताल से वृन्दावन धाम पधारे। वहाँ आप श्रौतमुनि-निवास में ठहरे। दीपमालिका-उत्सव वृन्दावन में ही हुआ।

२३ अक्तूबर को गुरु महाराज वृन्दावन से दिल्ली पधारे। वहाँ मोहन-भवन में ठहरे। प्लाट नं० १३, पार्क एरिया, करोलबाग, नयी दिल्ली में श्री स्वामी सर्वानन्दजी द्वारा सत्संग चल रहा था। वे वृन्दावन में गुरु महाराज का दर्शन कर पहले ही दिल्ली चले गये थे।

सदाचार-सप्ताह में भाषण

मोहन-भवन में गुरु महाराज के सान्निध्य में भारत साधु-समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई, जिसमें निश्चय हुआ कि देश में चरित्र-निर्माण की दिशा में समाज की ओर से 'सदाचार-सप्ताह' मनाया जाय। तदनुसार इस आयोजन के निमित्त उपयुक्त स्थान ढूँढ़ा गया। किन्तु इतने शीघ्र

कोई उचित स्थान प्राप्त न हो सका। अन्ततः गुरु महाराज ने केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी एवं भारत साधु-समाज के अन्य संचालकों को सलाह दी कि 'करोलवाग के हमारे प्लॉट में ही यह सप्ताह मनाया जाय। मण्डल के सदस्य स्वयं इसकी व्यवस्था कर देंगे। साधु-समाज पर किसी प्रकार का आर्थिक भार भी नहीं पड़ेगा।' वात सबको जँच गयी और तत्काल मान ली गयी।

पूर्व-निश्चित कार्यक्रमानुसार ६ से १३ नवम्बर १९६० तक भारत साधु-समाज की ओर से 'सदाचार-सप्ताह' का आयोजन हुआ। समाज के संचालकों के विशेष आग्रह पर इन दिनों सभा-सोसाइटियों से निवृत्त होने पर भी गुरु महाराज ने सप्ताह के उद्घाटन का भार स्वीकार कर लिया और ६ नवम्बर को आपके शुभ हाथों सप्ताह का उद्घाटन हुआ। इस अवसर पर आपने जो भाषण दिया, वह संक्षिप्त होने पर भी वड़ा ही मार्मिक रहा।

आपने कहा : 'सदाचार' शब्द का एक अर्थ है (सति = ब्रह्मणि, आ = आरोहणाय, चारः = चरितम्) वह क्रिया, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म-भूमि पर आरूढ़ हो सके। दूसरे शब्दों में प्राणी जीवभाव को छोड़कर ब्रह्मभाव प्राप्त कर सके, शनैः शनैः सकामता का अन्त होकर ईश्वर के समान ही निष्काम बने, ऐसा पवित्र आचार, व्यवहार ही सदाचार है।

शास्त्रों का कहना है कि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' अर्थात् आचार-विहीन को वेद भी पवित्र करने की सामर्थ्य नहीं रखते। सदाचार वह कल्पवृक्ष है, जिसका मूल धर्म है, संयममय जीवन प्रकाण्ड (स्कन्ध) हैं, यश पत्ते हैं, धन शाखाएँ, भोग (भुक्ति) पुष्प और मुक्ति है सुस्वादु मधुर फल। स्मृति-शास्त्रों में धर्म के निर्णायक चार प्रमाणों में सदाचार को भी स्थान दिया गया है :

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥'

(मनुस्मृति २-१२)

सदाचार-पालन और चरित्र-निर्माण एक ही बात है।

पूर्वोक्त व्याख्या के अतिरिक्त 'सदाचार' शब्द की दो और व्याख्याएँ हो सकती हैं, जो इस प्रकार हैं :

(१) हमारे पूर्वजों ने जीवन की उन्नति के साथ जिन नियमों को अपनाया और शास्त्र जिनके पालन से मनुष्य का कल्याण बताते हैं, वही क्रिया-कलाप प्रशस्त (शास्त्र-विहित) एवं अनिन्दित होने से 'सदाचार' कहा जाता है ('सत् = प्रशस्तः चासौ आचारश्च सदाचारः')।

(२) अथवा उच्च कक्षा के महापुरुषों द्वारा अपनाया जानेवाला आचार ('सताम्=शिष्टानाम्, आचारः सदाचारः') सदाचार है।

'मीमांसा-दर्शन' (अ० १, पा० ३) में महर्षि जैमिनि ने सदाचार के महत्त्व का विस्तृत वर्णन किया है। 'तन्त्रवार्तिक' में भट्टपाद कुमारिल ने भी इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

'सदाचार' की एक अन्य व्याख्या 'शुभ-प्रवृत्ति' भी है, जिसका संक्षेप में अर्थ है, दस प्रकार के पापों से बचना। 'मनुस्मृति' (अध्याय १२, श्लोक ५—७) में इनका विस्तृत वर्णन है। ये दस पाप हैं : तीन शारीरिक, चार वाचिक और तीन मानसिक।

न्यायदर्शन-सूत्र (१-१-२) के भाष्य में महर्षि वात्स्यायन इन पापों का निम्नलिखित शब्दों में निरूपण करते हैं :

> 'शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्ध-
> मैथुनान्याचरति। वाचा अनृतपरुष-
> सूचनाऽसम्बद्धानि। मनसा परद्रोहं
> परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति।'

अर्थात् १. हिंसा, २. चोरी और ३. व्यभिचार, ये तीन शारीरिक पाप हैं। ४. कटु भाषण, ५. मिथ्या भाषण, ६. निन्दा और ७. असम्बद्ध प्रलाप, ये चार वाचिक पाप हैं। तथा ८. परानिष्ट-चिन्तन, ९. दूसरे की सम्पत्ति छीन लेने की इच्छा और १०. नास्तिक्य (ईश्वर और परलोक में अविश्वास), ये तीन मानसिक पाप हैं। इन सब दुराचारों को अपने जीवन से हटा देना ही सदाचार है।

ज्येष्ठ मास की शुक्ला दशमी के दिन पड़नेवाला गंगा-दशहरा पर्व और आश्विन शुक्ला विजयादशमी पर्व इन्हीं दशविध पापों के हरण की ओर संकेत करते हैं। दशहरा का अर्थ है, जिस पवित्र तिथि में अपने चरित्र-निर्माण के लिए मनुष्य दशविध पापों से दूर रहने की प्रतिज्ञा करे। हमारे पूर्व-पुरुषों ने इन दोनों दशहरा-पर्वों को चरित्र-निर्माण का प्रतीक रखा है।

'वृहस्पति-स्मृति' में आत्मा के आठ गुण वर्णित हैं, जो इस प्रकार हैं : १. दया, २. क्षमा, ३. अनसूया, ४. शौच, ५. अनायास, ६. मंगल, ७. अकृपणता (उदारता) और ८. अस्पृहता (निष्कामता)। इस तरह यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि दशविध दुर्गुणों को दूर कर उपर्युक्त आठ गुणों का सम्पादन करना ही सदाचार या चरित्र-निर्माण है।'

गुरु महाराज के सदाचार-सम्बन्धी इस शास्त्रीय विवेचन से समाज के प्रमुख नेतृवर्ग और उपस्थित सभ्यगण गद्‌गद हो उठे और सबके हृदय में यह बात भलीभाँति घर कर गयी कि सदाचार-पालन मानव-जीवन का अनिवार्य अंग है।

सदाचार-सप्ताह में सर्वश्री स्वामी अखण्डानन्दजी, दर्शनरत्न वेदालंकार सर्वानन्दजी, राष्ट्रिय सन्त तुकड़ोजी, स्वामी पूर्णानन्दजी, गुरुचरणदासजी, हिन्दू-महासभा के नेता महन्त दिग्विजयनाथजी, सन्त कृपालसिंहजी, शास्त्री आत्मानन्दजी, वेदव्यासजी, अतुलानन्दजी, आनन्द स्वामी, हरिनारायणानन्दजी आदि सन्तों ने भाग लिया और सभीके महत्त्वपूर्ण भाषण हुए। केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी, गृह-विभाग के राज्यमन्त्री जे० वी० दातार, के० एम० मुन्शी आदि राष्ट्रिय नेता भी सप्ताह में उपस्थित हुए थे। सभीके भाषणों का सार था : 'देशोत्थान का प्रधानतम साधन चरित्र-निर्माण ही है और तदर्थ हर संभव उपाय से देश के प्रत्येक वर्ग को सक्रिय होना चाहिए।'

आश्रम का नामकरण : 'गंगेश्वर-धाम'

श्री स्वामी सर्वानन्दजी द्वारा चलाये गये सत्संग की पूर्णाहुति १७ नवम्बर को हुई और उसके बाद मण्डल के सभी सदस्यों ने मिलकर श्री सर्वानन्दजी के परामर्श के अनुसार दिल्ली के इस आश्रम का नाम 'गंगेश्वर-धाम' रखा।

१९ नवम्बर को गुरु महाराज दिल्ली से बम्बई पधारे। कारण सेठ वालचन्द ने अपनी सुपुत्री पुष्पा के विवाह के अवसर पर आपको उपस्थित होने के लिए साग्रह प्रार्थना की थी।

ऐतिहासिक गीता-जयन्ती

ग्वालियर की महारानी श्रीमती विजया राजे ने इस वर्ष बम्बई में गीता-जयन्ती-महोत्सव मनाने की विशिष्ट योजना पहले से बना ली थी। बात यह थी कि सितम्बर में जब गुरु महाराज पूना में पालिताना की महारानी सीता बा के बँगले में ठहरे थे और रायबहादुर नारायणदास के बँगले पर नित्य उनका प्रवचन होता था, तो श्री रमेश मुन्शी ग्वालियर महारानी की ओर से पूना आये। पता लगाकर वे प्रवचन के अन्त में आपसे मिले और गीता-जयन्ती महोत्सव में पधारने की महारानी की ओर से प्रार्थना की। उस समय गुरु महाराज ने कहा था कि 'मैं बम्बई जा रहा हूँ। महारानी सेठ वालचन्द के बँगले पर मिलें, तब भावी कार्यक्रम के विषय में निर्णय कर लिया जायगा।' तदनुसार नैनीताल जाने से पूर्व गुरु महाराज बम्बई पधारे। उस समय आपके परामर्श से वहाँ गीता-समिति

की स्थापना हुई, जिसकी अध्यक्षा स्वयं महारानी ग्वालियर वनायी गयीं और निम्नलिखित सभ्य सदस्य वने : सर्वश्री हरिकृष्ण अग्रवाल, हरिलाल (वच्चूभाई) ड्रेसवाला, भाई वालचन्द, जे० एम० कामदार, परमानन्द मेहरा और रमेश मुन्शी आदि। समिति ने गुरु महाराज के नैनीताल से वापस लौटने तक उत्सव की पूरी योजना तैयार कर ली थी।

गुरु महाराज के वम्वई पहुँचने पर समिति के सदस्यों ने आपसे मिलकर उत्सव के उद्घाटन के लिए साग्रह प्रार्थना की। तदनुसार २३ नवम्बर १९६० को वम्वई में आपके हाथों गीता-जयन्ती महोत्सव का उद्घाटन हुआ। यह उत्सव २३ नवम्बर से २९ नवम्बर १९६० तक चला।

सेठ वालचन्द (जे० वी० मंघाराम) से घनिष्ठ मित्रता होने के नाते उनकी सुपुत्री के विवाह-उत्सव में सम्मिलित होने के लिए इन्हीं दिनों ग्वालियर महाराज श्री जीवाजीराव सिन्धिया भी वम्वई पधारे थे। महारानी साहिवा तो वहाँ पहले से थीं ही। २३ नवम्बर को ही वे गुरु महाराज, साधुवेला के महन्त गणेशदासजी, सर्वानन्दजी आदि सन्तों से सेठजी के वँगले पर मिले और विभिन्न धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा की। ग्वालियर महाराज साधुप्रेमी, श्रद्धामूर्ति एवं अति सरल-हृदय थे। उनके आमन्त्रण पर एक दिन उनके वम्वई-स्थित राजभवन समुद्र-महल में सभी सन्त पधारे और उल्लेख्य सत्संग हुआ। राज-दम्पती ने अपने हाथों सन्तों की सेवा की; दूध, फल, मेवा आदि से उनका सम्मान किया। ग्वालियर महाराज इस वात पर वड़े प्रसन्न थे कि मेरी धर्मपत्नी द्वारा गीता-जयन्ती-महोत्सव की योजना के कारण भारत के सुप्रख्यात सन्तों के दर्शन हुए और उन्होंने गीता-समिति का पूरा साथ दिया।

स्मरण रहे कि महाराजा साहव सन् १९३३ के उज्जैन कुम्भ-पर्व पर भी गुरु महाराज से मिले थे। उस समय वे लगभग १६ वर्ष के थे। इस उत्सव में वम्वई के तत्कालीन राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी ने भी भाग लिया था।

इन्दौर की गीता-जयन्ती

गुरु महाराज द्वारा वम्वई के गीता-जयन्ती महोत्सव का उद्घाटन होने पर भी उत्सव के मुख्य दिन आप वहाँ उपस्थित न थे। समिति ने आपसे उस दिन उपस्थित रहने का अत्याग्रह किया। किन्तु गुरु महाराज को अपने सभी भक्तों का ध्यान रखना पड़ता है। इन्दौर के गीता-भवन के संस्थापक और आपके परम भक्त वावा वालमुकुन्द, सेठ वालकृष्ण मुछाल आदि ने आपसे इन्दौर के गीता-जयन्ती उत्सव का उद्घाटन करने का अत्यन्त आग्रह किया था। उनकी वात रखने के

लिए आप इन्दौर चले गये और २६ नवम्बर को वहाँ गीता-जयन्ती-उत्सव का उद्घाटन किया। इन्दौर में भी धूमधाम से गीता-जयन्ती मनायी गयी। इस अवसर पर विष्णु-महायज्ञ भी आयोजित था।

उधर वम्वई की गीता-जयन्ती का कार्य गुरु महाराज की अनुपस्थिति में उनके शिष्य श्री सर्वानन्दजी ने सम्पन्न किया और वहाँ का उत्सव पूरा कर ३० नवम्बर को वे भी इन्दौर आ गये।

६ दिसम्वर को मध्य भारत के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री कैलाशनाथ काटजू इन्दौर के गीता-भवन में पधारे। इन्हीं दिनों गुरु महाराज के परामर्श से भवन में यज्ञशाला और सन्त-निवास का शिलान्यास भी हुआ। तत्कालीन वित्त-मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल एवं माल-मन्त्री श्री मण्डलोई आपसे मिले। यज्ञान्त अवभृथ-स्नान महेश्वर (माहिष्मती), नर्मदा-तट पर हुआ। इस अवसर पर श्री सर्वानन्दजी भी आपके साथ थे। अवभृथ-स्नान में बहुत-से सन्तों और भक्तों ने भाग लिया।

काशी में संस्कृत-ग्रन्थोद्धार पर विचार

गुरु महाराज इन्दौर का उत्सव पूर्ण कर सीधे काशी पधारे और एक मास तक उदासीन संस्कृत महाविद्यालय में ठहरे। वहाँ आपका काशी के प्रतिष्ठित विद्वान् महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री, श्री रघुनाथ शर्माजी, पं० कमलाकान्त मिश्र, श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री आदि विद्वानों के साथ संस्कृत-साहित्य के उद्धार के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ।

आपने अपने सहयोगी पण्डितों को परामर्श दिया कि अब समय बदल गया है। विद्यार्थियों की स्वाध्याय में रुचि नहीं रही और वे उसके लिए अपेक्षित परिश्रम भी नहीं करते। फिर पहले जैसी तीव्र प्रतिभा भी उनमें नहीं पायी जाती। अतः न्याय-कुसुमाञ्जली आदि संस्कृत के कठिन निबन्धों की संस्कृत में सरल टीकाएँ की जायँ और हिन्दी अनुवाद के साथ उनका प्रकाशन हो। साथ ही कति-पय गवेषणापूर्ण नव-निबन्ध भी लिखे जायँ। वेदों के भाष्य तो सायणादि मनी-षियों ने किये। किन्तु किसी भी भाष्यकार ने वैदिक मन्त्रों की परस्पर संगति बैठाने का प्रयास नहीं किया। जैसे भगवत्पाद शंकराचार्य, श्री मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र, गीता आदि ग्रन्थों को उनके सूत्र, श्लोकादि परस्पर सुसंगत गूँथकर पुष्प-स्तवक (फूलों के गुच्छे) का रूप दिया, वैसे ही वेद-वाटिका के विखरे फूलों (मन्त्रों) की भी परस्पर संगति लगाकर अपौरुषेय वेदराशि को पुष्प-स्तवक का रूप देना चाहिए।

गुरु महाराज सदैव इसी विचार में रहते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य का जीर्णोद्धार हो। सभी दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन कर समन्वय किया जाय। आप काशी में जितने समय ठहरे, स्वयं भी वेदान्त-दर्शन के भाष्यों का तुलनात्मक स्वाध्याय करते रहे। आपने वेदान्त-दर्शन के उदासीन-सम्प्रदाय-समादृत श्रीचन्द्र-भाष्य के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यों के १४ भाष्य संगृहीत किये और उनकी समालोचना की कि किस-किस आचार्य ने अपने-अपने भाष्य में क्या-क्या विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं। इस संक्षिप्त समालोचन के फलस्वरूप आप कुछ निष्कर्षों पर भी पहुँचे। उदाहरणस्वरूप एक निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. प्रायः वैष्णवाचार्य भक्ति से मोक्ष मानते हैं।

२. आचार्य शंकर ज्ञान से मोक्ष का उपपादन करते हैं।

३. किन्तु श्रीचन्द्र-भाष्य में भक्ति-ज्ञान-समुच्चय को विस्तारपूर्वक अकाट्य युक्तियों से मुक्ति का साधन सिद्ध किया गया है।

'तत्तु समन्वयात्' (१-१-४) इस ब्रह्मसूत्र के श्रीचन्द्र-भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है। वहाँ बताया गया है कि मुख्य प्रश्न तीन हैं : ब्रह्म का क्या लक्षण है? ब्रह्म में प्रमाण क्या है? ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो? इनमें तृतीय प्रश्न का उत्तर इस सूत्र के व्याख्यान द्वारा दिया गया है।

आचार्यश्री कहते हैं : 'तत्तु = ब्रह्म, प्राप्यते, समन्वयात् = भक्ति-ज्ञान-समुच्चयात्।' अर्थात् भक्ति और ज्ञान के समुच्चय से निश्चय ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कारण दो प्रकार के बन्ध होते हैं : १. माया और २. अविद्या। माया और अविद्या का पार्थक्य बहुत्र वर्णित है। माया की निवृत्ति के लिए भक्ति और अविद्या की निवृत्ति के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है।

आपने विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री स्वामी योगीन्द्रानन्दजी को परामर्श दिया कि शीघ्र ही श्रीचन्द्र-भाष्य को, जो अभी तक अनेक कारणवश प्रकाशित नहीं हो पाया, शीघ्र प्रकाशित कर दिया जाय और उसकी भूमिका में सभी भाष्यकारों के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जाय।

कलकत्ते में वैदिक-प्रवचन

सेठ रामनारायणजी भोजनगरवाले के आमन्त्रण पर गुरु महाराज काशी से १८ जनवरी सन् १९६१ को कलकत्ता पधारे। वहाँ आप अमर-भवन में ठहरे। श्री सर्वानन्दजी आपके साथ थे। अमर-भवन के सामने के प्लाट में सभा-मण्डप बनवाया गया। वहाँ श्री स्वामी सर्वानन्दजी ने छान्दोग्य-उपनिषद् की कथा प्रारम्भ की और गुरु महाराज ने ऋग्वेद के चार आध्यात्मिक सूक्तों (अस्यवामीय

सूक्त १-१६४, पुरुषसूक्त १०-९०, नासदीय सूक्त १०-१२९ तथा वागाम्भ्रणीय सूक्त १०-१२५) पर प्रवचन किये। जनता हजारों की संख्या में इन प्रवचनों से लाभ उठाती रही।

त्रैवर्णिकों को उपनयन की प्रेरणा

शुक्रवार ३ फरवरी १९६१ को चि० ओम्प्रकाश आदि चार वैश्य बालकों का उपनयन-संस्कार कराया गया और उन्हें गुरु महाराज ने मन्त्रोपदेश दिया। रविवार ५ फरवरी को सेठ रामनारायणजी के पौत्र चि० लोकनाथ, चि० वसन्त, चि० गिरीश तथा अन्य भी कई बालकों का उपनयन-संस्कार कराया गया और उन्हें भी आपने मन्त्रोपदेश दिया।

स्मरणीय है कि गुरु महाराज पाश्चात्त्य सभ्यता से प्रभावित हो प्राचीन भारतीय संस्कृति की उपेक्षा करनेवालों को सदैव अपनी संस्कृति का रहस्य समझाकर सच्चा भक्त बनाते आ रहे हैं। बहुत-से राजकुमार एवं अनेक सेठ-साहूकारों के बालकों का यथासमय उपनयनादि संस्कार करने की उनके अभिभावकों को प्रेरणा दिया करते हैं। चरित्र के पिछले प्रकरणों से यह सुस्पष्ट है।

एक मास कलकत्ते में निवास कर गुरु महाराज वृन्दावन पधारे और प्रतिवर्षानुसार अपने श्रौतमुनि-निवास के होली-उत्सव में भाग लिया।

वृन्दावन से दिल्ली, अमृतसर होते हुए गुरु महाराज २७ मार्च १९६१ को लुधियाना पधारे। वहाँ आप महाराजकृष्ण मेहरा की कोठी में ठहरे। यहाँ वेद के सुविख्यात वृद्ध विद्वान्, वेदमूर्ति श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्री नरदेव शास्त्री एवं श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री आपसे मिलने आये। वैदिक-साहित्य के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विनिमय हुआ। गुरु महाराज स्वभावतः अत्यन्त वेदभक्त हैं। किसी वैदिक विद्वान् के मिलते ही सभी कार्य छोड़कर घण्टों तक वैदिक-तत्त्वों पर चर्चा प्रारम्भ कर देते हैं। लेखिका की यह आँखोंदेखी घटना है कि उस समय आप दूसरे सभी आवश्यक कार्य सर्वथा भूल जाते हैं। निःस्पृह होते हुए भी आपको वैदिक-प्रचार की इतनी उत्कट स्पृहा सदैव बनी रहती है।

वेद के आध्यात्मिक सिद्धान्त

लुधियाना में प्रतिवर्ष श्री भास्करानन्दजी दण्डीस्वामी के तत्त्वावधान में वहाँ की जनता बृहत् धार्मिक-सम्मेलन किया करती है। इस अवसर पर गुरु महाराज भी आमन्त्रित किये गये। वहाँ आपने 'मृषा न श्रान्तम्.......' 'यदवन्ति देवाः' (ऋग्वेद १-१७९-३) इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या करके बतलाया

कि वेद का सिद्धान्त अद्वैत है। अतएव ऋग्वेद (१-१६४-४२) में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यह उल्लेख पाया जाता है। सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्व एक ही है और विद्वानों ने उसीकी इन्द्रादि अनन्त नाम एवं अनन्त रूपों में कल्पना की है। जगत् का कोई भी पदार्थ सत्य नहीं, अपितु मृषा अर्थात् मिथ्या ही है। अतएव उसकी अप्राप्ति से 'न श्रान्तम्' खेद करना, खिन्न होना उचित नहीं।

संसार के सभी पदार्थ दृश्य, जड़, परिच्छिन्न एवं अंशी (सावयव) होने से स्वप्न के समान मिथ्या ही प्रमाणित होते हैं ('प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, अंशित्वाच्च)। स्वप्न में राजा या भिखारी बनने पर हर्ष या खेद करना मूर्खता है। मनुष्य की भारी भूल है कि वह आपात-रमणीय विषयों में फँसकर इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है।

व्यासजी ने महाभारत में क्या ही सुन्दर लिखा है :

'विपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
संयमः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥'

अर्थात् 'इन्द्रियों को वश में न रखना विपत्ति का मार्ग है और इन्द्रिय-संयम निःसन्देह सम्पत्ति का पथ है। वह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह चाहे जिस मार्ग पर चले।' दूसरे शब्दों में इन्द्रियों का गुलाम होना जान-बूझकर विपत्ति मोल लेना है। इन्द्रिय-संयमी को सम्पत्ति-देवी स्वयं वरण करती है। 'यदवन्ति देवाः' इस वैदिक-वाक्य का यही भाव है। विषयों के सुलभ न होने पर कभी भी खिन्न न होना चाहिए, कारण देवाः = संयत इन्द्रिय-गण ही मनुष्य के रक्षक हैं।'

गुरु महाराज ने इसी प्रसंग में अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण वैदिक सिद्धान्तों का उपपादन कर बतलाया कि 'वैदिक-सभ्यता में आजकल के वैज्ञानिकों की तरह जो लोग देश और जाति के हितार्थ नये-नये आविष्कार किया करते, उनका भी समाज में देवतुल्य सम्मान किया जाता था। प्राचीन काल में 'ऋभु' आर्य-जाति के अद्भुत शिल्पी थे। उन्होंने एक ऐसा प्याला बनाया, जो देखने में तो एक प्रतीत होता, पर उसीमें से चार प्याले बन जाते। 'मर्त्या सः सन्तोऽमृतत्वमानशुः' (ऋग्वेद १-११०-५) अर्थात् ऋभु मनुष्य होते हुए भी अमर बन गये। आर्य-जाति में उनका वैसा ही सम्मान होने लगा, जैसा इन्द्रादि देवों का होता था।

इसी सूक्त में उनके बूढ़े माता-पिता को युवक बनाना, कृत्रिम वत्स के निर्माण द्वारा मृतवत्सा गौ का दूध दुहना आदि चमत्कार वर्णित हैं।

तात्पर्य यह कि भारतीय जनता गुणग्राहिणी थी। यदि कोई अपनी विलक्षण प्रतिभा के प्रभाव से देश-जाति की उन्नति के लिए नये-नये आविष्कार करता, तो

उसका समाज में अत्यन्त सम्मान होता और वह तरह-तरह के पुरस्कारों से पुरस्कृत किया जाता था, जिससे उस कलाकार या वैज्ञानिक का भविष्य में विशेष उत्साह वढ़े।'

राजवाना में

गुरु महाराज लुधियाना से राजवाना आये। वहाँ पूज्य गुरुदेव रामानन्दजी की समाधि का दर्शन कर १ अप्रैल '६१ को आप देहरादून पधारे। श्री सर्वानन्दजी लुधियाना में ही रह गये। देहरादून में गुरु महाराज के परम भक्त वयोवृद्ध ऋषिकल्प रायसाहव वलवन्तराय (भूतपूर्व डिप्टी कमिश्नर) ने नवीन कोठी का निर्माण कराया था, जिसका उद्घाटन आपके हाथों हुआ। तदनन्तर आप दरवार गुरु रामराय पहुँचे। मन्दिर का दर्शन किया और वहाँ के महन्त श्री इन्दिरेशचरणदासजी से भेंट की।

लेखिका भी गंगा-स्नान एवं गुरु महाराज के दर्शन के लक्ष्य से हरिद्वार आयी। किन्तु आपका देहरादून पधारने का समाचार पाकर वह देहरादून पहुँची। उसके साथ आप हरिद्वार आये।

पटियाला में उदासीन-परिषद्

पटियाला में उदासीन-परिषद् आयोजित की गयी थी, जिसमें पंजाव के लगभग दो हजार सन्तों ने भाग लिया। गुरु महाराज भी साग्रह निमन्त्रित थे। महन्त साधुवेला एवं श्री सर्वानन्दजी के आग्रह पर आप हरिद्वार से पटियाला पधारे। वहाँ आयुर्वेद-विभाग के डाइरेक्टर श्री कान्तिलाल शर्मा की कोठी में निवास हुआ। सम्मेलन में पंजाव के तत्कालीन राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाड़गिल, मुख्यमन्त्री प्रतापसिंह कैरो तथा दो मन्त्री श्री ज्ञानसिंह राड़ेवाला और श्री ज्ञानी करतार सिंह भी सम्मिलित हुए थे। उन सवने गुरु महाराज के दर्शन किये। आपने अपने भाषण में सन्त-समाज द्वारा की गयी देश एवं समाज की सेवा पर विस्तृत प्रकाश डाला।

श्री ज्ञानसिंह आदि मन्त्रियों ने अपने भाषणों में कहा कि 'निश्चय ही देश की उन्नति में सन्तों का हाथ रहा है और आगे भी रहेगा। आरम्भ में हम लोगों ने अपने गाँव में निवास करनेवाले एक सन्त की कृपा से ही वर्णमाला एवं विभिन्न प्रारम्भिक पुस्तकों की शिक्षा प्राप्त की।'

यहाँ पटियाला की राजमाता भी गुरु महाराज के दर्शनार्थ आयी थीं। उन्होंने आपके साथ प्रभु-प्राप्ति के साधनों पर विचार-विमर्श किया।

तीन दिन वहाँ ठहरकर आप हरिद्वार वापस लौट आये।

प्रतिमा-पूजन का रहस्य

गुरु महाराज के मित्र श्री स्वामी असंगानन्दजी के हरेराम-आश्रम में शिव-मन्दिर का प्रतिष्ठा-महोत्सव आयोजित था। शिवलिङ्ग-प्रतिष्ठा के साथ ही आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् की प्रतिमा की भी प्रतिष्ठा होनेवाली थी। स्वामीजी ने आपको साग्रह आमन्त्रित किया था। अतः आपने इस उत्सव में भाग लिया। इस अवसर पर आपने एक छोटा-सा भाषण भी दिया।

आपने बताया : 'प्रतिमा-पूजन मन्त्र-योग का अङ्ग है। इसके द्वारा नामदेव आदि कितने ही भक्तों ने प्रभु के साकार विग्रह के दर्शन किये। आज भी कितने ही भक्त यह लाभ पा रहे हैं और आगे भी पाते रहेंगे। 'अश्मा भवतु ते तनु.' इस अथर्ववेद के वचन में प्रतिमा को भगवान् का साक्षात् विग्रह बताया गया है। वेद-मन्त्रों द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा होने पर वह मूर्ति साधारण पाषाण न रहकर भावुक भक्तों के कल्याण के निमित्त साक्षात् भगवान् बन जाती है।'

यहाँ गर्मी अधिक पड़ने के कारण गुरु महाराज आबू चले गये।

बाबा पूर्णदासजी का स्वर्गवास

२२ अप्रैल १९६१ को श्रीचन्द्र-मन्दिर, बम्बई में दिन में १॥ बजे उदासीन-सम्प्रदाय के द्वितीय निर्वाण प्रीतमदास, तपोधन बाबा पूर्णदास का स्वर्गवास हो गया। उस दिन उन्होंने मध्याह्न में सभी सेवकों को अपने-अपने घर भिजवा दिया और कर्मचन्द आदि एक-दो सेवकों को रोककर एकान्त में उनसे कहा कि 'अब मैं अपने परम धाम जा रहा हूँ। मेरी अनुपस्थिति में मेरे ही द्वितीय स्वरूप श्री गंगेश्वरानन्दजी से परामर्श करते रहें, प्रभु श्रीचन्द्र की प्रतिमा की पूजा-अर्चा व्यवस्थित होती रहे और मन्दिर का भण्डारा आदि कार्य यथापूर्व चालू रहे।'

बाबा पूर्णदासजी का शव हरिद्वार में लाकर नीलधारा में प्रवाहित किया गया। हरिद्वार से सारी भक्त-मण्डली बम्बई आ गयी। भक्त-मण्डली की ओर से भक्तवर चुन्नीलाल गुरु महाराज को बम्बई लिवा लाने के लिए आबू आये और आपको बम्बई ले गये। ९ मई को वहाँ बाबा पूर्णदासजी का भण्डारा हुआ। बम्बई से आप पुनः आबू चले आये। आपके साथ मण्डी के वजीर साहब, उनकी धर्मपत्नी शाकम्भरी और सुपुत्र चि० प्रियव्रत एम० ए० भी आबू आये। मण्डी-नरेश के सुपुत्र के विवाह के निमित्त आप लोग बम्बई आये थे और सेठ श्री बाल-चन्द के बँगले में ठहरे थे। डलहौजी-यात्रा के समय गुरु महाराज के साथ

होने से सेठजी और वजीर साहब के बीच गहरा परिचय हो गया था। बम्बई में मण्डी की महारानी साहिबा भी बालचन्दजी के बँगले पर आपके दर्शनार्थ पधारी थीं। उनकी नवोढा पुत्र-वधू भी साथ थी।

इधर श्री स्वामी सर्वानन्दजी भी पटियाला, अयोध्या, कालांवाली (हिसार), दिल्ली होते हुए आबू पहुँचे। इसके पूर्व स्वामीजी ने अपने सहपाठी और गुरु महाराज के अन्तेवासी श्री सत्यस्वरूप शास्त्री बी० ए० को १८ जून १९६१ के दिन डेरा प्रभातीदास का महन्त बनाया। कारण २ जून को उनके गुरुदेव श्री कानदासजी का देहावसान हो जाने से वह स्थान रिक्त हो गया था।

मण्डली-सहित आबू पहुँचने के पूर्व श्री सर्वानन्दजी की उपस्थिति में हरिद्वार के उदासीन पंचायती बड़े अखाड़े में तपस्वी पूर्णदासजी का विशाल भण्डारा हुआ। इसके कुछ दिनों बाद स्वामीजी ने श्री लोकराम अवधूत के सहयोग से राम-धाम में पण्डित साधुरामजी का भी भण्डारा कराया। श्री साधुरामजी का देहावसान १३ मई १९६१ को पूना में हुआ था। वे गुरु महाराज के अन्तरंग मित्र एवं वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ और तितिक्षा-मूर्ति थे।

श्री सर्वानन्दजी के साथ आबू में काशी के उदासीन संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री योगीन्द्रानन्दजी एवं कुलपति श्री कृष्णानन्दजी भी पधारे। इसी बीच अकस्मात् अहमदाबाद वेद-मन्दिर के प्रबन्धक श्री अवधूत सेवाराम रुग्ण हो गये। उन्हें असह्य उदर-पीड़ा हुई। डाक्टरों की सम्मति से पेट का आपरेशन कराना निश्चित हुआ। इसलिए स्वयं रुग्ण होने पर भी श्री सर्वानन्दजी को अहमदाबाद जाना पड़ा। गुरु महाराज कुछ दिनों बाद श्री सेवारामजी को आशीर्वाद देने और मिलने के उद्देश्य से अहमदाबाद पहुँचे। प्रभु-कृपा से आपरेशन सफल रहा। अवधूतजी स्वस्थ होकर वेद-मन्दिर आ गये।

ग्वालियर-नरेश का स्वर्गवास

श्री सर्वानन्दजी के साथ गुरु महाराज १५ जुलाई को बम्बई पहुँचे। कारण वहाँ की जनता के आग्रह पर इस वर्ष गुरुपूर्णिमा बम्बई में ही मनाने का निश्चय हुआ था। १६ जुलाई को आप बम्बईस्थित समुद्र-महल में महारानी ग्वालियर से रात्रि में ९ बजे मिलने पधारे। श्री सर्वानन्दजी आपके साथ थे। महाराज ग्वालियर रुग्ण थे। आप महारानी से मिले और उन्हें सान्त्वना दी। किन्तु उसी रात्रि में महाराज साहब का स्वर्गवास हो गया। २२ जुलाई को गुरु महाराज की अध्यक्षता में ग्वालियर महाराज के निमित्त तुलसी-निवास में शोक-सभा

२२

हुई। सर्वानन्दजी ने महाराज की धार्मिक मनोवृत्ति आदि सद्‌गुणों का वर्णन किया और दो मिनट मौन के साथ उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित की गयी।

बम्बई में गुरुपूर्णिमा-उत्सव

२७ जुलाई १९६१ को तुलसी-निवास, बम्बई में भक्त-मण्डली द्वारा सामूहिक गुरुपूजन हुआ। गुरु महाराज के आदेश से पूजन के पूर्व श्री सर्वानन्दजी ने गीता का अखण्ड पारायण कराया। इस अवसर पर विशाल भण्डारा हुआ। सन्तों के अतिरिक्त भक्तों ने भी विपुल संख्या में प्रसाद ग्रहण किया। दरिद्र-नारायण की तृप्ति की गयी। सायंकाल गुरु महाराज एवं श्री सर्वानन्दजी के सारगर्भित प्रवचन हुए।

निर्वाण-पूर्व का दीप-प्रकाश

श्री स्वामी सर्वानन्दजी रक्तविकृति (एलर्जी) से तो कई वर्षों से रुग्ण थे। लगभग एक वर्ष से उन पर लकवे (पेरेलेसिस) के भी दो आक्रमण हो चुके, एक दिल्ली में और दूसरा हरिद्वार में। प्रभु की लीला विचित्र है। इस बीमारी से उनकी चिरसंगिनी व्याधि रक्तविकृति एकदम दूर हो गयी। डा० वहल के उपचार से लकवा और ब्लडप्रेशर का भी नाम न रहा। अब वे पूर्ववत् स्फूर्ति से काम करने लग गये थे। पढ़ना-लिखना, पत्र-व्यवहार, भक्त-मण्डली से वार्तालाप आदि के कार्य ठीक उसी प्रकार करने लगे, जैसे कुछ वर्ष पूर्व, रुग्ण होने से पहले किया करते थे। गुरु महाराज और सन्तों के पूछने पर आप कहते कि 'अब मैं सर्वथा स्वस्थ हो गया हूँ। किसी भी प्रकार की रुग्णता का चिह्न शेष नहीं।'

किन्तु प्रभु का कुछ संकेत और ही था। निर्वाण के पूर्व दीपक की लौ भी एक बार अपने पूरे प्रकाश के साथ चमक उठती है। किन्तु प्रकाश-मुग्ध प्राणी उसे भाँप नहीं पाता। पुण्यात्मा जीव की शरीर-मुक्ति के समय भगवान् भी उसको चिर-विकृति से सर्वथा मुक्त कर शुद्ध बना देते हैं। ऐसा ही कुछ इस प्रसंग में भी हुआ। किन्तु भगवान् का यह गूढ़ रहस्य असर्वज्ञ प्राणी समझ ही कैसे सकता है ?

श्री सर्वानन्दजी का महाप्रयाण

दो ही दिनों बाद ! २९ जुलाई का दुर्दिन समाप्त हुआ और वर्षा की काली रात ने चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य छा दिया। रजनी का पहला प्रहर बीता और दूसरे प्रहर में १० बजे अकस्मात् श्री स्वामी सर्वानन्दजी पर ब्लडप्रेशर

का भीषण आक्रमण हो गया। मस्तक की धमनी फट गयी और वे तत्काल संज्ञाशून्य हो गये।

आश्चर्य की बात यह कि वे इससे पहले ९ से १० बजे तक सन्तों को उपदेश कर रहे थे। गोविन्दानन्दजी को आज्ञा दी कि 'पेन ले आओ, कुछ पत्रों के उत्तर लिख दें।' किसीको यह कल्पना ही नहीं थी कि यह अप्रिय घटना इतने शीघ्र घटनेवाली है। मूर्छित होने से पूर्व लड़खड़ाती जिह्वा से वे केवल तीन शब्द कह पाये : 'गौ, गुरु, हिमालय।'[1]

श्री गोविन्दानन्दजी ने उनकी बेहोशी की सूचना तत्काल गुरु महाराज को दी। कुलपति श्री कृष्णानन्दजी तथा सभी सन्त तत्काल उपस्थित हो गये, जहाँ श्री सर्वानन्दजी बेहोश पड़े थे। पता चलते ही साधुबेला के महन्त श्री गणेशदासजी अपने साथी श्री शंकरानन्दजी, एम० ए० को साथ लेकर आ पहुँचे। महन्तजी कुछ दिनों पूर्व मोटर-दुर्घटना में आहत हुए थे और उन्हें बैठना भी कठिन हो रहा था। किन्तु इस घटना को सुनते ही उनका अपना सारा दुःख भूल गया और वे तत्काल सेठ बालचन्दजी के बँगले में, जहाँ श्री सर्वानन्दजी अचेत पड़े थे, पहुँच गये। ईश्वर मुनि का फोन मिलते ही लेखिका भी घटना-स्थल पर उपस्थित हो गयी। सन्त और भक्त सभी शोक-सागर में डूबे जा रहे थे। निराशा के बादल घनीभूत हो रहे थे। कितने ही अच्छे डाक्टर पहुँच गये और प्रायः सभीने कह दिया कि 'अब कोई आशा नहीं।'

---

१. गंभीरता से विचार करने के बाद इन शब्दों का निम्नलिखित भाव माना जा सकता है, जो आपके अब तक के जीवन-कार्यों से ठीक-ठीक मेल खाता है :

गौ : मैं अब प्रभु-धाम को चला। मैंने अपने जीवन में गोवध-निरोध का भरसक यत्न किया। आप लोग मेरी अनुपस्थिति में पूर्णतः गोवध-निरोध एवं गोरक्षा का प्रत्येक संभव प्रयास करें।

गुरु : मैंने आजीवन अनन्य भाव से गुरु महाराज की सेवा की और उन्हें प्रसन्न रखा। आप मेरी अनुपस्थिति में उन वयोवृद्ध गुरुदेव का पूरा ध्यान रखें। उनकी सेवा में किसी प्रकार का अन्तराय न आये। उन्हें सदा प्रसन्न बनाये रखें।

हिमालय : साधु के जीवन का मुख्य लक्ष्य है, तपश्चर्या। हमारे प्राचीन सन्त हिमालय की कन्दराओं में समाधि लगाकर रहते थे। आप लोग भी उसी तपश्चर्या को अपनायें, जो साधु-जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

किन्तु कहते हैं न कि 'जब तक साँसा, तब तक आसा !' महन्त साधुवेला के परामर्श पर तत्काल एम्बुलेन्स बुलायी गयी और उस पर उन्हें अस्पताल लाया गया। सन्त भास्कर बम्बई के सुप्रसिद्ध अनुभवी डाक्टर कोहयार को भी ले आये। किन्तु उन्होंने भी वही कहा, जो पहले गुजराती-सिन्धी डाक्टरों ने कहा था। इस तरह चेतना-शून्यता में ६ घण्टे बीत गये।

आखिर वही अनिवार्य घड़ी आ गयी, जिसने मानव-तनु का आज तक कभी साथ नहीं छोड़ा और न भविष्य में छोड़ने की आशा है। ३० जुलाई सन् १९६१, श्रावण कृष्णा ३या संवत् २०१८ रविवार को ब्राह्मवेला में प्रातः ४ बजे क्षणभर मालूम पड़ा कि श्री स्वामी सर्वानन्दजी की आँखें खुल रही हैं कि दूसरे ही क्षण वे ब्रह्मलीन हो गये।

बम्बई की जनता में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। शव अस्पताल से बँगले पर लाया गया और यथाविधि गोमयलिप्त आँगन में दर्भशय्या पर दर्शनार्थ रखा गया। भाविक जनता का अपने सफल धार्मिक नेता के अन्तिम दर्शनार्थ ताँता-सा लग गया। अनुगृहीत भक्तजन पास में बैठकर गीता, विष्णुसहस्रनाम आदि के पाठ और नाम-स्मरण कर रहे थे।

पता लगते ही श्री हरिकृष्ण अग्रवाल और श्री हरिलाल ड्रेसवाला (बच्चूभाई) गुरु महाराज के निकट उपस्थित हुए और आपके आदेशानुसार उन्होंने श्री सर्वानन्दजी की मृत्यु का समाचार आकाशवाणी-केन्द्र द्वारा प्रसारित करवाया। दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, अमृतसर आदि नगरों में रेडियो से यह मर्मभेदी समाचार सुनते ही वहाँ के भक्तजनों को एकदम गहरा धक्का लगा। महन्त साधुवेला, सेठ वालचन्द तथा अन्य भक्तों ने गुरु महाराज के आदेश से चार्टर विमान द्वारा शव को हरिद्वार ले जाने का निश्चय किया। श्रद्धालु नर-नारियों ने शव पर फूल-मालाएँ चढ़ायीं, गिन्नियों, नोटों और रुपयों की वर्षा की।

शव की दिल्ली-हरिद्वार-यात्रा

३० जुलाई को दिन में १॥ बजे मेघराज-भवन से महायात्रा आरम्भ हुई। मार्ग में साधुवेला, श्रीचन्द्र-मन्दिर तथा अन्य कई एक धर्मस्थानों के अध्यक्षों, ट्रस्टियों तथा बहुत-से प्रमुख गृहस्थों ने श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए पुष्पमालाएँ चढ़ायीं। यात्रा हवाई अड्डे पर आयी और ३ बजकर २० मिनट पर चार्टर विमान शव लेकर देहली चला। साथ में सेठ वालचन्द, हरिकृष्ण अग्रवाल, गणेशानन्दजी (श्री प्रेमपुरीजी के शिष्य), साधुवेला के कोठारी, शंकरानन्दजी, कुलपति कृष्णानन्दजी, परमात्मानन्द, जयकृष्ण की माता, आनन्द कुँवरी बा, डाईबहन (पुत्री

भीखाभाई पटेल), ईश्वर मुनि और उदासीन पंचायती अखाड़े के महन्त श्री प्रकाश मुनि थे ।

दिल्ली के हवाई अड्डे पर

विमान ३० जुलाई को सायंकाल ७।। बजे दिल्ली पहुँचा । हवाई अड्डे पर तत्कालीन केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा, रायसाहव रूड़ाराम, किशनचन्द वधवा, विलायतीराम कोहली, वकील हंसराज खन्ना एवं अन्यान्य असंख्य नर-नारी उपस्थित थे । सभी शोक-निमग्न, अश्रु-परिप्लुत-नयन हो विमान की प्रतीक्षा कर रहे थे । श्री नन्दाजी सर्वानन्दजी के भारत साधु-समाज-सम्वन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को स्मरण कर रो पड़े : 'साधु-समाज का एक उत्साही नेता चल बसा, जिसके रिक्त स्थान की पूर्ति कठिन ही नहीं, असंभव है ।'

जे० बी० मंघाराम कंपनी की ओर से ट्रक की व्यवस्था की गयी थी, जिस पर शव की पेटी रखी गयी । ट्रक के साथ सभी लोग करोलवाग-स्थित गंगेश्वर-धाम पहुँचे । नन्दाजी भी साथ थे । आश्रम में पहले से ही जनता वहुत वड़ी संख्या में दर्शनार्थ उपस्थित थी । शव-पेटी ट्रक से उतारकर आश्रम में हाल के स्टेज पर रखी गयी । वड़े अनुशासित रूप में कतार बाँधकर भक्तों ने उनके अन्तिम दर्शन किये ।

वड़ी कठिनाई से रात्रि के ११ बजे दिल्ली से हरिद्वार के लिए प्रस्थान किया जा सका । दिल्ली के प्रवन्धकों ने हरिद्वार में साथ जानेवाली जनता के लिए वसों की विशेष व्यवस्था की थी । कुछ लोग तो अपनी-अपनी कारों से गये । मार्ग में वसों एवं कारों के बीच अखण्ड कीर्तन चलता रहा । शववाहन (ट्रक) वड़े ही आकर्षक ढंग से सजाया गया था । उस पर परमात्मानन्द आदि कुछ सन्त बैठे भजन कर रहे थे ।

महायात्रा प्रातःकाल गंगेश्वर-धाम, हरिद्वार पहुँची । वहाँ पेटी खोलकर शव दर्भशय्या पर रखा गया । अमृतसर की जनता भी दर्शनार्थ उपस्थित हो गयी । आश्रम में हरिद्वार के सभी सम्प्रदायों के सन्त, नगर के सद्गृहस्थ और जन-साधारण भावुक नर-नारी पहले ही जुट गये थे ।

आश्रम से शव की अन्तिम महायात्रा निकली । जुलूस में सभी आगत जनों ने भाग लिया । इस तरह ३१ जुलाई सन् १९६१ सोमवार श्रावण कृष्णा ४र्थी संवत् २०१८ को दिन में ११ वजे श्री स्वामी सर्वानन्दजी का पार्थिव शरीर भगवती त्रिपथगा की पावन गोद में सदा के लिए समर्पित कर दिया गया !

नगर-नगर में शोक-सभाएँ

सायंकाल ४ बजे भगवत्-धाम, हरिद्वार में विराट् शोक-सभा हुई, जिसमें स्वामी कृष्णानन्दजी, गोविन्दानन्दजी, सोमेश्वरानन्दजी, नत्थासिंह, निगमानन्दजी आदि सन्तों एवं सद्गृहस्थों ने ब्रह्मलीन स्वामी श्री सर्वानन्दजी के महत्त्वपूर्ण जीवन-कार्यों पर प्रकाश डाला। इतिहास-केसरी नत्थासिंह कीर्तनकार ने करुणा से आप्लुत कविता पढ़ी, जिसे सुनकर सभी शोक-सागर में डूब गये। अन्त में सबने स्वामीजी को मौन श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

हरिद्वार से मण्डली देहली लौट आयी। २ अगस्त को वहाँ गंगेश्वर-धाम में विराट् शोक-सभा हुई। ६ अगस्त को श्री नन्दाजी की अध्यक्षता में भारत साधु-समाज की ओर से शोक-सभा की गयी।

बम्बई में वर्ली नाका-स्थित श्रीचन्द्र-मन्दिर में, उदासीन साधुबेला आश्रम, महालक्ष्मी में, डी रोड-स्थित तुलसी-निवास में और शान्ताक्रुज-स्थित गोविन्द-धाम में शोक-सभाएँ हुईं। तुलसी-निवास की शोक-सभा के अध्यक्ष मध्यप्रदेश के भूत-पूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा थे।

अहमदाबाद के वेद-मन्दिर में भी विराट् शोक-सभा हुई, जिसमें सभी सम्प्र-दायों के प्रतिष्ठित महापुरुष सम्मिलित हुए थे। दशनामी सम्प्रदाय के महामण्डले-श्वर श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, स्वामी पूर्णानन्दजी, स्वामी भागवतानन्दजी, गीता-मन्दिर के महामण्डलेश्वर श्री सदानन्दजी, वैष्णव-सम्प्रदाय के पण्डितराज श्री भागवताचार्यजी, जगदीश-मन्दिर के महन्त वयोवृद्ध श्री सेवारामजी आदि ने ब्रह्मलीन स्वामी सर्वानन्दजी के महत्त्वपूर्ण कार्यों की चर्चा की। सभीके भाषणों का सार था :

'स्वर्गीय महापुरुष श्री सर्वानन्दजी सभी सम्प्रदायों के पारस्परिक संघटन का सतत प्रयास करते थे। भारत साधु-समाज की स्थापना द्वारा वे सभी सम्प्रदायों के महापुरुषों को एक मञ्च पर एकत्र करने में सफल हुए। आपके चले जाने से न केवल उदासीन-सम्प्रदाय और साधु-समाज की महती क्षति हुई, प्रत्युत समस्त भारत की अपूरणीय क्षति हुई।'

बम्बई की एक शोक-सभा में प्रोफेसर धीरेन्द्रवाला पटेल ने उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए सन्तों से प्रार्थना की कि 'आप सब मिलकर श्री सर्वानन्दजी के चलाये कार्यों को पूर्ण करने का आश्वासन दें, जिससे शोक-निमग्न जनता कुछ आश्वस्त हो।' प्रोफेसर पटेल ने आगे कहा : 'ब्रह्माण्ड-सेवक सूर्य अस्त होता हुआ चिन्ता कर रहा है कि मेरी अनुपस्थिति में प्रकाश द्वारा कौन जनता की

सेवा करेगा ? दीपकों ने अपने नेता को इसका विश्वास दिलाया कि हम सब मिलकर यथाशक्ति आपका कार्य पूर्ण करेंगे। निःसन्देह भगवान् भास्कर की तरह ब्रह्मलीन स्वामीजी का कार्य किसी एक में करने की सामर्थ्य नहीं दीखती। अतः आप सब मिलकर दीपमाला की तरह यह कार्य अवश्य पूर्ण करने का वचन दें।'

सर्वश्री स्वामी अखण्डानन्दजी, अमर मुनि, शंकरानन्दजी एवं अन्यान्य सन्तों ने श्रद्धाञ्जलि के अवसर पर ब्रह्मलीन महापुरुष के जीवन की अनेक विशेषताओं का मुक्त कण्ठ से वर्णन किया। सभी सन्त और भक्त योग्य नेता के उठ जाने से शोकाकुल हो नयननीर-धारा से उनको निवापाञ्जलि दे रहे थे। सचमुच इस शोक के वर्णन में लेखनी रुक जाती है !

स्थितप्रज्ञ की आदर्श मूर्ति गुरुदेव

इस तरह श्री सर्वानन्दजी के निधन से जहाँ सर्वत्र धार्मिक-जगत् में शोक छा गया था, वहीं गुरु महाराज का हाल कुछ इससे विलक्षण ही रहा। जिसके निर्माण में गुरु महाराज ने अपने कर्म, उपासना एवं ज्ञान का विपुल पुट दिया, संस्कारों एवं अनुभवों की छेनी से जिस पर अलौकिक शक्ति के बीज अंकित किये, जो आपका दक्षिण हस्त बन गया, लगातार ४० वर्षों तक जिसने अनन्य भाव से गुरु की सेवा की और उन्हें प्रसन्न रखने में ही ब्रह्मानन्द की अनुभूति मानी तथा गुरु के अधूरे कार्यों को पूरा करने का व्रत ले उन्हें निश्चिन्त-सा कर दिया—उस परम योग्य शिष्य के अपने वार्धक्य-काल में अकस्मात् सदा के लिए बिछुड़ जाने पर भी गुरु महाराज सर्वथा स्वरूपस्थित बने रहे। उनकी मुखमुद्रा पर किसी प्रकार की शोक-रेखा भी नहीं झलकती थी। लोग आश्चर्यचकित थे। आपको जिन शोक-सभाओं में सम्मिलित होना पड़ा, उनमें आपने सर्वत्र एक ही बात कही :

'सज्जनो, आप सब शोकाकुल हो रहे हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में सन्त के जाने पर शोक नहीं करना चाहिए। वह सदैव अशोच्य हुआ करता है। देखिये, किसीका स्नेही यदि निम्न पद से उच्च पद पर चला जाय, तो उसे क्या कभी शोक होगा ? वह तो हर्ष के मारे फूला नहीं समायेगा। कल्पना करें, हमारा स्नेही साधारण अफसर है। वह यदि राज्यपाल, प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति बन जाय, तो निश्चय ही हम हर्ष के पारावार में हिलोरें लेते रहेंगे। स्वामी सर्वानन्दजी के विषय में भी यही समझें। जब तक शरीर का सम्बन्ध था, वे शरीरी थे। दूसरे शब्दों में साढ़े तीन हाथ की छोटी-सी देह की कुटिया में कैद थे। तब तक आत्म-

दर्शी होते हुए भी वे जीव-कोटि में थे। किन्तु अब तो शरीर की उपाधि त्याग देने के बाद वे अपने व्यापक, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन रूप में प्रतिष्ठित हो गये। कबीर ने क्या ही अच्छा कहा है :

'सन्त मुए क्या रोवै, जो अपने गृह जाय।'

अपने वास्तविक ब्रह्मधाम में जानेवाले सन्त के लिए रोना, शोक करना निरर्थक एवं हास्यास्पद ही होता है।

लोग मृत्यु से घबड़ाते हैं। उन्हें चिन्ता रहती है कि इस मानव-योनि के अनन्तर उसे पशु, पक्षी, कीट-पतंग, शूकर-कूकर जाने किन-किन योनियों में भटकना पड़ेगा। किन्तु महात्माओं की प्रसन्नता का तब ठिकाना ही नहीं रह जाता, जब कि उनकी मृत्यु का समय निकट आ जाता है। कारण मृत्यु के द्वारा शरीर का विनाश होते ही वे सीधे अपने परम धाम में पहुँच जाते हैं।

दूसरे शब्दों में सन्तों के लिए मरण परमानन्द-प्राप्ति का प्रधानतम साधन है। कबीर को दूर की सूझी ! वह कह रहा है :

'जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने से ही पाइये, पूरन परमानन्द ॥'

स्वामी अतः आप लोगों को श्री सर्वानन्दजी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।'

गुरु महाराज का यह सारगर्भ उपदेश सुन सभा में उपस्थित जनता का शोक एकदम शान्त हो जाता।

पाठकों को आश्चर्य होता होगा कि ऐसे योग्य शिष्य के वियोग से गुरु महाराज के पास शोक क्यों नहीं फटका ? इसका उत्तर तो उनके उपर्युक्त शब्दों से ही मिल जाता है। फिर भी इसका मुख्य कारण उदासीन-सम्प्रदाय की परम्परागत भूम-विद्या है, जिसका उपदेश श्री सनत्कुमार ने देवर्षि नारद को किया था। अनेक विद्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् भी नारदजी का शोक दूर नहीं हो रहा था। हो भी कैसे ? 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति के अनुसार आत्म-ज्ञान, ब्रह्मात्मदर्शन ही शोक-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। उसी आत्म-दर्शन का दूसरा नाम 'भूम-विद्या' है, जो उदासीन-सम्प्रदाय का गोप्य धन है। वही विद्या परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी की करुणा से गुरु महाराज को पहले से ही प्राप्त है। उसीसे आप स्थितप्रज्ञ बन गये।

द्वितीय कारण गुरु महाराज ने स्वयं एक बार प्रसंग-विशेष में लेखिका को बताया था। लेखिका इस प्रसंग में उस रहस्य को प्रकट कर देने का लोभ संवरण

नहीं कर पा रही है। गुरु महाराज ने बताया कि 'जब स्वर्गीय सन्त के वियोग के कारण साधारण जनों की तरह मेरे हृदय में भी शोक के बीज अंकुरित हो चले, तो उसी समय हृदय-विहारी बाँकेबिहारी की ओर से अव्यक्त मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी : 'गंगेश्वर ! सर्वानन्द को कहाँ से लाया ? वह तो मेरी देन थी और मेरी ही अमानत ! जो दूसरों को सत्पथ पर लाने का उपदेश करे, वेद-दर्शनों का विशेषज्ञ हो और सत्य में निष्ठा रखता हो, उसे किसीकी अमानत वापस लौटाने में आनाकानी या किसी प्रकार की हिचकिचाहट शोभा नहीं देती !

क्या मेरा भक्त अपने इष्टदेव की व्यवस्था में कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता है ? उसे तो वही अच्छा लगना चाहिए, जो उसके इष्टदेव की ओर से हो रहा हो। मेरे न्यायालय में अन्याय की सम्भावना ही नहीं। मेरी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। फिर क्यों घबड़ा रहा है ? मैं तो सदैव तेरे साथ हूँ।

आश्चर्य है कि आज वह इतना विचलित होने की सोच रहा है, जिसने जीवन में कभी दूसरे की सहायता की अपेक्षा ही नहीं रखी। सदैव यही अनुभव करता रहा कि मेरे इष्टदेव मेरे साथ हैं। वे चक्रपाणि और मुरलीधर हैं। उनकी मधुर मुरली की सुरीली तान भक्त का विषाद तत्क्षण दूर कर देती है। उनका सुदर्शन-चक्र सदैव भक्त के संरक्षण के लिए उद्यत रहता है।'

संवत् २०१८ के श्रावण मास से नव वर्ष संवत् २०१९ की चैत्र शुक्ला प्रतिपद् तक बम्बई, अहमदाबाद, सूरत, नासिक, दिल्ली, अमृतसर, हरिद्वार, इन्दौर, काशी, वृन्दावन आदि गुरु महाराज के सभी प्रमुख केन्द्रों में दिवंगत महापुरुष की स्मृति में वेद-पारायण, श्रीमद्भागवत-पारायण, रामचरित-मानस के १०८ पारायण, भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम आदि के अखण्ड पारायण एवं बृहत् भण्डारे हुए।

वैसे किसी सन्त के कैलासवास पर किसी एक स्थान पर एकआध भण्डारा या एकआध सप्ताह का आयोजन हो जाता है। कभी-कभी कोई विशिष्ट सन्त हुआ, तो दो-चार स्थानों पर भण्डारे और उतने ही सप्ताहादि होते देखे गये हैं। किन्तु ब्रह्मलीन स्वामी श्री सर्वानन्दजी महाराज के लिए तो भण्डारों, सप्ताहों, पारायणों एवं अन्यान्य धार्मिक आयोजनों की अविच्छिन्न धारा सात महीनों तक बहती रही। सबसे अन्तिम भण्डारा फाल्गुन मास में हरिद्वार के राम-धाम में हुआ, जिसकी मुख्य सेवा मौरवी (काठियावाड़) की महारानी कुमुद रानी और उनके सुपुत्र शक्तिकुमार सिंह ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ की।

आज भी श्री स्वामी सर्वानन्दजी का नाम आते ही उनके कार्यों से परिचित प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में समग्र रूप से वे मूर्तिमान् खड़े हो जाते हैं। धार्मिक महापुरुषों के इतिहास में यशःशरीर से वे सदैव अमर रहेंगे !

१७

दो जयन्तियों के बीच

[संवत् २०१८ से २०१९ तक]

कहते हैं, लोकोत्तर महापुरुषों के हृदय वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हुआ करते हैं। आखिर इसका रहस्य क्या है? बात यह है कि उनके हृदय में लौकिक जगत् में परस्पर विरोधी माने जानेवाले पदार्थ भी एकाश्रित होकर रह सकते हैं। भावों का अनैकाधिकरण्यरूप विरोध यानी एक अधिकरण में साथ न रहना, उनके निकट से जाता रहता है। तो क्या उनमें एककालीनता और एक-प्रयोज्यता भी आ जाती है? नहीं, काल-भेद और प्रयोज्य-भेद वहाँ भी रहता ही है। वह सृष्टि का वैभव ही है। यदि वह भेद न रहे, तो सृष्टि ही नहीं रह पायेगी। सत्त्व, रज और तम की असमता से ही तो सृष्टि का अस्तित्व है। किन्हीं दो पदार्थों में असमता रहना, भेद रहना स्वाभाविक है। वह मिटाये मिट नहीं सकता। किन्तु लोकोत्तरों की यह विशेषता होती है कि वे विरोधी जागतिक भावों का अनैकाधिकरण्यरूप विरोध मिटा देते हैं।

हम सूर्य नारायण को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन्हें स्थावर-जंगमात्मक जगत् की आत्मा बताते हैं। उनमें भी यह विशेषता पायी जाती है। वे किसी समय प्रचण्ड होते हैं, तो किसी समय मृदुतम। जहाँ हम जेठ की चिलचिलाती धूप से आँखें भी मिलाना नहीं चाहते, वहीं माघ की मृदुतम धूप से सर्वांग परिरम्भण करने दौड़ पड़ते हैं। एक बिलकुल कड़ी होती है, तो दूसरी एकदम मुलायम! इन कठोर और मृदु का जिसमें जितना समन्वय सधता है, वह उतना ही लोकोत्तर माना जाता है। सूर्य में हमें यह समन्वय चरम कोटि में देखने को मिलता है, इसीलिए वे लोकोत्तर हैं।

जागतिक महापुरुष की लोकोत्तरता के तर-तमभाव का यही मानदण्ड है। कई महापुरुष ऐसे दयावतार होते हैं कि उनमें उत्साह, वीररस का स्थायीभाव उत्साह, दीखता ही नहीं। कोई इतने उत्साहावतार होते हैं कि उनमें करुणा

छूकर नहीं रहती। कोई केवल कर्मठ होते हैं, कोई केवल उपासक, तो कोई केवल ज्ञानी। कोई संसार में इतने आसक्त रहते हैं कि परमार्थ का नाम तक नहीं जानते। भले ही ऐसों को आप महापुरुष न कहें, 'लोकोत्तर' तो कह ही सकते हैं। इसी तरह कोई इतने परमार्थ-पथिक होते हैं कि संसार से तनिक भी नाता नहीं रखते। उनमें भी जो रखते हैं, वे ऐसे अटपटे व्यवहार करते हैं कि लोक-संग्रह में उनका कोई उपयोग ही नहीं हो पाता।

लोकोत्तर, लोक-संग्रही के आदर्श पुरुष हैं, षोडशकलावतार भगवान् कृष्ण! लोक-संग्रही के लिए आवश्यक होता है कि वह कभी वज्रादपि कठोर हो, तो कभी कुसुमादपि कोमल। उनमें नौ स्थायीभावों और तैंतीस संचारी भावों का समयानुसारी समुचित सन्निवेश और परिपाक हो। स्थितप्रज्ञता तो उनका पहला अनुपेक्ष्य लक्षण है। किन्तु भयभीतों को हँसा आश्वस्त करना, निराश और आतंकग्रस्तों में उत्साह भरकर उन्हें वीर बनाना, कार्य में विवेक रखना और किसी कदम को ठोस और स्थायी बनाना तथा ज्ञान की सर्वाधिक प्रतिष्ठा करना एवं यह सब करते हुए भी सर्वथा सभी कार्यों से निर्लिप्त रहना सच्चे लोक-संग्राहक के लक्षण हैं। ऐसे लोक-संग्राहक अंगुलिगण्य हुआ करते हैं, 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्' ही होते हैं, यह अलग बताने की आवश्यकता नहीं।

जनसाधारण का कर्तव्य होता है कि ऐसे लोकोत्तर, लोक-संग्राहकों का नाम-स्मरण करें, उनके वाङ्मय का परिशीलन करें, उनके उपदेश ध्यान से सुनें, उन पर मनन करें, उनके उत्सव करें, जयन्तियाँ मनायें। इससे उनमें अनायास जीवनी शक्ति भर जाती है, जिसके बल पर वे लोक-यात्रा में प्रायः असफलता के आक्रमण से त्राण पा जाते हैं।

पूज्य गुरु महाराज ऐसे ही लोकोत्तर, लोक-संग्रही पुरुषों में एक हैं। अब तक के उनके चरित्र से उनमें ये गुण स्पष्ट निखरे दिखते हैं। उनकी स्थितप्रज्ञता तो हम पिछले प्रकरण में ही देख चुके हैं। इस प्रकरण में भी अष्टग्रही के भय से आतंकितों को आश्वासन, चीन-आक्रमण से व्याप्त निरुत्साहिता में उत्साह का अपूर्व संयोजन और अपने से सम्बद्ध उत्सव में भी विवेक जागृत् रखते हुए ज्ञान-निष्ठा की प्रतिष्ठा की उत्सुकता आदि प्रसंग भी उनकी लोकोत्तरता, लोक-संग्राहकता स्पष्ट करते हैं। ऐसे सद्गुरु को पाकर उनके अनुगृहीतों को उनका जन्मोत्सव मनाने में कितना स्वाभाविक उत्साह रहता है, इसका वर्णन आपको इस प्रकरण में मिलेगा।

अपने प्रिय शिष्य ब्रह्मीभूत दर्शनरत्न श्री सर्वानन्दजी के निमित्त विभिन्न

नगरों में आयोजित सप्ताहों, पारायणों एवं भण्डारों[१] में लगातार १॥ मास भाग लेते रहने के कारण गुरु महाराज अत्यन्त श्रान्त हो गये थे। विश्राम की अत्यावश्यकता का अनुभव कर उनके प्रिय शिष्य सेठ नटवरलाल चिनाई एवं लेखिका ने अनुरोध किया कि श्रीचरण कुछ दिन पर्वतीय प्रदेश में पूर्ण विश्राम लें। भक्तों के विशेष आग्रह पर आपने इसे स्वीकार भी कर लिया। तदनुसार १७ सितम्बर, सन् १९६१ को आप उपर्युक्त दोनों शिष्यों के साथ विमान द्वारा वम्बई से दिल्ली होते हुए मसूरी पधारे।

संयोग की वात है, उसी विमान से ग्वालियर की महारानी श्रीमती विजया राजे दिल्ली जा रही थीं। उन्हें भी अकल्पित रूप में गुरु महाराज के दर्शन एवं सेवा का अवसर प्राप्त हो गया। मसूरी में सेठ-हाउस, स्प्रिंग रोड में एक मास तक निवास हुआ। इस विश्राम का आपके स्वास्थ्य पर उल्लेख्य सुप्रभाव पड़ा।

मसूरी से गुरु महाराज कार्तिक में वृन्दावन पधारे। वहाँ भी १५ दिनों तक विश्राम किया। दिल्ली का वार्षिकोत्सव एवं अन्यान्य सामयिक कार्य पूरे कर आप श्री वालमुकुन्द वावा के विशेष आग्रह पर रतलाम होते हुए इन्दौर पधारे। वहाँ प्रतिवर्षानुसार गीता-जयन्ती उत्सव मनाया जा रहा था। इन्दौर का उत्सव सम्पन्न कर आप वम्वई आ गये। वहाँ सेठ वालचन्दजी के घर निवास हुआ।

जयन्ती-उत्सव से पुनः शुभ-कार्यारम्भ

गुरु महाराज की शरण आने के वाद से ही लेखिका को वड़ी उत्कण्ठा थी कि श्रीचरणों की जन्म-तिथि का पता चले और प्रतिवर्ष सभी गुरुवन्धुओं के साथ उनका जयन्ती-उत्सव धूमधाम से मनाया जाय। किन्तु जव-जव उसने उस तिथि की जिज्ञासा की, गुरु महाराज मौन हो जाते और अपनी जन्म-तिथि का पता ही न देते। शास्त्रों की मर्यादा है कि चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होने के वाद अपने पूर्व-आश्रम से तनिक भी सम्वन्ध न रखा जाय। यही कारण है कि आपके पूर्व-आश्रम की घटनाओं का इधर-उधर से कुछ पता लगाने के वावजूद अव तक जन्म-ग्राम का निश्चित पता लग नहीं पाया। यही स्थिति जन्म-तिथि की भी रही। संभव है, किन्हीं सूत्रों से ब्रह्मीभूत शिष्यवर श्री सर्वानन्दजी को उसका कुछ आभास

---

१. भण्डारे की आर्थिक सेवा में स्वर्गीय कालिकाप्रसादजी की पत्नी मौरवी की कुमुद रानी का नाम विशेष उल्लेख्य है। उन्होंने हरिद्वार, राम-धाम के बृहत् भण्डारे के अवसर पर साधु-ब्राह्मणों के भोजन, दक्षिणा, वस्त्रादि के निमित्त अकेले दो हजार रुपये खर्च किये थे।

हो । किन्तु वे भी शास्त्र-मर्यादा के कट्टर अनुयायी होने से अपने जीवन में उन्होंने यह रहस्य गुप्त ही रखा । अब तो उनका पाञ्चभौतिक शरीर न होने से वह सूत्र भी जाता रहा । उनके वियोग से शिष्यवर्ग में एक विलक्षण शोक छा गया था, यद्यपि स्वयं गुरुदेव तथा अन्य महात्माओं के उपदेश उसे कम करने में पूर्ण सचेष्ट थे ।

श्री सर्वानन्दजी का सारा और्ध्वदेहिक कृत्य पूरा होने के बाद लेखिका इस निष्कर्ष पर पहुँची कि अब किसी तरह इस रहस्य का पता लगाया जाय और सम्भव हुआ तो आगामी उस तिथि को इस उत्सव के साथ ही अग्रिम शुभ-कार्यों का श्रीगणेश हो ।

अतएव बम्बई के निवास-काल में एक दिन वह गुरु महाराज के समक्ष इसके लिए अड़ गयी । कहने लगी : 'गुरुदेव, अब अपनी जन्म-तिथि का रहस्य प्रकट कर दिया जाय । श्री सर्वानन्दजी के वियोग से आज हम सारे भक्त जन विषाद में डूबे हुए हैं । लाख प्रयत्न करने पर भी उसका घना अभ्र-पटल छँट नहीं पाता । यदि गुरु महाराज की जन्म-तिथि का पता चल जाय, तो भक्त जन वह उत्सव मनायें । अपने उपास्य का जन्मोत्सव मनाकर वे बल प्राप्त करें और आगे के कार्य के लिए उत्साहित हो सकें । इस रहस्य को स्पष्ट करने का इससे उपयुक्त अवसर हो ही नहीं सकता ।'

दयालु गुरु महाराज द्रवित हो गये । बोले : 'बेटी, मेरा जन्म पौष शुक्ला ७मी मंगलवार संवत् १९३८ तदनुसार दिनांक २७ दिसम्बर, सन् १८८१ है ।'

फिर क्या था ? निर्धन को चिन्तामणि मिल गयी । अभागे के हाथ पारस लग गया । लोभी को कल्पतरु की छाँह मिल गयी । तुरत सर्वश्री अर्जुनदास दासवानी, गोविन्दभाई एवं मुरलीधर सेऊमल, सेठ बालचन्द, लक्ष्मीचन्द नागपाल, लक्ष्मीचन्द चावला आदि भक्तों से मिलकर परामर्श किया गया और तय पाया कि यह दिन आगामी १२ जनवरी को ही पड़ रहा है । अतः इसी वर्ष से हम सब भक्त जन सेठ बालचन्द के बँगले पर गुरु महाराज का यह पावन जन्मोत्सव मनाना आरम्भ कर दें ।

वैसे उत्सव का कोई विशेष आयोजन या प्रचार नहीं किया गया और न इस वर्ष उसका उचित अवसर ही था । फिर भी कानों-कान अनेक भक्तों को इस आयोजन का पता लग गया । उनके आनन्द का ठिकाना न रहा ।

नियत दिन सभी भक्त जन उत्सव-स्थल पर जुट गये । गुरु महाराज को भव्य सिंहासन पर विराजमान किया गया और सबने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ अपने आराध्य-चरणों की हार्दिक आराधना की । यथाविधि पूजनादि के बाद

श्रीमुख से भक्तों को आशीर्वाद एवं उपदेश मिला, जिससे उनका सारा गुरुबन्धु के वियोग से जन्य शोक विलीन हो गया। सभी में एक विलक्षण उत्साह संचारित हो उठा। इस अवसर पर सेठ बालचन्दजी की ओर से भण्डारा हुआ, जिसमें सन्तों को भोजन कराया गया और संगत को प्रसाद मिला। इस तरह गुरु महाराज की जयन्ती के साथ अग्रिम शुभ-कार्य की नान्दी हो गयी।

अष्टग्रही योग पर व्यापक धर्म-कार्य

इन्हीं दिनों आगामी अष्टग्रही-योग को लेकर जनता के बीच एक विलक्षण आतंक छाया हुआ था। अनेक अवसरवादी लोग विभीषिका का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते और अपना उल्लू सीधा करने की फिराक में सचेष्ट थे। जनसाधारण की इस किंकर्तव्य-विमूढ़ता पर सदय हो अब गुरु महाराज ने यत्र-तत्र अपने प्रवचनों द्वारा उन्हें आश्वस्त करने का उपक्रम किया। आप लोगों को समझाते :

'इस अष्टग्रही योग से घबड़ाने की कोई बात नहीं। कुछ अदूरदर्शियों ने व्यर्थ ही तिल का ताड़ बना दिया है। जितना बढ़ा-चढ़ाकर विभीषिका का प्रचार किया जा रहा है, वैसा कुछ होने-जानेवाला नहीं। यों छिटपुट घटनाएँ तो संसार में सदैव हुआ ही करती हैं। फिर भी विश्व-शान्ति के लिए नाम-स्मरण, भागवत, मानस आदि के पारायण तथा यज्ञ-यागादिकों का अनुष्ठान श्रेयस्कर है। यदि कुछ न हुआ तो हमारी कोई हानि नहीं, अच्छे काम से कभी हानि नहीं होती। और यदि कुछ अदृष्ट रहा, तो वह इस पुण्य-कर्म से नष्ट हो जायगा। इस तरह शास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान किसी प्रकार व्यर्थ नहीं जाता।'

यह उपक्रम केवल मौखिक आश्वासन तक ही सीमित न रहा। स्वयं गुरु महाराज ने अनेक स्थानों पर उपस्थित हो जनसाधारण द्वारा अनेक यज्ञ-याग, नामस्मरण, पारायणादि यथाशक्ति, यथाधिकार करवाये।

गंगा में करोड़ों मन्त्रों का समर्पण : इनमें हरिद्वार-कुम्भ के अवसर पर भगवती भागीरथी के पावन तट पर कोटि-कोटि मन्त्रों के समर्पण का वृहत् आयोजन उल्लेख्य है। एतदर्थ विशेष योजना बनायी गयी और सभी नगरों की धार्मिक जनता को आदेश दिया गया कि 'वे अपने-अपने नगरों में अपने-अपने इष्टदेव के मन्त्र यथाशक्ति अधिकाधिक संख्या में लिखें। साथ ही महामन्त्र भी कुल ३॥ करोड़ की संख्या में लिखा जाय। इसमें भी लोग अपना योगदान दें।'

योजना में आगे बताया गया था कि 'हरिद्वार-कुम्भ पर इसी निमित्त से विशेष रूप में होनेवाले यथाविधि नाम-महायज्ञ के पश्चात् लिखित मन्त्रों को समष्टि रूप

से भागीरथी को समर्पित किया जायगा। मन्त्र की कापियाँ हरिद्वार-कुम्भ, श्रौत-मुनि-निवास कैम्प में भेजी जायँ।'

ग्वालियर में विश्व-शान्ति-यज्ञ : ग्वालियर की महारानी ने भी अपने यहाँ एक विश्व-शान्ति-यज्ञ का आयोजन किया। उनके साग्रह आमन्त्रण पर गुरु महाराज ग्वालियर पधारे। आपके साथ सर्वश्री ओंकारानन्द, शंकरानन्द, अमर मुनि, सुवेद मुनि, गोविन्दानन्द आदि अनेक विद्वान् सन्त-मण्डली थी। सभीके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवचन हुए। गुरु महाराज के मुख्य शिष्य श्री ओंकारानन्दजी, व्याकरणाचार्य, तर्क-वेदान्ततीर्थ ने ज्योतिष-शास्त्र के गम्भीर सिद्धान्तों के आधार पर अपने वैदुष्यपूर्ण प्रवचन में सिद्ध कर बताया कि आगामी अष्टग्रही योग देश के लिए अधिक अनिष्टकर नहीं है। आपके भाषण का जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसके भावों से स्पष्ट हो रहा था कि अब वह अष्टग्रही के कल्पित आतंक से बहुत कुछ आश्वस्त हो रही है।

गुरु महाराज ने विनोदभरी भाषा में जनता का रञ्जन करते हुए अपने प्रवचन से उसे सर्वथा आश्वस्त कर दिया। आपने कहा : 'प्रभुप्रेमी सज्जनो, देखिये! मंगल भूमि-पुत्र हैं और हमारी सीतामाता भूमि-सुता है। मामा (मंगल) भाँजे का अनिष्ट कैसे कर सकता है? फिर, चन्द्रमा भी हमारे आराध्य विष्णुदेव की पत्नी माता लक्ष्मी के भाई हैं। वे भी मामा के नाते हमसे स्नेह ही करेंगे। इसी तरह बृहस्पति देव-गुरु हैं और हम हैं देव-सम्प्रदाय के अनुयायी। क्या कोई गुरु कभी अपने शिष्य-वर्ग का अनिष्ट करता है? वास्तव में इस अष्टग्रही योग में गुरु का योग सोने में सुगन्धि है।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'हमारे आराध्य तातपाद श्री रामचन्द्रजी के मूल पुरुष सूर्यदेव हैं। इस तरह वे हमारे पितामह हुए। दादा का पौत्र से स्नेह प्रसिद्ध ही है। चन्द्र-सुत बुध, मातुल-पुत्र हमारे बन्धु ही हुए। बन्धु का कर्तव्य संकट में सहायता करना होता है। बन्धुत्व का यही लक्षण है। हाँ, शनि क्रूर ग्रह अवश्य हैं। पर एक तो वे हैं लँगड़े। दौड़कर हमें पकड़ ही कैसे पायेंगे? फिर, हमारे पितामह सूर्य का उन पर शासन भी है। कारण पुत्र (शनि) को पिता (सूर्य) का आदेश पालन करना ही पड़ता है। देव-गुरु के सान्निध्य में दैत्य-गुरु शुक्र की तो बात ही क्या? इस तरह कोई ग्रह हमारा बाल बाँका नहीं कर सकता और न करेगा।'

अन्त में आपने कहा : 'सच तो यह है कि हम सब भगवान् का नाम-स्मरण करते हैं, इसीलिए उनका अभयप्रद वरद हस्त हम भक्तों के मस्तक पर सदैव है। गीता में प्रभु ने श्रीमुख से कहा है :

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।'

(९-३१)

ग्वालियर के विश्व-शान्ति-यज्ञ और अधिकारी पुरुषों के इस ज्ञान-सत्र से उस प्रदेश के जनसाधारण में आतंक की जगह उत्साह ने ले ली ।

मण्डलेश्वरों की मण्डली

ग्वालियर का महायज्ञ पूरा कर गुरु महाराज बम्बई होते हुए भक्तवर श्री चुनीलाल रेशमवाला की प्रार्थना पर सूरत पधारे । भाई चुनीलालजी ने अपने घर पर ही सन्तों को ठहराने का प्रबन्ध किया । वहाँ सनातनधर्म-सेवा-संघ के भवन में गुरु महाराज और विद्वान् सन्तों के महत्त्वपूर्ण प्रवचन हुए । सूरत की जनता मण्डली के दर्शन से अत्यन्त विस्मित थी । कुछ प्राचीन सत्संगी सज्जन गुरु महाराज से कहने लगे कि 'हमने आज तक बहुत-सी सन्त-मण्डलियों के दर्शन किये । उनमें अन्य सन्त तो सामान्य कोटि के पढ़े-लिखे पाये, केवल मुख्य सन्त, मण्डलेश्वर ही विशिष्ट विद्वान् होते । किन्तु आपकी इस मण्डली के सभी सदस्य प्रखर विद्वान् देखे गये । दूसरे शब्दों में इसे 'मण्डलेश्वरों की मण्डली' कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी ।' भाई चुनीलाल रेशमवाला की श्रद्धा-भक्तिभरी सन्त-सेवा विशेष उल्लेख्य रही ।

सूरत से अहमदाबाद, दिल्ली, अमृतसर होते हुए गुरु महाराज अपनी मण्डली के साथ कुम्भ-पर्व पर हरिद्वार पहुँचे ।

हरिद्वार-कुम्भ

संवत् २०१८ फाल्गुन शुक्ला १०मी, १६ मार्च, १९६२ से हरिद्वार का कुम्भ-पर्व मेला प्रारंभ हुआ और संवत् २०१९ चैत्र शुक्ला १२शी, तदनुसार १६ अप्रैल १९६२ तक चला । अन्तिम स्नान १३ अप्रैल रामनवमी को था और उसी दिन मेष-संक्रमण भी पड़ रहा था ।

इस पर्व के लिए सभी सम्प्रदायों के मण्डलेश्वर अपने-अपने कैम्पों के साथ वहाँ पहुँचे थे । हरिद्वार-कुम्भ का दृश्य सचमुच देखते ही बनता है । वहाँ के कुम्भ की छटा निराली ही होती है । अन्य कैम्पों की तरह श्रौतमुनि-निवास कैम्प भी भीमगोड़ा के सन्निकट भूपतवाला, गंगा-तट पर विशाल रूप में बना था । कैम्प (क), (ख), (ग) तीन विभागों में विभक्त था, जिनमें (ग) विभाग में विशेष रूप से ग्रामीणों के निवास की समुचित व्यवस्था की गयी थी ।

नागरिक जनता के निवास की व्यवस्था तो प्रायः सभी कैम्पों में हो जाती है। उनमें अधिकांश धनी एवं शिक्षित होने से वे स्वयं अपनी व्यवस्था करने में कुशल और समर्थ भी होते हैं। किन्तु भोली-भाली अशिक्षित ग्रामीण जनता को निवास का बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। वहाँ पहुँचने पर वह दिङ्मूढ हो जाती है कि कहाँ जाय और कहाँ ठहरे ? राष्ट्रिय नेताओं का लक्ष्य है और स्वयं गुरु महाराज के परम गुरुदेव का भी ध्येय रहा कि ग्रामीण जनता का विशेष ध्यान रखा जाय। कारण देश की प्रगति का प्रधान साधन ग्रामों का उद्धार-कार्यक्रम है। कृषि एवं ग्रामप्रधान भारत के लिए तो यह अनिवार्य ही है। यही कारण है कि गुरु महाराज कुम्भों के अवसर पर ग्रामीणों की स्वतन्त्र व्यवस्था कर उनकी सुख-सुविधाओं का विशेष ध्यान रखते हैं।

आजकल गुरु महाराज प्रायः नगरों में प्रवचन करते ही नहीं। फिर भी कुम्भों पर प्रतिदिन इसीलिए प्रवचन किया करते हैं कि सरल-हृदय ग्रामीण जनता की कुछ वाचिक सेवा बन पड़े।

कैम्प में लगभग ८ हजार भक्तों के निवास का प्रबन्ध रहा। कुत्तीवाल (भटिण्डा) के भक्तवर चेतनसिंह अपने दल-बल के साथ आये और गुरु महाराज की सेवा में सदैव प्रस्तुत रहे। कैम्प के सेवा-कार्य में सभी भक्तों एवं जनता ने हर प्रकार का सहयोग दिया, जिनमें निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेख्य हैं :

सर्वश्री रामनारायण भोजनगरवाला (कलकत्ता), सेठ बालचन्द (जे० बी० मंघाराम), गोविन्दराम एवं मुरलीधर, सूरत के चुनीलाल रेशमवाला तथा ईश्वरलाल गांधी का परिवार, गुरुसहायमल सहगल (श्रीनगर-काश्मीर), पष्ठ राज-दादी त्रिपुरा, राज-दादी तथा राज-माता देवगढ़ बारिया, बा साहब सन्तराम-पुर, राजकुमारी आनन्द कुँवर बा, रायसाहब रूड़ाराम, किशनचन्द वधाव, दीवान-चन्द भाटिया, विलायतीराम कोहली, अमृतसर के शिवप्रकाश, लाला पन्नालाल सालिगराम, दौलतराम, भक्त विष्णुदास, शकुन्तला मेहरा (संचालक, महिला-सत्संग, अमृतसर), लक्ष्मीचन्द चावला, मथुरादास चावला, पोपटलाल भालकिया, रावजीभाई पटेल, गंगा बा पटेल, मगनभाई भीखाभाई पटेल, छगनलाल, इन्दौर के बाबा बालमुकुन्द, श्रीमती मन्ना माता, ओंकारलाल चुन्नीलाल (इन्दौर), डाक्टर कृष्णा, डाक्टर आर० बी० माथुर आदि।

कैम्प में प्रतिदिन हजारों की संख्या में सन्तों को भोजन दिया जाता और भक्तों को प्रसाद वितरण होता। सभा-मण्डप में कभी-कभी दस-दस हजार, बीस-बीस हजार श्रोताओं की उपस्थिति हो जाती। सन्त-सेवा के लक्ष्य से कुछ भक्त

मोटरें भी लाये थे। उनके द्वारा सन्तों एवं अतिथियों के आवागमन में पूरी सुविधा हो गयी थी। जीप एवं मोटरकारें मिलाकर लगभग ३० थीं। गुरु महाराज से मिलने एवं प्रवचन सुनने आनेवालों में ग्वालियर की महारानी, केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री नन्दाजी, महाराष्ट्र के सन्त तुकड़ोजी एवं कतिपय प्रख्यात महाराष्ट्रिय सन्तों के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। गुरुदेव के अनुरोध पर महाराष्ट्रिय सन्तों ने एक दिन कैम्प में प्रसाद भी ग्रहण किया।

पंजाब की ओर

इस बार के कुम्भ का कार्यभार प्रत्यक्ष गुरु महाराज पर ही पड़ा। पहले के कुम्भों में तो केवल उनकी प्रेरणा और सान्निध्य मात्र रहता। प्रत्यक्ष सारा कार्य उनके प्रिय शिष्य ब्रह्मीभूत स्वामी श्री सर्वानन्दजी ही सम्पन्न कर लिया करते थे। अतः अधिक कार्यव्यस्तता से गुरुदेव का वृद्ध शरीर अत्यधिक श्रान्त हो गया और वे कुछ अस्वस्थ-से हो गये। विदुषी श्रद्धामूर्ति परम गुरुभक्ता डा० कृष्णाजी ने बड़े कुशलतापूर्वक आपकी चिकित्सा की, जिससे आपके स्वास्थ्य में काफी सुधार हो गया। फिर भी आप इतनी थकावट अनुभव करने लगे कि भक्त जनों की चिन्ता का विषय हो गया। अतएव १६ अप्रैल १९६२ को कुम्भ का कार्य सम्पन्न होने के साथ ही आप हरिद्वार से अमृतसर के लिए रवाना हो गये।

अमृतसर पहुँचते ही जज साहब देवकीनन्दनजी के सुपुत्र श्री दीनानाथजी गुरु महाराज को मण्डी ले जाने के लिए कार लेकर उपस्थित थे। किशनचन्दजी सावलानी ने भी एक कार की व्यवस्था कर दी और सन्त-मण्डली सहित गुरु महाराज मण्डी के लिए रवाना हो गये। मार्ग में काँगड़ा नगरकोट-निवासिनी भगवती ज्वालामुखी एवं जगज्जननी चामुण्डा के सुचिरप्रतीक्षित दर्शन करते हुए मण्डली मण्डी पहुँची।

मण्डी में जज साहब के जामाता श्री रमेशचन्द्र के नवनिर्मित भवन में आप लोगों को ठहराया गया। उन्होंने गुरु महाराज को बड़े आग्रहपूर्वक निमन्त्रित किया था। यहाँ सत्संग का भव्य आयोजन हुआ। मण्डी की जनता ने उससे खूब लाभ उठाया।

एक सप्ताह तक यहाँ निवास के पश्चात् जज साहब के अति आग्रह पर गुरु महाराज उनके बिजौरा-स्थित महा-उद्यान में ठहरे। जज साहब, उनके बन्धु श्री वल्लभदास, श्री केशवराम, उनके भतीजे ओम्प्रकाश माधवप्रसाद, डाक्टर ज्योतिप्रसाद, वकील ठाकुरप्रसाद आदि कुटुम्ब के सभी सदस्यों ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ आपकी सेवा की। सायंकाल सत्संग का आयोजन किया गया।

कीर्तन के पश्चात् महात्मा ब्रह्मदेवजी का प्रवचन हुआ। सत्संग के लिए कुल्लू, भुवन्तर, मण्डी आदि आसपास के शहरों से कितने ही भक्त, प्रतिष्ठित एवं जनसाधारण उपस्थित हुए थे। यह क्रम लगातार आठ दिनों तक चलता रहा। वातावरण में एक विलक्षण दिव्यता छा गयी थी।

विजौरा से लौटते हुए श्री गुरु महाराज जोगीन्द्रनगर पधारे। वहाँ श्री यादव सिंह वजीर की कोठी में निवास हुआ।

मण्डी-नरेश की शंकाओं का समाधान

यहीं राजा साहव मण्डी-नरेश आपके दर्शनार्थ आये थे। उन्होंने गुरु महाराज के समक्ष जिज्ञासा व्यक्त की : 'महाराज, मैं यूरोप, अमेरिका, जापान आदि विदेशों में भ्रमण कर चुका हूँ। ईसाइयों के पादरी, मुसलिम भाइयों के मौलवी और हिन्दुओं के पण्डितों-सन्तों से भी मिलता रहता हूँ। किन्तु निर्णय नहीं कर पाता कि किस धर्म या किस संस्कृति को यथार्थ माना जाय ? सभी अपने-अपने सिद्धान्त की पुष्टि में विविध तर्क एवं प्रमाण उपस्थित किया करते हैं और उनकी दृष्टि से वे उचित भी मालूम पड़ते हैं। कृपया मुझे तात्त्विक निर्णय सुनाकर अनुगृहीत करें।'

गुरु महाराज ने कहा : 'राजन्, आपका प्रश्न वड़ा ही सुन्दर है। किन्तु इस सम्वन्ध में मेरी मान्यता है कि अधिक झगड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं। आप जानते ही हैं कि जहाँ कोई छोटी-बड़ी संस्था बनायी जाती है—वैसे परिवार भी एक छोटी-सी संस्था ही है—तो उसके कुछ नियम वनाने ही पड़ते हैं। यदि कुछ नियम न बनाये जायँ और सदस्यों के कार्यों का विभाजन न किया जाय, तो किसी भी संस्था या परिवार तक का समुचित संचालन असम्भव हो जाता है। परिवार में यह क्रम चलता है कि पुत्र-वधू भोजन बनाये, माता परोसे और पुत्र तथा पिता बाहर से द्रव्य कमा लाये। संस्था के सदस्यों में भी कोई आफिस का काम सँभालता है, कोई धन-संग्रह करता है, तो कोई प्रचार-कार्य, तभी संस्था सुचारु रूप से चल पाती है।

आज हम यह जो सृष्टि देखते हैं, उसके आरंभ की तिथि कौन-सी होगी, इस विषय में इतिहास भी मौन हो जाते हैं। फिर भी मानना पड़ेगा कि वह एक संस्था है और वहुत बड़ी, सवसे वड़ी संस्था है। तब उसके संचालन के लिए कोई ठोस नियमावली अवश्य होगी। प्रश्न होगा, वह कौन-सी नियमावली हो सकती है ? प्रचलित अन्यान्य सभी धर्मों के ग्रन्थ वह स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। कारण ईसाई धर्म, इसलाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि

धर्मों में कोई दो हजार वर्षों से, कोई चौदह सौ वर्षों से, कोई पाँच हजार वर्षों से, तो कोई ढाई हजार वर्षों से चला है, जब कि सृष्टि किसी अज्ञात काल से चली आ रही है। दूसरे शब्दों में वह अनादि है। अतः सृष्टि की आरम्भिक नियमावली एकमात्र 'वेद' ही हो सकते हैं, क्योंकि वे अति प्राचीन हैं। कब से हैं, इसे आज के ऐतिहासिक भी निश्चित रूप में एकमत से कुछ नहीं कह पा रहे हैं। इसलिए अनादि सृष्टि-संस्था के अनादि नियम वेदों को ही मानना युक्तिसंगत है। इस तरह प्रमाणित हो जाता है कि सबसे प्राचीन हिन्दू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति अथवा सनातन वैदिक-धर्म ही सर्वप्रथम और सृष्टि के निर्माता (ईश्वर) के नियम हैं। अतः निस्सन्देह वे सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य हैं।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'राजन्, इस वैदिक-धर्म के मुख्य सिद्धान्त पुनर्जन्म को ही लें। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा पूर्वजन्म में किये पुण्य या पापों का फल भोगने के लिए उत्तरोत्तर जन्मों में नया शरीर ग्रहण करता है। यह सर्वथा युक्तियुक्त है। देखिये, सृष्टि में कोई धनी तो कोई निर्धन, कोई विद्वान् तो कोई मूर्ख, कोई सुन्दर तो कोई कुरूप, कोई सुखी तो कोई दुःखी—ये जो विचित्रताएँ देखी जाती हैं, वे जीव द्वारा पूर्वजन्म में किये कर्मों पर ही निर्भर हैं। अन्यथा संसार के सभी प्राणी एक ही तरह के क्यों नहीं होते ? ईश्वर को तो किसीका कोई पक्षपात नहीं। यदि ईश्वर कर्म की सहायता के बिना इस विचित्र सृष्टि की रचना करे, तो उसमें विषमता और निर्दयता का दोष आ जायगा।

कारखाने का मैनेजर वेतन बाँटता है। जिसने अधिक दिन, अधिक घण्टे काम किया, उसे अधिक पैसे मिलेंगे। जिसने कम दिन, कम घण्टे काम किया, उसे कम पैसे दिये जायँगे। ऐसी स्थिति में श्रमजीवियों को वेतन बाँटनेवाले प्रबन्धक पर पक्षपात या निर्दयता का आरोप नहीं लगता। ठीक इसी प्रकार प्राणियों के पूर्वजन्मों के अनुरूप विविध प्रकार की सृष्टि-रचना के कारण ईश्वर पर भी किसी प्रकार का दोषारोप करना संभव नहीं।'

राजा साहब ने आगे प्रश्न किया : 'क्या कर्मों में किसी प्रकार कुछ परिवर्तन भी हो सकता है ?'

गुरु महाराज ने प्रसन्न मुद्रा में कहा : 'राजन्, अवश्य। भगवत्-आराधना और सन्त-सेवा से शूल भी काँटा बन सकता है। कभी-कभी जाग्रत्-अवस्था में भोग्य कर्म स्वाप्न भोग से भी क्षीण हो जाते हैं। इस विषय को निम्नलिखित दृष्टान्तों से देखिये :

कोई दो युवक मित्र थे—एक था, वेश्यागामी, मद्यप, जुआरी और अति व्यसनी, जिसका सदैव पापियों से ही सम्पर्क रहता। दूसरा था, पुण्यात्मा, सत्संगी और सन्त-सेवी।

दोनों अपने-अपने स्वभावानुसार घर से चल पड़े। सत्संगी को मार्ग में पैरों में काँटा चुभा और कुसंगी को सोने की मुहर पड़ी मिली। भेंट होने पर कुसंगी ने सत्संगी मित्र की हँसी उड़ायी : 'मुझे तो कल रास्ते में सोने की मुहर मिली, जिससे मद्यपान और सांसारिक विषयों को दिल खोलकर भोगा जा सका। किन्तु तू तो भूखा रहा और ऊपर से पैर में काँटा भी चुभा। फिर बता, तेरे धर्म-मार्ग पर चलने से क्या लाभ ?'

सत्संगी पर कुसंगी साथी के कुतर्क का प्रभाव जम गया। फिर भी वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा था। पहुँचा गुरुदेव के पास और पूछ बैठा : 'भगवन्, कुसंगियों को लाभ और सत्संगियों को हानि उठानी पड़ती है, इसका क्या रहस्य है ? मेरे मित्र को, जो कुमार्गगामी है, सोना मिला और मुझे तीर्थ में जाते हुए पैर में काँटा चुभा, घाव पककर चलने में भी कठिनाई पड़ रही है। भूखा रहा ऊपर से !'

गुरुदेव हँस पड़े ! बोले : 'बेटा, उस कुसंगी युवक ने शास्त्र-विरुद्ध आचरण कर अपने विशाल पुण्य को अति क्षीण कर डाला, जिसके फलस्वरूप उसे राज्य-लाभ होना चाहिए था। उसके स्थान पर केवल सोने की एक मोहर ही उसके हाथ लगी। और तुझे ? पूर्व के भीषण पाप से शूली, प्राण-दण्ड मिलने को था। किन्तु सत्संग के कारण प्राणदण्डप्रद पाप इतना दुर्बल हो गया कि पैर में काँटा चुभाकर ही वह समाप्त हो गया।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'राजन्, एक उदाहरण और देखिये। आपके पूर्वपुरुष एक बार किसी एक सन्त के पास पहुँचे। सन्त ने अपने उपदेश में बताया कि 'विधाता ने जो मस्तक पर लेख लिख दिया, वह मिटाये मिट नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा।'

आपके पूर्वज उन राजा साहब को बड़ी निराशा हुई। सोचने लगे—जब ऐसा ही है, तो मुझे मण्डी का राजभवन त्यागकर जंगल में इस सन्त के पास आने की क्या आवश्यकता ? वे तुरत चलने लगे। सन्त योग-बल से उनका हार्दिक भाव समझ गये और उन्होंने नरेश से उस रात अपने पास ही ठहर जाने का अनुरोध किया। राजा की सन्त के प्रति सुदृढ़ श्रद्धा थी, अतः वे उनकी बात टाल न सके।

महाराज ने वहीं शयन किया। स्वप्न में उनका एक चाण्डाल-कन्या से विवाह हुआ और कई पुत्र भी हो गये। अन्त में उसकी मृत्यु हो गयी। कुटुम्बियों ने उसे भूमि में गाड़ दिया। वस……, अकस्मात् निशा-भंग के साथ निद्रा-भंग भी हो गया।

आँख खुलते ही वे दौड़ते सन्त के पास आये। सन्त प्रातःकालीन पवन-सेव-नार्थ जा रहे थे। वे राजा को अपने साथ लिवा ले गये। रास्ते में सन्त की योग-शक्ति से विचित्र दृश्य उपस्थित हुआ। एक चाण्डाल-कुटुम्ब ने आकर राजा को घेर लिया। कहने लगा: 'यह हमारा सम्वन्धी है। कोई उसे जामाता, कोई पिता, तो कोई बेटा कहने लगा। किसी देवी ने आगे बढ़कर 'पतिदेव' कहते हुए उनका हाथ पकड़ने की चेष्टा की। राजा चक्कर में पड़ गये। चाण्डाल-परिवार उनका पीछा नहीं छोड़ रहा था।

नरेश की परेशानी देख सदय हो सन्त चाण्डाल-परिवार को समझाने लगे: 'भई, ये आपके सम्वन्धी नहीं हैं। आप लोग भ्रम में हैं। विश्वास न हो तो आप लोग वहाँ जाइये, जहाँ आपने अपने मृत स्नेही को गाड़ रखा है। वहाँ की भूमि खोदकर देख आइये। तव तक हम यहीं बैठे हैं।'

चाण्डाल-परिवार श्मशान-भूमि पर पहुँचा। भूमि खोदी, तो उन्हें अपने मृत वन्धु का शव दिखलाई पड़ा। वे सन्त के पास दौड़े आये और उनसे क्षमा माँगते हुए कहने लगे: 'भगवन्, सचमुच हमारी भूल थी। आकृति की समता के कारण हमें भ्रम हो गया था।'

यह सव देख राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने सन्त के चरण पकड़े। कहने लगे: 'भगवन्, यह कैसी माया है। कृपया इसका रहस्य स्पष्ट कीजिये।'

महात्मा ने कहा: 'वत्स, तेरी शंका का समाधान हो गया न?'

राजा बोला: 'भगवन्, ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ। स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।'

महात्मा ने कहा: 'बेटा, तुझे पाप के प्रभाव से जाग्रत्-अवस्था में वर्षों तक चाण्डाल-परिवार में रहना था। किन्तु सन्तों के सहवास से उस पाप का फल स्वप्न में ही तूने भोग लिया।'

गुरुदेव ने प्रस्तावित विषय का उपसंहार करते हुए कहा: 'राजन्, हम समझते हैं कि ये दो उदाहरण आपके इस प्रश्न का अचूक समाधान करने में पर्याप्त होंगे।'

राजा साहव ने इस महती कृपा के लिए कृतज्ञता व्यक्त की।

युवराज कर्णसिंह से आध्यात्मिक चर्चा

गुरु महाराज जोगीन्द्रनगर से अमृतसर, जम्मू होते हुए श्रीनगर-काश्मीर पहुँचे। वहाँ आप श्री गुरुसहायमल सहगल की कोठी (नं० २१, वजीरवाग) में ठहरे। मण्डली के सन्त सर्वश्री सोऽहम् मुनि, वीतराग ब्रह्मदेवजी एवं शंकरानन्दजी, एम० ए० के प्रवचन होते रहे। कभी-कभी गुरुदेव भी अपनी वाक्-सुधा से भक्त जनों को आप्यायित कर देते। लेखिका भी गुरुदेव के दर्शन के लक्ष्य से इन दिनों उनके साथ रही। श्रीनगर में तीन सप्ताह तक निवास हुआ।

इस वीच काश्मीर की राजमाता श्री तारादेवी के आमन्त्रण पर गुरु महाराज एक दिन राजभवन में भी पधारे। वात यह हुई कि राजमाता लीमड़ी अपने सुपुत्र राजा छत्रसाल सिंह एवं पुत्र-वधू के साथ काश्मीर आयी थीं। वे लोग सदरे-रियासत डाक्टर युवराज कर्णसिंह के अतिथि थे। राजमाता काश्मीर को उन्हींसे गुरुदेव के काश्मीर-निवास का पता चला। राजमाता के साग्रह निमन्त्रण पर आप राजभवन पधारे।

वहाँ राजमाता श्री तारादेवी के निकट लीमड़ी-राजपरिवार एवं सपत्नीक युवराज कर्णसिंह भी आपके दर्शनार्थ उपस्थित थे। डाक्टर कर्णसिंह अपने दादा जम्मू-काश्मीर-नरेश श्री प्रतापसिंहजी की तरह ही धार्मिक विचार के, सन्त-प्रेमी एवं संस्कृत-साहित्य के पण्डित हैं। उन्होंने गुरु महाराज के पूजन आदि के पश्चात् साथ के सन्तों से शिष्टतापूर्वक प्रश्न किया[1] :

'मैंने ईशावास्योपनिषद् के ९, १०, ११ मन्त्रों में पढ़ा है कि केवल विद्या या अविद्या से मनुष्य का कल्याण संभव नहीं। किसी एक के अनुष्ठान से अनिष्ट ही संभव है, यह वेद के मर्मज्ञ पूर्वज महापुरुषों से सुना गया है। विद्या और अविद्या दोनों के पृथक्-पृथक् फल हैं। अतः दोनों का समुचित अनुष्ठान ही लाभकारी होगा। दोनों का समुचित अनुष्ठान करने पर साधक अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण कर विद्या से अमृत, अविनाशी मोक्षरूप फल प्राप्त करता है। मुझे इन मन्त्रों के 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों का रहस्य स्पष्ट नहीं हो रहा है। कृपया इनका स्पष्टीकरण कीजिये।'

---

१. युवराज साहब ने गुरु महाराज से साक्षात् प्रश्न करने की धृष्टता नहीं की। दूसरे सन्तों से प्रश्न करने का कारण उनकी लोकोत्तर शिष्टता ही थी। उनका अभिप्राय था कि चर्चा छिड़ने पर उसमें गुरु महाराज का कूद पड़ना पाण्डित्य-सुलभ होगा और अन्ततः वे उचित समाधान करेंगे ही।

सभी सन्तों ने मौन साध लिया। कोई उत्तर देने के लिए प्रस्तुत नहीं हो रहा था। अतएव विवशतः गुरु महाराज ने ही समाधान आरम्भ किया : 'वत्स युव-राज, ईशोपनिषद् पर अनेक आचार्यों की व्याख्याएँ मिलती हैं। अति प्राचीन वृत्तिकार भर्तृप्रपञ्च 'विद्या' का अर्थ 'ज्ञान' और अविद्या का अर्थ 'कर्म' करते हैं। उनके मतानुसार तीनों मन्त्रों में मुक्ति के साधनरूप में ज्ञान-कर्म-समुच्चय अभिप्रेत दीखता है। पक्षी दो पंखों से ही उड़ पाता है। साधक को ऊँचा उठने के लिए कर्म और ज्ञान दोनों का अवलम्ब लेना पड़ेगा। एक से अभीष्ट-सिद्धि संभव नहीं।

श्री शंकराचार्य विद्या का अर्थ 'उपासना' और अविद्या का 'कर्म' करते हैं। उनका अभिप्राय है कि 'इन मन्त्रों द्वारा साधक की कर्म-मुक्ति का साधन कर्मो-पासना-समुच्चय बताया गया है। वृत्तिकार का मन्तव्य भ्रान्त है। कारण ज्ञान और कर्म परस्पर विरुद्ध हैं। उनका समुच्चय कथमपि सम्भव नहीं। कर्म का अनुष्ठान कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप व्यवहार-दशा में ही संभव है। परमार्थ-दशा में ज्ञानोदय होने पर कर्मोपयोगी कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि का मिथ्या अभिमान न रहने से कर्मानुष्ठान संभव ही कहाँ ?'

हमारे उदासीन-सम्प्रदाय के आचार्य जगद्गुरु श्रीचन्द्र भगवान् ने अपने श्रीचन्द्र-भाष्य में 'विद्या' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' और 'अविद्या'[1] का अर्थ 'भगवदु-पासना' किया है। उनका अभिप्राय है कि केवल ज्ञान या केवल भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मुक्ति का साधन भक्ति-ज्ञान-समुच्चय ही है। कारण जीव के माया और अविद्या, ये दो बन्ध हैं, जिनमें माया की निवृत्ति भक्ति से और अविद्या की निवृत्ति ज्ञान से होती है। भक्ति-ज्ञान-समुच्चय का विस्तृत वर्णन ब्रह्मसूत्र, गीता एवं उपनिषद् के श्रीचन्द्र-भाष्य में आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है।'

युवराज बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे : 'आप जैसे महापुरुषों के समागम से इस तरह गूढ़ातिगूढ़ शास्त्रीय रहस्य सहज अवगत हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप प्रस्थानत्रयी के श्रीचन्द्र-भाष्यों का शीघ्र प्रकाशन करायें। यदि व्यया-धिक्य से सम्पूर्ण प्रकाशन सम्भव न हो, तो ईशादि-सदृश लघुकाय उपनिषदों का ही श्रीचन्द्र-भाष्य प्रकाशित करवायें। आपके वार्तालाप से पता चलता है कि श्रीचन्द्र-भाष्य के प्रकाशन से दार्शनिक-जगत् में कई नये-नये अति गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त विद्वानों के समक्ष प्रकट हों।'

---

१. अकारः = वासुदेवः, तस्य विद्या = उपासना इति अविद्या, भगवदु-पासनेत्यर्थः।

युवराज कर्णसिंह ने जम्मू-काश्मीर सीरीज (ग्रन्थमाला) द्वारा प्रकाशित सैकड़ों ग्रन्थ गुरु महाराज को भेंट किये। आपने वे सब काशी के 'उदासीन संस्कृत महाविद्यालय' के पूर्ण-पुस्तकालय को भेज दिये।

श्राद्ध-तत्त्व पर प्रकाश

श्रीनगर से गुरु महाराज पहलगाँव आये। वहाँ दो सप्ताह निवास हुआ। अनन्तर दिल्ली होते हुए ग्वालियर पधारे। ग्वालियर में महारानी विजया राजे ने अपने दिवंगत पतिदेव महाराज जीवाजीराव सिन्धिया की पुण्य-स्मृति में आध्यात्मिक जयन्ती-समारोह का आयोजन किया था, जिसमें आप विशेष रूप से साग्रह निमन्त्रित थे। इस अवसर पर अनेक महात्मा एवं विद्वान् उपस्थित थे। सभा में वर्तमान त्रिपुरा-नरेश एवं युवराज ग्वालियर-नरेश यथासमय उपस्थित हो विद्वानों एवं महात्माओं के प्रवचन श्रवण करते थे। हजारों की संख्या में जनता ने इस आध्यात्मिक आयोजन से लाभ उठाया।

अन्तिम दिन गुरु महाराज का श्राद्ध-तत्त्व पर प्रवचन हुआ। स्वर्गीय महाराज की बरसी के अवसर पर यह विषय स्वभावतः प्रसंगोपात्त था। आपने अपने प्रवचन में श्राद्ध का स्वरूप, उसके प्रापक देवता, श्राद्ध-प्राप्ति के प्रकार, पशु, पक्षी आदि योनिप्राप्त पितृगणों की उस योनि में सुलभ भोग्य वस्तु की प्राप्ति द्वारा तृप्ति का निरूपण, श्राद्ध के लाभ और न करने पर होनेवाली हानि, वेदों में मृतक श्राद्ध का प्रतिपादन आदि विषयों को विशद व्याख्या की।

युवराज ग्वालियर अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपने बहनोई त्रिपुरा-नरेश से से कहने लगे : 'आज गुरु महाराज का प्रवचन सुनने से श्राद्धविषयक मेरी सभी शंकाएँ दूर हो गयीं।' उन्होंने आपसे कहा : 'महाराज, मैंने ऐसा प्रवचन आज ही सुना।' गुरु महाराज ने सस्नेह कहा : 'अब भविष्य में भी मेरा प्रवचन अवश्य सुनें। बम्बई में आप प्रायः आते ही रहते हैं। वहाँ चातुर्मास्य में डी रोड, तुलसी-निवास में नित्य प्रवचन हुआ करता है। शास्त्रों में श्रुत (श्रवण) का अत्यधिक महत्त्व वर्णित है। राजा के लिए बहुश्रुत, शास्त्रश्रुत होना अत्यन्त आवश्यक है।'

ग्वालियर से गुरु महाराज दिल्ली पधारे। कुछ ही दिनों बाद भक्तवर सेठ रामनारायणभाई के आग्रह पर उनके पौत्र चि० लोकनाथ के विवाह पर उपस्थित होने के लिए कलकत्ता पधारे। साथ में सन्त गोविन्दानन्दजी थे। ११ जुलाई '६२ को विवाह-समारोह सम्पन्न हुआ।

वहाँ से विमान द्वारा बम्बई होते हुए गुरु महाराज अहमदावाद पधारे। अहमदावाद में १७ जुलाई को गुरुपूर्णिमा-महोत्सव मनाया गया।

अहमदावाद से गुरु महाराज बम्बई पधारे। बम्बई में १। महीना निवास हुआ। पश्चात् पूना, अहमदावाद, आबू होते हुए ५ अक्तूबर '६२ को कलकत्ता पहुँचे। सन्त गोविन्दानन्दजी साथ थे। कलकत्ते में गुरु महाराज का निवास सिकरी-हाउस में हुआ। ८ अक्तूबर को वहाँ आपके भक्तवर श्री रामलुभायाजी के चि० प्रशान्त और चि० प्रताप का चौल-संस्कार (मुण्डन) था और आपको अत्याग्रह के साथ बुलाया गया था। अतः समय न रहते हुए भी आप भक्त के सन्तोषार्थ आ पहुँचे।

साधु-समाज के अधिवेशन का उद्घाटन

कलकत्ते का कार्य पूरा होते ही वहाँ से रवाना हो गुरु महाराज दिल्ली होते हुए वृन्दावन आये। वृन्दावन में श्री स्वामी अखण्डानन्दजी के तत्त्वावधान में आयोजित भारत साधु-समाज के अधिवेशन का उद्घाटन आपके कर-कमलों द्वारा १५ अक्तूबर को निश्चित था। यह अधिवेशन अपनी दृष्टि से विशेष महत्त्व का रहा।

राष्ट्र-रक्षा में सन्तों का स्थान

उपस्थित साधु-सम्प्रदायों के सन्तों एवं भक्तों को सम्बुद्ध करते हुए गुरु महाराज ने अपने उद्घाटन-भाषण में बताया :

'भारत साधु-समाज की सफलता का अनुमान तो इसीसे लगाया जा सकता है कि आज एक ही रंगमञ्च पर सभी सम्प्रदायों के धर्माचार्य उपस्थित हैं। ऐसे अवसरों से पारस्परिक मिलन एवं विचार-विमर्श द्वारा राष्ट्र के सन्तों में दृढ़ मैत्री एवं राष्ट्र-मण्डल का सूत्रपात होता है। इतिहास साक्षी है कि भारत में एक-एक सन्त के प्रयास से अद्भुत धार्मिक जागर्ति और अपूर्व शुभ परिवर्तन हुए हैं। समर्थ गुरु रामदासजी ने छत्रपति शिवाजी महाराज को देशोद्धार का पाठ पढ़ाकर महाराष्ट्र में अद्भुत जागर्ति की। फलस्वरूप थोड़े ही समय में प्रबलतम हिन्दू-राज्य स्थापित हो गया और विदेशी मुगल-साम्राज्य की जड़ें हिल गयीं।

इधर गुरु नानकदेव ने भी पंजाब का कायाकल्प कर दिया। उनके दशम उत्तराधिकारी गुरु गोविन्दसिंहजी के नेतृत्व में सिखों का राष्ट्ररक्षक सुदृढ़ सैनिक-संघटन स्थापित हुआ और उसके शौर्य-तेज से हतप्रभ हो विदेशी मुगल-साम्राज्य धीरे-धीरे विनाशोन्मुख हो चला। अन्ततः पंजाब-केसरी महाराज रणजीत सिंह के

नेतृत्व में प्रवल राज्य का निर्माण हुआ, जिसके कारण सदियों से हो रहे विदेशियों के आक्रमणों का न केवल सर्वथा प्रतिरोध हुआ, प्रत्युत भारत-विरोधी शत्रुओं को हरिसिंह, अकाली फूलसिंह आदि वीर सेनानियों के प्रवल प्रताप एवं संग्राम-कौशल से अपने किये अत्याचारों का दारुण दण्ड भी भुगतना पड़ा।

इस तरह समय-समय पर सन्तों ने अपनी प्रेरणाओं से अनन्त वीर पैदा किये और उन्हें राष्ट्र-रक्षा में लगाया। अतः मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि आप सब मिलकर चरित्र-निर्माणादि सदाचार, धर्म-प्रचार एवं राष्ट्र-उद्धार के लिए कृत-संकल्प हों, तो भारत का वेड़ा पार होने में तनिक भी विलम्ब न लगेगा।'

फोगला-आश्रम में प्रतिदिन देश के कोने-कोने से आये सन्तों के भावपूर्ण भाषण हुए। एक दिन गुरु महाराज के आश्रम श्रौतमुनि-निवास में भी सम्मेलन रखा गया। श्री स्वामी अखण्डानन्दजी ने अतिथि सन्तों के भोजन, निवास आदि की प्रशंसनीय, उल्लेख्य व्यवस्था की थी।

चीन का आक्रमण और राष्ट्रिय रक्षा-कोष में दान

अक्तूवर की २० तारीख को सहसा आततायी चीन ने शान्ति-प्रिय भारत पर आक्रमण कर दिया। देश में सर्वत्र चिन्ता एवं आतंक छा गया। सभी देशवासी अभूतपूर्व एकता के सूत्र में आवद्ध हो देश की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करने लगे। राष्ट्रिय रक्षा-कोष में धड़ल्ले से धन-संग्रह होने लगा। गुरु महाराज वृन्दावन से तत्काल १ली नवम्वर १९६२ को दिल्ली पहुँचे। आपने वहाँ सन्तों एवं भक्त-जनों से मिलकर राष्ट्रिय रक्षा-कोष में अपने मण्डल की ओर से दान के लिए सभा वुलायी। ११ नवम्वर को सायंकाल विराट् सभा का आयोजन हुआ। सभा में गुरु महाराज का अत्यन्त ओजस्वी, देशभक्तिपूर्ण, प्रेरक और प्रभावशाली भाषण हुआ।

आज राष्ट्र-रक्षा से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं

आपने अपने भाषण में वताया : 'आज हम देशवासियों के सामने और विश्व की शान्ति-प्रिय जनता के समक्ष एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न उपस्थित हो गया है। वह है, पड़ोसी देश चीन द्वारा भारतीय सीमा पर किये जानेवाले अमानवीय आक्रमण से उत्पन्न अशान्ति। कौन नहीं जानता कि भारत युग-युग से विश्व-शान्ति के लिए मन, वचन, कर्म से सचेष्ट रहा है। उसने जो कहा, वही करके दिखाया। इसी आदर्श से अनुप्राणित हो देश की स्वतन्त्रता के बाद हमारे नेता देश का शासन-रथ प्रजातन्त्र के प्रशस्त पथ पर चलाते आ रहे हैं।

सन् १९४७ और उसके बाद हमारे देश ने विश्व-शान्ति के लिए क्या-क्या नहीं किया ? हमने निष्पक्षता और न्यायपूर्वक संसार के अनेक राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश दिलाने के लिए जी-जान से प्रयत्न किया, जिनमें चीन भी एक था। हम चाहते थे कि एशिया का यह बड़ा राष्ट्र विश्व-संगठन में आये और विश्व-शान्ति के कार्यों में, उस संगठन के नियन्त्रण में रहकर, अपना योगदान दे। हमने कोरिया, कांगो और अन्य स्थानों पर आवश्यकता पड़ने पर शान्ति-स्थापनार्थ अपनी सेना भेजी तथा शान्ति की स्थापना के लिए संसार को आवश्यकतानुसार अन्य अनेक प्रकार की सहायता प्रदान की।

किन्तु दीखता है कि अच्छाई का परिणाम एकदम अच्छा नहीं मिलता। सच बोलने का सम्भवतः तात्कालिक लाभ नहीं होता। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि जो सत्य मार्ग पर चलेगा, अन्त में विजय उसीकी होगी। यह बात केवल आश्वासन-वाक्य मात्र नहीं, इतिहास के सैकड़ों पृष्ठ इस सत्य से रँगे पड़े हैं।

भारतवर्ष तो गीता का गायक है। यहाँ की राजनीति के प्रणेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक एवं महात्मा गांधी ने गीता के कर्मयोग एवं अनासक्ति-योग के बल पर ही राष्ट्र में नव-जीवन का संचार किया था। जिस देश में कर्म का मूल्य है, जो देश सत्य कर्म और सत्य पथ पर चलता है, उसे कष्ट देने या डराने की बात सोचनेवाला राष्ट्र चाहे चीन हो या और कोई, अधिक समय तक अपनी अपवित्र दुरभिसन्धियों में सफल नहीं हो सकता।

भारतवर्ष की संस्कृति हमें सचेत करती है कि अन्याय के विरुद्ध इस भूमि पर देवताओं ने भी शस्त्र उठाये हैं। जहाँ अन्याय की समाप्ति के लिए देवता सारथी तक बनते हैं, वहाँ के निवासी कभी दानवता और दासता स्वीकार ही नहीं कर सकते। संभवतः भौतिकतावादी चीन को पता नहीं कि भारत में धर्म केवल औपचारिकता की बात नहीं। भारतीय शब्द-कोष में जीने का दूसरा नाम है 'धर्म'। अतएव इस संकट के समय हम अपने देशवासियों, प्रेमियों से यही कहेंगे कि वे कर्मवीर बनें, संगठित हों और देश पर आये संकट को समाप्त करने के लिए खड़े हो जायँ।

आज भारत देश 'हमारा' है तो हमारा तन है, धन है। यदि देश 'हमारा' नहीं, तो निश्चय ही समझ लें कि हमारा कुछ नहीं बचेगा। इसलिए अपने सच्चे स्वार्थ की रक्षा के लिए, देश की रक्षा के लिए हमें अपनी सम्पत्ति—सोना, पैसा और रक्त तो देना ही होगा, आवश्यकता पड़े तो प्राण तक देना पड़ेगा। संकुचित-हृदय और संकुचित-मस्तिष्कों को चाहिए कि अपने हृदय और मस्तिष्क विशाल बनायें। स्वार्थ से हटकर देश की बात सोचें। यही आज हमारा धर्म है, कर्म है।

राष्ट्र-रक्षा से बढ़कर आज दूसरा धर्म नहीं। फिर चाहे उसके लिए हम सबको बलिदान होना पड़े, तो तैयार रहें और तैयार रहेंगे।'

गुरु महाराज के शौर्य-उत्साह से ओतप्रोत इस अभूतपूर्व भाषण का उपस्थित जनता पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और तत्क्षण नकद १२,१११) और ४२ तोले ४ माशे स्वर्ण एकत्र हो गया। युवक और वृद्धों की तो बात ही क्या, छोटे-छोटे बालकों तक ने अपनी सोने की वस्तुओं का दान देने में विलक्षण होड़ दिखायी। एक बालिका ने अपने पिता की अनुमति से तुरत कान की बालियाँ निकालकर राष्ट्रिय सुरक्षा-कोष में दान कर दीं। राष्ट्र-प्रेम सर्वांग साकार हो उठा। महीनों तक यह सभा जन-जन की चर्चा का विषय बनी रही।

नवम्बर १३, सन् १९६२ को प्रधानमन्त्री-भवन के स्वागताधिकारी (रिसेप्शन आफिसर) गुरु महाराज के शिष्य श्री कालीपद घोष ने प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरूजी से मिलने का समय निश्चित कर मण्डल को सूचना दी। मण्डल संचित धन-राशि भेंट करने के लिए १३ नवम्बर को प्रधानमन्त्री-भवन पहुँचा। मण्डल के अत्याग्रह पर गुरु महाराज भी उनके साथ हो लिये। सन्तरामपुर राज्य की राजकुमारी आनन्द कुँवर बा भी साथ थीं। उन्होंने बहन के नाते पण्डितजी को तिलक किया और भाई के विजय की कामना की। मण्डल ने विवरण-पत्र के साथ एकत्रित धन-राशि उन्हें भेंट की।

पण्डितजी गुरु महाराज से मिले और प्रणाम किया। आपने प्रधानमन्त्री को विजयी होने का श्लोकमय आशीर्वाद दिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी और श्रीमती कृष्णा मेहता (काश्मीर में कबाइलियों के आक्रमण के समय मुजफ्फराबाद के दिवंगत गवर्नर की धर्मपत्नी) इस अवसर पर उपस्थित थीं।

इसी अवसर पर गुरु महाराज ने भविष्य-वाणी की कि '१९ नवम्बर १९६२ से ३ जनवरी १९६३ के बीच राष्ट्र का यह संकट टल जायगा। चिन्ता की कोई बात नहीं।' पण्डित नेहरूजी काफी देर तक सन्तों से वार्तालाप करते रहे। अन्त में गुरु महाराज ही उनके बहुमूल्य समय का ध्यान रखकर उठ खड़े हुए और पण्डितजी से कहा : 'अब विजय के अनन्तर ही मिलेंगे।'

यहाँ यह बताना उपयुक्त होगा कि गुरु महाराज द्वारा राष्ट्रिय सुरक्षा-कोष में दान का यह समाचार पत्रों में प्रकाशित और आकाश-वाणी से प्रसारित होते ही देश के पूरे सन्त-समाज में सुरक्षा-कोष में दान देने की एक लहर दौड़ गयी। आपके मित्र श्री स्वामी सुथरे शाहजी, (निगमबोध घाट, दिल्ली के समीपस्थ आश्रम के महन्त) ने भी अपनी भक्त-मण्डली से ९,०००) संगृहीत कर राष्ट्रिय सुरक्षा-कोष में दिये। पंजाब में अमृतसर, पटियाला, लुधियाना नगरों के

उदासीन सन्तों ने लाखों की संख्या में नकद और हजारों तोला स्वर्ण-दान दिया। हरिद्वार, अहमदावाद, काशी, प्रयागराज आदि सभी नगरों के सभी सम्प्रदायों द्वारा सुरक्षा-कोष में दान की बाढ़-सी आ गयी। यथावसर सन्त राष्ट्र-सेवा में सदैव योग-दान करते ही आये हैं। किन्तु इस बार सन्तों का राष्ट्र-रक्षा में सहयोग कुछ निराला ही रहा। देश-प्रेम का समुद्र-सा उमड़ पड़ा। सहायता की उत्सुकता ने सन्तों के हृदयों में मानो डेरा डाल लिया था। वम्वई के उत्साह-मूर्ति साधु-बेला के महन्तजी ने भी प्रचुर मात्रा में नक़द और स्वर्ण-दान किया।

प्रधानमन्त्री को गीता-दान

दूसरे ही दिन १४ नवम्बर को प्रधानमन्त्री नेहरूजी का जन्म-दिवस पड़ रहा था। भीड़ के कारण गुरु महाराज तो उनकी कोठी पर स्वयं नहीं गये—पहले ही दिन हो आये थे, किन्तु अपने प्रतिनिधि सन्त ईश्वर मुनि को उन्हें अपना आशीर्वाद देने के लिए भेजा। गुरु महाराज ने इस वार आशीर्वाद के रूप में भगवद्गीता प्रधानमन्त्री के पास भेजी। पण्डितजी ने सन्त को सहर्ष अपने पास बुलाया, वातचीत की और अपनी ओर से गुरु महाराज को सादर प्रणाम कहलवाया। गुरुदेव द्वारा प्रेषित गीता को स्वयं अपने हाथों ग्रहण कर माननीय प्रधानमन्त्री ने मुस्कराते हुए कहा कि 'मैं इसे अपने पास रखूँगा और प्रतिदिन पाठ करता रहूँगा।'

उस दिन गंगेश्वर-धाम, दिल्ली में भी प्रातः ७॥ से ८॥ तक राष्ट्र की विजय और प्रधानमन्त्री के दीर्घायुष्ट्व के संकल्प से सामूहिक गीता-पाठ हुआ। सायंकाल की सभा में भी सामूहिक प्रार्थना एवं राष्ट्र-रक्षार्थ सर्वविध सहयोग-दान का प्रस्ताव पारित हुआ।

माया का विवाह, युद्ध का विराम

गुरु महाराज के परम भक्त सेठ वालचन्द (जे० वी० मंघाराम) की कन्या सुश्री माया का २२ नवम्बर को विवाह तय हुआ था। सेठजी प्रायः ऐसे सभी कार्य सदैव गुरुदेव के पावन सान्निध्य में ही करते आ रहे हैं। इसलिए इस बार भी उनका आग्रह आपसे टालते न वना, यद्यपि यह समय वड़ा नाजुक रहा और आपका दिल्ली रहना उचित था। आप सन्त-मण्डल के साथ बम्बई पधारे। इस अवसर पर अन्यान्य अनेक सन्त उपस्थित थे। श्री वालचन्दभाई का अपना ढंग है कि ऐसे शुभ कार्यों पर वे सन्तों का सान्निध्य अवश्य प्राप्त करते हैं। संयोग की वात है कि २२ नवम्बर को बम्बई में होनेवाले माया के विवाह का हर्ष तब दूना

हो गया, जब २१ और २२ नवम्बर की मध्यरात्रि में ही अकस्मात् चीन द्वारा युद्ध-विराम की घोषणा हो गयी। परमेश्वर का कैसा संकेत था कि उसने सन्त की भविष्य-वाणी इतने शीघ्र सत्य कर दिखायी। सचमुच सन्त अमोघ-संकल्प हुआ करते हैं।

भाई बालचन्द के यहाँ का विवाहोत्सव सम्पन्न कर गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। २८ नवम्बर '६२ को आपके परम भक्त सेठ रामनारायणजी के भतीजे श्री जोधराजजी की सुपुत्री सुश्री रेखा का शुभ-विवाह था और ३ दिसम्बर '६२ को श्रीमती नवलराय पटेल के नवनिर्मित भवन का उद्घाटन। गुरुदेव ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया और उद्घाटन-समारोह सम्पन्न किया।

अहमदाबाद से गुरु महाराज रतलाम पधारे। वहाँ अपने शिष्यकल्प राम-स्नेही-सम्प्रदाय के वैद्य महन्त रामविलासजी के राम-द्वारे में विश्राम किया और दूसरे दिन प्रातः कार द्वारा मण्डली के साथ गीता-भवन, इन्दौर में पधारे। ५ दिसम्बर को डाक्टर रघुवंशबहादुर के यहाँ (नं० २८, पलासिया में) ठहरे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से सेवा की।

गीता-भवन में गुरु महाराज की अध्यक्षता में गीता-जयन्ती महोत्सव मनाया गया। इन दिनों आपने अपने भ्रमण का लक्ष्य मानो राष्ट्रिय सुरक्षा-कोष के लिए धन-संग्रह ही बना लिया था। इन्दौर में ३५००) नकद और ६५ तोला स्वर्ण संग्रहीत हुआ और स्थानीय कलेक्टर एवं कमिश्नर को, सभा में आमन्त्रित कर, वह सुपुर्द कर दिया गया।

इस महोत्सव में गुरु महाराज के दर्शनार्थ ६ दिसम्बर को मध्यप्रदेश के मुख्य-मन्त्री श्री भगवन्तराय मण्डलोई पधारे। ७ दिसम्बर को प्रातः वित्त-मन्त्री श्री गंगवाल और सायंकाल श्रम-मन्त्री श्री द्रविड़ भी आये। गीता के महत्त्व के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये और वर्तमान संकट के समय तन, मन, धन से राष्ट्र की सहायता करने का सबसे अनुरोध किया। श्रम-मन्त्री ने हर्ष-मुद्रा में कहा कि 'मैं स्वामीजी के शिष्य का शिष्य हूँ, क्योंकि श्री नन्दाजी आपको गुरु मानते हैं और वे (नन्दाजी) मेरे गुरु हैं।' इन्दौर का इस बार का यह उत्सव बड़ा ही उल्लेख्य रहा।

गीता-जयन्ती उत्सव सम्पन्न कर गुरु महाराज इन्दौर से बम्बई पधारे।

विराट् जयन्ती-महोत्सव

इस वर्ष सद्गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक मण्डल एवं उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जनकल्याण ट्रस्ट ने विराट् रूप में गुरु महाराज का जयन्ती-महोत्सव मनाने का

निश्चय कर रखा था। एतदर्थ जयन्ती-महोत्सव-समिति भी स्थापित हो चुकी थी, जिसके सदस्य मुख्यतः बम्बई के और अन्य नगरों के भी कतिपय प्रतिष्ठित सेठ थे। समिति के अध्यक्ष श्री स्वामी ओंकारानन्द, व्याकरणाचार्य, तर्क-वेदान्ततीर्थ थे। समिति की इच्छा थी कि विगत पञ्चदेव महायज्ञ की तरह क्रॉस-मैदान में पण्डाल बनाया जाय और उत्सव धूमधाम से मनाया जाय।

किन्तु गुरु महाराज ने इसे धन का अपव्यय बताते हुए पसन्द नहीं किया। आपने कहा :

'मेरा विचार है कि यदि आप लोग जयन्ती-महोत्सव मनाना चाहते हैं, तो इसके द्वारा कोई स्थायी कार्य होना चाहिए। मैं नहीं चाहता कि सुनहले अक्षरों में विज्ञप्तियों आदि के प्रकाशन, विशाल मण्डप-निर्माण आदि में अधिक व्यय किया जाय। पहले मैं चाहता ही नहीं कि मेरा जयन्ती-महोत्सव मनाया जाय। आप लोगों की भावना और अत्याग्रह पर अपनी जन्म-तिथि प्रकट कर मैंने आपकी बात रख दी। अब मेरी भी बात मान लें। मेरा बाल्यकाल से संकल्प रहा है कि जनता का आचार-व्यवहार उन्नत और आदर्श बनाने के लिए धर्म, भक्ति तथा ज्ञानप्रधान पुस्तकें लिखी जायँ और वे प्रकाशित कर प्रचारित की जायँ। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत संस्कृत-साहित्य की कठिनतम पुस्तकों के सरल संस्कृत व्याख्यान एवं हिन्दी-अनुवाद किये जायँ। आप लोग देखते ही हैं कि लोगों की संस्कृत-साहित्य से उत्तरोत्तर अरुचि होती जा रही है और प्रज्ञा का ह्रास हो रहा है। यदि सरल टीका एवं हिन्दी-अनुवाद द्वारा संस्कृत-साहित्य की रक्षा न की गयी, तो संस्कृत के ये बहुमूल्य ग्रन्थ पुस्तकालयों की शोभामात्र रह जायँगे। शिष्यों का कर्तव्य है कि वह गुरु की आज्ञा का आदर करें।'

भक्त-मण्डली ने सहर्ष तत्काल गुरु महाराज की आज्ञा के पालन का निश्चय कर लिया। विशेष व्ययसाध्य आडम्बर के कार्यक्रम स्थगित कर दिये गये। फिर भी योजना ने पहले से जो रूप धारण कर लिया था, उसे सँवारना कठिन था। दिल्ली, कलकत्ता, अमृतसर, अहमदाबाद, इन्दौर आदि नगरों से गुरु महाराज के प्रमुख भक्त जयन्ती-समारोह में भाग लेने के लिए उपस्थित हुए, जिनमें सर्वश्री रामलुभाया अरोड़ा, किशनचन्द वधवा, कौशल्या खन्ना, शिवप्रकाशजी, डाक्टर कृष्णा, मगनभाई भीखाभाई, पोपटलाल जेठालाल भालकिया, बाबा बालमुकुन्द, रावजी बाघजी, अम्बालाल खोड़ाभाई, बाघजीभाई, नाथाभाई आदि के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

श्री स्वामी कृष्णानन्दजी एवं श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी, न्याय-वेदान्ताचार्य के

तत्त्वावधान में डी रोड, चर्च गेट तुलसी-निवास हाल में रामचरित-मानस के १०८ पारायण हुए। १ली जनवरी सन् १९६३ को प्रातःकाल उसकी पूर्णाहुति हुई।

उसी दिन सायंकाल जयहिन्द कालेज-हाल में प्रधान उत्सव मनाया गया। सिन्ध के प्रख्यात कीर्तनकार प्रोफेसर राम पंजवानी का कीर्तन हुआ। संगीत-मण्डली के मांगलिक संगीत के साथ उत्सव का कार्यारम्भ हुआ। योगिराज वनखण्डी-सिंहासनासीन साधुवेला उदासीन-आश्रम के महन्त श्री गणेशदासजी भी उपस्थित थे। उदासीन पञ्चायती बड़े अखाड़े के महन्त एवं मुकामी, माझिन-दरवार के महन्त श्री उत्तमदासजी, महन्त रामविलासजी (बड़ा राम-द्वारा रतलाम), कुलपति श्री कृष्णानन्दजी एवं अन्यान्य सन्तों, विद्वानों ने भाग लिया।

परम पूजनीय गुरु महाराज के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर सर्वश्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज, स्वामी असंगानन्दजी, स्वामी विद्यानन्दजी, व्याकरणाचार्य, तर्क-मीमांसातीर्थ, अमर मुनि, एम० ए०, योगीन्द्रानन्दजी, न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ (अध्यक्ष, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी), आत्मानन्द शास्त्री, सुवेद मुनि, न्यायाचार्य, रमेश मुनि आदि के महत्त्वपूर्ण भाषण हुए।

आमन्त्रित मुख्य अतिथि श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शीजी ने भी सामान्यतः सन्त-जीवन और विशेषतः गुरु महाराज के सम्बन्ध में अपने उदात्त विचार व्यक्त किये। अन्त में सभापति श्री ओंकारानन्दजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में भारतीय संस्कृति में महापुरुषों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए गुरु महाराज के सनातन-धर्मोद्धारार्थ किये महत्त्वपूर्ण कार्यों का सिंहावलोकन किया और अपनी समिति की ओर से आपको श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

अन्त में गुरु महाराज की आरती उतारी गयी और प्रसाद-वितरण हुआ। लेखिका को भी इस अवसर पर उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त था।

पौष शुक्ला ७मी, बुधवार संवत् २०१९, तदनुसार २ जनवरी सन् १९६३ को प्रातःकाल मेघराज-भवन, वार्डेन रोड, बम्बई में लेखिका-सहित समस्त शिष्य-मण्डली ने जन्मोत्सव-निमित्त गुरु महाराज का विधिवत् पूजन किया। पूजन के अवसर पर पुस्तक-प्रकाशन-कोष के लिए प्रचुर धन-राशि एकत्र हुई।

गुरु महाराज ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि 'उत्सव द्वारा प्राप्त धन-राशि उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जन-कल्याण ट्रस्ट के पुस्तक-प्रकाशन-विभाग को दी जायगी। भक्त-मण्डली ने ट्रस्ट को परामर्श दिया कि इस धन-राशि से एक भवन (विल्डिंग) बनाया जाय और उससे जो आय हो, वह पुस्तक-प्रकाशन में लगे, जिससे गुरु महाराज के संकल्पानुसार अखण्ड रूप से पुस्तक-प्रकाशन-कार्य चलता रहे। ट्रस्ट ने भक्त-मण्डली का यह अनुरोध स्वीकार कर लिया।

इस अवसर पर गत वर्ष की तरह सेठ बालचन्दजी की ओर से विशाल भण्डारा किया गया। सन्तों ने भोजन किया और भक्तों को प्रसाद बाँटा गया।

सायंकाल जयहिन्द कालेज में सभा का आयोजन किया गया। प्रारंभिक कीर्तन, संगीत आदि के बाद सन्तों एवं विद्वानों के भाषण हुए।

आज के उत्सव में सी० पी० के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा भी उपस्थित थे। व्याख्यान-वाचस्पति सनातनधर्म-सूर्य स्वर्गीय पं० दीनदयालुजी के सुपुत्र, धवलपुर एवं टिहरी-राज्य के भूतपूर्व दीवान श्री मौलिचन्द्र शर्मा का सार-गर्भित भाषण हुआ। अध्यक्ष के उपसंहारात्मक भाषण, आरती तथा प्रसाद-वितरण के साथ यह जयन्ती-महोत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

इस महोत्सव के प्रबन्ध का भार समिति के निम्नलिखित सदस्यों पर विशेष रूप से रहा : सर्वश्री भाई बालचन्द, लक्ष्मणदास, जयकृष्णदास, मुरलीधर एवं गोविन्दराम सेऊमल, पुरुषोत्तमदास, लक्ष्मीचन्द चावला, लक्ष्मीचन्द नागपाल, अर्जुनदास दासवानी आदि। इन लोगों ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति एवं सावधानी के साथ आगत अतिथियों का स्वागत-सत्कार किया और महोत्सव को सफल बनाने में पूर्ण योगदान दिया। कलकत्ते के सेठ श्री रामनारायणजी विशेष कार्यवश समा-रोह में उपस्थित नहीं हो पाये, फिर भी समिति के साथ उनका पूर्ण सहयोग रहा। लेखिका की ड्यूटी सभा-भवन एवं सभा-मञ्च की साज-सज्जा करने की थी। इस सात्त्विक महोत्सव से भक्त-मण्डली में एक अपूर्व उत्साह छा गया।

गुरु महाराज ने इन दिनों राष्ट्रिय रक्षा-कोष के लिए धन-संग्रह अपना एक प्रमुख तात्कालिक लक्ष्य ही बना लिया था, यह पीछे कहा ही जा चुका है। तद-नुसार आपकी प्रेरणा पर बम्बई में भी २,५००) नकद और लगभग २५ तोला स्वर्ण इकट्ठा हुआ। फिर मण्डल द्वारा एक सभा का आयोजन कर महाराष्ट्र के मन्त्री श्री तलयार खाँ को आमन्त्रित किया गया। उन्होंने सादर उपस्थित हो गुरु महाराज को प्रणाम किया और आपने भी आशीर्वाद दिया। पश्चात् संचित धन-राशि उनके समक्ष उपस्थित की गयी और उनकी सम्मति से बाद में उसे रिजर्व बैंक में जमा कर दिया गया। ●

१८

राष्ट्र, सन्त के चरणों में

भारत देश की यह विशेषता है कि यहाँ राष्ट्र की वागडोर दूसरे सँभालते हैं और उनकी डोर सँभालनेवाले दूसरे ही होते हैं। एक भौतिकता की चरम उत्कर्ष-सीमा, देदीप्यमान राजधानियों के राज-भवनों में बैठ सारे राष्ट्र का संचालन करते हैं, तो दूसरे, उनके ये संचालक परम सात्त्विक, परम शान्त, नीरव, प्रकृति की नित्य विहार-स्थली जंगलों में, गिरि-कन्दराओं में, नदियों के तटों पर या विभिन्न तीर्थ-स्थानों में निवास करते, विचरते रहते हैं। भारत के अमर सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के सूत्रधार महामन्त्री ब्राह्मण कौटिल्य की खोज में विदेशी यात्री जब उसके आश्रम में अरण्य में पहुँचता है, तो देखता है कि एक छोटी-सी घास-फूस की झोपड़ी वनी है, वाहर उपले पाथे हुए हैं। झोपड़ी के भीतर दर्भास्तरण विछे हैं और उन्हींके वीच गुप्त-साम्राज्य का महामन्त्री, दुर्वल-काय, लँगोटीधारी एक ब्राह्मण विराज रहा है। विदेशी उसे देख दाँतों तले उँगली दबाता है। वह आश्चर्य करने लगता है कि यह मुष्टिमेय-गात्र इतने वड़े साम्राज्य का कैसे संचालन कर पाता है!

किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं। भारत देश का यही आदर्श रहा है। यहाँ समग्र राष्ट्र का शासन क्षात्रतेज करता है और उस क्षात्रतेज का भी शासन, उसका उपोद्बलन करता है—ब्राह्मतेज। फलतः क्षात्रतेज उन्मत्त हो कभी विश्व के लिए सिरदर्द नहीं बनता। आज तक जिन-जिन देशों ने स्वतन्त्रता पायी, इटली, जर्मनी, जापान, चीन—जिस किसीको ले लें, प्रत्येक का इतिहास यही वताता है कि उस स्वतन्त्र देश के पैर ज्यों ही कुछ जमने लगे, वह राष्ट्र दूसरों पर आक्रमण कर साम्राज्यवाद स्थापित करने पर उतारू हो गया और विश्व के लिए बड़ी भारी वला वन बैठा। लाल चीन का इतिहास सवसे ताजा है। किन्तु वता दे कोई कि भारत ने इस तरह किसी पर आक्रमण कर साम्राज्य-लोलुपता दिखायी हो? हमारे इतिहास में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिल सकता। हमने विभिन्न देशों पर अभियान किये, पर उनकी सम्पदा, उनके राज्य, उनकी स्वतन्त्रता छीनने के लिए नहीं। प्रत्युत उनकी सच्ची सम्पदा—दैवी सम्पदा बढ़ाने, उनको सच्चा स्वराज्य

दिलाने और उनकी सच्ची स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए, परलोक के भी साथी धर्म के प्रचारार्थ, ही हमने वे अभियान किये। हमारे हाथ में उग्रतम भौतिक अस्त्र नहीं होता था, वरन् अभय और शान्ति का सुदर्शन चक्र ही हम धारण किये रहते थे। हमारे इस अभियान से प्रत्येक राष्ट्र प्रसन्न ही हो उठता था। प्रश्न होगा, ऐसा क्यों ? स्वतन्त्र होकर और पूर्ण युवा बनकर भी आज भारत अन्य स्वतन्त्र देशों की इस प्रमादी मनोवृत्ति का क्यों नहीं अनुकरण करता ? तो उत्तर स्पष्ट है, हमारा क्षात्रतेज ब्राह्मतेज से नियन्त्रित रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ब्राह्मतेज के इस नियन्त्रण से क्षात्रतेज कम शक्तिशाली हो जाय। तथ्य तो यह है कि उस स्थिति में वह एक पर एक, ११ बन जाता है। इसीलिए तो द्रोणाचार्य बड़े गर्व के साथ कहते हैं :

> 'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः ।
> इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि ॥'

तब हम अपने आततायी शत्रु से शाप और शर दोनों से मुकाबला करने की क्षमता रखते हैं।

भारत की यह मर्यादा, क्षात्रतेज का ब्राह्मतेज के चरणों में पहुँच अपने में निखार लाने का यह क्रम आज भी अखण्ड, अव्याहत चालू है। वैदेशिक चिर-दासता, आपातमनोरम भारी भौतिकता आदि अनेक दोषों से स्वतन्त्र भारत के नागरिक में दुर्भाग्यवश इन दिनों चरित्र की कुछ कमी का अनुभव होने लगा। दलगत राजनीति के घृणित चक्र से हमारे विद्यार्थी-वर्ग में अनुशासन की कुछ कमी दीख पड़ी, अर्थ-कामप्रधान चार्वाक-दृष्टि ने व्यापारी एवं सामाजिक वर्ग में कुछ सिर उठाना शुरू किया, आत्मौपम्यता पर कुछ तुषारपात हुआ, तब राष्ट्र को तीव्रता के साथ इन सद्गुणों की पुनःप्रतिष्ठा की अत्यावश्यकता अनुभूत होने लगी। आततायी चीन के आक्रमण के सन्दर्भ में तो उसे भावात्मक एकता और सुदृढ़ संगठन के साथ राष्ट्र के मानबिन्दु के रक्षार्थ प्राणों तक की बलि देने की आवश्यकता पदे-पदे अनुभूत हो चली। हमारे देश के शासकों ने युग की इस माँग को पहचाना और विज्ञान को आत्मज्ञान का जोड़ देने के लिए उन्होंने अपने उस आध्यात्मिक ब्राह्मतेज की, उसके आकर साधु-सन्तों की शरण ली। राष्ट्र—राष्ट्र के प्रतिनिधि, सन्तों की शरण आये। सन्तों ने भी राष्ट्र की आधार-शिला सुदृढ़ करने के अपने सहज-सुलभ कार्य को सहर्ष उठा लिया और इस तरह यहाँ पुनः एक बार ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज का विश्व-मांगल्यकारी संगम हो गया !

गुरु महाराज ने यों तो जीवन के इतने लम्बे प्रवास में 'चरैवेति, चरैवेति'

के वैदिक अनुशासन का पालन करते हुए देश के प्रत्येक वर्ग में धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, तरह-तरह के सुसंस्कारों के आधान का व्यापक प्रयत्न किया और करते ही जा रहे हैं। यह तो उनका नित्य-कर्म हो गया है। किन्तु युग की माँग पर जब राष्ट्रनायकों ने उनसे एतदर्थ विशेष अनुरोध किया, तो वे भी इस कार्य में जरा प्रकट रूप से उतर आये। यही कारण है कि इस प्रकरण में आपको गुरु महाराज के साथ देश के प्रायः सभी प्रदेशों के राजनेताओं एवं केन्द्र के अनेक मन्त्रियोंसहित प्रधानमन्त्री तक के सम्मिलन के दृश्य, चरित्र-निर्माणार्थ सन्तों का भारतव्यापी संगठित अभियान, राष्ट्रिय सुरक्षा के सर्वविध प्रयत्नों में उनके अनुयायियों और स्वयं उनका भी सक्रिय सहयोग देखने को मिलेगा।

वीतराग ब्रह्मनिष्ठ सन्त महापुरुष जब-जब देश पर, विश्व पर कोई संकट आता है, तो उसे उबारने के लिए जुट ही जाते हैं। भारत का आज तक का इतिहास इसका साक्षी है। आखिर तत्त्वज्ञ को भी प्रातिभासिक, निर्वीज ही सही, भोजन-शयनादि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं, शरीर-धारणार्थ वे अनिवार्य होती हैं। फिर भी उनसे उसकी तत्त्वज्ञता या ब्रह्मनिष्ठा में तनिक भी कश्मल नहीं आता। तब देश एवं राष्ट्र के मांगल्य-कार्य में, लोक-संग्रह-कार्य में प्रवृत्त होना ब्रह्मनिष्ठ के लिए वर्ज्य कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः वह तो उसके लिए लौकिक दृष्टि से शोभास्पद ही वस्तु है। यथार्थतः ब्रह्मनिष्ठ का शरीर भी इसी कार्य के लिए होता है। लोक-संग्रह ब्रह्मज्ञ के, जीवन्मुक्त के शरीर-मन्दिर का स्वर्ण-कलश है। इसकी मनोरम झाँकी के लिए आइये, हम यह अन्तिम प्रकरण पढ़ें।

'झोली मेरी भरते जाना !'

८ जनवरी १९६३ को गुरु महाराज काश्मीर-निवासी परम भक्त श्री गुरुसहायमल सहगल के अत्याग्रह पर उनके सुपुत्र चिरंजीव बलदेव के विवाह में सम्मिलित होने के लिए बम्बई से अमृतसर पधारे।

अमृतसर में आपकी अध्यक्षता में भारत साधु-समाज की ओर से वेद-भवन, दुर्ग्याना में सभा हुई। राष्ट्रिय सुरक्षा-कोष में जनता को धन देने के लिए परामर्श दिया गया। साथ ही अधिकारी जनों को सेना में भरती होने की भी सलाह दी गयी। इस अवसर पर आपका महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। आपने बताया कि 'आज हमारा राष्ट्र भीषण संकट से गुजर रहा है। चीन ने हमारे साथ मित्रता के बदले घोर विश्वासघात किया है। अतः हमें तन, मन, धन से राष्ट्र की सेवा करनी चाहिए।'

सभा में महापौर (नगर-मेयर) श्री विरामसिंह, डॉ० सी० भल्ला आदि

भी उपस्थित थे। यहाँ भी उल्लेख्य धन-संग्रह हुआ और उसे सरकारी खजाने में जमा करवा दिया गया।

देसाईपुरा गाँव में भागवत-सप्ताह

गुरु महाराज अमृतसर से तुरत अहमदाबाद होते हुए देसाईपुरा पधारे। वहाँ दत्तूभाई, धीरूबहन, गंगा बा, रावजी वाघजी पटेल आदि परिवार ने स्वर्गीय गोवर्धनभाई के निमित्त श्रीमद्भागवत-पारायण की योजना की थी। सप्ताह-पारायण गाँव में रखने का उद्देश्य था, ग्रामीण जनता भी उससे लाभ उठा सके। ग्रामोद्धार भी गुरु महाराज का आरम्भ से ही एक प्रमुख लक्ष्य रहा हैं। उस ग्राम तथा आसपास के ग्रामों के लोगों ने श्रद्धापूर्वक सप्ताह का श्रवण किया।

सप्ताह का प्रत्यक्ष प्रभाव यह दीख पड़ा कि देसाईपुरा के अधिपति श्री रावजीभाई आदि पटेल-परिवार के साथ वर्षों से चला आ रहा किसानों का वैमनस्य एकाएक दूर हो गया। सप्ताह की समाप्ति पर किसानों ने भी बड़ी श्रद्धा-भक्ति से सेवा की और प्रसाद ग्रहण किया। उन्होंने रावजीभाई की भूरि-भूरि प्रशंसा की कि 'भाई की कृपा से ही हम ग्रामीणों को ऐसे उल्लेख्य सत्संग का अलभ्य लाभ मिल सका।' वे अत्यधिक प्रसन्न हो उठे और कहने लगे कि 'गुरु महाराज यदि पधारने की कृपा किया करें, तो हम सब कृषक ही मिलकर प्रतिवर्ष अपने व्यय से सप्ताह की योजना करने के लिए सादर प्रस्तुत हैं।'

गुरु महाराज ने मुस्कराते हुए कहा : 'सन्त और भगवान् प्रेमियों के वशंवद हुआ करते हैं। वे दीनबन्धु होते हैं। अतः भगवत्-संकेत होने पर यह कोई बड़ी बात नहीं है।'

देसाईपुरा से गुरु महाराज अपनी मण्डली के साथ श्री विद्यानन्दजी उदासीन के वेद-मन्दिर, कपड़गंज पधारे। वहाँ शहर में भगवद्-भक्ति पर आपका प्रवचन हुआ। वहीं भक्तवर श्री मगनभाई भीखाभाई की प्रार्थना पर गुरु महाराज बड़ौदा पधारे। उनका वर्षों से आग्रह था कि 'चि० उपेन्द्रकुमार ने नवीन भवन बनवाया हैं। गुरु महाराज अपनी पाद-धूलि से उसे एक बार पावन करें।' बड़ौदा में आप दिनेश-मिल के अधिपति श्री उपेन्द्रभाई पटेल के बँगले में ठहरे।

बड़ौदा से देवगढ़ बारिया राज-परिवार के आग्रह पर गुरु महाराज कुछ दिन बारिया ठहरे। वहाँ की जनता ने आपके सत्संग का अलभ्य लाभ उठाया।

श्री शान्तानन्दजी के चित्र का अनावरण

बारिया से कोटा और बारां मण्डी की यात्रा हुई। गुरु महाराज के घनिष्ठ

मित्र ब्रह्मलीन स्वामी श्री शान्तानन्दजी के मुख्यशिष्य वयोवृद्ध सामलदासजी आपके दर्शन के लिए अति उत्सुक थे। वृन्दावन में स्वामीजी के देहावसान के समय गुरु महाराज ने उन्हें उनके यहाँ पधारने का वचन भी दिया था। बहुत दिनों से वे एतदर्थ पत्र-व्यवहार कर रहे थे। इस बार महाशिवरात्रि वहीं हुई। उसी शुभ अवसर पर गुरु महाराज के पावन कर-कमलों से वहाँ के अभय सत्संग-हाल में श्री स्वामी शान्तानन्दजी के तैलचित्र का अनावरण हुआ।

श्री जयदयाल गोयन्दकाजी से भेंट

वहाँ से २२ फरवरी सन् १९६३ को गुरु महाराज वृन्दावन पधारे। वहाँ सेठ मुरलीधर एवं गोविन्दराम सपरिवार आपकी सेवा में रहे। वार्षिक होली-उत्सव धूमधाम से मनाया गया। यहाँ सर्वश्री स्वामी अखण्डानन्दजी, सनातनदेव, हरि बाबा, माता आनन्दमयी माँ आदि से भेंट हुई। भक्तप्रवर सेठ जयदयाल गोयन्दकाजी भी आश्रम में दर्शनार्थ पधारे थे। उन्होंने आपसे गीता के गूढ़ विषयों पर चर्चा की। गुरु महाराज ने गोयन्दकाजी को परामर्श दिया कि 'जिस प्रकार आप व्यापक गीता-प्रचार कर रहे हैं, उसी तरह वैदिक-प्रचार पर भी ध्यान दें।'

वृन्दावन से गुरु महाराज दिल्ली आये। वहाँ गंगेश्वर-धाम आश्रम में निवास हुआ। १४ मार्च १९६३ को श्री गुलजारीलाल नन्दाजी आपसे मिलने आये। साथ में भारत साधु-समाज के श्री चन्द्रभानुजी भी थे। श्री मौलिचन्द्र शर्मा पहले से ही उपस्थित थे। आप लोगों के साथ भारतीय दर्शन एवं वेद-पुराणादि के अनुसन्धानार्थ संस्था संघटित करने के सम्बन्ध में वार्ता हुई।

दिल्ली से गुरु महाराज हरिद्वार पधारे। वहाँ ऋषिकेश के मंगलोत्सव में भाग लिया। इस वर्ष हरिद्वार में अद्भुत पर्वत्रयी का योग पड़ा था। प्रथम दिन महामहावारुणी-पर्व था, जो लगभग ४० वर्ष बाद पड़ता है। दूसरे दिन सोमवती अमावास्या और तीसरे दिन (२६ मार्च सन् १९६३) नूतन वैक्रम संवत्सर २०२० का प्रवेश था। गुरु महाराज ने तीनों पर्वों पर स्नान किया। रायसाहब रूड़ाराम आदि भक्तों की मण्डली साथ थी। सन्त-मण्डल तो था ही।

श्री सर्वानन्दजी की जयन्ती मनायें

गुरु महाराज ने नगर के सभी भक्तों को आदेश दिया कि 'किसी सन्त की बरसी या निर्वाण-तिथि मनाने के स्थान पर उसकी जयन्ती मनाना ही उचित है। कारण सत्संग का मुख्य लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है। निर्वाण-तिथि मनाने पर

आराध्य सन्त की स्मृति में कई भक्त साश्रु-नयन खिन्न हो उठते हैं। ब्रह्मलीन श्री स्वामी सर्वानन्दजी का जन्म-दिन रामनवमी है।'

तदनुसार २ अप्रैल सन् १९६३ को ब्रह्मलीन श्री सर्वानन्दजी के प्रेमी भक्तों ने हरिद्वार, अमृतसर, दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद आदि नगरों में राम-नवमी के साथ-साथ[1] सर्वानन्दजी की भी जयन्ती धूमधाम के साथ मनायी।

---

१. ज्ञातव्य है कि ब्रह्मलीन स्वामी श्री सर्वानन्दजी का जन्म संवत् १९६२ की रामनवमी, गुरुवार (१३ अप्रैल सन् १९०५) को हुआ था। उनकी भक्त, श्रद्धालु जनता का विश्वास है कि भगवद्विभूति भारतीय महापुरुष श्री स्वामी विवेकानन्दजी ने भारतीय संस्कृति एवं ब्रह्मविद्या का भारत से बाहर अमेरिका, यूरोप आदि विदेशों में व्यापक प्रचार किया। सुना जाता है कि खेतड़ी के राजा साहब ने ही आपसे प्रार्थना की कि अपना नाम 'विवेकानन्द' रख लें। कारण उनका पुराना नाम 'संविदानन्द' था, जो उच्चारण में कठिन पड़ता था। स्वामीजी ने भक्त की माँग स्वीकार कर ली और वे 'विवेकानन्द' कहे जाने लगे। विवेकानन्दजी के ही आशीर्वाद से राजा को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। अतः अनेक राज-परिवारों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। फिर भी विदेश में धर्म-प्रचार-कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण वे राज-परिवारों में ब्रह्मविद्या का विशेष प्रचार न कर सके। जीवन की उनकी यह वासना यों ही शेष रह गयी। इसी वासना को पूर्ण करने के लिए 'सर्वानन्द' के विग्रह के रूप में उनका आविर्भाव हुआ और इस शरीर से उन्होंने राजकीय परिवारों में ब्रह्मविद्या का व्यापक प्रचार कर अपनी वह वासना पूर्ण कर ली। अनेक राज-परिवार श्री स्वामी सर्वानन्दजी से दीक्षित हैं।

भावुक भक्तों की इस धारणा को निम्नलिखित घटनाएँ भी पुष्ट करती हैं: श्री स्वामी विवेकानन्दजी का तिरोभाव ४ जुलाई सन् १९०३ को हुआ। उनके परम गुरु महात्मा तोतारामजी उदासीन लुधियाना (पंजाब) के निवासी थे (तोतारामजी को भ्रमवश कोई-कोई 'तोतागिरि' कह देते हैं, जैसे 'कैलाशदास' को एक बार गुरुदेव के परम भक्त शिष्य श्री हरिपद चौधरी ने 'कैलाशगिरि' कहा था और आपने सुधार दिया था)। श्री विवेकानन्दजी के तिरोभाव के ठीक २ वर्ष ९ महीने ९ दिन, राम-नवमी को उनके परम गुरुदेव की पुण्यभूमि पंजाब में श्री स्वामी सर्वानन्दजी का जन्म हुआ। इन कड़ियों को जोड़ने पर श्री स्वामी विवेकानन्दजी को ही 'सर्वानन्दजी' के रूप में मानने की उनके भावुक भक्तों की भावना अवश्य कुछ अर्थ रखती है।

गुरु महाराज हरिद्वार से परम गुरुदेव श्री रामानन्दजी की समाधि के दर्शनार्थ राजवाना पधारे। वैशाखी पर अमृतसर की जनता के साथ दुर्ग्याना-सरोवर में स्नान हुआ।

भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन

अमृतसर से आप श्री कृष्णानन्दजी, श्री गोविन्दानन्दजी आदि के अनुरोध पर भक्ति-ज्ञान-सम्मेलन के अवसर पर हरिद्वार पधारे। सम्मेलन में गुरु महाराज ने अपने भाषण में मुक्ति में भक्ति-ज्ञान-समुच्चय की साधनता श्रुति-वचन से सिद्ध कर दिखायी।

भक्ति-ज्ञान-समुच्चय सिद्धान्त की श्रौतता

विषय का उपस्थापन करते हुए आपने कहा : 'श्वेताश्वतर-उपनिषद् (१-१०) का एक वचन है—

'तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।'

इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है : योजनात् = श्रवण-मननपूर्वक ब्रह्मतत्त्व में मन लगाने से, निदिध्यासन से। तत्त्वभावात् = तत्त्व-साक्षात्कार होने से ('तत्त्वम् = ब्रह्मात्मैकत्वम् 'भावयति = बोधयति, विषयीकरोति' इस व्युत्पत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता के अवगाही बोध का नाम ही तत्त्व-भाव है, उस तत्त्व-साक्षात्कार से)। अन्ते = अविद्या का नाश होने पर। भूयः = पुनः। विश्वमायानिवृत्तिः = समष्टि-बन्धात्मक माया का नाश होता है।

निष्कर्ष यह कि श्रवणादि-साधनजन्य तत्त्व-साक्षात्कार से यद्यपि अविद्या का नाश हो जाता है, फिर भी समष्टिबन्ध माया का नाश भगवद्-भक्ति के बिना संभव नहीं। अतः मुमुक्षु के लिए भक्तिसहित ज्ञान अवश्य सम्पादनीय है।

एक दूसरी श्रुति देखिये :

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥'
(श्वेताश्वतर, १-११)

अर्थात् आत्मा का दर्शन होने पर ९ प्रकार के पाश[1] कट जाते हैं। इतना ही नहीं, त्रिविध ताप भी भाग जाते हैं। प्रेत्यभाव (जन्म-मरण) का चक्र बन्द पड़ जाता है। देहभेदे (देहः = कारणशरीरम्, अज्ञानम्, तस्य भेदः = विनाशः) = अर्थात् ज्ञान से कारणशरीर अविद्या का नाश हो जाने पर। तस्याभिध्यानात् = भगवच्चिन्तन से, [माया] निवृत्त हो जाती है (निवर्तत इति शेषः)। ततः = माया और अविद्या दोनों के निवृत्त हो जाने पर। आत्मा, केवलः = निरुपाधिक एव। आप्तकामः = कृतकृत्य हो जाता है।

तात्पर्य यह कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' बृहदारण्यक ब्राह्मण के इस मन्त्र में 'मायाभिः' इस बहुवचन से माया के तीन आकार सूचित होते हैं : १. द्वैत-सत्यत्व-कल्पक आकार, २. प्रातिभासिकत्व-कल्पक आकार और ३. अर्थक्रियाकारी घटपटादिप्रपञ्च-कल्पक आकार।

प्रथम आकार : यह वेदान्त-दर्शन में 'अविद्या' शब्द से कहा जाता है। इसका नाश ज्ञान से होगा।

द्वितीय आकार : इसे 'अविद्या-लेश' कहा जाता है। यह तब तक बना रहता है, जब तक कि उसके विनाश में प्रतिबन्धक प्रारब्ध भोग द्वारा क्षीण न हो जाय। प्रारब्ध-भोग की समाप्ति होते ही वह नष्ट हो जाता है।

तृतीय आकार : इसके लिए प्रायः 'माया' शब्द का प्रयोग होता है। इसका विनाश भगवद्-भक्ति के बिना संभव नहीं।

इस तरह अविद्या और अविद्या-लेश दोनों का ज्ञान से विनाश होने पर भी तृतीय माया-पदवाच्य व्यावहारिक प्रपञ्च-कल्पक आकार का निवारण जब भगवद्-भक्ति से ही साध्य है, तब विवशतः साधक के लिए मुक्ति-सम्पादनार्थ भक्ति-सहित ज्ञान सर्वथा अनुपेक्ष्य है। श्वेताश्वतर-श्रुति के उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में यही निगूढ़ रहस्य बताया गया है।'

आपने आगे कहा : 'एक मन्त्र और देखिये—

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।'
(मुण्डकोपनिषद्, ३-१-८)

---

१. 'अविद्याग्रन्थ्यब्रह्मत्वे हृदयग्रन्थिसंशयौ।
कर्माण्यसर्वकामत्वं मृत्युश्च पुनरुद्भवः च ॥' असर्वात्मत्वं चकारार्थः।

विशुद्धसत्त्वः = कर्मानुष्ठान से पवित्र अन्तःकरण साधक । ततः[1] = शमादि साधन-कलाप से युक्त । ज्ञानप्रसादेन = संशय और विपर्ययरहित (असम्भावना एवं विपरीत भावना से रहित) ज्ञान के सहित [प्राणी] । ध्यायमानः = भगवद्-भक्ति करता हुआ । निष्कलम् = अखण्ड परमात्मस्वरूप । तम् = उस आत्मतत्त्व को । पश्यते = साक्षात्कारपूर्वक प्राप्त करता है । यहाँ 'दृश्' धातु का अर्थ केवल दर्शन नहीं, किन्तु दर्शनप्रयुक्त परमानन्द की प्राप्ति अभिप्रेत है ('पश्यते = दर्शनपुरस्सरं परमानन्दं प्राप्नोतीत्यर्थः') ।

तात्पर्य यह कि अन्तःकरण की पवित्रता के लिए निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करना होगा । फिर भक्ति-सहित ज्ञान से साधक को स्वरूप, परमानन्द की प्राप्ति में विलम्ब की संभावना ही नहीं ।'

गुरु महाराज के उपर्युक्त श्रुति-सम्मत प्रवचन का उपस्थित जनता पर अद्भुत प्रभाव पड़ा ।

अमृतसर से गुरु महाराज हरिद्वार पधारे । वहाँ राम-धाम में २ मास रहे । इस बीच बम्बई के सेठ मुरलीधर एवं गोविन्दराम एक मास सपरिवार आपकी सेवा में उपस्थित थे । सेठ बालचन्दजी भी सपरिवार १५ दिनों के लिए आये थे । मण्डी से वजीर साहब श्री यादव सिंहजी की धर्मपत्नी श्रीमती शाकम्भरी देवी भी श्री रमेशचन्द्र की धर्मपत्नी श्रीमती निरुपमा के साथ आयीं और एक सप्ताह आपकी सेवा में ठहरीं ।

मसूरी में

हरिद्वार से गुरु महाराज मसूरी पधारे । वहाँ देहरादून के दरबार गुरु रामराय के महन्त श्री इन्दिरेशचरणदास की कोठी लक्ष्मणपुरी में २० दिन निवास हुआ । महन्तजी की ओर से सन्त-मण्डली के भोजन, निवास आदि की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी । इन्हीं दिनों लेखिका को भी गुरु महाराज के सान्निध्य में २ मास निवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ । मसूरी से गुरु महाराज अहमदाबाद आ गये । वहाँ ६ जुलाई १९६३ को गुरुपूर्णिमा-महोत्सव मनाया गया ।

बम्बई में दो मास

अहमदाबाद से गुरु महाराज बम्बई पधारे । वहाँ सेठ बालचन्द के बँगले में २ मास निवास हुआ । इस बीच यहाँ भक्तवर श्री मुरलीधर गोविन्दराम के

---

१. 'तनोति = शमादिसाधनकलापं विस्तारयति, सम्पादयति इति ततः । तनोतेः कर्तरि क्तप्रत्यये साधुः ।'

भागिनेय (भानज) श्री मंघाराम पुरुषोत्तम दास की कपड़े की दूकान का शुभ-मुहूर्त आपके पावन हाथों हुआ। आपके सान्निध्य में भक्तवर अर्जुनदास दासवानी के सुपुत्र चि० सुरेश, चि० श्याम और चि० कृष्ण, तीनों बालकों का वैदिक विधि से यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। जन्माष्टमी और श्रीचन्द्र-जयन्ती के उत्सव भी यहीं मनाये गये।

बम्बई से गुरु महाराज नासिक पधारे और वहाँ ओम्प्रकाश बँगले में ठहरे। सन्तरामपुर की राज-दादी श्री चमन कुँवर बा (श्रीमती महाराजा जोरावर सिंहजी) यहीं रहती हैं और उन्होंने आपसे यहाँ पधारने का साग्रह अनुरोध किया था, अतएव आपको यहाँ आना पड़ा। राजकुमारी आनन्द कुँवर बा भी यहीं थीं। यहाँ गुरु महाराज एक सप्ताह ठहरे। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'जनक-सभा में योगी याज्ञवल्क्य का विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ' प्रसंग पर प्रवचन हुए।

नासिक से गुरु महाराज बम्बई, अहमदाबाद होते हुए माउण्ट आबू पधारे। वहाँ तीन सप्ताह अविनाशी-धाम ('कैलाश-भवन') में निवास हुआ। भक्तवर सेठ जयदेव सिंह सपत्नीक गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन्होंने कथा-प्रवचन और सत्संग का खूब लाभ उठाया।

माउण्ट आबू में

माउण्ट आबू में महाराष्ट्र की विदुषी बहन श्री विमलाताई ठकार कई बार गुरु महाराज से मिलीं। वे महीनों से आबू में रहकर किसी ग्रन्थ की रचना कर रही थीं। बहन देशभक्त तथा प्रख्यात लेखिका हैं। सन्त तुकड़ोजी, प्रमुख विचारक एवं निपुण वक्ता दादा धर्माधिकारी आदि देश के प्रतिष्ठित महापुरुषों की उन पर विशेष कृपा है। प्रतिवर्ष उन्हें यूरोप, अमेरिका, जापान आदि विदेशों से प्रवचनार्थ आमन्त्रित किया जाता है और भारतीय दर्शन-शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार है। इतना होते हुए भी बहन अत्यन्त शान्त, समञ्जस एवं स्नेहशील हैं।

नवाब मेंहदीजंग से भेंट

यहाँ एक दिन भ्रमण के समय मार्ग में गुजरात के गवर्नर नवाब मेंहदीजंग से भेंट हो गयी। वे महात्माओं के प्रति विशेष श्रद्धालु हैं। गुरु महाराज को देखते ही वे शीघ्र निकट आ पहुँचे और आपको सभक्ति प्रणाम किया। गुरु महाराज ने उन्हें सप्रेम आशीर्वाद देते हुए चर्चा के प्रसंग में कहा : 'मैं आपके हैदराबाद में भी हुसैनी आलम-स्थित उदासीन-आश्रम में कुछ महीने रहा हूँ। वहाँ सर कृष्णप्रसाद और कई एक प्रतिष्ठित वयोवृद्ध नवाब भी मुझसे मिलते रहे और

अध्यात्म-चर्चा होती रही।' नवाब ने हँसते हुए कहा : 'केवल हैदरावाद ही नहीं, सारा भारत मेरा है।'

नवाव ने गुरु महाराज से आध्यात्मिक विषयों पर भी कुछ वार्ता की और वाद में कहा : 'आपके अहमदावाद पहुँचने पर मैं अवश्य मिलूँगा। हैदराबाद के वावा पूर्णदास के शिष्य वावा सेवाराम से सुना है कि आपका वहाँ (अहमदा-वाद में) विशाल वेद-मन्दिर आश्रम है।'

गवर्नर साहब सौजन्य-मूर्ति और सन्तों के प्रेमी देखे गये।

शरत्-पूर्णिमा (आश्विन शुक्ला पूर्णिमा) गुरुवार संवत् २०२०, ३ अक्तूबर १९६३ को[1] गुरु महाराज ने आबू के श्री रघुनाथ-मन्दिर में भगवान् के दर्शन किये। वहाँ महन्त रामशोभादासजी से मिले। महन्तजी भी अविनाशी-धाम में आपसे मिलने के लिए आये। श्री ऋषिराम वैद्य भी उनके साथ रहे। महन्तजी से गुरु महाराज का वहुत पुराना परिचय है। वे एक-दूसरे के घनिष्ठ मित्र हैं। महन्तजी की धारणा है कि गुरु महाराज ने सम्प्रदाय, राष्ट्र एवं हिन्दू-जाति तथा सनातनधर्म की महती सेवा की है। सभी सम्प्रदायों के विद्वान् आचार्य इनका

---

१. इस वर्ष श्री रामदत्त जैतली के पञ्चाङ्ग में आश्विन अधिक मास (दो मास) माना गया और श्री मुकुन्दवल्लभ के पञ्चाङ्ग में कार्तिक अधिक मास (दो मास)। अतः पञ्चाङ्गों के मतभेद से दो-दो पर्व मनाये गये।

आश्विन में अधिक मास माननेवालों के मत से १८ अक्तूबर १९६३ शुक्रवार से शारदीय नवरात्रारम्भ, २७ अक्तूबर रविवार को विजयादशमी, १ नवम्बर शुक्रवार को शरत्-पूर्णिमा और १५ नवम्बर शुक्रवार को दीपावली मनायी गयी।

कार्तिक में अधिक मास माननेवालों के मत से १८ सितम्बर १९६३ बुधवार को नवरात्रारम्भ, २८ सितम्बर शनिवार को विजयादशमी, ३ अक्तूबर गुरुवार को शरत्-पूर्णिमा और १७ अक्तूबर गुरुवार को दीपावली मनायी गयी।

इस तरह जहाँ प्रथम मतानुसार १ली नवम्बर को शरत्-पूर्णिमा पड़ी, वहीं द्वितीय मतानुसार उसी दिन कार्तिक पूर्णिमा मानी गयी।

अधिक मास (पुरुषोत्तम मास या मलमास) हर तीसरे वर्ष आता है। किन्तु इस बार विशेषता यह रही कि अधिक के साथ क्षयमास भी एक ही वर्ष में आ गया। ऐसा योग १४१ वर्ष के बाद आया करता है। पहले यह क्षयमास संवत् १८७९ (सन् १८२२) में आया था।

अनुकरण करें, तो निःसन्देह साधु-समाज का उत्थान एवं भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

यहाँ झाँसी के रेलवे मजिस्ट्रेट श्री चुन्नीलाल भाटिया सपत्नीक गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये। आप पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ के वचपन के सहपाठी थे। अमृतसर से परम गुरुभक्ता श्री शकुन्तला मेहरा भी अपनी सहेली कमला भल्ला के साथ गुरु महाराज के दर्शनार्थ आवू आयी थीं।

आवू से गुरु महाराज ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। आवू रोड स्टेशन पर श्री दादा धर्माधिकारी आपसे मिले। सेठ टीकमदास अहमदावादी ने पहले ही दादा का परिचय दे रखा था, जो दादा साहव के स्वागतार्थ माउण्ट आवू से आवू रोड आये थे।

शकुन्तलावहन और कमला भी यात्रा में गुरु महाराज के साथ हो लीं। जयपुर में श्री शकुन्तलावहन अपनी पुत्री चि० शारदा से मिलने के लिए उतर गयीं। गुरु महाराज दिल्ली होकर वृन्दावन पधारे।

अधिक मास की तरह क्षयमास के बारे में भी पञ्चाङ्गों में मतभेद पाया गया। श्री मुकुन्दवल्लभ पञ्चाङ्गवालों ने कार्तिक शुक्लपक्ष और मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष का क्षय माना है। उस मत के अनुसार गीता-जयन्ती २७ नवम्बर '६३ (मार्गशीर्ष शुक्ला ११शी, २०२०) बुधवार को पड़ती है।

श्री रामदत्त जैतली पञ्चाङ्ग के मत से मार्गशीर्ष शुक्ल और पौष कृष्णपक्ष का क्षय है। इस मत में मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष न रहने से गीता-जयन्ती पर्व का विलोप-सा है। केवल क्षयमास के पर्वों को अग्रिम मास में मनाना चाहिए, अतः कुछ लोगों ने २६ दिसम्बर '६३, संवत् २०२० पौष शुक्ला ११शी गुरुवार को गीता-जयन्ती मनायी।

इस वर्ष के अन्त में चैत्र भी अधिक मास पड़ता है। इस अधिक मास को भी किसीने (श्री रामदत्त जैतली ने) इसी वर्ष का अवयव मानकर १३ अप्रैल १९६४ को नवीन संवत् २०२१ शुद्ध चैत्र शुक्ला १ सोमवार को नववर्षारम्भ माना। किसीने (श्री मुकुन्दवल्लभ ने) चैत्र अधिक मास २०२१ का अंग मानकर संवत् २०२० की समाप्ति १४ मार्च १९६४, चैत्र कृष्णा ३० शनिवार को मानी है और नये संवत् का आरम्भ २०२१ चैत्र (मलमास) शुक्ला २या रविवार, १५ मार्च १९६४ से माना है। अधिक मास २०२१ चैत्र शुक्ला प्रतिपद् का क्षय माना है। यह भी एक नया परिवर्तन है। प्रायः चैत्र शुक्ला प्रतिपद् ही नव वर्ष के आरम्भ की तिथि हुआ करती है।

वृन्दावन में सत्संग

वृन्दावन में गुरु महाराज का दो सप्ताह निवास हुआ। दीपावली वहीं हुई। दीपावली के दिन ही सेठ लछमनदास पमनानी (जे० बी० मंघाराम कम्पनी-वाले) और सेठ मुरलीधर गोविन्दराम दर्शनार्थ आये। देहली से श्री मौलिचन्द्र शर्मा और वकील श्री हंसराज खन्ना भी सपत्नीक आये थे। श्री मौलिचन्द्रजी के लिए गुरु महाराज के सान्निध्य में रहकर सत्संग का लाभ उठाने का यह पहला ही अवसर था। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन में पहले कभी इस प्रकार का दिव्य आनन्द और शान्ति प्राप्त नहीं हुई। प्रसंगवश राजनैतिक चर्चा में गुरु महाराज ने शर्माजी से सहज ही कह दिया : 'वर्तमान केन्द्रीय योजना-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दाजी का भविष्य विशेष उज्ज्वल होगा। वे शीघ्र ही उल्लेख्य विशेष प्रगति करनेवाले हैं।'[1]

आश्रम में भक्त चेतन मुनि के तत्त्वावधान में इस वर्ष श्रावण के झूलन-महोत्सव से ही कथा-कीर्तन, राम-लीला, रास-लीला एवं प्रवचनों की अविच्छिन्न धारा चालू थी। जनता अनेक विद्वान् वक्ताओं के प्रवचनों से लाभ उठाती रही। संयोगवश वीतराग, गीता-मर्मज्ञ महात्मा श्री रामसुखदासजी वृन्दावन पधारे थे। वे गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे। श्रौतमुनि-निवास में आपका प्रवचन रखा गया। एक दिन गुरु महाराज भी व्याख्यान-भवन में पधारे और आपने श्री रामसुखदासजी का गीता-प्रवचन सुना। अन्त में आपने कतिपय शब्दों में वीतराग प्रवक्ता के लिए अपना वात्सल्य व्यक्त किया।

श्री रामसुखदासजी ने कहा : 'मेरे गुरुदेव स्वामी श्री दिगम्बरानन्दजी के सान्निध्य में एक बार मैंने भागवत का सप्ताह-पारायण किया। वे बड़े प्रसन्न हुए और मुझे गोद में उठा लिया। स्वामीजी महाराज (गुरु महाराज) मेरे गुरुदेव के घनिष्ठ मित्रों में हैं।' इस नाते मेरे भी गुरुदेव ही हैं। अतः उनका मेरे प्रति स्नेह, वात्सल्य व्यक्त करना अनुरूप ही है। शिष्य की प्रगति गुरु-कृपा पर ही निर्भर होती है। जो कुछ मैं आप लोगों के समक्ष प्रवचन कर रहा हूँ, वह गुरुजनों के प्रसाद का ही फल है।'

---

१. पाठक जानते ही हैं कि श्री नन्दाजी इसके बाद शीघ्र ही केन्द्रीय योजनामन्त्री से केन्द्रीय गृहमन्त्री बनाये गये और स्व० प्रधानमन्त्री नेहरूजी के निधन के बाद मध्यकाल में कुछ दिन उन्हें भारत के प्रधानमन्त्री बनने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस तरह सन्त की वाणी यहाँ भी सफल होकर रही।

आश्रम का उत्सव : तीन सप्ताहों के रूप में

वृन्दावन से गुरु महाराज दिल्ली में करोलबाग-स्थित अपने आश्रम गंगेश्वरं-धाम में पधारे। वहाँ सन्त-मण्डल एवं दिल्ली के भक्त-मण्डल के परामर्श से आध्यात्मिक सप्ताह, राष्ट्रिय एकता-सप्ताह और चरित्र-निर्माण-सप्ताह के रूप में आश्रम का वार्षिकोत्सव मनाने का निश्चय हुआ।

आध्यात्मिक सप्ताह : तदनुसार २ नवम्बर से ८ नवम्बर १९६३ तक आध्यात्मिक सप्ताह मनाया गया। आध्यात्मिक उन्नति के सम्वन्ध में सन्तों के प्रवचन हुए। अन्त में आशीर्वादरूप में कभी-कभी गुरु महाराज भी अपने अमूल्य विचार कुछ मिनटों में व्यक्त करते रहे।

राष्ट्रिय एकता-सप्ताह : राष्ट्रिय एकता-सप्ताह के आरम्भ के दिन ९ नवम्वर को जम्मू-काश्मीर के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री वक्शी गुलाम मुहम्मद गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये। ऊपर महाराज के निवास-कक्ष में आध्यात्मिक वार्ता हुई। सभा में वक्शी साहव ने कहा : 'फकीरों के साथ मिलने की मेरी वचपन से ही आदत है। आज गुरु महाराज के दर्शन से मुझे वेहद राहत मिली।' गुरु महाराज के समक्ष वक्शी साहव ने कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि 'मिलिटरी सन्त श्री अरविन्दानन्दजी की दया से आज मुझे फकीरों के दर्शन का सुनहला मौका मिला। इस साल श्रीनगर, पहलगाँव में मैं सन्तजी की सोहवत में आया। उन्हींसे पूज्य गुरु महाराज की तारीफ सुनी, तभी से मेरे मन में दर्शन की लालसा रही। खुदा की मेहरवानी से आज मेरी वह तमन्ना पूरो हुई। आपके दर्शन से मेरे दिल और दिमाग को वड़ी तसल्ली हासिल हुई।'

गंगेश्वर-धाम में : राजनयिकों के साथ

१२ नवम्वर को केन्द्रीय व्यापार-मन्त्री उड़ीसा के भक्तवर श्री नित्यानन्द कानूनगो गुरु महाराज से मिले। वे श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक एवं आस्तिकता की मूर्ति हैं। उन्होंने सभी सन्तों को प्रणाम किया। श्री कानूनगो ने कहा कि 'भगवद्-भक्ति ही मानव-जीवन का सार है। राष्ट्र की प्रगति, राष्ट्रिय एकता आदि उसीसे सध पाते हैं। प्रभु अपने भक्त के सभी मनोरथ सहज ही पूर्ण कर देते हैं।'

१५ नवम्वर '६३ को पंजाव के मुख्यमन्त्री सरदार प्रतापसिंह कैरो आश्रम में आये। आपने गुरु महाराज का सभक्ति अभिवादन किया। आश्रम में दीपावली के निमित्त उत्सव आयोजित था। मुख्यमन्त्री ने अपने भाषण में बताया कि

'मेरा अहोभाग्य है कि आज दीपमालिका के शुभ दिन ऐसे महान् सन्तों के दर्शन कर रहा हूँ। मेरा यहाँ आने का एकमात्र उद्देश्य गुरु महाराज के दर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त करना ही है। मेरी दृढ़ धारणा है कि सन्तों के दर्शन से मानव का आत्मविश्वास वृद्धिगत होता है, जिससे अनुगृहीत द्वारा राष्ट्र की अधिकाधिक सेवा हो सकती है और बीच की विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।'

पत्रकार-गोष्ठी में भी आपके आने का उद्देश्य पूछने पर मुख्यमन्त्री श्री कैरो ने बताया कि 'मेरा यहाँ आने का एकमात्र उद्देश्य गुरु महाराज का आशीर्वाद प्राप्त करना ही था।'

१८ नवम्बर १९६३ को दिल्ली के रजौरी गार्डन के निकट सेठ बालचन्द पमनानी की वार्टलिंग कम्पनी के नये भवन का शिलान्यास दिल्ली के चीफ-कमिश्नर श्री धर्मवीर के हाथों हुआ। इस अवसर पर भक्तवर सेठजी के सानुरोध निमन्त्रण पर गुरु महाराज भी सन्त-मण्डल-सहित वहाँ उपस्थित हुए।

२० नवम्बर को केन्द्रीय मन्त्री श्री मनुभाई शाह सपरिवार गुरु महाराज के दर्शनार्थ आश्रम में आये। आपके साथ उनकी संसार-सागर से पार होने के साधनों पर आध्यात्मिक चर्चा हुई। सायंकाल डिपुटी रेलवे-मन्त्री नेताजी सुभाषचन्द्र बसु की आजाद-हिन्द-फौज के जनरल शाहनवाज साहब गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये। आपका आश्रम की सभा में राष्ट्रिय प्रेम के सम्बन्ध में मार्मिक भाषण भी हुआ।

नेहरूजी का आश्रम में आगमन

२२ नवम्बर को भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूजी सायं ७ बजे आश्रम में गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे। पहले तो कमरे में ही आप गुरु महाराज से आध्यात्मिक वार्ता करते रहे, बाद में सन्त श्री अरविन्दानन्दजी के अधिक अनुरोध पर वे सभा-मञ्च पर भी उपस्थित हुए। उसी दिन सेना के ५ जनरलों की हवाई-दुर्घटना में हुई मृत्यु के कारण वे अत्यन्त खिन्न थे। फिर भी जनता के अनुरोध पर आपने छोटा-सा भाषण दिया। नेहरूजी १ घण्टा ३० मिनट आश्रम में रहे। अन्त में गुरु महाराज ने भी आशीर्वाद रूप में संक्षिप्त भाषण दिया।

प्रधानमन्त्री के उद्‌बोधक उद्‌गार

'श्री गुरु महाराजजी, भाइयो और बहनो !

आपके निमन्त्रण पर मैं यहाँ बहुत खुशी से आया हूँ। मुझे यह नहीं मालूम था

कि मुझे कुछ भाषण, किसी किस्म का भी, करना होगा। कुछ सुनने और गुरु महाराज श्री गंगेश्वरानन्दजी से मिलने आया था। तो, मैं अगर अधिक न कह सकूँ, तो आप लोग क्षमा कीजियेगा।

आजकल हमारे देश, हमारी दुनिया में बहुत-से पेचीदा सवाल हैं। अब वह जमाना तो गया कि ऊपर के किसी राजा या बादशाह के हुक्म से बात होती रहे। आज हमारे देश में जनतन्त्र है। इसमें आश्चर्य होता है कि आम जनता समझे कुछ प्रश्नों को और उसको हल करने में सहायता दे। खैर, प्रश्न तो बहुत हैं बड़े-बड़े, लेकिन बुनियादी बात यह है। एक भाई साहब ने कुछ चर्चा की, हमें अपने देश की जो प्राचीन विद्या है, उसकी सेवा तो करनी ही चाहिए। और उसीके साथ आजकल की दुनिया को भी समझाना बहुत जरूरी है। आजकल की दुनिया विज्ञान की दुनिया कही जाती है। और हमें विज्ञान समझना है और अपने देश की उन्नति इसीके द्वारा करनी है। पहला प्रश्न तो एकता का आता है। देश में यदि एकता न हो, तो भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। हमारे देश की बीमारी बहुत पुरानी है आपस में झगड़ने की। हमारे बड़े, वीर पुरुष राजस्थान में बहुत-से हुए हैं। उनकी कहानियाँ बच्चे तक सब अच्छे प्रकार से जानते हैं कि वीर पुरुषों ने वीरता तो बहुत दिखायी, पर आपस में लड़ के दिखायी। और नतीजा यह हुआ कि दुर्बल कर दिया सारे देश को। हमले हुए, लोग आये। यह पहला सबक हमें सीखना है।

दूसरी बात, यह जो खराबियाँ हमारे देश में हैं, भ्रष्टाचार या और खराब बातें, उनको हटाना है। हमारा देश तरक्की करे, उन्नति करे और ऊँचा हो। वह हो नहीं सकता, जब तक हममें बुरी आदतें हैं। हमारी जनता को उनको हटाना है। हटा के देश की शक्ति बढ़ जायगी और हम तेजी से आगे बढ़ सकेंगे।

और पिछली बात एकता मैंने कही। एकता के माने ऊपरी राजनैतिक एकता नहीं, यह तो कोई एकता नहीं, लेकिन दिल की एकता से है। हमारे देश में बहुत सारे धर्म हैं, पुराने-पुराने-से हैं। बहुत-से हिन्दुओं के अलावा मुसलमान हैं, ईसाई हैं। वे भी तकरीबन दो हजार वर्षों से हमारे देश में हैं। और भी धर्म हैं हमारे देश में, जिनका हमें आदर करना है। और पुरानी हमारी संस्कृति रही है। सम्राट् अशोक ने इसे पत्थरों पै लिख दिया है। यही शक्ति रही भारत की। पुरानी बात याद रखें और उस तरह से मिलकर चलें—अपने समाज को शुद्ध बनाकर, तो सारे हमारे सवाल हल हो जाते हैं। मुझे खुशी है कि इस आश्रम के सन्त लोग इस तरफ अधिक ध्यान देते हैं और देनेवाले हैं। वे जनता में फिर-कर जनता का भी ध्यान इस तरफ देते रहेंगे। मुझे विश्वास है कि इससे बहुत

लाभ होगा। इससे देश की तरक्की होगी। समझता हूँ, मेरे भाई सन्त लोग जोरों से काम करेंगे देश का। हम भी उनकी सहायता करेंगे और वे हमारी करेंगे। इसी तरह मिल-जुलकर काम करने से दूर तक पहुँच होगी और सफलता मिलती जायगी।

आज आपने सुनी, इतनी बुरी खबर आयी कि हमारे कुछ बड़े जनरल एक हवाई जहाज के गिर जाने से मर गये। अभी तक पूरी खबर नहीं आयी, कैसे हुआ यह ? यह मालूम हुआ कि पूँछ के पास हैलीकॉप्टर, जो एक छोटा-सा हवाई जहाज होता है, गिर गया और जितने लोग थे, शायद ७ या ८ थे, उनका देहान्त हो गया। अच्छे लोग थे, हमारे बड़े अफसर थे। उनका एकदम से गुजर जाना दुःख होता है हमें। देश का बहुत नुकसान हुआ। सीखे हुए आदमी थे वे, जुम्मेदार ओहदे के थे। लेकिन खैर, ये बातें तो दुनिया में होती रहती हैं। उनका सामना करना है, इसकी वजह से हाथ पे हाथ रखकर बैठ जाना, खाली अफसोस करना, हाय-हाय करना, यह कोई हिम्मत की निशानी नहीं है। चाहे जो कुछ कठिनाइयाँ हों, जितनी हममें शक्ति है, उसमें लगानी है।

मैं आपके गुरु महाराज को और सभी लोगों को धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे मौका दिया यहाँ आने का और आपसे दो शब्द कहने का। जय हिन्द !'

गुरु महाराज का आशीर्वाद

गुरु महाराज ने अन्त में आशीर्वाद देते हुए कहा :

'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु नस्कृधि।
प्रियं सर्वस्य पश्यत् उत शूद्र उत आर्ये॥'

(अथर्ववेद, १९-६२-१)

वेदों में हमारी संस्कृति का थोड़े ही शब्दों में सुन्दर चित्रण किया गया है। संसार का कोई भी प्राणी क्यों न हो, हम सभीके प्रेमी बनें। विश्वव्यापी प्रेम की स्थापना हो। हमारा किसीसे भी विरोध न हो। यह हमारे वेदों का उपदेश और आदेश है।

हमारे माननीय प्रधानमन्त्री ने विकट समस्याओं का सामना करते हुए इसी बात की चेष्टा की कि संसार में शान्ति की स्थापना हो। कहीं भी विरोध की चिनगारी उत्पन्न न हो। विरोधरूपी अग्नि की ज्वाला से विश्व को बचाया जाय—यही हमारे भारतवर्ष का ध्येय है और यही हमारे प्रधानमन्त्री महोदय का मुख्य लक्ष्य है।

प्रधानमन्त्रीजी ने गीता, श्रीमद्भागवत और वेदों के इन्हीं सिद्धान्तों को दोहराया कि हम ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करें। हम कल्याण तथा मोक्ष के लिए आध्यात्मिक विद्या का पालन करें, किन्तु आज के युग की बदलती परिस्थितियों के अनुसार हम विज्ञान से भी लाभ उठायें। गीता में अर्जुन से श्रीकृष्ण यही कह रहे हैं :

'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।'

(गीता, ७-२)

हे अर्जुन, मैं केवल ज्ञान का ही नहीं, अपितु विज्ञान के सहित ज्ञान का तुझे उपदेश कर रहा हूँ। आगे भी वे कहते हैं :

'ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥'

(गीता, ९-१)

'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।'

(भागवत, २-९-३०)

देवर्षि नारद से भगवान् नारायण कह रहे हैं कि अति गुह्य ज्ञान मुझसे सुनो, जो विज्ञान से युक्त है।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, हमारे प्रधानमन्त्री ने एक ही सूत्र में कह दिया कि हम सब मिलकर काम करें। हम एक-दूसरे को सहयोग दें। सन्त हमारा साथ दें, हम सन्तों का साथ दें। परस्पर मिलकर दोनों के एकता-प्रचार द्वारा निश्चय ही भारत का उद्धार तथा कल्याण होगा।

मैं प्रधानमन्त्रीजी को यह विश्वास दिलाता हूँ कि आपने बहुत-सी कुर्बानियाँ कर जिस राष्ट्र को स्वतन्त्र कराया, उस भारत राष्ट्र के निवासियों के चरित्र-निर्माण में हम भरसक प्रयत्न करेंगे। राष्ट्र में एकता की स्थापना एवं भ्रष्टाचार आदि दुर्गुणों को दूर करने में मैं तथा मेरे सम्प्रदाय के सभी सन्त आपका अवश्य साथ देंगे।'

पण्डित नेहरूजी के परामर्श से उसी दिन चरित्र-निर्माण आदि के निमित्त सन्तों के अभियान का श्रीगणेश हो गया।

२४ नवम्बर को प्रातः १० से ११ बजे तक श्रीमती इन्दिरा गांधी गुरु महाराज से मिलने के लिए आश्रम में उपस्थित हुईं। आपके साथ साधना के सम्बन्ध में गम्भीर मन्त्रणा हुई।

इसी दिन सायंकाल ६ वजे गुरु महाराज श्री गुलजारीलाल नन्दाजी की धर्मपत्नी श्रद्धा-मूर्ति सौ० लक्ष्मीदेवी के अत्यधिक आग्रह पर नन्दाजी के निवास-स्थान पर पधारे। वहाँ नवजात शिशु, श्री नन्दाजी के पौत्र को गुरु महाराज की गोद में समर्पित किया गया और आपने उसे शुभाशीर्वाद से अनुगृहीत किया। वहीं कुछ देर तक श्री नन्दाजी के साथ भारत साधु-समाज के संगठन, भ्रष्टाचार-निवारण, चरित्र-निर्माण आदि के सम्बन्ध में भावी कार्यक्रम की रूपरेखा पर विचार-विनिमय भी हुआ।

इस वर्ष दिल्ली आश्रम, गंगेश्वर-धाम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर राष्ट्र के अनेक प्रमुख मन्त्री गुरु महाराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। समाचार-पत्रों के तत्कालीन अंकों में उत्सव के प्रमुख कार्यों के विवरण प्रकाशित हैं। मुख्यत: सभी शासकीय नेताओं ने आपसे राष्ट्र के उत्थान में भारतीय दृष्टिकोण से अवगत होने का प्रयत्न किया। गुरु महाराज ने भी संकट के समय प्राचीन अनुभूत चरित्र-निर्माण सम्बन्धी अनेक प्रकारों पर प्रकाश डाला।

ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प प्रकाशित

दिल्ली से गुरु महाराज विशेष कार्यवश बम्बई पधारे। वहाँ १० दिनों तक निवास हुआ। आपने भक्तों को पुस्तक-प्रकाशन के सम्बन्ध में परामर्श दिया। इस वर्ष यहाँ की भक्त-मण्डली के सत्प्रयास से गुरु गंगेश्वर-ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प 'स्वामी गंगेश्वरानन्द के उपदेश और लेख' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। भक्त-मण्डली का विचार है कि गुरु महाराज के सभी व्याख्यान एवं लेख क्रमश: प्रकाशित किये जायँ, जिससे जनता विशेष और स्थायी लाभ उठा सके। आजकल आप कथा-प्रवचन बहुत ही कम किया करते हैं। ऐसी स्थिति में जनता को इन प्रकाशित पुस्तकों से आध्यात्मिक पिपासा की शान्ति के लिए बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

इसी तरह सद्गुरु गंगेश्वर-जयन्ती समारोह-समिति के सदस्य भी एकत्र हुए और आगामी जयन्ती-उत्सव की रूपरेखा बनायी गयी। गत वर्ष की तरह ही सदस्यों को भिन्न-भिन्न कार्य बाँट दिये गये। मण्डप, सभामञ्च-सज्जा आदि का कार्य गत वर्ष की तरह इस बार भी लेखिका के अधीन किया गया।

इन्हीं दिनों २९ नवम्बर को गुरु महाराज की परम भक्ता 'अमृतसर महिला-मण्डल' की सञ्चालिका श्री शकुन्तला देवी के निधन का समाचार मिला, जो कुछ महीनों से रुग्ण थीं। गुरु महाराज ने सान्त्वनाभरे पत्र द्वारा अमृतसर की बहनों को परामर्श दिया कि 'वे शोक-मुक्त हो शकुन्तलाबहन की आत्मा को

अमर समझकर पूर्ववत् सत्संग चालू रखें।' आपने आगे लिखा कि 'कुछ दिनों बाद मैं अमृतसर आ रहा हूँ। उस समय नवीन सञ्चालिका की नियुक्ति पर विचार किया जायगा। ज्ञातव्य है कि गुरु महाराज ने प्रायः अपने सभी प्रचार-केन्द्र नगरों में देवियों के आध्यात्मिक सत्संग-मण्डलों का भी संगठन करवा दिया है। सर्वत्र गुरुभक्त बहनें गुरु महाराज के निर्देशानुसार इन मण्डलों का सोत्साह सञ्चालन करती आ रही हैं।

एक अभूतपूर्व भागवत-सप्ताह

बम्बई से गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। वहाँ आपके परम भक्त भालकिया-परिवार के सेठ पोपटलालभाई ने अपने बँगले पर श्रीमद्भागवत-सप्ताह का आयोजन किया था। उन्होंने गुरु महाराज से इसमें भाग लेने का साग्रह अनुरोध किया था।

भागवत-सप्ताह के प्रधान वक्ता गुरु महाराज के शिष्यवर श्री सीताराम शास्त्री थे। भावुक सीताराम शास्त्री भगवद्भाव में असीम प्रवाहित हो जाने से कभी-कभी सात दिनों में सप्ताह की समाप्ति करने में असमर्थ हो नौ-दस दिनों तक कथा-प्रसंग बढ़ा देते हैं। सेठजी के परिवार से उनके स्वर्गीय पिता श्री फूलशंकरजी के समय से ही गुरु महाराज का प्रगाढ़ स्नेह रहा है।

भागवत-सप्ताह में गुरु महाराज ने अपने सन्त-मण्डलसहित भाग लिया। यह समारोह बड़ा ही सफल रहा। एलिस-ब्रिज के इलाके में होनेवाले भागवत-सप्ताहों में यह सप्ताह अपने ढंग का निराला था। सभा-मञ्च पर अवधूत, वीतराग, विद्वान् सन्त बृहत् संख्या में विराज रहे थे। बहुत वर्षों बाद अहमदाबाद की जनता को गुरु महाराज के प्रवचनामृत-पान का स्वर्णिम अवसर हाथ लगा। आपके सभी प्रवचनों का मुख्य विषय श्रीकृष्ण-लीला-रहस्य था। गुजरात प्रदेश की अधिकांश जनता प्रायः श्रीकृष्ण परमात्मा की परम भक्त है। अतः श्रोतृवर्ग को आपके इन प्रवचनों से दिव्यानन्द की अनुभूति हुई।

चरित्र-निर्माणार्थ अभियान

इन्हीं दिनों प्रधानमन्त्री नेहरूजी के परामर्श के अनुरूप विभिन्न प्रान्तों में चरित्र-निर्माणार्थ भ्रमण करनेवाली सन्तों की टोलियों में से 'गंगेश्वर आध्यात्मिक सत्संग-मण्डल' की एक टोली यहाँ पहुँच गयी, जिसने ५६ हाईस्कूल और ६ कालेजों में प्रवचन किये। श्री गुरुदयाल मल्लिक के आग्रह पर साबरमती-आश्रम के नारी-विद्यालय की छात्राओं को भी सन्तों के उपदेश सुनने को मिले। इन

प्रवचनों में अन्यान्य महात्माओं के अतिरिक्त श्री ओंकारानन्दजी का गुजरात-गौरव, गुर्जर भक्तों के भगवत्-अनुराग एवं देश-जाति के उज्ज्वल आदर्श के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रवचन हुए, जिनका छात्राओं तथा अध्यापिकाओं पर अद्भुत प्रभाव पड़ा।

गुरु महाराज ने भी यथासमय राष्ट्र के उत्थान में देवियों के अद्भुत साहस का अपनी भाषा में साकार चित्र खड़ा कर दिया।

तीसरी सद्गुरु-जयन्ती

अहमदावाद से गुरु महाराज बम्बई आ गये। वहाँ आप सन्त-मण्डलीसहित सेठ वालचन्द के यहाँ ठहरे।

सद्गुरु गंगेश्वर-जयन्ती-महोत्सव के पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमानुसार डी रोड स्थित तुलसी-निवास के हाल में प्रतिदिन कीर्तन-मण्डलियों के कीर्तन होने लगे। नियत समय पर विशिष्ट विद्वानों, महात्माओं के प्रवचन होते रहे। प्रतिदिन समारोह के अन्त में समिति के अध्यक्ष श्री ओंकारानन्दजी का गुरु महाराज की जीवन-लीलाओं पर भावपूर्ण रोचक प्रवचन होता था। यह क्रम १५ दिसम्बर से २२ दिसम्बर, १९६३ तक चलता रहा। भक्त-मण्डली की ओर से सम्मिलित विशाल भण्डारा किया गया, जिसमें सन्तों एवं भक्तों के अतिरिक्त दरिद्र-नारायण का भी सन्तर्पण हुआ।

पौष शुक्ला ७मी सोमवार संवत् २०२० (२३ दिसम्बर १९६३) को प्रातः-काल सेठ वालचन्दभाई के मेघराज-भवन में सभी भक्त जनों ने सविधि गुरु महाराज का पूजन किया। श्री बालचन्दभाई की ओर से सबको प्रीतिभोज दिया गया।

सायंकाल सुन्दराबाई-हाल में प्रधान महोत्सव श्री राम पंजवानी के कीर्तन के साथ आरम्भ हुआ। श्री दादा परमानन्द मेहरा ने स्वागत-भाषण किया। सभा-मञ्च पर उपस्थित विद्वान् महात्माओं में निम्नलिखित महानुभावों के नाम उल्लेख्य हैं : सर्वश्री साधुवेला के महन्त आचार्य गणेशदासजी, माझिन दरबार के महन्त उत्तमदासजी, श्रीचन्द्र-मन्दिर, वर्ली के महन्त बाबा सोहनदासजी, निर्वाण-मण्डलीसहित बाबा तोतारामजी, स्वामी अखण्डानन्दजी, स्वामी हंसमुनिजी, कूटस्थानन्दजी, गोविन्दप्रकाशजी, वासुदेवानन्दजी, ओम्प्रकाशजी, स्वामी गणेशा-नन्दजी (श्री प्रेमपुरीजी के शिष्य), शंकरानन्दजी, सुवेद मुनि, अमर मुनि, गुरुमुखानन्दजी, कृष्णानन्दजी (प्रज्ञाचक्षु), प्रियतम मुनि (प्रज्ञाचक्षु), प्रियतम मुनि, दयाल मुनि, ईश्वर मुनि, सर्वज्ञ मुनि, सन्त गोविन्दानन्दजी, अरविन्दानन्दजी

(मिलिटरी सन्त), अवधूत सेवारामजी, परमात्मानन्दजी, गोपाल मुनि, रमेश मुनि आदि ।

महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के विचारपति जस्टिस चेनानी मुख्य निमन्त्रित अतिथि थे । श्री चेनानी सन्तों के प्रति परम श्रद्धालु एवं भक्त हैं ।[1] उन्होंने अंग्रेजी में भाषण किया, जिसका हिन्दी-अनुवाद श्री मौलिचन्द्र शर्मा ने किया । आपने अपने भाषण में राष्ट्र-निर्माण में सन्तों का स्थान और गुरु महाराज की देश-धर्म-सेवा का सश्रद्ध गौरव किया ।

श्री शर्माजी का भी स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने गुरु महाराज के सम्बन्ध में अत्यन्त श्रद्धापूर्ण विचार व्यक्त किये ।

समिति के अध्यक्ष श्री ओंकारानन्दजी के समारोप-भाषण के पश्चात् गुरु महाराज की आरती उतारी गयी और प्रसाद-वितरण हुआ ।

वेदान्त-मण्डल के अनुरोध पर इस वर्ष दूसरे दिन २४ दिसम्बर को प्रेम-कुटीर में भी गंगेश्वर-जयन्ती का कार्यक्रम रखा गया था । उसमें भी विशाल परिमाण में जनता ने भाग लिया । यहाँ के उत्सव में सर्वश्री स्वामी गुरुचरण-दासजी, स्वामी अखण्डानन्दजी, पूर्णानन्दजी आदि प्रतिष्ठित सन्तों के भाषण हुए । श्री हरिकृष्ण अग्रवाल और श्री हरिलाल ड्रेसवाले ने भी गुरु महाराज के सम्बन्ध में अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की और जीवन-निर्माण में गुरुदेव के उपदेशों का विशिष्ट स्थान बतलाया ।

इन्हीं दिनों 'सद्गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक मण्डल' के सन्तों ने बम्बई के विभिन्न स्कूल-कालेजों में चरित्र-निर्माणादि का प्रचार किया ।

इन्दौर की गीता-जयन्ती में

जयन्ती-समारोह सम्पन्न होते ही गुरु महाराज सन्त-मण्डली के साथ इन्दौर पधारे । साथ में परम गुरुभक्ता डाक्टर कृष्णा और भाई बालचन्दजी के सुपुत्र श्री जयकृष्णदासजी भी थे । इन्दौर में मण्डली भक्त श्री शिवलाल वैद्य के बँगले पर ठहरी । वैद्यजी एवं चन्द्रकान्ता आदि बहनों ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ सेवा की ।

---

१. आप गुरु महाराज से पूना में रायबहादुर नारायणदासजी के बँगले पर कई बार मिल चुके थे । इसी वर्ष ३ नवम्बर को भक्त प्रभुदास के साथ गंगेश्वर-धाम में भी गुरु महाराज के दर्शनार्थ आये थे । उस समय आप महाराष्ट्र के स्थानापन्न राज्यपाल थे ।

संवत् २०२० पौष शुक्ला ११शी गुरुवार, २६ दिसम्बर १९६३ को गीता-मन्दिर में होनेवाले गीता-जयन्ती[1] उत्सव का उद्‌घाटन गुरु महाराज के हाथों हुआ। आपने अपने उद्‌घाटन-भाषण में गीता के 'तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्....' (११-४४) श्लोक के आधार पर दास्यादि चतुर्विध भावों का भावपूर्ण विवेचन करते हुए बतलाया कि 'गीता का तात्पर्य वैयक्तिक कार्यों की तुलना में सामाजिक कार्यों को अधिक महत्त्व देना है। दूसरे शब्दों में स्वार्थ-त्याग और परोपकार को ही गीता में सर्वथा ग्राह्य बताया है।'

श्री सेठ बालचन्दजी के द्वितीय पुत्र चि० लक्ष्मणदासजी को दो कन्याएँ ही थीं। अब तक उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति नहीं हुई। दम्पती चिन्तित थे, पर संकोच-वश प्रकट नहीं कर रहे थे। उनकी ओर से श्री लक्ष्मणदासजी की माता एतदर्थ श्री गुरु महाराज से वर्षों से प्रार्थना कर रही थीं। आखिर आपकी कृपा से २७ दिसम्बर १९६३ को उन्हें एक साथ पुत्र-युगल की प्राप्ति हुई। यह समाचार पाकर बड़े भाई श्री जयकृष्णदासजी ही नहीं, गीता-मन्दिर के संचालक बाबा बालमुकुन्द तथा सन्त-मण्डली भी अत्यन्त प्रसन्न हुई। बाबा बालमुकुन्द ने मिठाई बाँटी और सेठ जयकृष्णदास ने इन्दौर में भण्डारा भी करवाया।

श्री आत्मानन्दजी की पुण्य-स्मृति में

सेठ चुनीलाल रेशमवाला के साग्रह निमन्त्रण पर गुरु महाराज को इन्दौर से सूरत जाना पड़ा। सेठ जयकृष्णदासजी, सन्त अरविन्दानन्दजी और गोविन्दा-नन्दजी भी आपके साथ थे। उधर बम्बई से श्री स्वामी ओंकारानन्दजी भी सूरत आ गये। वहाँ आप चुनीभाई के बँगले में ठहरे। यहाँ २९ दिसम्बर १९६३ को गुरु महाराज के कर-कमलों से एक आयुर्वेदिक अस्पताल की नामकरण-विधि सम्पन्न हुई। अस्पताल का नाम 'स्वामी आत्मानन्द सरस्वती आयुर्वेदिक अस्पताल' रखा गया।[2]

इस अवसर पर गुरु महाराज ने अपने भाषण में सन्तों की देश-सेवाओं का

---

१. इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष का क्षय होने से गीता-जयन्ती पौष शुक्ल ११शी को मनायी गयी।

२. कृतज्ञ सूरत की जनता ने यहाँ के आर्वेयुदिक अस्पताल के साथ पूज्य स्वामी आत्मानन्द सरस्वती का नाम अस्पताल के बोर्ड पर लगाने का निश्चय किया था। उस बोर्ड की अनावरण-विधि के रूप में यह उत्सव मनाया गया।

उल्लेख करते हुए ऐतिहासिकों की कठोर आलोचना की कि 'वास्तव में उनके द्वारा अनपेक्षित उपेक्षा करने से आज जनता सन्तों के देश-भक्तिपूर्ण पावन चरित्रों से प्रायः अपरिचित रह गयी।'

आपने कहा : 'सूरत की जनता की उपेक्षा के कारण कैलासवासी श्री स्वामी आत्मानन्दजी सूरत छोड़ पैदल ही हरिद्वार गये। गुरुमण्डल-आश्रम में मेरी उनसे भेट हुई। वे मेरे घनिष्ठ मित्र थे। उनकी तपश्चर्या, तितिक्षा और समाज-सेवा अतुलनीय थी। मेरे पूछने पर उन्होंने अपने सूरत-त्याग का कारण जनता की उपेक्षा वताया। मैंने उनसे नम्र शब्दों में सूरत वापस जाने का अनुरोध किया और इस वात पर बल दिया कि 'यदि कभी विद्यार्थी प्रमादवश आचार्य की उपेक्षा करें, तो क्या आचार्य को भी उनकी उपेक्षा करना कदापि तर्कसंगत कहा जा सकता है ? आचार्य का तो यही कर्तव्य है कि समझा-बुझाकर या अन्ततः वल-पूर्वक छात्र को विद्याभ्यास में लगाये। रोगी भले ही औषध लेना न चाहे, हितैषी वैद्य कदापि उसकी उपेक्षा नहीं करता। वह पूर्ण मनोयोग से तब तक वलपूर्वक भी उसकी चिकित्सा करता है, जव तक कि वह अच्छा न हो जाय। अतः आप भी सूरतवासियों की उपेक्षा न करें और उन्हें समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर लायें।'

गुरु महाराज ने आगे बताया : 'मेरे परामर्श से स्वामी आत्मानन्दजी प्रभा-वित हुए। उन्हें भी वात जँच गयी और वे वापस सूरत आ गये तथा पूर्ववत् समाज-सेवा में जुट गये।'

गुरु महाराज ने उपस्थित जनता से आगे कहा : 'ध्यान रहे कि सन्त-महात्मा केवल 'दवा' (औषधि) ही नहीं, 'दुवा' (आशीर्वाद) भी देते हैं। औषधि के साथ सन्तों की दिव्य शक्ति भी काम करती है। मेरे दादा-गुरु वावा सुन्दरदासजी महाराज ने चिकित्सा-क्षेत्र में उल्लेख्य कार्य किया है। उन्होंने २०० सन्त वैद्य तैयार कर देश के कोने-कोने में रुग्ण-सेवार्थ भेजे और उन सन्तों ने अपने-अपने क्षेत्र में व्यापक जन-सेवा भी की।'

आपने कहा : 'समय-समय पर सन्त इसी तरह जन-सेवा और जनोद्धार करते रहते हैं। अभी-अभी दिल्ली के गंगेश्वर-धाम में जब प्रधानमन्त्री नेहरूजी पधारे थे, तो उनके साथ चरित्र-निर्माण के सम्वन्ध में सन्तों ने परामर्श किया। वहाँ एक कार्यक्रम बनाया गया, जिसके अनुसार स्कूल-कालेजों में उपदेशों, प्रवचनों द्वारा भारतीय विद्यार्थियों के हृदय को भारतीय संस्कृति से प्रभावित करने के लक्ष्य से छोटी-छोटी टोलियों में प्रचार करने के निमित्त सैकड़ों महात्मा भारत-भर भ्रमण कर रहे हैं। इनमें सन्त अरविन्दानन्द (मिलिटरी सन्त) अन्यतम हैं, जो सदैव राष्ट्र-सेवा के लक्ष्य से सतत भ्रमण करते रहते हैं। अभी वे मेरे

साथ हैं। सूरत में उनका आगमन भी यहाँ के स्कूल-कालेजों में इन्हीं प्रवचनों के लक्ष्य से हुआ है। सूरतवासी इनसे लाभ उठायें।'

भाषण का उपसंहार करते हुए गुरु महाराज ने कहा : 'आप लोगों की इस आयुर्वेदिक संस्था में चिकित्सा, औषधि-निर्माण और शिक्षा की त्रिवेणी का अद्भुत संगम है, यह बड़े सन्तोष की बात है। ब्रह्मलीन स्वामीजी का स्नेह-बन्धन मुझे यहाँ आने के लिए विवश करता है। जब भी उनकी स्मृति में कोई आयोजन हो और आप निमन्त्रित करें, तो मैं सब काम छोड़ उपस्थित हो जाता हूँ। संवत् २०१० के प्रयाग-कुम्भ का अत्यावश्यक कार्य छोड़ स्वामीजी की मूर्ति के अनावरण के समय मैं आया था, यह आप लोग भूले न होंगे। आप लोग ऐसे समाज-सेवी महात्मा के प्रति इतनी कृतज्ञता का भाव रखते हैं, यह आप सबके लिए सौभाग्य की बात होगी।'

सूरत से सेठ जयकृष्णदास की प्रार्थना पर गुरु महाराज बम्बई पधारे और उनके छोटे भाई लक्ष्मणदास के बच्चों की छठी के दिन सिन्धी प्रथा के अनुसार नवअर्भकों का नामकरण किया। एक का नाम चि० इन्दिरेशकुमार रखा गया, और दूसरे का चि० उमेशकुमार।

गुरु महाराज को बम्बई से तुरन्त १ली जनवरी १९६४ को पुनः इन्दौर आना पड़ा। कारण वहाँ गीता-भवन में गीता-जयन्ती समारोह के अतिरिक्त सुदर्शन-चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिमा का प्रतिष्ठा-महोत्सव भी रखा गया था। सन्त-मण्डल की प्रतिदिन प्रवचन-माला चल रही थी। कभी-कभी गुरु महाराज भी अपने पीयूषोपम उपदेश से जनता को आप्यायित करते थे।

यहाँ गुरु महाराज के दर्शनार्थ ४ जनवरी, '६४ को मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री पाटस्कर, ७ जनवरी को उद्योगमन्त्री श्री दीक्षित, ९ जनवरी को खाद्यमन्त्री श्री गौतम शर्मा, १० जनवरी को वित्तमन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल प्रसिद्ध-साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के साथ तथा ११ जनवरी को स्वास्थ्यमन्त्री श्री रावजी आये। गीता-भवन के संस्थापक बाबा बालमुकुन्दजी तथा गीता-समिति की ओर से आगत अतिथियों का स्वागत किया गया। गुरु महाराज के साथ उनके निवास-कुटीर में आरम्भ में आध्यात्मिक चर्चाएँ होतीं और बाद में सभी सज्जन गीता-भवन के सभा-मञ्च से गीता एवं चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते। इस तरह यह आयोजन जनता और शासकों को गुप्त सरस्वती गुरु महाराज के माध्यम से इन्दौर में त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित कर रहा था।

'भारद्वाज-कूप' का प्राकट्य

गीता-भवन में एक प्राचीन कूप है, जिसका निर्माण भारद्वाज मुनि के आदेश

से हुआ था। भारद्वाज मुनि इस अरण्य में, जहाँ आज इन्दौर बसा है, उस समय आये थे, जब प्रभु रामचन्द्र अवन्तिका (उज्जैन) में महाकालेश्वर के दर्शनार्थ पधारे थे। भारद्वाज मुनि का प्रधान आश्रम तीर्थराज प्रयाग में है। वहीं उनको प्रभु रामचन्द्र एवं भरतजी से भेंट हुई थी।

ये भारद्वाज मुनि वे ही हैं, जिनके प्रश्न करने पर प्रयागराज में त्रिवेणी के स्नानार्थ आये हुए याज्ञवल्क्य मुनि ने रामायण-कथा कही थी। जगज्जननी पार्वती और गरुड़ की तरह रामायण-कथा के प्रसार में इन मुनि महाराज का भी प्रशंसनीय सहयोग रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस में राम-कथा के चार घाट बतलाये हैं : १. गिरिजा-शंकर संवाद, २. गरुड़-काकभुशुण्डी संवाद, ३. भारद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद और ४. सन्तसमाज-तुलसी संवाद।

स्पष्ट है कि ये भारद्वाज मुनि उच्च कोटि के राम-भक्त और राम-दर्शन के लिए विशेष उत्सुक थे। प्रयागराज के अनन्तर इन्हें दीर्घकाल तक भगवान् राम के दर्शन नहीं हुए। कुछ दिन चित्रकूट रहकर प्रभु वहाँ से चले गये! मुनि को यह पता चला कि इन दिनों प्रभु मालवा प्रदेश में भ्रमण कर रहे हैं। उन्होंने अनुमान लगाया कि अवश्य ही वे अपने आराध्य शंकर के ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर के दर्शनार्थ पधारेंगे। अतः वे प्रयाग से उज्जैन की ओर चल पड़े। आखिर अनुमान ठीक निकला। मुनि ने उज्जैन में अपने इष्टदेव का दर्शन पा लिया। उनके दर्शन से मुनि का चित्त समाहित हो गया।

अब प्रभु रामचन्द्र पञ्चवटी की ओर जाने के लिए मालवा से गुजरात की दिशा में मुड़े और भक्त भारद्वाज मुनि वापस प्रयाग के लिए प्रस्थित हुए। उज्जैन से प्रयाग लौटते समय वे इस अरण्य में ठहरे। यहाँ उनकी कृपा से इस कूप का निर्माण हुआ। आगे उनकी दिव्य शक्ति के कारण इस कूप का जल पीनेवालों की विविध व्याधियाँ दूर होने लगीं। कालक्रम से कूप लुप्त हो गया।

इस बार इन्दौर के निवास-काल में गुरु महाराज को स्वप्न में भारद्वाज मुनि की ओर से आदेश हुआ कि 'आप जनता के हितार्थ मेरे इस कूप को प्रकट करें।' उन्होंने कहा : 'वत्स, मैं तेरा पूर्वज हूँ।[1] अतः किसी दूसरे को आज्ञा न देकर तुझ पर ही यह भार डाला है।'

---

१. गोस्वामी तुलसीदासजी के इस वचन से कि 'सुनो भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥', भारद्वाज मुनि का उदासीन होना प्रमाणित होता है। अतएव यहाँ उन्होंने स्वयं को उदासीन, गुरु महाराज का पूर्वज बताया है।

गुरु महाराज ने अपने प्राचीन आचार्य के स्वप्नदत्त आदेश के पूर्त्यर्थ बाबा बालमुकुन्द आदि भक्त-मण्डली से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। सभीने सहर्ष गुरु महाराज से भारद्वाज-कूप के पुनः प्रकटन की प्रार्थना की।

फिर क्या था ? संवत् २०२० माघ कृष्णा १४शी सोमवार, १३ जनवरी १९६४ को गीता-भवन, मनोरमागंज-स्थित भारद्वाज-निर्मित प्राचीन कूप का गुरु महाराज ने 'भारद्वाज-कूप' नामकरण किया और वहीं भारद्वाज मुनि की प्रतिमा स्थापित की गयी। आपने मुनि का परिचय देते हुए कहा :

'भारद्वाज मुनि का सप्त ऋषियों में विशिष्ट स्थान है। इनकी कृपा से राम-कथा ही नहीं, व्याकरण एवं चिकित्सा-शास्त्र का भी प्रसार हुआ है। इस कुएँ में चिकित्सा-मर्मज्ञ उन मुनिराज ने दिव्यौषधियाँ डाली थीं। अतः जनता के विविध रोग दूर करने के लिए इस कूप का जल अमृतकल्प है। मुझे स्वप्न में उनका आदेश हुआ कि मैं आप लोगों के समक्ष इस कूप की वास्तविक महिमा प्रकट करूँ। 'प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि' इस उक्ति के अनुसार एक श्रद्धालु माता ने इस अवसर पर कूप के जीर्णोद्धार आदि के निमित्त २५००) दान दिया है। आप इससे लाभ उठायें।'

अब यहाँ की जनता में इस भारद्वाज-कूप की खूब महिमा बढ़ गयी। प्रतिदिन हजारों की संख्या में नर-नारी इस कूप का जलपान किया करते हैं और अनेक असाध्य व्याधियों से छुटकारा पाते हैं।

भारद्वाज-कूप के प्रकटन के अतिरिक्त ९ जनवरी १९६४ को गुरु महाराज के शुभ हाथों गीता-भवन के हाल का शिलान्यास भी हुआ। अगले गुरुवार माघ शुक्ला २या को गीता-भवन के श्री रामकृष्ण सूरी द्वारा सुदर्शन-चक्रधारी श्रीकृष्ण प्रभु की प्रतिमा स्थापित हुई।

इन दिनों सद्गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक-मण्डल के सन्तों ने इन्दौर के स्कूल-कालेजों में चरित्र-निर्माण पर उपदेश दिये।

इन्दौर से गुरु महाराज अहमदाबाद पधारे। यहाँ आपका १० दिन निवास हुआ। कारण श्रीमती अम्बालाल चिमनलाल मोदी की ओर से आपके तत्त्वावधान में श्रीमद्भागवत-सप्ताह का आयोजन किया गया था।

अहमदाबाद का भागवत-सप्ताह पूर्ण कर गुरु महाराज बम्बई होते हुए पूना पधारे। पूना में ५ दिन निवास हुआ। वयोवृद्ध भक्तवर रायबहादुर नारायणदासजी रुग्ण होने के कारण बम्बई आ नहीं सकते थे और गुरु महाराज के दर्शन की तो तीव्र उत्कण्ठा थी। अतः दयालु गुरु महाराज स्वयं ही वहाँ पधारे। वहीं

आपको रामटेकरी उदासगढ़ के संस्थापक तपोमूर्ति निर्वाण श्री शारदारामजी से भेट हुई।

श्री नरसिंहदासजी का प्रतिमा-अनावरण

पूना से गुरु महाराज बम्बई पधारे। यहाँ दो दिन निवास हुआ। पुनः वायुयान द्वारा ३ फरवरी १९६४ को आप अहमदाबाद आये। कारण वहाँ स्वर्गीय महापुरुष, जगदीश-मन्दिर के महन्त, वैष्णव-शिरोमणि श्री नरसिंहदासजी महाराज की प्रतिमा का गुरु महाराज के पावन हाथों अनावरण होनेवाला था। प्रतिष्ठा-महोत्सव-समिति ने आपसे पहले से एतदर्थ वचन ले लिया था। गुरु महाराज के परम भक्त सेठ पोपटलाल भालकिया एवं सेठ मगनभाई भीखाभाई का भी आपसे एतदर्थ अत्यन्त आग्रह था।

उत्सव में प्रायः भारत के सभी प्रदेशों से प्रमुख वैष्णव-सम्प्रदायों एवं वैरागी-सम्प्रदायों के महन्त एवं विद्वान् पधारे थे। उनमें अधिकांश गुरु महाराज के प्राचीन घनिष्ठ मित्र थे। 'एक पन्थ, दो काज' के अनुसार गुरु महाराज ने उद्-घाटन किया और अपने प्राचीन मित्रों से भेंट भी की। हिन्दी-संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध लेखक पण्डितराज श्री भागवताचार्यजी गुरु महाराज के सन्निकट बैठे थे। उनके साथ नये-नये ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई। सुख्यात उद्योगपति सेठ अमृतलाल हरगोविन्ददास आदि नगर के अनेक गण्यमान्य सज्जन भी उपस्थित थे।

ऐतिहासिक भाषण

गुरु महाराज ने अपने सारगर्भ उद्घाटन-भाषण में कहा : 'सर्वप्रथम वैष्णव-सम्प्रदाय तथा मन्दिर के प्रबन्धक भक्तों का मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय के किसी सुख्यात सन्त से समारोह का उद्घाटन न कराकर मुझ पर ही यह भार सौंपा। यह उनके सच्चे प्रेम और स्नेह का ही सूचक है। स्वर्गीय श्री नर-सिंहदासजी महाराज भी मुझ पर विशेष दया रखते थे। मेरे वेद-मन्दिर का शिलान्यास उन्हींके पावन हाथों हुआ है। वे अहमदाबाद के ही नहीं, समस्त भारत के देदीप्यमान रत्न थे। वे तपस्वी, योगी एवं सिद्ध-पुरुष थे। उन्होंने आजीवन गरीबों का भला किया। हजारों गायों का पालन किया और सन्तों की दिल खोलकर सेवा की।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'आपसे मैं यह भी स्पष्ट किये देता हूँ कि वैष्णव-सम्प्रदाय का हमारे सम्प्रदाय से अति प्राचीन, सुदीर्घ सम्बन्ध चला आ रहा है।

वैष्णव-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र श्री रामप्रभु की आविर्भाव-स्थली अयोध्या में उदासीन-सम्प्रदाय का प्रधानतम पीठ 'राणोपाली' है। इस स्थान के श्री माधोदास आदि महन्तों का 'वड़ा स्थान' आदि के वैष्णव महन्तों से पीढ़ी-दरपीढ़ी स्नेहमय व्यवहार चला आ रहा है। इतना ही नहीं, त्रेता में जब प्रभु रामचन्द्र अयोध्या से चित्रकूट जाते हुए प्रयागराज पहुँचे, तो वहाँ उनका आतिथ्य उदासीन भारद्वाज मुनि ने ही किया था। गोस्वामी तुलसीदासजी का भी उदासीन-सम्प्रदाय पर विशेष अनुराग रहा। उन्होंने अपनी अमर कृति 'मानस' में अनेक वार उदासीन सन्तों का सादर उल्लेख किया है। प्रभु राम को वापस लाने के लिए जाते समय आदर्श भ्रातृभक्त भरतलालजी की प्रयागराज में उदासीन भारद्वाज मुनि से भेट हुई थी। उस समय मुनि ने कहा था :

'सुनो भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं ॥'

'अब आप लोगों को अवगत हो गया होगा कि वैष्णव और उदासीन-सम्प्रदायों का कितना प्राचीनतम सम्बन्ध है।'

गुरु महाराज ने आगे कहा : 'मुझे आज विशेष प्रसन्नता इस बात की है कि अहमदाबाद की भक्त जनता ने अपने नगर के गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, दीन-रक्षक, सन्त-सेवी, स्वर्गीय सन्त श्री नरसिंहदासजी महाराज की प्रतिमा की स्थापना कर अपनी साधु-भक्ति एवं कृतज्ञता का स्पष्ट परिचय दिया है।'

मूर्ति-पूजा का औचित्य सर्वथा सिद्ध

मूर्ति-पूजा के शास्त्रीय रहस्य पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा : 'मूर्ति-पूजा मूर्ति की पूजा नहीं, उस महापुरुष की पूजा है, जिसकी वह प्रतिमा होती है। आप लोग माता, पिता, गुरु, अधिक क्या, आत्मा की भी पूजा इस शरीररूप मूर्ति के माध्यम से ही कर सकते हैं। आप अपने किसी आराध्य के शरीर को पुष्प-माला आदि पहनाते और नमस्कार करते हैं, तो उस आराध्य की प्रसन्नता का तत्काल प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। ठीक इसी तरह मूर्ति के पूजन से मूर्तिमान् की पूजा और प्रसन्नता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

जब अपराध-विशेषज्ञ चोर के नकली (कृत्रिम) पद-चिह्नों से खोजकर चोर को पकड़ लेते हैं, तो फिर हम प्रतिमा द्वारा चितचोर वृन्दावन-विहारी नन्दनन्दन और साकेत-विहारी प्रभु रामचन्द्र के पकड़ने में निश्चय ही सफल हो सकते हैं। ककार आदि रेखा-उपरेखारूप कल्पित लिपि से वास्तविक वर्ण-माला के ज्ञान की बात सर्वानुभूत है। यदि कल्पित से वास्तव का ज्ञान न माना जाय, तो फिर

हम लिपि की सहायता से वेद, दर्शनादि ग्रन्थ ही न पढ़ पायेंगे। फिर तो समस्त साधनाएँ मिट्टी में मिल जायेंगी।'

आपने आगे कहा : 'हमारे शास्त्रों में यत्र-तत्र मूर्ति-पूजा का विशेष महत्त्व गाया गया है। मन्त्र-योग मूर्ति-पूजा का ही नामान्तर है।

'अरं दासो न मीढूषे कराण्यहम्।'

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भगवान् की मूर्ति को वस्त्र, पुष्प, माला, आभूषण आदि से अलंकृत करने का स्पष्ट उल्लेख है। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कहता है कि 'हे प्रभो, स्वामी को सेवक की तरह मैं आपको (अरं कराणि =) अलंकृत करूँ।' अनन्त युक्तियाँ और सहस्रशः शास्त्र-वचन इस मूर्ति-पूजा-सिद्धान्त के पोषक हैं। समयाभाव से यहाँ केवल संकेतमात्र कर दिया।'

भाषण का उपसंहार करते हुए गुरु महाराज ने कहा कि 'मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि स्वर्गीय महाराज के प्रतिमा-अनावरण समारोह का पुण्य कार्य मेरे हाथों हो रहा है। मैं आप सबका आभारी हूँ कि आपने मुझे स्नेहपूर्वक आमन्त्रित किया और मेरे हाथों समारोह का उद्घाटन कराकर मुझे सम्मान दिया।'

इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए गुरु महाराज बम्बई से हवाई जहाज द्वारा यहाँ पधारे और सायंकाल ही विश्रामार्थ पंजाब चले गये। राजवाना में परम गुरुदेव की समाधि का दर्शन किया। यहाँ समाधि की सेवा के लिए आपके गुरुबन्धु श्रद्धानन्दजी वैद्य रहते हैं। आश्रम में पीढ़ियों से आयुर्वेदिक-चिकित्सा द्वारा जनता-जनार्दन की सेवा होती आयी है। वैद्यजी अच्छे अनुभवी एवं पीयूष-पाणि हैं। प्रतिदिन सैकड़ों रोगी आपसे लाभ उठाते हैं। गुरु महाराज ने समाधि पर भेंट चढ़ायी और भोग लगाकर बच्चों को प्रसाद बाँटा।

पश्चात् राजगढ़ के नये महन्त श्री प्रेमदास तथा पंचायत की प्रार्थना पर गुरु महाराज राजवाना से राजगढ़ गये और अपने पूर्व-पुरुष, सिद्ध-शिरोमणि बाबा श्यामदासजी की समाधि का दर्शन किया। अनन्तर सरदार चेतनसिंह की ओर से सरदार गुरुनाम सिंह लेने आये। राजवाना ५ दिन ठहरकर गुरु महाराज उनके साथ भटिण्डा चले गये। वहाँ ८ दिन निवास हुआ। एक दिन चेतनसिंह के ग्राम कुत्तीवाल भी गये।

ग्रामीणों को हितोपदेश

इस प्रवास में गुरु महाराज ने ग्रामों में दर्शनार्थ उपस्थित ग्राम-पंचायत के लोगों को परामर्श दिया कि 'ग्रामीण बन्धु मद्य-पान त्याग दें। परस्पर लड़ाई का

प्रमुख कारण मद्य-पान ही है। आपस में प्रेम रखें और देश की उन्नति के लिए निरक्षरता-निवारण, कृषि, उत्पादन-वृद्धि आदि की ओर विशेष ध्यान दें। नये-नये अस्पताल, स्कूल-कालेज और सुविधाजनक यातायात के लिए नवीन सड़कें आदि के निर्माण में भी तत्परता के साथ लगें। स्वतन्त्र भारत के ग्राम अन्य देशों की तरह 'आदर्श ग्राम' होने चाहिए। स्वावलम्बन ग्रामों का प्राण है, अतः ग्रामोद्योगों को बढ़ायें। आज देश की सरकार हमारी अपनी सरकार है। वह आपके इन कार्यों में सहयोग देने के लिए तत्पर है। परन्तु बिना जनता के सहयोग के अकेली सरकार क्या कर सकती है? आखिर लोकतन्त्र में वास्तविक सरकार जनता होती है। अतः आप सरकार का साथ दें और परस्पर दोनों सहयोगपूर्वक कार्य करें, तो देश का अवश्य उत्थान होगा।'

वहाँ से गुरु महाराज दिल्ली होते हुए वृन्दावन धाम आये। वृन्दावन में संवत् २०२० फाल्गुन शुक्ला १३शी मंगलवार, २५ फरवरी १९६४ को परम गुरुदेव स्वामी रामानन्दजी महाराज की जयन्ती मनायी गयी। प्रतिवर्ष की तरह होली-महोत्सव भी मनाया गया।

नेहरूजी के स्वास्थ्य की चिन्ता

२९ फरवरी १९६४ को गुरु महाराज दिल्ली आये। यहाँ आपके शिष्य श्री कालीपद बोस मिले। उनसे आपने पण्डित नेहरूजी के स्वास्थ्य की सोत्कण्ठ जिज्ञासा की।

ज्ञातव्य है कि पण्डितजी जनवरी में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर भुवनेश्वर में एकाएक अस्वस्थ हो गये थे। डाक्टरों ने कांग्रेस-अधिवेशन में भी उन्हें भाग लेने की सलाह नहीं दी। डाक्टरों के परामर्श से पूर्ण विश्राम लेने पर स्वास्थ्य में कुछ सुधार अवश्य हुआ, पर रोग सर्वथा निर्मूल नहीं हुआ था। सारे देश में इससे घोर चिन्ता छायी हुई थी। यत्र-तत्र जनता उनके स्वास्थ्य-लाभार्थ अपने-अपने धार्मिक स्थानों में धर्म-ग्रन्थों के पारायण एवं प्रार्थनाएँ कर रही थी। गुरु महाराज को भी राष्ट्रियता के प्रतीक, भारतमाता के लाडले सपूत और स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानी पण्डितजी पर विशेष स्नेह था। यथासमय वे आपसे मिलते भी रहते। कुछ ही दिनों पूर्व वे गुरु महाराज के दर्शनार्थ दिल्ली के गंगेश्वर-धाम में स्वयं पधारे थे। गुरु महाराज उत्कण्ठित थे कि रुग्ण होने के बाद से वे मिले नहीं। अतः स्वयं मिलकर उनके स्वास्थ्य का ठीक-ठीक पता लगाया जाय।

श्री बोस ने कहा: 'महाराज, बहन इन्दिराजी की भी इच्छा है कि आप

त्रिमूर्ति में पधारकर पिताजी को आशीर्वाद दें। आप आज्ञा करें, तो मैं इन्दिराजी से समय निश्चित करूँ।'

गुरु महाराज ने कहा : 'अवश्य, बेटी इन्दिरा से बातचीत कर शीघ्र सूचना दो। कल ही हम पण्डितजी से मिलना चाहते हैं।'

श्री बोस ने श्री इन्दिराजी से समय निश्चित किया और सूचना दी कि 'कल ८ बजे से ९ बजे तक आप पधारकर पण्डितजी को आशीर्वाद देने की कृपा करें।'

त्रिमूर्ति में : नेहरू-परिवार के साथ

गुरु महाराज २ मार्च १९६४ को प्रधानमन्त्री के निवास त्रिमूर्ति में पधारे। साथ में सन्त गोविन्दानन्द, ईश्वर मुनि और गंगेश्वर-धाम के मुख्य सेवक पं० कुन्दनलाल थे। गुरु महाराज का श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वागत किया। नेहरूजी बगीचे में घूम रहे थे। उन्हें सूचना दी गयी। जब तक वे नहीं आये, तब तक गुरु महाराज ने इन्दिराजी से उनके स्वास्थ्य के बारे में चर्चा की। आपने पूछा :

'बेटी, क्या पण्डितजी भुवनेश्वर से ही बीमार हुए हैं या उससे पहले भी शरीर में इस व्याधि के चिह्न थे ?'

इन्दिराजी ने कहा : 'स्वामीजी, डेढ़-दो वर्ष से एक हाथ और एक जाँघ सख्त हो गयी है। मोटर में चढ़ते-उतरते समय उन्हें गतिशील करने में कष्ट होता है।'

'हाँ बेटी, २२ नवम्बर १९६३ को आश्रम में जब वे मुझसे मिलने आये थे, तो उस समय मुझे भी कुछ अस्वस्थ-से प्रतीत हो रहे थे। भुवनेश्वर में उन पर व्याधि का भयंकर आक्रमण हो ही गया। किन्तु सन्तोष की बात है कि देश के सद्भाग्य से अब वे अच्छे हो रहे हैं। शीघ्र ही स्वस्थ हो जायँगे, घबड़ाना नहीं। हाँ, यह बताओ कि अब पिताजी कुछ काम करते हैं या नहीं ?'

'हाँ स्वामीजी, घर पर फाइलें देखते रहते हैं। कभी-कभी लोकसभा में भी जाना आरम्भ कर दिया है। आज भी जानेवाले हैं।'

मैदान में कुर्सियाँ लगी थीं। वहाँ नेहरूजी आकर बैठ गये। गुरु महाराज को वहाँ ले जाया गया। वहीं बहन विजयालक्ष्मी पण्डित भी बैठी थीं। नेहरूजी ने गुरु महाराज को सादर प्रणाम किया। प्रश्नों का उत्तर देने में उन्हें कष्ट न हो, इसलिए आपने केवल 'आप कुशल हैं ?' इतना ही पूछा। शेष स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रश्न बहन श्री विजयालक्ष्मीजी से पूछना आरम्भ किया :

'बहन, पण्डितजी अब स्वस्थ तो हैं न ?'

'हाँ स्वामीजी, अब आगे से बहुत लाभ हो रहा है। कुछ-कुछ घूमने भी लगे हैं। अभी १५ मिनट बगीचे में सैर कर आये हैं और पार्लियामेंट जाने की तैयारी में हैं।'

'पण्डितजी उत्साह-मूर्ति हैं। उनका मनोबल विलक्षण है। कभी कार्य करते थकावट का अनुभव ही नहीं करते। वे कर्मयोग के प्रतीक हैं। बहन, चिन्ता न करना। जनता की शुभ-कामना एवं प्रभु की दया से शीघ्र ही आप स्वस्थ हो जायँगे।'

'महाराज, आप सन्तों की कृपा !'

नेहरूजी पास बैठे सारी वार्ता सुनते रहे। बीच-बीच में कुछ 'मैं स्वस्थ हूँ', 'अभी तो रोग का कोई चिह्न रहा ही नहीं' ऐसे एक-दो वाक्य बोल देते थे।

बहन ने आपसे पूछा : 'स्वामीजी महाराज, आपका आश्रम कहाँ है ?'

गुरु महाराज ने कहा : 'छोटे-बड़े १६ आश्रम हैं—हरिद्वार, वृन्दावन, काशी, दिल्ली, अमृतसर, अहमदाबाद, माउण्ट आबू, नासिक और बम्बई में भी, जहाँ की आप राज्यपाल हैं। अभी-अभी वहाँ की भक्त-मण्डली ने २३ दिसम्बर को मेरा जयन्ती-महोत्सव मनाया था। सबकी इच्छा थी कि उस अवसर पर आपको आमन्त्रित किया जाय। किन्तु आप विदेश गयी थीं। अतः उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी।'

बहन : 'स्वामीजी, आपसे अवश्य मिलूँगी। जब आप बम्बई आयें, मुझे फोन अवश्य करें।'

गुरु महाराज : 'सन् १९२४ में प्रयाग के कुम्भ के समय आपकी पूज्य माता स्वरूपरानीजी मुझसे मिली थीं। उनका सन्तों से विशेष प्रेम था। दूसरे शब्दों में वे 'श्रद्धा-मूर्ति' थी। आपसे तो आज ही मिला, पहले कभी मौका ही नहीं लगा। आपकी माताजी की प्रभु-भक्ति एवं दृढ़ विश्वास का ही परिणाम है कि पूरा परिवार सच्चा देश-भक्त बना। इतना ही नहीं, माताजी सहित आप सब तरह-तरह की कुर्बानियाँ कर मातृभूमि को स्वतन्त्र करने में सफल हुए।'

गुरु महाराज ने उचित समझा कि अब अधिक बैठना ठीक नहीं। कदाचित् पण्डितजी को तकलीफ हो। उन्हें पार्लियामेण्ट भी जाना है। अतएव अन्त में आपने नेहरूजी से कहा :

'आप अधिक परिश्रम न किया करें। स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखें। आपके परामर्श मात्र से देश की जटिल समस्याएँ सुलझती रहती हैं। अब आपके कई साथी सुयोग्य राष्ट्र-भक्त तैयार हो गये हैं। अधिक कार्य-भार उन्हीं पर सौंपा

करें। यह शरीर आपका नहीं, भारत की जनता का है। अतः जनता की इच्छा के अनुरूप ही इस शरीर का उपयोग किया जाय। आपने लगभग ५० वर्ष तक सतत जनता-जनार्दन की सेवा की। अब जनता चाहती है कि जटिल समस्याओं के सुलझाने में आपका परामर्श ही विशिष्ट सेवा है।

मानसिक और वाचिक सेवा का शरीर-सेवा से कहीं अधिक महत्त्व होता है। शरीर के सभी यन्त्रों में मन और वाणी का ही विशिष्ट स्थान है। ये दोनों केवल सांसारिक व्यवहार के ही साधन नहीं, प्रत्युत आर्यशास्त्रों में इन्हें आध्यात्मिक प्रगति का भी प्रधान साधन माना गया है। यह सर्वानुभूत है कि आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्र-प्रेम-परिप्लुत राष्ट्रिय नेताओं का मन और उनकी वाणी, भाषण देश की स्वतन्त्रता के साधन बने। इसी तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में भी गुरु का निरुपधि-करुणाप्लुत मन और उनकी महावाक्योपदेश-वाणी ही जिज्ञासु साधक के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो उसे आत्मदर्शन करा सर्वबन्धनों से विमुक्त कर देती है। जब आपका शरीर जनता का है, तब जनता की इच्छा के बिना उसे श्रमित करने का आपको अधिकार ही नहीं।'

गुरु महाराज उठे। 'आप रुग्ण हैं, उठें नहीं, बैठे ही रहें' कहकर मना करने पर भी नेहरूजी शिष्टता और सौजन्य की दृष्टि से उठ खड़े हुए। गुरु महाराज ने अपना वरद हस्त उनके मस्तक और पीठ पर रखा और प्रसन्न मुद्रा में एक-दूसरे से पृथक् हुए।

यह किसीको स्वप्न भी न था कि गुरु महाराज से आपकी यह अन्तिम भेंट होगी, पुनः यह अवसर आनेवाला नहीं !

अमृतसर में

दिल्ली से गुरु महाराज अमृतसर आये। वहाँ आपकी परम भक्ता स्वर्गीय शकुन्तलाबहन के पुत्र चि० सुशीलकुमार का विवाह था। सुशील और अनीता दोनों वर-वधू श्रीमती पुष्पा जगदीश मेहरा के साथ आपके दर्शनार्थ राम-धाम, शिव-मन्दिर में आये। गुरु महाराज ने नव-दम्पती को शुभाशीर्वाद दिया। महिला सत्संग-मण्डल के सञ्चालन के लिए पण्डिता कैलाश की नियुक्ति की गयी। आपने सभी सत्संगी बहनों को उपदेश दिया कि 'किसी अपने स्नेही के महाप्रस्थान पर शोक करना, रोना, व्याकुल होना सच्चा प्रेम नहीं। उसके चलाये कार्यों को पूरा करना ही उसके प्रति सच्चे प्रेम का प्रतीक है। आप सब मिलकर पहले की तरह सत्संग किया करें, गुरु और प्रभु की कृपा से सब मंगल होगा।'

गुरु महाराज ने अनीता देवी से कहा कि 'बेटी, तुम्हारी माता (सास) कहीं गयी नहीं। वह आज तुम लोगों के बीच ही है। उनकी सहेलियाँ—कमला, कैलाश आदि सत्संगी बहनें सब तेरी माताएँ ही हैं। अपने स्थान पर स्वर्गीय माता तुझे अनेक माताएँ दे गयी है।'

आपने कमला, कैलाश आदि सत्संगी बहनों से भी कहा कि 'आप सब अनीता बेटी का पूरा ध्यान रखना।'

मातृ-वियोग से खिन्न चि० सुशील मेहरा को भी सान्त्वना देते हुए आपने कहा कि 'बेटा, मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है। कभी अपने को अकेला मत समझो। 'पिता दो वर्ष की अवस्था में ही चल बसे, माताजी भी चली गयीं। अब मेरा कोई भी नहीं रहा' ऐसे उदासीनतापूर्ण विचारों को भूलकर भी मन में स्थान मत दो। जिसका कोई सहाय न हो, गुरु और प्रभु उसके सच्चे सहायक होते हैं।'

भक्त-मण्डली ने गुरु महाराज से प्रार्थना की कि 'हमारा विचार है कि राम-धाम, शिव-मन्दिर में श्री महावीर पवनसुत हनुमान् की प्रतिमा स्थापित की जाय। इस क्षेत्र में पास में कहीं महावीर का मन्दिर नहीं है।' आपने तुरत ही ज्योतिषी श्री रामदत्त जैतली को बुलाया और १० मार्च १९६४, शुद्ध चैत्र कृष्णा ११शी मंगलवार सं० २०२० को मूर्ति-स्थापना का मुहूर्त निश्चित किया। आपने भक्तों को आदेश दिया कि 'सर्वश्री स्वामी कृष्णानन्दजी और स्वामी गोविन्दानन्दजी के हाथों मूर्ति की स्थापना करायें।'

जनता के अधिक आग्रह पर भी गुरु महाराज रुक न सके और ९ मार्च को आपने हरिद्वार के लिए प्रस्थान कर दिया। बात यह थी कि इधर कुछ दिनों से आप अपना प्राचीन संकल्प मूर्त करने के लिए अति वृद्ध होने पर भी दार्शनिक एवं वैदिक-साहित्य के अनुसन्धान-कार्य में अहर्निश लगे रहते हैं। आपने अपने तत्त्वावधान में कई योग्य विद्वानों को भी इस कार्य में लगा रखा है। यात्रा में पूर्ण अनुसन्धान की सामग्री सुलभ न हो सकने से इस कार्य में बाधा पड़ती है। अतः आपने निश्चय कर लिया था कि हरिद्वार में दो महीने रहकर यह काम किया जाय।

हरिद्वार में अनुसन्धान-कार्य

हरिद्वार पहुँचकर पूर्ण एकान्त-सेवन कर गुरु महाराज ने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद और उनके विविध भाष्य, वेदांग—कल्प-सूत्र, निघण्टु, निरुक्तादि तथा बृहद्-देवता, सर्वानुक्रमणी, प्रातिशाख्य आदि का विशेष परिशीलन किया। लेखिका भी अपनी कृति, जीवन-चरित्र को साथ ले हरिद्वार से गुरुदेव के सन्निकट उपस्थित

हुई। अनुसन्धान-कार्य से अवकाश मिलने पर यथासमय गुरु महाराज को उसने अपनी रचना के कतिपय प्रकरण सुनाये और उनसे इसके प्रकाशन की अनुमति प्राप्त कर ली।

नैनीताल में

इधर आपके भक्त मुरलीधर एवं गोविन्दराम सेऊमल अपने कुटुम्बसहित नैनीताल पहुँचे। उनके सम्बन्धी भक्त रत्तूमलजी ने सीजन के लिए बँगले की व्यवस्था कर रखी थी। दोनों भाई सपरिवार ग्रीष्म-काल में गुरु महाराज के सान्निध्य में रहते हैं। इस बार भी गुरु महाराज से आप लोगों ने पहले वचन पा लिया था कि 'मई में हम नैनीताल आप लोगों के पास आयेंगे। एकान्तवास और विश्राम मिलेगा। साथ ही सर्दी के कारण अनुसन्धान में भी बाधा नहीं आयेगी।' हरिद्वार में गर्मी कुछ अधिक अनुभूत होने से ४ मई १९६४, संवत् २०२१ वैशाख कृष्ण ७मी सोमवार को गुरु महाराज नैनीताल पधारे। उधर लेखिका हवाई जंहाज से देहली होकर बम्बई गयी।

नैनीताल के निवास-काल में गुरु महाराज के परम भक्त सेठ बालचन्द (जे० बी० मंघाराम) भी सपरिवार पधारे थे। गुरु महाराज के अनुसन्धान-कार्य में सहयोगार्थ ग्रीष्मावकाश में उदासीन संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक एवं विभिन्न भाषाओं के सिद्धहस्त लेखक श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य का नैनीताल आना निश्चित हुआ था। तदनुसार २८ मई १९६४ को वे नैनीताल गुरु महाराज की सेवा में पहुँच गये और एक मास तक आपके सान्निध्य में रहे। इस योजना का पता पाकर लेखिका ने गुरु महाराज से पत्राचार किया और उनकी अनुमति पाकर 'योगेश्वर गुरु गंगेश्वर' की पाण्डुलिपि सम्पादन एवं परिष्कारार्थ श्री वैजापुरकरजी के पास नैनीताल यह अन्तिम श्लोक लिखकर भेज दी :

'भक्तिविक्तिसमुच्चेता वेदवेत्ता तपोनिधिः।
कल्पद्रुमः प्रपन्नानां पायाद् गंगेश्वरो गुरुः॥'

●

परिशिष्ट

निकट अतीत के छह मास

['योगेश्वर सद्गुरु गङ्गेश्वर' चरित्र का १८वाँ पर्व यहाँ पूरा होता है, जिसमें नैनीताल-यात्रा के आरम्भ, ४ मई, १९६४ तक का जीवन-वृत्त संकलित है। उसके बाद पूज्य गुरु महाराज की जयन्ती तक (ईसवी सन् के अनुसार २७ दिसम्बर, १९६४ तक) का भी जीवन-वृत्त संकलित करने के लिए यह परिशिष्ट दिया जा रहा है। इससे प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वथा अद्यतनीय (अपटूडेट) हो जाता है। —सम्पादक]

प्रधानमन्त्री नेहरूजी का स्वर्गवास

ग्रन्थान्त में (४०६ठे पृष्ठ में) बताया गया है कि गुरु महाराज ४ मई, १९६४ को हरिद्वार से नैनीताल पधारे और वहाँ ३० जून १९६४ तक ठहरे। इस बीच २७ मई, १९६४ को दिन में करीब २। बजे अकस्मात् भारत-हृदय-सम्राट् प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के देहावसान का दारुण दुःखद समाचार सुनायी पड़ा। उसी दिन प्रातः ६।। बजे वे सहसा रुग्ण हुए। विविध प्रकार से हर संभव चिकित्सा करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ और अन्ततः दिन के २। बजे वे इस असार संसार से महाप्रस्थान कर बसे। भारत ही नहीं, समस्त विश्व क्षणभर में विद्युद्गति से शोकमग्न हो उठा। भारत माता की गोद सच्चे सपूत से रिक्त हो गयी। देश की महती क्षति हुई, जिसका पूरा होना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

यद्यपि गुरु महाराज का हृदय शोकमुक्त है और नेहरूजी जैसे महापुरुष शोचनीय नहीं होते, कारण वही शोचनीय होता है, जिसने मानव-विग्रह में मानवोचित कर्तव्य का पालन न किया हो। आकृति मानव की होकर भी सभी कृत्य जिसके दानवीय हों, वही शोचनीय होता है। फिर भी देश की नौका के असन्तुलित हो डावाँडोल होने की आशंका से गुरु महाराज का हृदय क्षुब्ध हो उठा। तत्काल नैनीताल से ही दिल्ली के आश्रमवासी सन्तों को आदेश दिया गया कि वे त्रिमूर्ति-भवन में पहुँचें और स्वर्गीय महान् आत्मा के निमित्त गीता-पारायण आदि में भाग लें।

गुरु महाराज के मुख्य शिष्य श्री ओंकारानन्दजी के नेतृत्व में सन्त-मण्डल ने २८ मई को प्रातः त्रिमूर्ति-भवन में पहुँचकर गीता-पारायण किया। उसी दिन दिन में १ बजे वहाँ से महायात्रा निकली। इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस आदि कितने ही महान् राष्ट्रों के प्रधानमन्त्री, विदेशमन्त्री आदि मुख्य प्रतिनिधियों के साथ देश के सभी प्रमुख नेता और जनसाधारण जुलूस में सम्मिलित हुए। गुरु महाराज की ओर से सन्त अरविन्दानन्द (मिलिटरी सन्त) ने भाग लिया। सायंकाल ५ बजे राजघाट में दिवंगत आत्मा के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि-संस्कार सविधि सम्पन्न हुआ और वे यशःशरीर से अमर हो गये।

७ जून को अस्थि-कलश स्पेशल ट्रेन से तीर्थराज प्रयाग ले जाने की व्यवस्था हुई। मार्ग में जनता ने सभी स्टेशनों पर अपने अमर नेता के अस्थि-कलश के दर्शन किये। कीर्तन-मण्डलियाँ ट्रेन में साथ में कीर्तन करती रहीं। अन्यान्य संस्थाओं की तरह गुरु महाराज के प्रतिनिधि शिष्य सन्त अरविन्दानन्द एवं भक्त शिष्य विलायतीराम कोहली आदि भी साथ रहे। सन्त अरविन्दानन्द अपने भाव-भरे कीर्तन एवं उपदेश से अस्थि-कलश स्पेशल ट्रेन के यात्रियों को सान्त्वना एवं शान्ति प्रदान करते रहे।

दूसरे दिन ८ जून को अस्थि-कलश प्रयागराज में दिवंगत महान् आत्मा की जन्मस्थली आनन्द-भवन में लाया गया। वहाँ कुछ समय विश्राम कर जुलूस के साथ सभी लोग त्रिवेणी-तट पर गये। त्रिवेणी में—जहाँ के लिए श्रुति भगवती बताती है कि सिता (गंगा) और असिता (यमुना) जहाँ मिलती हैं, उस स्थान पर शरीरपात होने पर मानव सीधा अमरत्व प्राप्त करता है—अस्थि-कलश का विसर्जन हुआ। श्री लालबहादुर शास्त्री, उपराष्ट्रपति जाकिर हुसेन, गुलजारीलाल नन्दा आदि प्रमुख व्यक्तियों ने स्वर्गीय नेता को श्रद्धाञ्जलियाँ दीं। गुरु महाराज नैनीताल में रेडियो द्वारा आँखों देखा हाल सुनते रहे।

'नेहरूजी योगी थे !'

स्थानापन्न प्रधानमन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा ने अपने भाषण में एक बात विशेष महत्त्व की कही कि 'हम आप नहीं जानते, गंगा नेहरूजी को पहचानती है और नेहरूजी गंगा को पहचानते थे।' यह सुनकर गुरु महाराज ने अपने पास बैठे शिष्य सन्त गोविन्दानन्द, गोपाल मुनि आदि से कहा कि 'क्यों सन्त-मण्डल, आप इस उक्ति का रहस्य समझे ?' सन्तों के मौन रहने पर आपने गम्भीर मुद्रा में कहा : 'नन्दाजी की इस उक्ति का संकेत यह है कि नेहरूजी साधारण व्यक्ति न थे, वे योगी थे। गरुड़-चट्टी के सन्निकट गंगा-तट पर वर्षों तक सन्त के वेष

में उन्होंने पूर्वजन्म में तपश्चर्या एवं योग-साधना की है। निःसन्तान स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू अपनी पत्नी श्री स्वरूपरानी के साथ महामना मालवीयजी की प्रेरणा से गरुड़-चट्टी के सन्त के निकट पहुँचे। मालवीयजी ने मोतीलालजी की ओर से तपस्वी सन्त से प्रार्थना की कि 'महाराज, कृपा करें, सब वैभव होने पर भी पुत्र के अभाव से मेरे भाई का गृह शून्य है। आप इनका मनोरथ पूर्ण करें।'

सन्त ने मुस्कराते हुए कहा : 'मालवीयजी, मैं क्या करूँ ? कई जन्मों तक इनको पुत्र का योग नहीं।'

मालवीयजी ने करबद्ध प्रार्थना की : 'महाराज, तभी तो आपकी शरण आये हैं।'

अधिक आग्रह करने पर सन्त ने उनके रहते ही देह-त्याग कर दिया और कुछ समय के पश्चात् ही स्वरूपरानीजी सगर्भा हो गयीं। जवाहरलालजी के रूप में उस सन्त ने ही माता स्वरूपरानी की दक्षिण कुक्षि से जन्म ग्रहण किया। यह समाचार कई वर्ष पूर्व समाचार-पत्रों में भी छप चुका है।'

गुरु महाराज ने सन्तों से कहा : 'यही कारण है कि नेहरूजी प्रायः अपने सन्त स्वरूप को छिपाये रहते थे। वे अपने स्वरूप के गोपन में इतने सचेष्ट रहते कि अपने भाषण में आजीवन भूलकर भी ईश्वर का नाम नहीं आने दिया। किन्तु अन्ततः ५ मई, १९६४ को कांग्रेस-महासमिति के बम्बई-अधिवेशन से दिल्ली वापस लौटते समय जब कुछ बम्बईवासी सज्जनों ने पूछा कि 'अब कब दर्शन होंगे ?' तो सहसा पहली बार उनके मुख से निकल पड़ा : 'जैसी ईश्वर-इच्छा !' यह सन्तों की ही बोल-चाल की भाषा है। यहाँ उनका पूर्व-जन्म का सन्त-स्वभाव बरबस व्यक्त हो ही गया !'

उपस्थित सन्त-मण्डली यह रहस्य सुन आश्चर्यचकित रह गयी !

१२ दिनों तक देशभर महान् नेता की स्मृति में शोक मनाया गया। उनके मृत्यु-पत्र (वसीयत) के अनुसार भारत की मुख्य-मुख्य नदियों में उनकी भस्मी प्रवाहित की गयी और वायुयानों द्वारा भारत के सभी प्रान्तों के खेतों पर उसे बिखेरा गया। उनके और्ध्वदेहिक कृत्य के सभी समाचार विस्तार के साथ देश-विदेश के पत्रों के तत्कालीन अंकों में प्रकाशित हैं।

गुरु महाराज के निकटस्थ सन्तों से पता चला कि इस अवसर पर आपने तीन संकल्प किये थे : १. हमारे देश का नया प्रधानमन्त्री निर्विरोध निर्वाचित हो, ताकि देश में फूट पनपने न पाये। २. श्रीमती इन्दिराजी की इच्छा न रहने पर भी उन्हें मन्त्रिमण्डल में अवश्य संगृहीत कर लिया जाय और ३. त्रिमूर्ति-भवन पण्डित नेहरूजी का स्मारक बने, जिससे उनका परिवार वर्षभर तक उनके

सभी और्ध्वदेहिक कृत्य वहीं कर सके। नेहरू-परिवार भले ही स्वेच्छा से कहीं जाय, पर सरकार की ओर से नैतिक कठोरता के साथ यह न कहा जाय कि उनका निवास-स्थल राजकीय-भवन खाली कर दिया जाय। सन्त सत्यसंकल्प होते हैं। आपके तीनों संकल्प पूर्ण देखे गये।

नये प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री

देश के कल्याणार्थ श्री गुलजारीलाल नन्दा ने स्वार्थ-त्याग का स्तुत्य आदर्श प्रस्तुत किया। वे २७ मई को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये और उन्हींके नेतृत्व में महायात्रा, अन्त्येष्टि, अस्थि-कलश का तीर्थराज, त्रिवेणी में प्रवाह आदि कार्य सम्पन्न हुए। अन्त में राम के आते ही भरत ने उनकी धरोहर, राज्य सौंप दिया। एकमति से चुने गये नव प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्रीजी को अपना कार्य-भार सौंपकर नन्दाजी पुनः अपने गृहमन्त्री के पद पर आसीन हो गये।

श्री नन्दाजी और सदाचार-समिति

श्री नन्दाजी ने देश में फैले भ्रष्टाचार के निवारणार्थ संकल्प किया और 'सदाचार-समिति' संगठित हुई। १८ जुलाई को उसका बृहत् सम्मेलन रखा गया, जिसमें देश के प्रमुख सन्त और धार्मिक सद्गृहस्थ आमन्त्रित किये गये। नन्दाजी का सन्देश लेकर भारत साधु-समाज के मन्त्री श्री आनन्दस्वामी गुरु महाराज के पास नैनीताल आये और उन्होंने कहा कि 'नन्दाजी और हम सबकी इच्छा है कि आपके पावन कर-कमलों से इस 'सदाचार-समिति' का उद्घाटन हो।'

गुरु महाराज ने कहा : 'मैं १ली जुलाई को दिल्ली आ रहा हूँ। वहाँ नन्दाजी मिलेंगे ही। प्रत्यक्ष वार्ता हो जायगी। आप दिल्ली जाकर इस सम्बन्ध के आवश्यक कार्यों में लगें।'

नैनीताल में

गुरु महाराज नैनीताल में तल्लीताल-स्थित किशोर-भवन में ठहरे थे। भक्तवर सेठ गोविन्दराम एवं मुरलीधर सपरिवार आपकी सेवा में रहे। सेठ बालचन्द चि० जयकृष्णदास के साथ सपरिवार दर्शनार्थ पधारे थे। राजा साहब प्रतापसिंह, कुचामन और उनके श्वशुर राजा जगन्नाथ सिंहजी भी गुरु महाराज से यथासमय किशोर-भवन में मिलते रहे। परस्पर अध्यात्म-चर्चा चलती रही।

एक दिन राजा साहब प्रतापसिंहजी की प्रार्थना पर सन्त-मण्डलसहित गुरु महाराज उनकी तल्लीताल-स्थित कोठी 'दीपक' में भोजनार्थ पधारे। पास में

ही उनकी बहन चैन रानी की कोठी में भी पधारे। वहाँ कई अन्य राज-परिवार भी गुरु महाराज के दर्शनार्थ उपस्थित थे। सामाजिक सेवा में निरत गंगास्वरूप विजनौर जिले की वृद्धा रानी भी मिलीं, जो गुरु महाराज की पूर्वपरिचिता थीं। नैनीताल में सेठ मुरलीधर की धर्मपत्नी सौ० लखीबहन के बन्धु श्री रत्तूमल ने दिल खोलकर सन्तों की सेवा की। एक दिन वे अपने घर हल्द्वानी में भी मण्डली-सहित गुरु महाराज को लिवा ले गये।

दिल्ली में श्री नन्दाजी के साथ

१ली जुलाई १९६४ को गुरु महाराज नैनीताल से दिल्ली पधारे। कार्याधिक्य के कारण श्री नन्दाजी का गंगेश्वर-धाम में आना संभव न था। गुरु महाराज ने भी उचित नहीं समझा कि उनका देश-सेवा का बहुमूल्य समय अधिक लिया जाय। अतः आपने उन्हें सन्देश भेजा कि 'आप आने का कष्ट न करें। मैं स्वयं ही आपके निवास-स्थान पर आ रहा हूँ। साथ ही माता लक्ष्मी, चि० पुत्र नरेन्द्र और चि० पौत्र विवेकानन्द से भी मिल लूँगा।'

२ जुलाई को निश्चित समय रात ९ बजे गुरु महाराज श्री नन्दाजी के निवास-स्थान पर पधारे। नन्दाजी के साथ सदाचार, हिन्दू-संस्कृति आदि कई आवश्यक विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। सदाचार-समिति के १८ जुलाई के अधिवेशन में भाग लेने के सम्बन्ध में आपने श्री नन्दाजी से कहा कि 'अधिक गर्मी के कारण तब तक दिल्ली में ठहर नहीं सकता। फिर २४ जुलाई को गुरु-पूर्णिमा पर अहमदाबाद में उपस्थित रहना भी आवश्यक है। यहाँ से अहमदाबाद जायें और वहाँ से पुनः आयें, ऐसा करने में आजकल शरीर साथ नहीं देता। मेरा और मेरे सन्त-मण्डल का आपके कार्यों में पूर्ण हार्दिक सहयोग रहेगा। मेरी ओर से सन्त अरविन्दानन्दजी आपका इस कार्य में साथ दे ही रहे हैं। मैंने उन्हें आज्ञा दी है कि भविष्य में भी वे आपको पूर्ण सहयोग दें।'

आपने आगे कहा : 'गत वर्ष गङ्गेश्वर-धाम में स्वर्गीय प्रधानमन्त्री नेहरूजी के आने पर २२ नवम्बर '६३ को उनके साथ जो परामर्श हुआ और निश्चय हुआ, तदनुसार हमारे मण्डल ने चरित्र-निर्माणादि के लिए धार्मिक अभियान आरम्भ कर दिया है। अहमदाबाद, बम्बई, इन्दौर आदि नगरों के स्कूल-कालेजों में मण्डल के सन्तों ने एतदर्थ प्रवचन, उपदेश किये। अब भी उनका वह कार्य जारी है। प्रसन्नता की बात है कि देश के कल्याणार्थ संयुक्त सदाचार-समिति का नवसंघटन हुआ, जो निःसन्देह स्तुत्य है। यह कार्य हमारा ही है। हमारा मण्डल सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा इसे पूरा सहयोग देता रहेगा।' इस समय आपके

साथ ईश्वर मुनि, गोविन्दानन्द के अतिरिक्त सन्त अरविन्दानन्द उपस्थित थे, जो आजकल सदाचार-समिति के मुख्य कार्यकर्ताओं में अन्यतम हैं।

श्रीमती इन्दिराजी को सान्त्वना

३ जुलाई को गुरु महाराज त्रिमूर्ति-भवन में श्रीमती इन्दिरा गांधी से मिले और उन्हें सान्त्वना दी। आपने कहा :

'बेटी, आपके पिताजी के चले जाने से देश हतश्री हो गया है। आप ही नहीं, समस्त देश को उनके चले जाने से गहरी चोट लगी है। वे आपके पिता ही नहीं, देश के सभी बच्चों के चाचा थे। उनका प्यार आपसे भी अधिक देश के बच्चों पर था। संभव है, आपको स्मरण होगा कि सन् १९४२ में जब वे मनाली में अपने विदेशी मित्र के अतिथि बने थे, तो रास्ते में जोगीन्द्रनगर भी ठहरे थे। उन दिनों मैं वहीं था। सभा-मञ्च इतना संकुचित था कि दो ही व्यक्ति बैठ सकते थे। आप अपने पिता के साथ मञ्च पर बैठी थीं। उस समय मण्डी राज्य के जज साहब लाला देवकीनन्दनजी की छोटी-सी बच्ची रमा चाचा नेहरू के दर्शनार्थ आयी थी। चाचा ने उसे सस्नेह अपने पास बिठा लिया और आपको नीचे बैठने का संकेत किया था। ऐसे थे आपके पिता, उदार आशय, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के साकार विग्रह !

'बेटी, अपने को अकेला अनुभव न करो। भारत की ५० करोड़ जनता आपका ही परिवार है। आपके पिताश्री नेता ही नहीं, एक पहुँचे योगी थे। नन्दाजी ने प्रयाग के त्रिवेणी-तट पर इन शब्दों में श्रद्धाञ्जलि देते समय इस बात का स्पष्ट निर्देश किया था कि 'गंगा और नेहरूजी की पहचान आपस में बहुत पुरानी है। वे एक-दूसरे को ठीक-ठीक पहचानते हैं, हम नहीं।' सन्तान का कर्तव्य होता है, पिता के अधूरे कार्यों को पूरा करना। आप शोक-मुक्त हो जैसे पिताजी की उपस्थिति में देश-सेवा करती रहीं, उससे अधिक देश-सेवा में जुट जायें, जिससे अमर पिता का देश को समृद्ध करने का संकल्प साकार हो सके।'

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आपका अभिवादन किया और आप उन्हें आशीर्वाद दे वहाँ से आश्रम आ गये।

अहमदाबाद से वृन्दावन तक

दिल्ली से गुरु महाराज अहमदाबाद आये। २४ जुलाई को वहाँ धूमधाम

से गुरुपूर्णिमा-उत्सव मनाया गया। अन्य बहनों की तरह चरित्र-लेखिका भी गुरु महाराज के दर्शन-पूजनार्थ उपस्थित थी।

अहमदाबाद से गुरु महाराज बम्बई आये। सेठ बालचन्दजी के बँगले पर निवास हुआ। वहीं चातुर्मास्य हुआ। अनन्तर आप अहमदाबाद, माउण्ट आबू होते हुए दिल्ली आये। वहाँ संयुक्त सदाचार-समिति के मुख्य कार्यकर्ता, पंजाब के भूतपूर्व प्रधान विचारपति श्री भण्डारीजी मिले। आपके साथ उनका आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप हुआ।

दिल्ली से गुरु महाराज बाँके-बिहारीजी की क्रीडा-स्थली वृन्दावन पधारे। वहाँ सर्वश्री भक्तवर अर्जुनदास दासवानी, श्याम कृपलानी, गोविन्दराम, मुरली-धर सपरिवार सेवा के लक्ष्य से पहले से ही उपस्थित थे। सपरिवार सेठ बाल-चन्द (जे० बी० मंघाराम) भी आये। उनके पुत्र चि० जयकृष्णदास एवं चि० लक्ष्मणदास भी साथ थे। उनकी प्रार्थना पर आपने वृन्दावन से ग्वालियर के लिए प्रस्थान किया।

ग्वालियर, धर्मपुरी में ५ दिनों तक गुरु महाराज का सत्संग हुआ। वहाँ गोपाल-गोशाला का निरीक्षण किया गया। इस गोशाला की परम्परा यह है कि धार्मिक सज्जन अच्छी-अच्छी गायें गोशाला को दान दें, जिनके दुग्ध के द्रव्य से निर्बल गायों का पालन-पोषण हो सके। गुरु महाराज ने भी एक गाय देने की घोषणा की और गो-महिमा पर संक्षिप्त प्रवचन किया, जिससे ग्वालियर की जनता में गो-सेवा का भाव विशेष उद्बुद्ध हो उठा।

गुरु महाराज ग्वालियर से वापस वृन्दावन आ गये। दीपमालिका का उत्सव यहीं हुआ।

सत्संग-सम्मेलन में राजनयिकों के साथ

४ नवम्बर को गुरु महाराज दिल्ली आये और २३ नवम्बर तक वहीं निवास रहा। यहाँ गुरु महाराज के सान्निध्य में प्रतिवर्षानुसार वार्षिक सत्संग-सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर आपके दर्शनार्थ पुनर्वास-मन्त्री श्री मेहरचन्द खन्ना आये। गुरु महाराज के परम भक्त रायसाहब रूड़ारामजी के वे परम मित्र हैं। पाकिस्तान बनने के पूर्व पेशावर छावनी के उनके हिन्दू-भवन में गुरु महाराज सन्त-मण्डल के साथ ठहरे थे। वे पेशावर में देश एवं जाति के उत्थान-कार्य करनेवालों में अग्रणी थे। अब भी वे सदैव जन-कल्याण-कार्य में संलग्न रहते हैं। इतने अधिक श्रद्धालु हैं कि बार-बार अनुरोध करने पर भी आश्रम में सन्त-मण्डल के साथ व्यासपीठ पर नहीं बैठे। अपने मित्र रायसाहब के साथ नीचे

ही बैठे रहे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'मुझे अपने साथी मित्रों के साथ ही बैठना पसन्द है। मैं श्रद्धेय सन्तों के बराबर बैठ ही कैसे सकता हूँ ? सुनने आया हूँ, सुनाने नहीं।' गुरु महाराज के आदेश और मित्रों के अनुरोध पर उन्होंने संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक शब्दों में सन्तों के चरणों में श्रद्धा व्यक्त करते हुए जनता-जनार्दन की सेवा के सम्बन्ध में अपने हार्दिक विचार व्यक्त किये। प्रस्थान करते समय उन्होंने कहा कि 'सन्तों की कृपा हुई, तो यथासमय उपस्थित हो उनके उपदेशों से लाभ उठाता रहूँगा।'

१३ नवम्बर को सायं ६॥ बजे भूतपूर्व केन्द्रीय कृषि-मन्त्री श्री पञ्जाबराव देशमुख दर्शनार्थ आये। कमरे में गुरु महाराज के साथ आपने पहले गोवध-निरोध आदि अत्यावश्यक विषयों पर चर्चा की। फिर सभा-भवन में उपस्थित हो उन्होंने शिक्षा तथा देश की अन्य सेवाओं के सम्बन्ध में अपने अमूल्य विचार व्यक्त किये। साथ ही विदर्भ में जनता की सेवा के लक्ष्य से सञ्चालित अपनी संस्थाओं का दिग्दर्शन भी कराया।

१४ नवम्बर को सायं ६ बजे लोक-सभा के अध्यक्ष सरदार हुकुमसिंह दर्शनार्थ उपस्थित हुए। वे एक घण्टा ठहरे। सरदार साहब धार्मिक विचारों के हैं। उन्होंने गुरु महाराज से कहा : 'महाराज, मैं जब अपने विश्वासानुसार 'गुरु-वाणी' का पाठ करता हूँ, तो अलौकिक शान्ति की अनुभूति होती है। एक बार पाठ करते समय मेरे पास एक मुसलिम बन्धु खड़ा हुआ था। उसने कहा, 'सरदार साहब, समझता तो नहीं, पर पवित्र वाणी के श्रवण से मुझे भी हार्दिक आनन्द हो रहा है।'

गुरु महाराज ने कहा : 'सरदार साहब, इसमें कोई सन्देह नहीं। गीता, वेद आदि धार्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय से हार्दिक शान्ति ही नहीं, अपितु इष्टदेवता का दर्शन भी हो सकता है। योग-दर्शन के साधनपाद में स्पष्ट ही लिखा है कि 'स्वाध्यायाद् इष्टदेवता सम्प्रयोगः।'—पवित्र प्रणवादि मन्त्रों के जप तथा गीता, वेद आदि पावन धर्म-ग्रन्थों के पारायण से इष्टदेव साधक के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं।

दुर्भाग्यवश विदेशी मेकालिक की कूटनीति के फलस्वरूप पञ्जाब में हिन्दू-सिखों में पारस्परिक भेद-भावना की बीमारी बल पकड़ गयी और वह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। आप जैसे दूरदर्शी राष्ट्रिय नेताओं को उसे दूर करने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए। मैं आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास रखता हूँ कि पञ्जाब में सच्चे राष्ट्रिय नेताओं के प्रयत्न से यथापूर्व सुदृढ़ हिन्दू-सिख-

एकता स्थापित हो जायगी। पञ्जाब प्रदेश को पहले की तरह विदेशियों के आक्रमण से देश का रक्षक होने का श्रेय प्राप्त होगा।'

१८ नवम्बर को सायं ६ बजे पञ्जाब के मुख्यमन्त्री श्री रामकिशन गुरु महाराज से गंगेश्वर-धाम में मिले। वे साधु-भक्त, सनातनधर्मी एवं सच्चे राष्ट्र-प्रेमी हैं। उनके साथ धार्मिक चर्चा के अतिरिक्त पञ्जाब की प्रगति, हिन्दू-सिख-एकता, कृषि-उत्पादन आदि विषयों पर भी विचार-विनिमय हुआ।

२१ नवम्बर को सायं ७ से ८ तक आश्रम में स्वराष्ट्रमन्त्री श्री नन्दाजी गुरु महाराज से मिले। एक घण्टा तक भ्रष्टाचार-निवारण, चरित्र-निर्माण, साधु-समाज का देश की भलाई में सहयोग तथा सदाचार-समितियों के कार्य के सन्दर्भ में गंगेश्वर आध्यात्मिक-मण्डल के सन्तों का सहयोग आदि विषयों पर विमर्श एवं परामर्श हुआ।

२२ नवम्बर को राज्यमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी तथा विदेशमन्त्री सरदार स्वर्णसिंह गुरु महाराज के दर्शनार्थ आश्रम में आये। उनके साथ आध्यात्मिक साधना एवं देश की भावी रूप-रेखा पर वार्तालाप हुआ। राज्यमन्त्री ने सभा-भवन में उपस्थित हो सुन्दर धार्मिक प्रवचन भी दिया।

इसी दिन ४ से ६ बजे तक पुनर्वास-मन्त्री श्री मेहरचन्द खन्ना की प्रार्थना पर उनकी कोठी में सन्तों तथा गुरु महाराज के गीता के गूढ़ तत्त्व पर सारगर्भित प्रवचन हुए। उनके आमन्त्रण पर उपस्थित सपत्नीक प्रतिष्ठित राजकीय अधिकारी एवं अन्यान्य सद्गृहस्थ भक्तों ने सत्संग का अलभ्य लाभ उठाया।

गुरु महाराज देहली से अमृतसर होते हुए मण्डी स्टेट (हिमाचल प्रदेश) पधारे। वहाँ सनातनधर्म-सभा में आपके तथा सर्वश्री सन्त ब्रह्मदेव, अरविन्दानन्द और सर्वज्ञ मुनि के प्रवचन हुए।

मण्डी से गुरु महाराज अमृतसर, रतलाम होते हुए इन्दौर पधारे। वहाँ भक्तवर श्री शिवलाल वैद्य के हरि-निवास बँगले में ठहरे। ६ दिसम्बर को उनके चि० पुत्र रविकान्त वैद्य (शर्मा) का गुरु महाराज के सान्निध्य में उपनयन-संस्कार हुआ।

इन्दौर में ऐतिहासिक गीता-जयन्ती उत्सव

इन्दौर मनोरमागञ्ज-स्थित गीता-भवन के संस्थापक बाबा बालमुकुन्द के प्रयास से गीता-भवन में व्याख्यान-भवन तैयार हो गया था, जिसका शिलान्यास गतवर्ष गुरुदेव के हाथों हुआ था। ७ दिसम्बर से १८ दिसम्बर '६४ तक वहीं इस बार गीता-जयन्ती महोत्सव मनाया गया।

१० दिसम्बर को प्रातःकाल १० बजे प्रदेश के वित्तमन्त्री श्री शम्भुदयाल शुक्ल गीता-भवन में सन्तों के दर्शनार्थ पधारे। उनका गीता पर सारगर्भित भाषण हुआ। सायंकाल ५ बजे प्रदेश के पी० डब्ल्यू० डी० विभाग के मन्त्री श्री परमानन्द पटेल आये। उनका गीता के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रवचन हुआ।

१३ दिसम्बर को सायंकाल मध्यप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष श्री कुञ्जीलाल दूबे पधारे। उन्होंने अपने वैदुष्यपूर्ण भाषण में गीता के निष्काम कर्मयोग आदि की व्याख्या करते हुए विभिन्न शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये।

इस वर्ष यहाँ गीता-जयन्ती पर पधारे सन्तों में सर्वश्री ओंकारानन्द, अमर मुनि, शंकरानन्द, शारदानन्द सारङ्ग, कृष्णानन्द, प्रियतम मुनि, सर्वज्ञ मुनि, रमेश मुनि, चेतन मुनि, आत्मानन्द शास्त्री, पथिकजी, मनोहरदासजी, निर्मलजी, अरविन्दानन्द, प्रेमानन्दजी, वल्लभानन्द, ब्रह्मदेवजी, ईश्वर मुनि, गोविन्दानन्द आदि के नाम उल्लेख्य हैं। उपर्युक्त सन्तों के मनोरञ्जक सारगर्भित भाषणों से जनता के हृदय में गीता के स्वाध्याय की विशेष भावना जागरित हुई। लोगों का सदाचार, चरित्र-निर्माण, भ्रष्टाचार-निवारण की ओर भी मानस विशेष आकृष्ट हुआ।

श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र के साथ

१८ दिसम्बर को सायं ५॥ बजे मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री प्रसिद्ध साहित्यकार 'कृष्णायन' के निर्माता श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र गुरु महाराज के दर्शनार्थ उनके निवास-कक्ष में पधारे। उनके साथ निर्माणमन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल भी थे। गुरु महाराज के साथ देश-जाति के उत्थान के सम्बन्ध में विविध प्रकार का विचार हुआ। आध्यात्मिक साधना की भी चर्चा चली।

फिर सन्त-मण्डल के साथ सभी लोग सभा-भवन में व्यासपीठ पर पधारे। श्री निर्मलारानी पोद्दार ने सबका स्वागत किया। स्वागताध्यक्ष रामनारायण शास्त्रीजी ने कहा : 'मुख्यमन्त्री के नाते सब लोग मिश्रजी का स्वागत करते ही हैं। मैं उनका स्वागत मात्र उस नाते नहीं, अपितु राष्ट्रभाषा के महाकवि, भारतीय प्राचीन संस्कृति के अनन्य भक्त और प्रचारक की दृष्टि से भी स्वागत करने में गर्व का अनुभव करता हूँ। कृष्णस्वरूप गुरुदेव के सान्निध्य में मिश्रजी की उपस्थिति अर्जुन का स्मरण दिला रही है। जहाँ कृष्ण और अर्जुन युगल उपस्थित हो, वहाँ गीता के 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः' वचन के अनुसार निःसन्देह विजय तथा सर्व-प्रकार के वैभव स्वतः उपस्थित हो जाते हैं।

श्री शंकरानन्द आदि सन्तों के भाषण एवं श्री गंगवालजी के भजन के पश्चात् श्री मिश्रजी ने अपने भाषण में सन्तों के लिए श्रद्धा व्यक्त करते हुए

कहा : 'राष्ट्र के चरित्र-निर्माणादि में सन्त ही प्रगति कर सकते हैं। यह कार्य हमारे जैसे राजनैतिक व्यक्तियों की शक्ति के बाहर का है।' उन्होंने अपनी कृति 'कृष्णायन' के दोहे के उद्धरण द्वारा प्रमाणित किया कि 'भक्ति की महिमा अलौकिक है, जिसके कारण भक्तों के अनुरोध पर भगवान् मनुष्य बनते हैं और भक्त भगवान्। अतः कहना होगा कि भक्ति ने मनुष्य को भगवान् से उच्च बना दिया।' 'कृष्णायन' की अन्य कतिपय पंक्तियों के आधार पर आपने अपनी सनातन-धर्मनिष्ठा व्यक्त की। उनका सार यह था कि 'मैंने 'कृष्णायन' उनके लिए नहीं लिखी, जो सात समुद्र पार की संस्कृति के गुलाम बने हैं और अपनी सच्ची प्राचीन संस्कृति को भूल गये हैं।'

गुरु महाराज ने अपने आशीर्वादात्मक भाषण में श्री मिश्रजी की सनातन-धर्मनिष्ठा की सराहना करते हुए कहा : 'कृष्णायन' लिखकर उन्होंने बहुत बड़ी साहित्यिक कमी दूर की। आज तक रामायण तो लिखी गयी, पर कृष्णायन किसीने नहीं लिखी थी। यह साहित्यिक न्यूनता सदा भक्तों को अखरती रही। श्री मिश्रजी ने उसे दूर किया, अतः मैं उन्हें हार्दिक बधाई के साथ आशीर्वाद देता हूँ कि भविष्य में भी वे साहित्य-सर्जना द्वारा जनता की सेवा करते रहें और राष्ट्रभाषा-प्रचार, प्राचीन-संस्कृति-प्रसार, शासन-सुधार आदि कार्यों द्वारा प्रभु और जनता के प्रेम-पात्र बनें।'

अन्त में गुरु महाराज ने कहा : 'मिश्रजी की कृति कृष्णायन के चरित्र-नायक श्रीकृष्ण और उनकी भक्ति का वर्णन वेदों में भी स्पष्ट मिलता है। वे लोग भूल करते हैं, जो यह धारणा बनाये हुए हैं कि केवल पुराणों में ही श्रीकृष्ण-भक्ति का उपन्यास है।'

आपने आगे कहा : 'शुक्ल यजुर्वेद (१-१) में 'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात्' यह मन्त्र आता है, जिसका अर्थ है—साधकगण आप इस गोपति गोपाल श्रीकृष्ण में ध्रुव (स्थिर)-तात्पर्य बनें, श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त बन जायें। इसी तरह वहीं अन्यत्र (३४-४३) में 'विष्णुर्गोपा अदाभ्यः' कहा है, अर्थात् धर्म-स्थापना के लिए प्रथम वामन-विग्रहधारी विष्णु ही द्वापर में गोपाल बने, कंसादि कोई भी प्रबल असुर उनका अभिभव करने में समर्थ नहीं हैं। शुक्ल यजुर्वेद में अन्यत्र (२-१) में 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः' कहा है, अर्थात् कण्टकाकीर्ण कठोर व्रज-भूमि में अथवा कठोर वृक्ष में स्थित तुम ही गोपति कृष्ण हो। छान्दोग्य-उपनिषद् (३-१७) में तो 'कृष्णाय देवकीपुत्राय' कृष्ण को देवकी-पुत्र भी बतलाया है।

इतना ही नहीं, ऋग्वेद (४-७-९) में 'यदप्रवीता दधते ह गर्भम्' यह जो कहा है, वहाँ 'अप्रवीता' का अर्थ है, जो कहीं जा-आ नहीं सकती, जिसे कंस ने जेल में डाल रखा है, वह देवकी जननी कृष्ण को गर्भरूप में धारण करती है। अर्थात् देवकी के अष्टम गर्भ से श्रीकृष्ण आविर्भूत होते हैं।'

आपने आगे कहा : 'देवकी बुद्धि है, जो संकल्प-विकल्प आदि विविध क्रीड़ाएँ करती है। उसका अष्टम गर्भ है, योगसाधना का अष्टम अंग समाधि और उस समाधि में ही भगवान् कृष्ण का साधक को दर्शन होता है। इस तरह श्रीकृष्ण-चरित्र में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ आध्यात्मिक भावों की भी व्यञ्जना हुई है। इसका भी संकेत विद्वान् मिश्रजी की कृति 'कृष्णायन' में किया गया है। मैं सब साधकों से यही अनुरोध करूँगा कि आप गीता से श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त होने का उपदेश ग्रहण कर उसे अपने जीवन में उतारें। इसके लिए गीता के निम्नलिखित श्लोक विशेष द्रष्टव्य हैं : ८-१४, १४-२६, १३-१०, १२-६।

बम्बई में ८४वीं जयन्ती

इन्दौर से गुरु महाराज २० दिसम्बर को बम्बई पधारे। वहाँ सेठ वालचन्द के बँगले में ठहरे। अंग्रेजी तिथि के अनुसार गुरु महाराजजी का जन्म-दिन (जयन्ती) २७ दिसम्बर है और भारतीय तिथि के अनुसार पौष शुक्ला ७मी, तदनुसार इस वर्ष का जयन्ती-महोत्सव १० जनवरी '६५ को हो रहा है। बम्बई की भक्त-मण्डली ने जयन्ती-उत्सव की योजना बना ली है : रामचरित-मानस के अनन्त नवाह-पारायण, कीर्तन एवं विद्वान् सन्त तथा भूदेवों के प्रवचन रखे गये हैं।

●

परिशिष्ट : २

महापुरुषों की महनीयता

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण के आरम्भ में ही यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया गया है कि महापुरुषों में चमत्कारों का होना अनहोनी बात नहीं। महापुरुष और चमत्कार, दोनों का चोली-दामन का-सा नाता है। सच तो यह है कि चमत्कार जनसाधारण को महापुरुष की महनीयता तक पहुँचाने का राजमार्ग है। महापुरुषों के लिए तो वे आनुषंगिक हुआ करते हैं, कारण सारी भूतसृष्टि उनके काबू में रहती है। हाँ, जनसाधारण की शक्ति से परे की बात होने से उन्हें वे 'चमत्कार' मालूम पड़ते हैं। महापुरुष ऐसे तथाकथित चमत्कारों को प्रदर्शन के तौर पर जब-तब नहीं किया करते, प्रत्युत जिनके लिए वे होते हैं, उनका अदृष्ट और भक्तिभाव ही उन्हें इसके लिए बलात् प्रेरित किया करते हैं। इस तरह दूसरे शब्दों में महापुरुष के जीवन के ये महत्त्वपूर्ण अंग ही हैं। इसीलिए यहाँ प्रस्तुत चरित्र के साथ कतिपय चमत्कार संकलित किये जा रहे हैं।

भक्त द्वारा भगवान् की परीक्षा

यह प्रत्यक्ष गुरु महाराज के श्रीमुख से सुनी कथा है, जब भक्त ने भगवान् की परीक्षा ली! उन्होंने बताया :

"उन दिनों मैं विद्याभ्यास कर रहा था। एक दिन मन में विचार उठा कि भगवान् तो समय-समय पर अपने प्रेमी भक्तों की परीक्षा लिया ही करते हैं। क्यों न एक बार प्रभु की परीक्षा ले गीता की उनकी यह उक्ति जाँच ली जाय?

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

बात तय रही और भगवान् की परीक्षा चल पड़ी!

उन दिनों मेरे पास एक मूल गीता, दण्ड और कमण्डल ही रहता था। पहनने के लिए एक अल्फी, ढाई गज का उपवस्त्र और एक कौपीन! रुपये-पैसे से कोई वास्ता न था। इसलिए रेल की यात्रा भी बिना टिकट तीसरे दर्जे में हुआ करती। बचपन से ही प्रकृति निडर और स्वतन्त्र थी। विद्या-अर्जन के निमित्त

कभी हरिद्वार तो कभी काशी आदि स्थलों में आया-जाया करता। एकाकी और अनिकेतन!

एक दिन की बात है! मैं लखनऊ से काशी जा रहा था। यह अवसर प्रभु-परीक्षा के लिए अनुकूल प्रतीत हुआ। परिचित शहरों में तो भोजनादि की व्यवस्था अनायास हो ही जाती है। सोचा, आज ऐसे स्थान पर बीच में ही उतरा जाय, जहाँ कोई जान-पहचान न हो। फिर देखा जाय कि प्रभु किस तरह योग-क्षेम करता है!

लखनऊ और रायबरेली के बीच 'बच्छरामा' (संभवतः यह 'विश्राम' का अपभ्रंश हो) नामक छोटा-सा स्टेशन पड़ता है। वहीं उतर गया। प्रातःकाल की वेला थी। स्टेशन मामूली होने से दो-चार यात्री उस ट्रेन से उतरे और वे भी उसी समय स्टेशन के हाते से बाहर हो गये। मुझे तो कहीं जाना ही न था। अतएव प्लेटफार्म की एक ओर उपवस्त्र बिछा आसन जमा लिया। कमण्डल के जल से मुँह धोकर गीतापाठ करने लग गया।

वहाँ का स्टेशन मास्टर साधारण संस्कृत जानता था। गीता का शुद्ध उच्चारण सुन वह अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने अपना एक कर्मचारी, जो उसका सम्बन्धी भी था, मेरे पास भेजा। आकर वह विनीत भाव से कहने लगा: "स्वामीजी, स्टेशन मास्टर ने निवेदन किया है कि आप घर पर पधारकर मुझे कृतार्थ करें।" प्रथम तो मैंने वहाँ जाने से असहमति प्रकट की, किन्तु उसके अत्यधिक आग्रह पर मान गया।

स्टेशन मास्टर और उसके परिवारवालों ने भाव-भीना स्वागत किया। स्वच्छ आसन लगाकर मुझे बिठाया। स्टेशन के अन्य अनेक कर्मचारी भी दर्शनार्थ बुलाये गये थे। सबके साग्रह अनुरोध पर मैंने उन्हें कुछ सत्संग की बातें सुनायीं। सुनकर सभी अत्यन्त प्रभावित हुए और कुछ दिन ठहरकर सत्संग करने का अनुरोध करने लगे।

किन्तु मैं उनका अनुरोध पूरा करने में असमर्थ था। मैंने कहा: "मैं तो विद्याभ्यास के लिए काशी जा रहा था। दैवात् आप लोगों से समागम हो गया। आपके पास रह जाने से मेरे अध्ययन में बाधा पड़ेगी। अतः आप लोगों का अनुरोध पूर्ण करने में असमर्थ हूँ।"

सबने पूजा-सत्कार किया। स्टेशन मास्टर ने विविध व्यंजनों से भोजन कराया। कुछ विश्राम के बाद सायंकाल पुनः उन्हें श्रीकृष्ण-लीला की कुछ मनोरंजक वार्ता सुनायी। स्टेशन मास्टर ने कहा: "प्रभो, अहोभाग्य है कि आपने दर्शन दे अपने सुधा-मधुर वचनों से हमें कृतार्थ किया। इस समय तो अधिक

आग्रह नहीं करता। फिर भी जब कभी समय मिले, दर्शन दे अनुग्रह करने की अवश्य कृपा करें। बतायें, आपकी क्या सेवा की जाय ?"

मैंने कहा : "रात को काशी जानेवाली ट्रेन में बिठा दें, जिससे समय से काशी पहुँच जाऊँ।" रात्रि को उस सज्जन स्टेशन मास्टर ने मुझे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बिठा दिया और गार्ड को भी मेरी देखरेख के लिए कह दिया। दूसरे दिन मैं सानन्द काशी पहुँच गया।

मेरी परीक्षा में भगवान् ने शत प्रतिशत अंक प्राप्त किये। अपरिचित स्थान में स्टेशन मास्टर को प्रेरणा देकर उसने मेरी सारी सुचारु व्यवस्था कर दी। विद्यालय में तो सूखी रोटी और दालमात्र भोजन में मिलती। पर यहाँ तो प्रभु ने विविध व्यंजनों से आतृप्त कर दिया।

गुरु महाराज ने कहा : ऐसे एक नहीं, अनेक दृष्टान्त अनेक बार हुए हैं, जिनसे मुझे निश्चय हो गया कि भगवान् सदैव भक्तों का योगक्षेम अक्षुण्ण निभाते और अपनी मर्यादा का पूर्ण पालन करते हैं।

खाली गोदें भर गयीं !

(१)

ब्रह्म-क्षत्रिय भाई श्री फूलशंकर गुरु महाराज के अनन्य भक्त थे। उनकी बीस वर्षीय पुत्री चि० वसुमती का विवाह सन् १९२८ में श्री रामप्रसाद देसाई के साथ हुआ था। सन् १९३० में जब वह आपके पास आयी तो उसे सन्तान नहीं थी। उसने सन्तान-प्राप्ति के लिए आशीर्वादस्वरूप कोई औषधि देने की प्रार्थना की। आपके श्रीचरणों में उसकी पूर्ण निष्ठा थी। फिर भी महापुरुष प्रायः शरणागत प्रेमियों की भावनिष्ठा की प्रसंगोपात्त कसौटी बिना किये अनुग्रह नहीं करते। बिना श्रद्धा-भक्ति के महात्माओं के वरदान फलित भी नहीं होते। अतः उसकी निष्ठा के परीक्षणार्थ कुछ दिनों तक आपने अन्य वैद्यों से उसकी चिकित्सा करवायी। किन्तु फल कुछ नहीं हुआ।

सन् १९३९ में नववर्ष के बाद जब वह पुनः गुरु महाराज के पास आयी, तब भी उसकी आपके प्रति वैसी ही अविचल श्रद्धा पायी गयी। आपको उसकी वाणी में पहले जैसा ही आदर और दृढ़ निष्ठा देख प्रसन्नता हुई। फिर भी आप बारीकी से देखते रहे। प्रायः स्त्रियों का स्वभाव जितना स्निग्ध, सहज प्रेमी और सेवा-तत्पर होता है, उतना ही कुछ अंशों में संशयी भी। किन्तु उस बहन में इस प्रकार का कोई दोष किसी तरह अनुभूत नहीं हुआ।

संयोग की बात थी, भाई फूलशंकरजी की प्रार्थना पर गुरु महाराज ने

उस वर्ष चातुर्मास्य वहीं, अहमदाबाद में ही किया। भाई ने अपने पास ही आपको ठहराने की व्यवस्था की थी। आपके साथ सन्त-मण्डल भी था। इसी अवसर पर सुश्री वसुमती ने आपकी तन, मन, धन से सेवा की। वह आपके भोजन करने के बाद थाली का शेष भाग भगवत्प्रसाद रूप में नित्य ग्रहण करने के बाद ही भोजन करने लगी। कभी-कभी थाल में कुछ शेष न रहने पर उसीमें अपना भोजन परोस सन्तोष का अनुभव करती। पूर्णिमा-महोत्सव के दिन भी उसने पूर्ण भक्ति-भाव से गुरु महाराज का पूजन-अर्चन किया और भाव से उनकी आरती उतारी। सारा दिन सब प्रकार से गुरु-सेवा, सन्त-सेवा में ही बिताया।

भगवान् को क्या कमी है, जो भक्त से कुछ चाहे। वह अखिल विश्व का सर्जक, पालक पिता प्रेमरस द्वारा ही अपनी सन्तति का पोषण करता है और आज्ञाकारी, कर्तव्यनिष्ठ एवं पितृ-सेवा-तत्पर सन्तान के सभी मनोरथ बिना याचना के अनायास पूर्ण करता रहता है।

आपकी प्रसन्नता के फलस्वरूप बिना औषधि के ही एक वर्ष पश्चात् सन् १९४० में वसुमती को पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। बाद में और भी तीन पुत्र हुए, जो आपके सत्य संकल्प का सुपरिणाम हैं। आज वह प्रथम पुत्र चि० मुरारी चौबीस-वर्षीय पूर्ण स्वस्थ युवक है।

(२)

अमृतसर में कई निःसन्तान बहनें गुरु महाराज के सत्संग में आया करती थीं। प्रत्येक स्त्री में स्वभावतः व्यक्त या अव्यक्त रूप में मातृभाव रहता है। प्रायः सभी स्त्रियों को पुत्र-लालसा रहती है। बहनों की प्रार्थना पर और उनकी अन्तर्वेदना समझकर आपने श्री सर्वानन्दजी को आदेश दिया कि आप इन अभ्य-र्थिनियों को सन्तान-प्राप्ति की औषधि दें। आपके आज्ञानुसार अनेक स्त्रियों को सन्तानदा औषधि दी गयी। औषधि के प्रभाव और गुरु महाराज के अमोघ संकल्प से उनकी खाली गोदें भर गयीं।

इन्हीं बहनों में लज्जा नाम की एक ब्राह्मणी थी और उसे भी सन्तान न थी। अन्य बहनों को औषधि लेते देख उससे भी नहीं रहा गया। उसने गुरु महाराज से कहा : "क्या मैं भी औषधि लूँ? वैसे मेरे शरीर में कोई दोष नहीं है। चिकित्सा की तो आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।"

आपने कहा : "यदि सर्वथा नीरोग हो तो औषधि लेने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रभु की अनन्त सामर्थ्य और अपार कृपा पर विश्वास करो। सब मंगल ही होगा।"

उसके पति आर्यसमाजी विचारों के थे। वे सन्तों के पास आने का नाम तक न लेते। किन्तु ब्राह्मणी को सन्तों में पूर्ण विश्वास होने के कारण उसने आपके वचन आशीर्वाद रूप में ग्रहण किये।

दो वर्ष बाद जब गुरु महाराज पुनः अमृतसर पधारे तो श्री दीवानचन्द ने अपनी पत्नी लज्जा के साथ आकर आपके चरणों में अति श्रद्धाभाव से प्रणाम किया और फूल-माला पहनायी। आर्यसमाजी विचार के अनुयायी उस ब्राह्मण की मनोभावना एकाएक बदल गयी। लोग उसका यह आकस्मिक हृदय-परिवर्तन देख आश्चर्यचकित रह गये।

ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिन्हें संकलित किया जाय, तो एक बड़ी पुस्तक बन जाय।

(३)

वेदनारायण का चमत्कार : अहमदाबाद में शान्ताबहन और टीकमलाल प्रौढ़ वय के होने पर भी निःसन्तान ही थे। बहन का शरीर स्थूल था और पतिदेव थे कृशकाय। सन्तान-प्राप्ति की कोई आशा नहीं रही। दम्पती गुरु महाराज से सन्तान के लिए बार-बार प्रार्थना कर रहे थे।

इसी बीच सन् १९५२ में अहमदाबाद के वेदमन्दिर में वेद भगवान् की प्राण-प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ। उस समय देश के कोने-कोने से अधिकारी वेदपाठी विप्रगण वेद-पारायणार्थ निमन्त्रित किये गये थे। आपने अनुकूल समय देख श्री टीकमलाल दम्पती को आदेश दिया कि 'आप लोग वेदपाठियों की मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा कर उनके आशीर्वाद प्राप्त करें। ब्राह्मणों के आशीर्वाद से तथा वेदनारायण की कृपा से आपकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।'

दम्पती ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उन विप्रों की सेवा की। अपने 'कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ' बिरद को वेद भगवान् ने प्रत्यक्ष कर दिखाया। दूसरे ही वर्ष शान्ताबहन की चिररिक्त गोद पुत्ररत्न से भर गयी। असम्भव को सम्भव करनेवाले सद्गुरु की अपार महिमा विरला ही समझ सकता है।

(४)

भक्तों के पाद-रज की महिमा : अहमदाबाद में एक बहन त्रिवेणी गुरु महाराज के दर्शनार्थ आया करती है। उसका पति शम्भुदयाल हलवाई का व्यवसाय करता है। वह दम्पती भी निःसन्तान थे। उन्होंने महाराजश्री से प्रार्थना की कि "प्रभो, हम पर कृपा करें, हम निःसन्तान हैं।"

दयानिधान करुणावतार श्रीचरणों में की गयी बिनती भला कभी निष्फल जा सकती है ? आपने उससे कहा : "देख बेटा, वेदभगवान् के मन्दिर के नीचे की जो सीढ़ियाँ हैं, वहाँ अपने नाम की एक तख्ती लगवा दो, ताकि दर्शनार्थ आने-वाले भक्तों की पवित्र पद-धूलि उस पर चढ़ती रहे।" शम्भुदयाल ने पूर्ण श्रद्धाभाव से आपके आदेश का पालन किया। आपकी असीम कृपा से आज एक दशवर्षीय पुत्र उनका घर आलोकित कर रहा है।

आतुरों की रोग-निवृत्ति

(१)

गुरु महाराज की परम भक्ता कलकत्ता-निवासी पुष्पा सीकरी की वहन की दशवर्षीया पुत्री ऊषा बीमार थी। भोजन हजम नहीं हो रहा था। वमन होता रहता था।

पुष्पावहन को आपकी सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास था। अतः वह अपनी वहन हरवंशो और ऊषा को लेकर आपके चरणों में दिल्ली उपस्थित हुई। उसने आपसे अत्यन्त नम्र शब्दों में निवेदन किया कि "इस बालिका पर कृपा की जाय। यह बहुत बीमार है।"

अपने स्वभावानुसार आपने दिल्ली के प्रसिद्ध वैद्य श्री रामदास शास्त्री को बुलवाया और बालिका की चिकित्सा करने को कहा। किन्तु वैद्यजी की बहुत-सी औषधियाँ सेवन करने पर भी रोग में कोई अन्तर नहीं पड़ा। पश्चात् श्री मोती-रामजी हकीम की चिकित्सा आरम्भ हुई। उससे भी कुछ लाभ प्रतीत न हुआ। सभी विशेष चिन्तित हो उठे।

आगे होलिकोत्सव पर सभी गुरु महाराज के साथ वृन्दावन आये। वृन्दावन में आपके प्रेमी वैष्णव सन्त श्री प्यारेमोहन वैद्य को बालिका के चिकित्सार्थ बुलाया गया। वैद्यजी ने निदान कर औषधि भी दीं। किन्तु पुष्पावहन ने उसे देने नहीं दिया। उसका तो यही विश्वास था कि ऊषा विना गुरु-कृपा के स्वस्थ न हो सकेगी।

हुआ भी ऐसा ही ! कुछ ही दिनों बाद आपकी शक्ति और उसकी सम्पूर्ण श्रद्धा ने ऊषा के शरीर में विना किसी औषधि के अकल्पित परिवर्तन कर दिया। कुछ ही दिनों में उसका सारा रोग जाता रहा और वह पूर्ण स्वस्थ हो गयी। देखकर सब प्रसन्न और निश्चिन्त हो गये। काल के मुख में प्रविष्ट-सी उस लड़की को पुष्पावहन की प्रबल गुरु-भक्ति ने पुनर्जीवन दे दिया। उन्होंने आपको अब तक यह बात नहीं बतायी थी कि वैद्यजी की औषधि तो सेवन ही नहीं की गयी।

(२)

गुरु महाराज के दिल्ली के भक्तों में राज वधवा एक सुशिक्षित बहन है। उसके पतिदेव श्री सत्येन्द्र वधवा एयरोड्रम के ग्राउण्ड इञ्जीनियर हैं। उनके बड़े पुत्र चि० राकेश के गले का छिद्र जन्मजात अत्यन्त सूक्ष्म था, जिससे वह आहार भी बड़े कष्ट से ले पाता था। दिल्ली के बड़े-बड़े डॉक्टरों का कथन था कि बिना शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) के उसके गले का सुधार संभव नहीं।

छोटे-से कोमल बालक पर इतनी बड़ी शस्त्रक्रिया का विचारमात्र ही माता के हृदय को विक्षिप्त कर देता था। दिल्ली पधारने पर गुरु महाराज को राज-बहन ने अपनी यह व्यथा सुनायी।

आपने कहा : "बेटी, घबराओ नहीं, प्रभु-कृपा से बच्चा ठीक हो जायगा।"

मानो सिद्ध-आशीर्वाद की ही देर थी कि बालक कुछ ही दिनों में अकस्मात् अच्छा हो गया और सहज रूप से सर्वसाधारण की तरह खाने-पीने लगा। आज वह पूर्ण स्वस्थ जीवन बिता रहा है। ●

परिशिष्ट : ३

द्वादश ज्योतिर्लिंगों का परिचय

चरित्र में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की चर्चा आयी है। भावुकों को सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि ये द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग कौन-कौन-से हैं और कहाँ-कहाँ हैं? अतः यहाँ उनकी संक्षिप्त जानकारी संकलित की जा रही है।

स्तोत्र-रत्नावली में लिखा है :

'सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम्॥
परल्यां वैद्यनाथं च डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
सेतुबन्धे तु रामेशं नागेशं दारुकावने॥
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे।
हिमालये तु केदारं घुश्मेशं च शिवालये॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रातः पठेन्नरः।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥"

अर्थात् सौराष्ट्र प्रदेश (काठियावाड़) में (१) सोमनाथ, श्रीशैल पर्वत पर (२) मल्लिकार्जुन, उज्जयिनी (उज्जैन) में (३) महाकाल, नर्मदा-तट पर (४) ॐकार या अमलेश्वर, परली में (५) वैद्यनाथ, डाकिनी नामक स्थान में (६) भीमशंकर, सेतुबन्ध रामेश्वरम् में (७) रामेश्वर, दारुकावन में (८) नागेश्वर, वाराणसी (काशी) में (९) विश्वेश्वर या विश्वनाथ, गौतमी (गोदावरी) के तट पर (१०) त्र्यम्बकेश्वर, हिमालय के केदारखण्ड के (११) केदारनाथ और शिवालय में (१२) घुश्मेश्वर, ये बारह ज्योतिर्लिङ्ग हैं। जो मनुष्य इनका प्रातः-सायं नाम-स्मरण करता है, उसके सप्तजन्मों के किये सभी पाप स्मरणमात्र से नष्ट हो जाते हैं।

इन १२ ज्योतिर्लिङ्गों में श्री सोमनाथ काठियावाड़ के अन्तर्गत प्रभास क्षेत्र में विराजमान हैं। मुहम्मद गोरी ने इस मन्दिर का उद्ध्वंस किया था। किन्तु स्वतन्त्र भारत की सरकार ने पुनः इसका जीर्णोद्धार किया है।

श्रीशैल पर्वत मद्रास के कृष्णा जिले में कृष्णा नदी के तट पर है, उसे 'दक्षिण का कैलाश' कहते हैं।

श्री महाकालेश्वर उज्जयिनी नगरी में विराजमान हैं। उज्जयिनी या उज्जैन को ही 'अवन्तिकापुरी' भी कहते हैं। यह संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य की राजधानी और महाकवि कालिदास की प्रिय नगरी कही जाती है।

ॐकारेश्वर का स्थान मालवा प्रान्त में नर्मदा नदी के तट पर है। उज्जैन से खण्डवा जानेवाली रेलवे लाइन पर 'मोरटक्का' नामक स्टेशन है। वहाँ से यह स्थान ७ मील दूरी पर है। यहाँ ॐकारेश्वर और अमलेश्वर दो पृथक्-पृथक् लिङ्ग हैं। किन्तु हैं, एक ही ज्योतिर्लिङ्ग के दो स्वरूप।

निजाम राज्य के हैदराबाद नगर से पहले 'परभनी' नामक एक जंकशन पड़ता है। वहाँ से परली तक एक ब्राञ्च लाइन गयी है। इस 'परली' स्टेशन से थोड़ी दूर पर परली ग्राम के निकट श्री वैद्यनाथ का ज्योतिर्लिङ्ग है।

'शिवपुराण' में 'वैद्यनाथं चिताभूमौ' कहा है। तदनुसार संथाल परगना (विहार) में 'जसीडीह' रेलवे-स्टेशन के पासवाला वैद्यनाथ शिवलिङ्ग ही वास्तव में ज्योतिर्लिङ्ग वैद्यनाथ सिद्ध होता है। कारण यही चिता-भूमि मानी गयी है।

भीमशंकर का स्थान बम्बई से पूर्व और पूना से उत्तर भीमा नदी के किनारे सह्य पर्वत पर है। यह स्थान नासिक से बस-मार्ग से लगभग १२० मील दूर पड़ता है। सह्य पर्वत के एक शिखर का नाम 'डाकिनी' है। इससे अनुमान होता है कि कभी यहाँ डाकिनी और भूतों का निवास होगा।

शिवपुराण की एक कथा के आधार पर भीमशंकर ज्योतिर्लिङ्ग आसाम के कामरूप जिले में गौहाटी के पास ब्रह्मपुर पहाड़ी पर स्थित बतलाया जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि नैनीताल (उत्तर प्रदेश) जिले के 'उज्जनक' नामक स्थान में एक विशाल शिवमन्दिर है, वही भीमशंकर का स्थान है।

रामेश्वर तीर्थ सुप्रसिद्ध है। यह मद्रास प्रदेश के रामनद जिले में रामनद के राजा की जमींदारी में पड़ता है।

नागेश्वर का स्थान बड़ौदा राज्य के अन्तर्गत गोमती द्वारका से ईशान कोण में १२-१३ मील की दूरी पर है।

कोई-कोई निजाम हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत 'ओढा' ग्राम में स्थित शिवलिङ्ग को ही नागेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग मानते हैं।

कुछ लोगों के मत से अल्मोड़ा (उत्तर प्रदेश) जिले के अल्मोड़ा नगर से १७ मील उत्तर-पूर्व में स्थित यागेश (जागेश्वर) शिवलिङ्ग ही नागेश ज्योतिर्लिङ्ग है।

काशी के श्री विश्वनाथजी तो सुप्रसिद्ध ही हैं।

त्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग महाराष्ट्र (बम्बई) प्रान्त के नासिक जिले में नासिक पञ्चवटी से (जहाँ शूर्पनखा की नाक काटी गयी थी) १८ मील की दूरी पर ब्रह्मगिरि के निकट गोदावरी के किनारे है।

श्री केदारनाथ ज्योतिर्लिङ्ग हिमालय के केदार नामक शृङ्ग पर स्थित हैं। शिखर के पूर्व की ओर अलकनन्दा के तट पर श्री बदरीनाथ अवस्थित हैं और पश्चिम में मन्दाकिनी के किनारे श्री केदारनाथ। यह स्थान हरिद्वार से १५० मील और ऋषीकेश से १३२ मील दूर है।

श्री घुश्मेश्वर को घुसृणेश्वर या घृष्णेश्वर भी कहते हैं। इनका स्थान निजाम राज्य के अन्तर्गत दौलताबाद स्टेशन से १२ मील दूर 'बेरूल' गाँव के पास है।

परिशिष्ट : ५

यज्ञोपवीत-रहस्य

चरित्र में अनेक स्थानों पर यज्ञोपवीत की चर्चा आयी है। गुरु महाराज के लोक-संग्रह का यह एक प्रमुख अंग रहा है। जहाँ भी कहीं आप अपने अनुगृहीत त्रैवर्णिकों के निकट पधारते हैं, उन्हें द्विज का यह परम और प्रथम संस्कार साग्रह करने का आदेश दिया करते हैं तथा अपने या अपने प्रतिनिधि की उपस्थिति में इसे सम्पन्न करवाते आ रहे हैं। यह कार्य श्रौतमार्ग-प्रतिष्ठापन के आचार्य के अनुरूप ही है। वे जानते हैं कि यह यज्ञोपवीत-संस्कार ही द्विज को वैदिक ज्ञान और वैदिक धर्म के प्रसार का अधिकार देता है। सावित्री-विहीन द्विज को वेदमार्ग में प्रवेश का अधिकार ही नहीं। इस संस्कार से उसका पुनर्जन्म होता है, इसीलिए 'द्विज' उसे कहा जाता है। वह उसका द्वितीय जन्म है, जैसा कि शास्त्रकार कहते हैं :

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।'

ऐसे महत्त्वपूर्ण संस्कार के विषय में चरित्र में तत्तत् प्रसंग में कुछ-कुछ विवेचन अवश्य हुआ है। फिर भी यहाँ पृथक् रूप में यज्ञोपवीत का शास्त्रीय रहस्य स्पष्ट करने से इस विषय में लोगों की प्रवृत्ति में और अतिशय आ सकता है। यही सोचकर यहाँ संक्षेप में यज्ञोपवीत का यह रहस्य स्पष्ट किया जा रहा है।,

श्रुति भगवती कहती है : 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम् शरदि वैश्यम्।' अर्थात् अष्ट वस्तुओं के साथ दैवराज्य में ब्राह्मण वर्ण का मेल होने से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, रुद्रप्रकृति के साथ क्षत्रिय-प्रकृति का मेल होने से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का, पोषणशक्तिसम्पन्न सविता के साथ वैश्य-प्रकृति का मेल होने से बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन-संस्कार किया जाय। यह तो एक सामान्य विधि हुई। इसके अतिरिक्त विशेष विधि भी यज्ञोपवीत के काल के सम्बन्ध में पायी जाती है। यथा :

'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥'

अर्थात् ब्रह्मतेज-प्राप्ति की इच्छा रहने पर ब्राह्मण का यज्ञोपवीत पाँचवें वर्ष किया जाय। विशेष बल की इच्छा रहने पर क्षत्रिय का छठे वर्ष और विशेष धन की इच्छा रहते वैश्य का अष्टम वर्ष में उपनयन करना चाहिए।

दोनों विधियों में जो वयोमर्यादा बतायी गयी है, वह जन्म या गर्भ दोनों से

यथावसर, यथाशक्ति ग्राह्य है। जितने शीघ्र त्रैवर्णिक संस्कृत हो जाय, उतना ही अच्छा रहता है। उसके भावी जीवन पर उसका सुप्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विशेष परिस्थिति में इस नियत समय में यह संस्कार न हो सकने पर उसकी कालमर्यादा शास्त्रकारों ने और बढ़ा दी है तथा ब्राह्मण के लिए अधिक-से-अधिक १६ वर्ष, क्षत्रिय का २२ और वैश्य का २४ वर्ष तक उपनयन-काल मान लिया है। इस बीच इनका यह संस्कार हो ही जाना चाहिए। नहीं तो फिर वह सावित्री-पतित हो जाता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'व्रात्य' कहा जाता है, जो आर्यधर्म में एक 'गाली'-सी है। बात भी ठीक है, जीवन का प्रथम चरण, जड़ ही असंस्कृत स्थिति में डक जाय, तो फिर उस जीवन से कौन-सी बड़ी आशा, और वह भी वैदिकधर्मानुयायिनी, की जा सकती है ?

महाराज मनु ने स्पष्ट ही कह दिया है कि जिसका यज्ञोपवीत हो जाय, वही व्रती बन सकता है और ऐसा व्रती ही विधिपूर्वक क्रमशः ब्रह्म-वेद और परब्रह्म परमात्मा का ग्रहण करने का अधिकारी बनता है :

'कृतोपनयनस्यास्य व्रतावेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥'

इस तरह यज्ञोपवीत की कालमर्यादा का संक्षिप्त विचार करने के बाद यज्ञोपवीत के स्वरूप का भी थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। शास्त्रों में कहा गया है :

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥'

(ब्रह्मोपनिषद्)

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥
यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।
उपवीतं ततोऽस्येदं तस्माद् यज्ञोपवीतकम् ॥'

उपनिषदों एवं स्मृतियों में कहा है कि त्रैवर्णिक को सदैव उपवीत रहना चाहिए और सदैव उसकी शिखा या चोटी बँधी रहे। जो बिना यज्ञोपवीत के और बिना शिखा बाँधे कोई काम करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। कर्मकाण्डियों ने परमात्मा को यज्ञरूप माना है। यह सूत्रात्मक यज्ञोपवीत उसी यज्ञपुरुष को साथ में रखने का प्रतीक है। इसीलिए इसे 'यज्ञोपवीत' नाम दिया गया है।

इसके निर्माण की भी बड़ी विधि है। उस प्रकार बनाया गया यज्ञोपवीत ही सच्चे अर्थ में यज्ञोपवीत है। बताया गया है कि सुहागन स्त्री या किसी कन्या के हाथ का कता सूत दाहिने हाथ की अँगुलियों पर खूब सटाकर, उनके मूल में ९६ बार लपेटा जाय, तो उसे 'चौवा' कहते हैं। फिर उसीसे तीन लटें बनायी जाती हैं और ब्रह्मगाँठ या रुद्रगाँठ देकर पूरा किया जाता है। फिर उसे अभिमन्त्रित कर पहना जाता है। इन सभी अवान्तर कार्यों की अलग-अलग विधियाँ हैं और उन-उन विधियों से बना ही यज्ञोपवीत सच्चे अर्थ में 'यज्ञोपवीत' कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में और भी अधिक विधियाँ प्रचलित थीं। यज्ञोपवीत के काम आनेवाला सूत जिस कपास से बनाया जाता था, वह कपास भी विधिपूर्वक मन्त्र द्वारा क्षेत्र में प्रोक्षण कर बोया जाता था और प्रोक्षण करके ही लाया जाता था। धागा भी मन्त्रोच्चारणपूर्वक बनाया जाता। फिर उसे सवा लाख गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित किया जाता था। तब कहीं ब्राह्मण उसे धारण करता था। आज-कल भी जब साधारण मन्त्रों से अभिमन्त्रित साधारण सूत का धागा गले या पैर में बाँधने पर तिजारी ज्वर आदि कितने ही रोग स्पष्ट दूर होते देखे जाते हैं, तब इस प्रकार आदि से अन्त तक विधि और मन्त्र से पूत और अभिमन्त्रित यह यज्ञोपवीत मानव का कितना अभीष्ट सिद्ध कर सकता है, यह सहज ही समझ सकने की बात है।

शास्त्रों ने तो यज्ञोपवीत के दृश्यमान ९ तन्तुओं में ९ देवताओं का निवास ही मान लिया है और कहा है कि इसे ब्रह्मदेव ने बनाया, विष्णु भगवान् ने त्रिगुण (त्रिगुणित) किया, रुद्र भगवान् ने गाँठ दी और सावित्री या गायत्री ने अभिमन्त्रित किया है। यज्ञोपवीत के ९ तागों में क्रमशः निम्नलिखित ९ देवता बसते हैं: १. ॐकार, २. अग्नि, ३. नाग, ४. सोम, ५. पितृदेवता, ६. प्रजापति, ७. मारुत या वायु, ८. सूर्य और ९. शेष सभी देवता (विश्वेदेवाः)। यथा:

'ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव त्वष्टमे सूर्य एव च।
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः॥
ब्रह्मणोत्पादितं पूर्वं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्।
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम्॥'

ये ९ तन्तु क्रमशः १. गुण ब्रह्मज्ञान, २. गुण तेज, ३. गुण धैर्य, ४. गुण सर्व-

प्रियता, ५. गुण स्नेहशीलता, ६. गुण प्रजापालन, ७. गुण बलशीलता, ८. गुण प्रकाश (ज्ञान) और ९. गुण सात्त्विकता के प्रतीक हैं, ऐसा भी शास्त्रों में बताया गया है।

वस्तुत: 'यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रम्' इस वचन के अनुसार यज्ञोपवीत ब्रह्मसूत्र है। बायें कंधे से दक्षिण बाहु की ओर लम्बायमान धारण करने पर वह 'यज्ञो-पवीत' कहलाता है। दक्षिण स्कन्ध से वाम बाहु की ओर धारण करने पर 'प्राचीनावीत' एवं मालासदृश धारण करने पर 'संवीत' कहलाता है।

पीछे यज्ञोपवीत के सूत को ९६ बार लपेटने या ९६ चौवे करने की जो बात कही गयी है, उसके पीछे बड़े-बड़े भाव हैं, जो ९६ संख्या को लेकर कहे जाते हैं। इनमें ३-४ भाव यहाँ बताये जा रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जायगा कि यज्ञोपवीत का कितना महत्त्व है।

पहला भाव : चारों वेदों की १ लाख श्रुतियाँ हैं। ४००० ज्ञानकाण्ड की श्रुतियों के अतिरिक्त ८०००० कर्मकाण्ड की तथा १६००० उपासनाकाण्ड की श्रुतियों को भी यज्ञोपवीत में स्थान देना है। इसीलिए उनके प्रतीकरूप में ये ९६ चौवे हैं।

दूसरा भाव : मानव-शरीर ८४ अंगुल का होता है और ९६ अंगुल का देवमान है। सो यज्ञोपवीत को देवमान में रखा गया है। ९६ चौवे रखने का हेतु यज्ञोपवीत में देवत्व स्थापन करना है, जिससे उसे धारण करनेवाले को दैवबल प्राप्त हो।

तीसरा भाव : गायत्री के २४ अक्षरों को ४ वेदों से गुणने पर ९६ होते हैं। इसीके प्रतीक रूप में ९६ का चौवा है। यथा :

'चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरा।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत् ॥'

चौथा भाव : १५ तिथियाँ, ७ वार, २७ नक्षत्र, २५ तत्त्व, ४ वेद, ३ गुण, ३ काल और १२ मास—इन सबका योग करने पर ९६ होता है। अतः इन सबका अन्तर्भाव करने के लिए यज्ञोपवीत में ९६ चौवे होते हैं :

'तिथिवारं च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम् ॥'

पीछे बताया ही जा चुका है कि इन ९६ चौवों का नौ तार और फिर तिलड़ा किया जाता है। ये नौ तार बनाने का प्रमाण सामवेदीय छान्दोग्य-सूत्र परिशिष्ट में मिलता है। यथा :

'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् ।'

तिलड़ा बनाने में भी अनेक भाव हैं, जिनमें से ५-६ भाव यहाँ दिये जा रहे हैं :

१. ब्रह्म अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीन तत्त्व उत्पन्न कर जीवरूप से इनमें प्रवेश कर गया, ऐसा उपनिषदों में आता है। उसीकी स्मृति के लिए यज्ञोपवीत को तिलड़ा किया जाता है।

२. मानव जन्म लेने के साथ तीन ऋणों से ऋणी होता है। वे तीन ऋण हैं : ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण। ब्रह्मचर्य का पालन कर वह ऋषि-ऋण से मुक्ति पाता है, यज्ञ-याग करके देव-ऋण से छूटता है और प्रजा उत्पन्न कर पितृ-ऋण से उऋण होता है। इसी बात के सूचनार्थ यज्ञोपवीत तिलड़ा किया जाता है। जन्मजात मनुष्य के इस प्रकार ऋणी होने आदि में यह श्रुति-वचन प्रमाण है :

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् भवति,
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति।'

३. कर्म, ज्ञान और उपासना की प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञारूप यज्ञोपवीत की ये तीन लड़ियाँ हैं।

४. जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जीव की रक्षा करने के प्रतीक रूप ये तीन लड़ियाँ हैं।

५. यज्ञोपवीतधारी को काय, वाक् और मन तीनों का दमन करना चाहिए। इसीका यह प्रतीक है।

६. यज्ञोपवीतधारी में तीन पुष्टियाँ बनी रहें, इसके लिए ये तीन लड़ियाँ हैं। अर्थात् प्रभु उसे खूब दूध-घी दें; अन्न-वस्त्र और पुरुषों की विपुलता हो तथा पशु-समृद्धि सदैव स्थिर रहे। इसीके प्रतीक रूप में तीन लड़ियाँ हैं।

इस प्रकार जितनी गहराई में उतरिये, यज्ञोपवीत के एक-एक अंग की मार्मिकता और रहस्यमयता स्पष्ट होती जायगी। इसलिए हर त्रैवर्णिक का कर्तव्य है कि यज्ञोपवीत को विधिवत् धारण करे।

पाक्षिक 'सिद्धान्त' (वाराणसी) में प्रकाशित एक आख्यायिका इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है, जो निम्नलिखित है :

एक समय की बात है, देव और असुरों ने स्वर्ग पर आधिपत्य पाने के उद्देश्य से यज्ञ आरम्भ किये। सुरों ने 'प्रसृत' यज्ञोपवीत आदि से संयुक्त होकर यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक जीत लिया। यज्ञोपवीत-रहित यज्ञ से असुरों का पराभव हुआ। प्रसृत एवं अप्रसृत यज्ञ का स्वरूप श्रुति स्वयं कहती है :

'प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽप्रसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च
ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजते एव तत् ।'

चौवे की ९६ संख्या के सम्बन्ध में एक विद्वान् का समाधान है कि 'बालक का ५वें वर्ष में यज्ञोपवीत इसलिए उपयुक्त है कि ४ वर्ष आयु व्यतीत हो जाने से अब उसकी आयु ९६ वर्ष ही शेष रहती है। अतः ९६ चौवे का यज्ञोपवीत होना चाहिए।' परन्तु यह ठीक नहीं। शास्त्रों में अधिक आयुवालों का भी उपनयन लिखा है :

'अरोगा सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ।।'

(मनु० १।८३)

श्री महादेव शर्मवनी का एक लेख 'सिद्धान्त' वर्ष ४ अंक १८–२० में छपा था, जिसमें लिखा है कि ८०००० व्यवहार-काण्ड पौरुषेय होने से केवल ब्राह्मण-भाग में सभी का अधिकार है। इससे वैकल्पिक विधि से आर्य शूद्रों का भी यज्ञो-पवीत हो जाता है। तथा ४००० वैश्य कर्मविशेष-बोधक अपौरुषेय मन्त्र हैं। अतः वैश्य के लिए सूत्र ८४ वार अँगुलियों के मूल पोरों से लपेटना चाहिए। क्षत्रियों के कर्मविशेष के बोधक अपौरुषेय वेद ८००० हैं। अतः क्षत्रियों के लिए सूत्र ९२ चौवा अँगुलियों के मध्य पोरों से लपेटना चाहिए। ब्राह्मण के कर्मविशेष-बोधक मन्त्र ४००० हैं, अतः ब्राह्मण के लिए ९६ चौवा अँगुलियों के अगले पोरों से लपेटना चाहिए।

पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि लेखक ने वेदमन्त्रों के इस वर्गीकरण में किसी प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है। ८० हजार व्यवहारकाण्ड पौरुषेय होने से केवल ब्राह्मणभाग में सभी का अधिकार है, ऐसा मानकर लेखक ने ब्राह्मणभाग के वेदत्व पर ही आघात किया है। पौरुषेय मानने पर वेद का नित्यत्व-सिद्धान्त भी व्याहत हो जायगा। ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत ही अधिकतर उपनिषदें आती हैं, वे भी अप्रमाणित सिद्ध होने लगेंगी।

फिर, लेखक ने यज्ञोपवीत-निर्माण-विधि दो प्रकार की मानी है : १. साधारण और २. विशेष। साधारण का प्रमाण ९६ चौवा और विशेष का परिमाण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के भेद से क्रमशः ९६, ९२, ८४ एवं ८० चौवे का उल्लेख किया है। साधारण एवं विशेष से लेखक का क्या अभिप्राय है, स्पष्ट नहीं हो पाता। क्षत्रिय के लिए उपनयन-संस्कार ११वें वर्ष में करने का अधिकार है, किन्तु बलार्थी क्षत्रिय को ६ठे वर्ष में ही विधान है। इनमें प्रथम साधारण विधि और द्वितीय विशेष विधि कही जा सकती है, यह सब कल्पना निराधार है।

इसी 'सिद्धान्त' पत्र में एक अन्य लेख में यज्ञोपवीत के ९६ चौवों, चतुरंगुल वेष्टन, तीन लड़ों आदि की उपपत्ति में बड़ा सुन्दर वर्णन है, अतः पाठकों की जानकारी के लिए साभार उसे यहाँ दिया जा रहा है :

अखिल लोक-भुवन एवं योनियाँ ९६ तत्त्वों से निर्मित हैं और यज्ञोपवीत के ९६ चौवे उसीके प्रतीक हैं। वराहोपनिषद् में इनकी गणना इस प्रकार की गयी है : कर्मेन्द्रिय ५, ज्ञानेन्द्रिय ५, प्राण ५, अन्तःकरण ४, तन्मात्राएँ ५, पचीसवाँ तत्त्व कालरूप परमात्मा पुरुष या माया १, पञ्चीकृत पञ्च महाभूत ५, देह ३, अवस्थाएँ ३, अस्ति-जन्मादि भाव ६, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु-रूप छह ऊर्मियाँ ६, त्वक्, रक्त, मांस, मेद, मज्जा तथा अस्थिरूप छह कोश ६, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सररूप छह अरि ६, जीव ३, गुण ३, कर्म ३, वचन, आसन, गमन, विसर्ग और आनन्दरूप पञ्च कार्य ५, संकल्प, अध्य-वसाय, अभिमान और अवधारणरूप चतुर्विध विचार ४, मुदिता, करुणा, मैत्री और उपेक्षारूप चार भाव ४, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अधिपति, दिक्, वायु, अर्क, प्रचेता, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वररूप चतुर्दश देवता १४।

ये ९६ तत्त्व कारणरूप से 'अव्यक्त' नामक प्रकृति और तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य 'ईश्वर' में रहते हैं। यज्ञोपवीत का अखण्डित एक ही सूत्र ब्रह्मस्थानीय है। शरीर में ब्रह्म के चार पादों को प्रदर्शित करने के लिए उसके प्रतीकस्वरूप यज्ञोपवीत में चतुरंगुल का विधान रखा गया है और ९६ बार सूत्र को वेष्टित कर बताया गया है कि इन ९६ तत्त्वों से यह शरीर निर्मित है। जिस प्रकार चतुष्पाद ब्रह्म ९६ तत्त्वों से आवेष्टित है, उसी प्रकार चतुरंगुलों में ९६ बार सूत्र वेष्टित कर स्थूल रूप में उसी प्रक्रिया का प्रदर्शन किया गया है।

इस विषय में निम्नलिखित श्रुति प्रमाण है : 'चतुरङ्गुलावेष्टितमिव षण्ण-वतितत्त्वानि। तन्तुवद् विभज्य....' इत्यादि।

चतुरङ्गुल माप का कारण यह है कि यह शरीर ९६ अंगुल परिमाण का होता है, जैसा कि वराहोपनिषद् में कहा है :

'शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्।'

तीन लड़ों का यज्ञोपवीत इसलिए हृदय पर धारण किया जाता है कि सम्पूर्ण देव हृदय में स्थित हैं, हृदय में प्राण प्रतिष्ठित है और ज्योति भी स्थित है। त्रिवृत्सूत्र का यही भाव है :

'हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः ।
हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं ततो विदुः ॥'

(ब्रह्मोप०)

इन तीनों देवताओं के प्रतीक यज्ञोपवीत की तीन लड़ें हैं ।

किन्तु जैसे तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर तत्त्वों के विवेक से ज्ञानी का कोई स्वार्थ नहीं रहता, वैसे ही परमार्थ दर्शन होने पर यज्ञोपवीत का भी कोई कार्य नहीं रह जाता । अतएव संन्यासाश्रम में यज्ञोपवीत का स्थान नहीं है ।

अंगुलि के अग्रादिभाग से ब्राह्मणादि के लिए जो माप कहा गया है, उसमें भी निम्नलिखित प्रमाण हैं :

'अङ्गुल्यग्रे तु विप्राणां मध्यदेशे तु भूभुजाम् ।
मूलदेशे तु वैश्यानां कुर्यात् सूत्रस्य वेष्टनम् ॥'

इस प्रकार विभिन्न अंगुलिस्थानों के माप से यज्ञोपवीत कटिपर्यन्त होंगे । इसीके अनुसार ब्राह्मणादि उत्पत्ति मुखादि से कही गयी है । सबके इन स्थानों के मापने पर ९६ अंगुल यज्ञोपवीत होता है । देवकर्म में यह वाम और पितृकर्म में दक्षिण स्कन्ध पर धारण किया जाता है ।

इस प्रकार यज्ञोपवीत के दो पक्ष हैं । व्यावहारिक पक्ष में समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों के सिद्धचर्थ इसका प्रयोग है । परमार्थ पक्ष में परब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयोग है ।

परिशिष्ट : ५

मा त्रा शा स्त्र

संस्कृत-हिन्दी व्याख्यासहित

जगद्‌गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्य महाराज का मात्राशास्त्र उदासीन साम्प्रदायिकों का वेद है, यह पिछले प्रकरणों से स्पष्ट है। ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण में स्वतन्त्र रूप से इस शास्त्र की विस्तृत समीक्षा की जा चुकी है। फिर भी सर्वसाधारण के ज्ञान के लिए, और साधकों को साधना के लिए पूरा मात्राशास्त्र संस्कृत-हिन्दी अनुवादसहित देना उचित समझा गया। अतः श्री स्वामी रामस्वरूपजी की भावप्रसादिनी संस्कृत व्याख्या एवं श्री स्वामी योगेन्द्रानन्दजी की विमला हिन्दी व्याख्या के साथ पूरा मात्राशास्त्र यहाँ संकलित किया जा रहा है।

मूल मात्राशास्त्र

कहु रे बाल ! किसने मूँडा किसने मुँडाया।
किसका भेजा नगरी आया ॥ १ ॥
सद्‌गुरु मूँडा लेख मुँडाया।
गुरु का भेजा नगरी आया ॥ २ ॥
चेतहु नगरी तारहु गाँव।
अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव ॥ ३ ॥
गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगम का पन्थ बताया ॥ ४ ॥
ज्ञान की गोदड़ी खिमा की टोपी।
यत का आड़बन्द शील लँगोटी ॥ ५ ॥
अकाल खिन्था निराश झोली।
युक्ति का टोप गुरुमुखी बोली ॥ ६ ॥
धर्म का चोला सत्य की सेली।
मर्यादा मेखला लै गले मेली ॥ ७ ॥

ध्यान का बटुआ नृत्त का सूइदान ।
ब्रह्म अञ्चला लै पहिरै सुजान ॥ ८ ॥
बहुरंगी मोरछड़ निर्लेप विष्टी ।
निर्भंव जंगडोरा ना को द्विष्टी ॥ ९ ॥
जाप जंगोटा सिफत उड़ानी ।
सिंगी शब्द अनाहत गुरुवाणी ॥ १० ॥
शर्म की मुद्रा शिव विभूता ।
हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता ॥ ११ ॥
सन्तोष सूत विवेक धागे ।
अनेक टल्ली तहाँ लागे ॥ १२ ॥
सुरति की सुई लै सद्गुरु सीवै ।
जो राखै सो निर्भउ थीवै ॥ १३ ॥
स्याह सफेद जरद सुरखाई ।
जो लै पहिरै सो गुरुभाई ॥ १४ ॥
त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई ।
दुःख सुख धूनो देहि जलाई ॥ १५ ॥
संयम कपाली शोभा धारी ।
चरण कमल में सुरति हमारी ॥ १६ ॥
भाव भोजन अमृत कर पाया ।
भला बुरा मन नहीं बसाया ॥ १७ ॥
पात्र विचार फरुआ बहुगुणा ।
करमण्डल तुम्बा किश्ती घणा ॥ १८ ॥
अमृत प्याला उदक मन दिया ।
जो पीवे सो सीतल भया ॥ १९ ॥
इडा में आवे पिङ्गला में धावे ।
सुषमन के घर सहज समावे ॥ २० ॥
न्हिराश मठ निरन्तर ध्यान ।
निर्भौ नगरी दीपक गुरुज्ञान ॥ २१ ॥

स्थिर ऋद्धि अमरपद दण्डा।
धीरज फहुड़ी तप कर खण्डा ॥ २२ ॥
वश कर आसा समदृष्टि चउगान।
हर्षशोक नहिं मन में आन ॥ २३ ॥
सहज विरागी करे वैराग।
माया मोहनी सकल त्याग ॥ २४ ॥
नाम की पाखर पवन का घोड़ा।
निःकर्म जीन तत्त्वकर जोड़ा ॥ २५ ॥
निर्गुण ढाल गुरुशब्द कमान।
अकल संजोह प्रीति के बाण ॥ २६ ॥
अकल की बरछी गुणों की कटारी।
मन को मारि करौ असवारी ॥ २७ ॥
विषम गढ तोड़ निर्भौ घर आया।
नौबत शङ्ख नगारा बाया ॥ २८ ॥
गुरु अविनाशी सूषम वेद।
निर्वाण विद्या अपार भेद ॥ २९ ॥
अखण्ड जनेऊ निर्मल धोती।
सोहं जाप सच माल पिरोती ॥ ३० ॥
सिखा गुरुमन्त्र गायत्री हरिनाम।
निश्चल आसन कर विश्राम ॥ ३१ ॥
तिलक सँपूर्ण तर्पण यश।
पूजा प्रेम भोग महारस ॥ ३२ ॥
निर्वैर सन्ध्या दर्शन छापा।
वाद विवाद मिटाओ आपा ॥ ३३ ॥
प्रीति पिताम्बर मन मृगछाला।
चीत चितम्बर रुण झुण माला ॥ ३४ ॥
बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन।
खौंस खड़ावाँ इह मति लीन ॥ ३५ ॥

तोड़ा चूड़ा और जँजीर।
लै पहिरै साधु उदासी धीर ॥ ३६ ॥
जटा जूट मुकुट सिर होइ।
मुक्ता फिरे बन्ध नहि कोइ ॥ ३७ ॥
नानकपूता श्रीचन्द बोले।
जुगत पछाणे तत्त्व विरोले ॥ ३८ ॥
ऐसी मात्रा लै पहिरे कोय।
आवागमन मिटावे सोय ॥ ३९ ॥

॥ इति श्री श्रीचन्द्राचार्यकृतं मात्राशास्त्रम् ॥

सटीक मात्राशास्त्र

भावप्रसादिनी

यद्रूपरूपणेऽनीशा वाक्केशशेषकेशवाः ।
सन्त ईशा यदात्मानस्तस्मै ब्रह्मण ओन्नमः ॥ १ ॥

विमला

सहस्रधारके यस्मिन् ऋषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

जिस परमेश्वर के स्वरूप का निरूपण करने में सरस्वती, ब्रह्मा, शंकर, शेषनाग तथा भगवान् विष्णु असमर्थ रहे; केवल परमेश्वर के स्वरूपभूत महात्मा सक्षम हो सके, उस परमेश्वर को नमस्कार है ॥ १ ॥

विघ्नग्रासासुरत्रास-जगद्भासस्मरासुष ।
पञ्चास्याध्यासतद्ब्रह्म शक्तिपञ्चकमाश्रये ॥ २ ॥

गणेश, विष्णु, सूर्य, शंकर और सिंहारूढ़ा भगवती—ब्रह्म की इन पाँच शक्तियों की शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

अप्पयांसीव हंसो यो विमिश्रिते ऋतानृते ।
विविच्य बोधयामास नंनम्यः सादिमो गुरुः ॥ ३ ॥

जिसने नीर-क्षीर के समान मिश्रित सत्य और मिथ्या को पृथक् कर दिखाया, वह आद्याचार्य भगवान् हंसावतार सतत नमस्करणीय हैं ॥ ३ ॥

तल्लब्धौदास्यमार्गे य आजीवनं स्थितः स्वयम् ।
अन्यांश्च स्थापयामास वैधात्रं तं मुनिं नुमः ॥ ४ ॥

उस हंसावतार द्वारा प्रवर्तित उदासीन-सम्प्रदाय में स्वयं आजीवन रहकर जिनने औरों को भी इस पुनीत मार्ग में दीक्षित किया, उन महामुनि, ब्रह्मा के मानसपुत्र, श्री सनत्कुमार को हम सब नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

श्रौतवंशे समुद्भूताः श्रौतवंशेन दीक्षिताः ।
श्रौतसिद्धान्तविस्ताराः पान्तु श्रौतमुनीश्वराः ॥ ५ ॥

वेदिवंश में अवतीर्ण, श्रौतमुनि आचार्य अविनाशी द्वारा दीक्षित, वैदिक सिद्धान्त के प्रसारक, भगवान् श्रीचन्द्राचार्य हम सबकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

हंससनत्कुमाराद्यां श्रीचन्द्रगुरुमध्यमाम् ।
अस्मद्देशिकपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥ ६ ॥

जिस गुरु-परम्परा के आरम्भ में हंसावतार और सनत्कुमार, मध्य में श्री श्रीचन्द्राचार्य और अन्त में हमारे गुरुवर विराजमान हैं; उस गुरु-परम्परा की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६ ॥

कविकुलस्य कान्तो नो नाचार्यो वेददर्शने ।
साङ्ख्ये योगे च वेदान्ते न तीर्थो न च शास्त्र्यहम् ॥ ७ ॥
पदवाक्यप्रमाणानामुपाधिः कोऽपि नो मयि ।
अहमल्पश्रुतिर्जीवो गौरवी गीर्बहुश्रुतिः ॥ ८ ॥
इयन्माना मतिर्मेऽस्ति व्याख्यानानुपयोगिनी ।
प्लवेन बालभावेन तितीर्षुरस्मि सागरम् ॥ ९ ॥

मैं न कवि-कान्त हूँ, न वेद-दर्शनाचार्य, न सांख्य, योग और वेदान्त का तीर्थ हूँ और न किसी विषय का शास्त्री अर्थात् व्याकरण, मीमांसा और न्याय आदि की कोई पदवी मेरे पास नहीं है। मैं बहुत कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति हूँ। किन्तु जगद्गुरु भगवान् श्रीचन्द्राचार्य की वाणी श्रुतियों का भण्डार है। इस प्रकार की मेरी तुच्छ बुद्धि श्रीचन्द्र-मात्रा की व्याख्या करने की क्षमता नहीं रखती। फिर भी बालकपन की छोटी नैया के सहारे महासागर को पार करना चाहता हूँ ॥ ७—९ ॥

यथामति गृणन्तो हि न वाच्या इति नीतितः ।
अनुगृह्णन्तु सन्तोऽतोऽसन्तः कामं हसन्तु हि ॥ १० ॥

यथाशक्ति कहनेवाले दोषी नहीं ठहराये जाते, अतः सन्तगण मुझ पर अनुग्रह बनाये रखें, भले ही दुर्जन मेरी हँसी उड़ाते रहें ॥ १० ॥

यन्मात्रागुरुनुन्नोऽहं मात्राव्याख्यान उद्यतः ।
उपालम्भोऽपि तस्यातः सर्वं यत्तत्पदार्पितम् ॥ ११ ॥

जिस मात्रा-शास्त्र के उपदेष्टा गुरु की प्रेरणा से मैं मात्रा के व्याख्यान में प्रवृत्त हुआ हूँ, उपालम्भ भी उसीको देना चाहिए; मैं तो सब कुछ उसके चरणों में अर्पित कर चुका हूँ ॥ ११ ॥

समीयुरेकदाऽसङ्ख्या भिन्नभिन्नमतानुगाः ।
ते सर्वे स्थापयामासुः स्वैरं स्वं स्वं मतं मुदा ॥ १२ ॥

किसी समय विभिन्न सम्प्रदाय के अनुयायी अनेक महात्मा एकत्र हुए, उन्होंने पृथक्-पृथक् अपने मत प्रस्तुत किये ॥ १२ ॥

ब्रह्मनिष्ठो गुरुः पृष्टः श्रीचन्द्रः प्रास्य तन्मतम् ।
वक्तुं प्रचक्रमे पूर्वं स्वं मतं देवभाषया ॥ १३ ॥
केषाञ्चिदनुरोधेन भव्यभारतभाषया ।
परमुपादिशत्तत्त्वं शास्त्रं मात्राभिधानकम् ॥ १४ ॥

जब श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य भगवान् श्रीचन्द्राचार्य से पूछा गया, तब आचार्य ने पहले सभी मतों का निराकरण कर अपना सिद्धान्त संस्कृत भाषा में कहना आरम्भ किया। किन्तु कुछ व्यक्तियों के अनुरोध करने पर जनसाधारण की भाषा हिन्दी में उपदेश किया। वही उपदेश मात्रा-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ १३-१४ ॥

उदासिनामिदं प्रेयः प्रत्यहं यदधीयते ।
एतत्स्वाध्यायहीनो यः सोदासीनो मतो नहि ॥ १५ ॥

उदासीन मुनियों को यह मात्रा अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वे नित्य इसका जप-पारायण किया करते हैं। इसके स्वाध्याय से वञ्चित व्यक्ति को उदासीन नहीं माना जाता ॥ १५ ॥

मात्राशब्दः क्विबन्तो ना मायाः संत्रायतेऽर्थतः ।
सुपि योगविभागेन कः प्रत्ययोऽपि सम्मतः ॥ १६ ॥
स्त्रीत्वे टापि च शब्देऽस्मिन्नर्थोऽपि न विभिद्यते ।
अर्थान्तरं भवेद्व्यञ्ज्यमित्यपि वार्यते न हि ॥ १७ ॥

'मात्रा' शब्द की सिद्धि इस प्रकार है—'त्रैङ् पालने' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर दीर्घाकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'त्रा' बना। 'मायाः + त्रा = मात्रा' अर्थात् माया से रक्षा करनेवाला बोध। अथवा 'त्रैङ्' धातु से 'सुपि च' योग-विभाग करके 'क' प्रत्यय किया गया। तदनन्तर 'टाप्' करके स्त्रीलिङ्ग 'त्रा' शब्द निष्पन्न होता है। इस पक्ष में भी अर्थ वही रहा—माया से रक्षा करनेवाली विद्या। 'मात्रा' शब्द अन्यान्य अर्थों का व्यञ्जक है, इसका भी निवारण नहीं किया जाता ॥ १६-१७ ॥

मात्रातनूतनूत्वेऽनुयोगानां सुगमत्वतः ।
गुरुणा करुणार्द्रेणासूत्रि सूत्तरमत्र वै ॥ १८ ॥

मात्रा-शास्त्र का कलेवर छोटा रखने के लिए करुणार्णव आचार्य ने केवल उत्तर ही इसमें रखे। विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि वे अत्यन्त सुगम हैं ॥ १८ ॥

सङ्गतिरत्र सर्वत्र सूत्राणां न निभाल्यताम् ।
वैविध्यमनुयोक्तॄणां हेतुमात्रवगच्छत ॥ १६ ॥

इस शास्त्र के सूत्रों में सर्वत्र पूर्वापर की संगति नहीं खोजनी चाहिए, क्योंकि प्रश्नकर्ता अनेक थे, जब जिसका प्रश्न हुआ, तब उसका उत्तर दिया गया। विविध-विषयक उत्तरों का यही कारण है ॥ १६ ॥

नैकजन्मार्जिताहंर्न्तीं समालोच्याधिकारितः ।
कन्थादिविविधं प्रोक्तं पुनरुक्तिरतो न हि ॥ २० ॥

'ज्ञान की गोदड़ी', 'अकाल खिन्था' आदि स्थलों पर पुनरुक्ति दोष नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि अधिकारियों की अनेकजन्मार्जित पुण्य-प्रसूत योग्यताओं के अनुसार विविध कन्था आदि का उपदेश किया गया है ॥ २० ॥

परिदधतु कन्थादीन् यथारुचि न वार्यते ।
तेषां तु मुक्त्यहेतुत्वं गुरुणाऽत्र विबोध्यते ॥ २१ ॥
तत्त्वमस्यादिबोधादि तत्स्थानेषूपदिश्यते ।
भवव्याधेर्निवृत्तिः स्यान्नूनमात्यन्तिकी यतः ॥ २२ ॥

'ज्ञान की गोदड़ी' कह देने से कपड़े की गोदड़ी के धारण का निषेध अभिप्रेत नहीं, क्योंकि आचार्य केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि गोदड़ी आदि बाह्य चिह्न मुक्ति के हेतु नहीं। हाँ, उनके स्थान पर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का उपदेश इसलिए किया गया है कि उन वाक्यों से जन्य बोध द्वारा ही संसार-रोग की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है ॥ २१-२२ ॥

परोक्तं तु विहायात्र स्वकीयार्थपदं समम् ।
श्रौतं शास्त्रीयमुद्दिष्टं सुगमं निर्विभक्तिकम् ॥ २३ ॥
निगमागमयोरास्था तज्ज्ञताऽतश्च दर्शिता ।
अनुकुर्युरुदासीना इदमादिश्यते स्फुटम् ॥ २४ ॥

विभिन्न प्राश्निकों द्वारा बोले गये अरबी, फारसी के शब्दों को छोड़कर आचार्य ने शुद्ध शास्त्रीय विभक्ति-रहित संस्कृत पद ही प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार वेद-शास्त्रों की अपनी निष्ठा और अभिज्ञता प्रदर्शित कर उदासीन विद्वानों को यह स्पष्ट आदेश दिया है कि वे भी वैसा ही करें ॥ २३-२४ ॥

जन्मना श्रौतवंशोऽहं नानकपूतसूक्तितः ।
गुर्वविनाशिशब्देन श्रौतो मुनिश्च दीक्षया ॥ २५ ॥

"निगमागम का पन्थ चलाया" इति वाक्यतः ।
अस्म्यहं श्रौतसिद्धान्त इयमुद्घोषणा गुरोः ॥ २६ ॥

जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्य ने 'नानकपूता' कहकर अपने को जन्मना वेदिवंशी, 'गुरु अविनाशी' कहकर दीक्षा द्वारा श्रौतमुनि और 'निगमागम का पन्थ वताया' इस वाक्य से श्रौतसिद्धान्तावलम्वी उद्घोषित किया है ॥ २५-२६ ॥

प्रयुक्ता गुरुणा सार्ध्वा कलामात्राचतुष्पदी ।
चिरात्पाठार्थसौकर्ये की लै केत्यादि वर्धितम् ॥ २७ ॥
अतस्तन्निरासाय यदि यत्नो विधीयते ।
परिवृत्तिर्गुरोः पाठे भवेत्स्यां वाच्यतास्पदम् ॥ २८ ॥

आचार्य ने इस मात्राशास्त्र में हिन्दी के 'चौपाई' छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु पाठ को सुकरता एवं अर्थ की सुगमता के लिए कहीं-कहीं 'की', 'लै', 'का' आदि शब्द अधिक जोड़ दिये हैं । अतः यदि उन अधिक पदों को हटाने का यत्न किया जाय, तो आचार्य के मन्त्र-पाठ में परिवर्तन होगा एवं सम्प्रदाय के आक्षेपों की भरमार होगी ॥ २७-२८ ॥

शब्दाल्पतार्थबाहुल्य - विरोधासत्त्व-सूत्रताः ।
सच्छ्रुतिसम्मतोऽर्थश्च मात्रायां निखिला गुणाः ॥ २९ ॥

इस मात्राशास्त्र में शब्दों की अल्पता, अर्थ की वहुलता, विरोधाभाव, सूत्र-रूपता तथा वेदसम्मत अर्थ के प्रतिपादन की क्षमता आदि निखिल गुण विद्य-मान हैं ॥ २९ ॥

अस्ति विद्वन्नयेऽनल्पं मात्रोपनिषदन्तरम् ।
पदपदार्थसङ्घर्षं आद्या पराऽतिशायिनी ॥ ३० ॥
मायात्राणे यथेष्टं स्यान्मुक्तिः स्वमतसम्मता ।
उपनिषदुपस्थाप्या त्वेकैवोपनिषण्णता ॥ ३१ ॥

विद्वानों की दृष्टि में 'मात्रा' और 'उपनिषत्' शब्दों में वहुत अन्तर है । 'उपनिषत्' शब्द पद-पदार्थों के घोर संघर्ष में फँसा है, किन्तु 'मात्रा' शब्द उस संघर्ष से परे है । 'मात्रा' शब्द माया से संरक्षण करनेवाली ब्रह्मविद्या को कहता है, जिससे स्वमत-सम्मत मुक्ति सिद्ध होती है । किन्तु 'उपनिषत्' शब्द तो केवल गुरु के समीप में उपस्थिति मात्र का बोधक है ॥ ३०-३१ ॥

कहु रे बाल ! किसने मूँडा किसने मुँडाया ।
किसका भेजा नगरी आया ॥ १ ॥

कथय बाल रे केन मुण्डितः केन बोधितः ।
केन प्रेषित आयास्त्वं नगरीं पावनाद् वनात् ॥ ३२ ॥

कह रे बालक ! तू किसका मूँडा है—किससे ज्ञान प्राप्त किया और किसका भेजा पावन वन से नगरी में आया है ? ॥ ३२ ॥

सद्गुरु मूँडा लेख मुँडाया ।
गुरु का भेजा नगरी आया ॥ २ ॥
चेतहु नगरी तारहु गाँव ।
अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव ॥ ३ ॥

अवज्ञातोऽपि बालादिशब्दैर्मत्वा स्ववार्धकम् ।
प्रत्युवाच प्रसन्नः श्रीश्रीचन्द्रो मात्रया गिरा ॥ ३३ ॥
भावना प्राग्भवोत्थाऽथ यदहर्विरजेद्विधिः ।
मताऽत्र लेखशब्दस्य तन्त्रेणार्थद्वयी गुरोः ॥ ३४ ॥
तन्नुन्नमुपसन्नं मां यथाविधि स्वमुण्डितम् ।
सद्गुरुरुपदिश्येदं नगरीं प्रैषयत्ततः ॥ ३५ ॥
नगरीग्रामवास्तव्याँश्चेतय वत्स ! तारय ।
स्मर स्मारय चालक्ष-पूरुषनाम सन्ततम् ॥ ३६ ॥
बोध्यतेऽनेन कर्तव्यमुदासिनां शुभावहम् ।
भोजनाच्छादनादीनां चिन्ता स्यान्न कदाचन ॥ ३७ ॥

प्रश्न करनेवाले सिद्ध महात्माओं ने अपने को बड़ा-बूढ़ा मानकर 'रे बाल !' आदि अपमानार्थक शब्दों द्वारा आचार्य का निरादर-सा किया था । किन्तु भगवान् श्रीचन्द्र ने प्रसन्न मुद्रा में ही उत्तर दिया ॥ ३३ ॥

'लेख मुँडाया' यहाँ पर 'लेख' शब्द से पूर्वजन्मार्जित संस्कार (अदृष्ट) तथा "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—यह विधिवाक्य दोनों ही अर्थ तन्त्र-युक्त्या विवक्षित हैं । एक ही शब्द से अनेक अर्थों की विवक्षा का नाम 'तन्त्र-युक्ति' है । उन दोनों की प्रेरणा से मैं गुरुवर की शरण पहुँचा । अपनी शरण आया देख सद्गुरु ने मुझे यथाविधि दीक्षा दी और यह उपदेश देकर भेज दिया कि 'हे वत्स ! नगर एवं ग्राम के निवासियों को ज्ञान-ज्योति प्रदान कर घोर अन्ध महासागर से पार करो एवं स्वयं निरन्तर अलख पुरुष का नाम जपते-

जपाते रहो।' इस प्रकार के उपदेश से आचार्य ने उदासीन मुनियों का परम कर्तव्य सूचित कर दिया है कि अपने भोजन-आच्छादन की भी चिन्ता छोड़कर जनकल्याण-साधन में सतत संलग्न रहना चाहिए ॥ ३४–३७ ॥

गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगम का पन्थ बताया ॥ ४ ॥

क्रीडामात्रं जगच्चक्रेऽविनाशी मे गुरुस्तथा।
श्रौतमुपादिशन्मार्गं पुराणं लब्धुमीश्वरम् ॥ ३८ ॥
छन्दोभङ्गभयान्नूनमागमे ह्रस्वता कृता।
मान्योऽयं निगमान्न्यून इत्यपि बोध्यते नया ॥ ३९ ॥
पूर्वप्रयोगशङ्कायां उत्तरं तदनित्यता।
क्लेशोऽधिकस्तु सन्धौ स्यात् तद्वीत्यनवबोधिनाम् ॥ ४० ॥
अविनाशिगुरुः शब्द आवृत्त्याऽर्थद्वयानुगः।
एकः सर्वगुरुस्त्वादिरन्योऽनन्तरदेशिकः ॥ ४१ ॥

मेरे गुरुवर अविनाशी मुनि ने जगत् का खेल रचाया और परमेश्वर की प्राप्ति का वेदसम्मत मार्ग दिखाया। 'अगम निगम का पन्थ बताया' यहाँ पर शुद्ध 'आगम' शब्द के स्थान पर 'अगम' शब्द इसलिए रखा गया है कि छन्दोभङ्ग न हो। निगम (वेद) से आगम (लौकिक शास्त्र) की कक्षा छोटी है—यह भाव व्यक्त करने के लिए भी आचार्य ने आगम शब्द के आकार को ह्रस्व कर अगम पढ़ा है। यहाँ 'अगम निगम' के स्थान पर 'निगमागम' लिखना चाहिए था, क्योंकि आगम की अपेक्षा निगम पूजिततर होने के कारण प्रथम प्रयोक्तव्य है। इस आक्षेप का समाधान 'पूर्व-प्रयोग विधान की अनित्यता' है। दूसरी बात यह है कि 'निगमागम' लिखने पर दोनों शब्दों के मध्य की सन्धि तोड़ने में उन लोगों के लिए महान् क्लेश उपस्थित हो जाता, जो सन्धि-विच्छेद-प्रणाली से अनभिज्ञ हैं। अतः आचार्य ने 'अगम निगम' ही लिखा ॥ ३८–४० ॥

'गुरु अविनाशी' इस वाक्य की आवृत्ति करके दो अर्थ निकलते हैं : प्रथम अर्थ सर्वगुरु परमेश्वर है और द्वितीय अर्थ आचार्य के गुरुवर अविनाशी मुनि ॥ ४१ ॥

ज्ञान की गोदड़ी ॥ ५ ॥

भेदविद्वेषविध्वंसि ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम्।
ज्ञानानां वा वरं ज्ञानं कन्था जाड्यापनोदनी ॥ ४२ ॥

भेदात्मक द्वेष का नाशक (अखण्ड) ब्रह्म अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है अथवा

सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ (अहं ब्रह्मास्मि) ज्ञान जीव की जड़ता (अज्ञानरूपी शैत्य) को मिटानेवाली गोदड़ी है ॥ ४२ ॥

खिमा की टोपी ॥ ६ ॥

यत का आड़बन्द ॥ ७ ॥

शीतोष्णाऽमानमानादि द्वन्द्वक्षमा तु टोपिका ।
यतं क्रान्तं यमैर्भावे तदर्थो नियमा यमाः ।
कटीबन्धः स शास्त्रीयः करणाश्वनियामकः ॥ ४३ ॥

शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों का सहन करना ही टोपी है । 'यत' शब्द 'यम उपरमे' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । उसका अर्थ होता है, यम और नियम । इन्द्रियरूपी घोड़ों के नियामक यम तथा नियम ही हमारा कटिबन्ध (आड़बन्द) है ॥ ४३ ॥

शील लँगोटी ॥ ८ ॥

ब्रह्मण्यता तथा देवपितृभक्तिश्च सौम्यता ।
परोपतापिताऽसूयाशून्यता मृदुता तथा ॥ ४४ ॥
अपारुष्यं च मैत्री च प्रियोक्तिश्च कृतज्ञता ।
शरण्यताऽथ कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति विश्रुतम् ॥ ४५ ॥
त्रयोदशविधं शीलं हारीतमुनिनोदितम् ।
मनूक्तं धर्ममूलं तत् कौपीनं चित्तशान्तिदम् ॥ ४६ ॥

हारीत मुनि ने हारीत-स्मृति में जो तेरह प्रकार का शील कहा है—ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्ति, सौम्यता, दूसरों को दुःख न देना, ईर्ष्या न करना, मृदुता, कठोरता-निवृत्ति, मैत्री, प्रिय बोलना, कृतज्ञता, शरणागत की रक्षा, करुणा, शान्ति, उन्हींको महर्षि मनु ने धर्म का मूल बताया है । वे ही हमारी कौपीन हैं ॥ ४४–४६ ॥

अकाल खिन्था ॥ ९ ॥

कालस्य काल इत्युक्तो यं माता कोऽपि न क्वचित् ।
भूतो भावी भवन्नास्त्यात्माऽस्तीति धीस्तु कन्थिका ॥ ४७ ॥

काल का भी जो काल कहा जाता है, जिसका माप (नाप) करनेवाला विश्व में कोई भी नहीं; जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों से परे आत्मा है—यही बुद्धि हमारी कन्था है ॥ ४७ ॥

निराश झोली ॥ १० ॥

युक्ति का टोप ॥ ११ ॥

एषणारहितं चेतो भिक्षावस्त्रं सुनिर्मलम् ।
युक्तिर्योगः स्वरूपे स्वे शीर्षण्यं मतमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा, इन तीनों प्रकार की कामनाओं से शून्य मन ही निर्मल झोली है। युक्ति शब्द का अर्थ होता है, योग। उसे ही हम उत्तम शिर पर रखनेवाला टोप मानते हैं ॥ ४८ ॥

गुरुमुखी बोली ॥ १२ ॥

करणापाटव - भ्रान्ति - वञ्चनादोषहानतः ।
वाणी सर्वगुरोर्वाणी गुरुमुखविनिस्सृता ॥ ४९ ॥
शास्त्रेतिहासमर्यादानभिज्ञैर्बुधमानिभिः ।
गुरुमुखीगिराऽत्राऽन्यदीया भाषाऽवबुद्ध्यते ॥ ५० ॥
अन्तरं पण्डितम्मन्यैरज्ञात्वा लिपिभाषयोः ।
वत्स ! लिप्यर्थशब्देन मुधा वाणी विशिष्यते ॥ ५१ ॥
लिपिविशेषसंज्ञा चेद् गुरुमुखा भवेन्ननु ।
नखमुखान्न संज्ञायां ङ्यभावो नावहेल्यताम् ॥ ५२ ॥

इन्द्रियों की अपटुता, भ्रम, वञ्चकता आदि दोषों से रहित होने के कारण सवगुरु परमेश्वर के मुख से निकली वेद-वाणी ही हमारी बोली है ॥ ४९ ॥

शास्त्र तथा इतिहास-कथित मर्यादाओं से अनभिज्ञ, अपने-आपको बड़ा पण्डित माननेवाले कुछ व्यक्तियों ने यहाँ 'गुरुमुखी' शब्द से पञ्जाबी भाषा समझ रखी है। महान् खेद है कि उन पण्डितम्मन्यों ने लिपि और भाषा का अन्तर न समझकर एक लिपि के वाचक 'गुरुमुखी' शब्द को व्यर्थ में पञ्जाबी भाषा का बोधक मान लिया है। यदि लिपिविशेष की संज्ञा 'गुरुमुखी' शब्द माना जाय, तब 'गुरुमुखी' शब्द न बनकर निःसन्देह 'गुरुमुखा' रूप बनेगा; क्योंकि "नख-मुखान्न संज्ञायाम्" इस पाणिनीय सूत्र से 'ङीप्' का निषेध हो जाता है ॥ ५०–५२ ॥

धर्म का चोला ॥ १३ ॥

सत्य की सेली ॥ १४ ॥

श्रुत्युक्तः साम्यवादो मे मान्यो धर्मोऽस्ति चोलकः ।
कर्मणा मनसा वाचा सत्यं सुन्दरसेलिका ॥ ५३ ॥

वेद-विहित साम्यवादरूप धर्म हमारा चोला है। कर्म से; मन से तथा वाणी से सत्य व्यवहार हमारी सुन्दर सेली है ॥ ५३ ॥

मर्यादा मेखला लै गले मेली ॥ १५ ॥

भ्रूणस्य ब्रह्मणो हत्या परतल्पेषु सङ्गतिः ।
मृषोद्यं पातकं कृत्वा दुष्कर्माणि पुनः पुनः ॥ ५४ ॥
पानं स्तेयं च पापानि सप्त तेषां निवृत्तयः ।
ऋङ्निरुक्तोक्तमर्यादा मेखला मेखिता गले ॥ ५५ ॥

गर्भ गिराना, ब्राह्मण की हत्या करना, पराई स्त्री के साथ सोना, पाप करके झूठ बोलना, वार-वार कुकर्म करना, मद्य-पान, चोरी, ये सात पाप होते हैं। उनकी निवृत्तियाँ भी सात होती हैं । ये ही सात निवृत्तियाँ ऋग्वेद-वर्णित और निरुक्त-कथित सात मर्यादाएँ हैं । उन सात मर्यादाओं की मेखला बनाकर गले में पहनी है ॥ ५४–५५ ॥

ध्यान का वटुआ ॥ १६ ॥

वृत्त्यन्तरं तु हित्वा यत् सततमात्मचिन्तनम् ।
सुस्यूतं बटुकं तन्मे सूचिधानादिधारणम् ॥ ५६ ॥

अनात्म-चिन्तन छोड़कर जो निरन्तर आत्म-चिन्तन है, वही हमारा सूईदान आदि सामग्री रखने का सुन्दर वटुआ है ॥ ५६ ॥

नृत्त का सूइदान ॥ १७ ॥

मदेन धनजात्यादेर्नृत्तं हित्वा भवार्तिदम् ।
ईशमदेन नृत्तं तु सूचिधानमभीष्टदम् ॥ ५७ ॥
लोपे 'कगच'-सूत्रेण हिन्दाविव च दे कृते ।
शब्दस्य सूचिधानस्य सूइदानं प्रसिद्ध्यति ॥ ५८ ॥

धन, जाति आदि मदों से जन्य संसार-रोग-उत्तेजक नाच को छोड़कर कृष्ण-प्रेम में विभोर होकर नाच उठना ही हमारा अभीष्ट फल-दाता सूईदान है। "कगचजतदपयवां प्रायो लोपः" इस सूत्र से सूचि पद के चकार का लोप हो गया। 'सिन्धु' शब्द के 'ध' को 'द' करके 'हिन्दु' शब्द के समान 'सूचिधान' शब्द के 'ध' को 'द' कर देने पर संस्कृत के सूचिधान शब्द का भाषा में 'सूइदान' रूप बन गया ॥ ५७–५८ ॥

ब्रह्म अञ्चला लै पहिरै सुजान ॥ १८ ॥

बृहत्त्वान्निखिलाधारो मेशस्तद्विश्वबोधिनी ।
साङ्गोपाङ्गश्रुतिश्चेति ब्रह्मशब्देन बोध्यते ॥ ५९ ॥

परिदधीत सुज्ञानो ब्रह्मद्वयं सदञ्चलम् ।
परितो धारणं प्राहुस्तदाज्ञापरिपालनम् ॥ ६० ॥

बृहत् होने के कारण प्रपञ्च-सहित माया का आधार परमेश्वर तथा साङ्गोपाङ्ग विश्व-प्रतिपादिका श्रुति दोनों यहाँ 'ब्रह्म' शब्द के वाच्य हैं । उक्त दोनों ब्रह्मपदार्थों का अँचला ज्ञानी धारण करे । उक्त द्विविध ब्रह्म की आज्ञा मानना ही 'धारण करना' कहा जाता है ॥ ५९-६० ॥

बहुरंगी मोरछड़ निर्लेप विष्टी ॥ १९ ॥

मायाभिः पुरुरूपो यो बहुवारं श्रुतीरितः ।
इन्द्रो निर्लेपविष्टिः स मयूरच्छद आश्रितः ॥ ६१ ॥

अपनी माया की विविध शक्तियों का सहारा लेकर अनन्त रूपों में जिसका प्रकट होना श्रुतियों ने बार-बार कहा है, वही जल-कमल की भाँति निर्लिप्त होकर ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा हमारा चँवर है ॥ ६१ ॥

निर्भव जंगडोरा ना को द्विष्टी ॥ २० ॥

स्वपरभेदशून्यत्वाच्छत्रुविरहताऽभया ।
स्थितिर्या हि स मे मान्यो जङ्गडोरः सनातनः ॥ ६२ ॥

अपने-पराये का भेद समाप्त हो जाने के कारण जिस अवस्था में शत्रुभाव बिलकुल नहीं रहता, वह निर्भय स्थिति ही हमारा जंगडोरा है ॥ ६२ ॥

जाप जंगोटा ॥ २१ ॥

यः कालेनानवच्छिन्नः पूर्वेषां गुरुरीरितः ।
मानं यस्यास्ति सार्वज्ञ्यं निरतिशयमुत्तमम् ॥ ६३ ॥
तद्वाचकोम्पदस्यालं जपो यः सार्थभावनः ।
जङ्घोटा स तु विज्ञेयः ओमर्थभावभावनः ॥ ६४ ॥
जागो घञि यजेरादेर्योजः प्राकृत उच्यते ।
जङ्घोटा मेऽस्त्वनुष्ठानं यागस्य स्वस्तिवर्त्मनः ॥ ६५ ॥

जो कालिक परिच्छेद से रहित, हिरण्यगर्भ आदि का भी गुरु कहा गया है, निरतिशय सर्वज्ञता जिसका साधक है, उस ईश्वर के वाचक 'ओम्' पद का अर्थ-ध्यानपूर्वक जप ही जङ्घोटा है। 'जाप जंघोटा' का पाठान्तर 'जाग जंघोटा' भी पाया जाता है । इस पक्ष में 'जाग' का अर्थ याग होता है, क्योंकि प्राकृत भाषा में 'यजि' धातु से 'घञ्' परे होने पर "आदेर्योजः" सूत्र से आरम्भ के यकार को

जकार होकर 'जाग' रूप सिद्ध होता है। अर्थात् कल्याणप्रद याग का अनुष्ठान करना ही हमारा जंघोटा है ॥ ६३–६५ ॥

सिफत उडानी ॥ २२ ॥

स्फीतं ब्रह्मेति निश्चित्य तद्रूपेणास्य संस्तुतिः ।
मनसो वृत्तिरेषा हि शक्तिरुड्डयनी शुभा ॥ ६६ ॥

ब्रह्म सर्वव्यापक है, ऐसा निश्चय करके उसी रूप से उसकी स्तुति करना ही उड्डयिनी (आकाश में उड़ानेवाली) योग-शक्ति है ॥ ६६ ॥

सिंगी शब्द अनाहत गुरुवाणी ॥ २३ ॥

सत्यसंकल्पसत्यस्य वाणीमनाहतां गुरोः ।
श्रुतिपरम्परायातां श्रृङ्गीशब्दं विभावय ॥ ६७ ॥

सत्यसङ्कल्प ईश्वर की श्रुतिरूप वाणी को ही सिंगी का शब्द समझो ॥ ६७ ॥

शर्म की मुद्रा ॥ २४ ॥

शिव विभूता ॥ २५ ॥

कर्णमुद्राऽऽत्मरूपाप्तेः शर्म सुत्सुखमावहा ।
मत्वाऽत्र यावनं शब्दं शर्मार्थोऽसाम्प्रतं त्रपा ॥ ६८ ॥
गुरुणा हि स्वशब्देषु देववाणी समीरिता ।
शिवसङ्कल्पमित्युक्तो विभूती राजते शुभा ॥ ६९ ॥

आत्मस्वरूप का साक्षात्काररूप सुख ही सुखप्रद कर्ण-मुद्रा है। यहाँ पर 'शर्म' शब्द को फारसी का लज्जार्थक 'शर्म' शब्द मानना उचित नहीं, क्योंकि आचार्य ने अपने प्रयोगों में संस्कृत के ही शब्द रखे हैं। मन का शान्त संकल्प होना ही विभूति है ॥ ६८-६९ ॥

हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता ॥ २६ ॥

गुरूपदेशपूतो ना हरिभक्तिमृगाजिनम् ।
धारयेद्विश्वविख्यातं भक्तिप्रियो हि माधवः ॥ ७० ॥

गुरु के उपदेश से पवित्र होकर नर भगवद्भक्तिरूप मृगछाला धारण करे, क्योंकि भगवान् को भक्ति अत्यन्त प्रिय होती है ॥ ७० ॥

सन्तोष सूत विवेक धागे ॥ २७ ॥

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।
सन्तोषो यजुरुक्तोऽयं सूत्राणि मान्त्रिकाणि मे ।
रुद्रसवोविंवेकस्तु तन्तवस्तनुतानिनः ॥ ७१ ॥

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्" ईशावास्योपनिषद् के

इस मन्त्र में प्रतिपादित सन्तोष को सूत और आत्मानात्म-विवेक को धागे हम मानते हैं ॥ ७१ ॥

अनेक टल्ली तहाँ लागे ॥ २८ ॥

तस्यां तु ज्ञानकन्थायां संलग्नाः सात्त्विका गुणाः ।
शमादयोऽतिशोभन्ते वस्त्रखण्डा अनेकशः ॥ ७२ ॥

उक्त ज्ञान की गोदड़ी में जुड़े हुए शम, दम आदि सात्त्विक गुण टल्ली यानी पेवन्द फबते हैं ॥ ७२ ॥

सुरति की सुई लै सद्गुरु सीवै ।
जो राखै सो निर्भउ थीवै ॥ २९ ॥

सुरतिं सूचिमादाय कन्थां सद्गुरुसीवनाम् ।
परिदधीत यो भक्त्या स भवेन्निर्भयोऽभवः ॥ ७३ ॥

प्रेमरूपी सूई लेकर सद्गुरु द्वारा सिली हुई कन्था को जो भक्तिपूर्वक धारण करता है, भव-भय से वह मुक्त हो जाता है ॥ ७३ ॥

स्याह सफेद जरद सुरखाई ।
जो लै पहिरैं सो गुरुभाई ॥ ३० ॥

गुरुशब्दो हि कोशादेर्गुरुपित्रर्थबोधकः ।
गुरुभाईपदस्यात्र मताऽतोऽर्थद्वयी गुरोः ॥ ७४ ॥
गुरुनिमित्तको भ्राता पितृनिमित्तकोऽप्ययम् ।
शाकपार्थिववज्ज्ञेयः समासो नान्यसम्भवः ॥ ७५ ॥
'अज्येष्ठासः' 'स पूर्वेषामि'त्याद्युक्सूत्रमानतः ।
गुरुभ्रातर एते नो ज्येष्ठाल्पिष्ठसमायुषः ॥ ७६ ॥
वर्णाकृतिविभेदेन भिन्ना आर्यादिजातयः ।
समाः समा हि सम्मान्याः परेशैकगुरुत्वतः ॥ ७७ ॥
आस्तिका नास्तिका वापि यस्मिन् कस्मिन्मते स्थिताः ।
सधना निर्धना वा स्युः समा एकगुरुत्वतः ॥ ७८ ॥
वर्णा विप्रादयो वर्णैः श्वेतलोहितपीतकाः ।
श्यामाः शास्त्रसमादिष्टाः समा एकगुरुत्वतः ॥ ७९ ॥
सत्त्वं श्वेतं रजो रक्तं पीतं श्यामस्तमोगुणः ।
तद्वन्तः प्राणिनः सर्वे समा एकगुरुत्वतः ॥ ८० ॥

कोशादि से ज्ञात होता है कि 'गुरु' शब्द दीक्षागुरु एवं पिता—दोनों अर्थों का बोधक होता है। अतः यहाँ 'गुरुभाई' शब्द के दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं—गुरु-

निमित्तक भ्राता अथवा पितृ-निमित्तक भ्राता। 'गुरुभ्राता' शब्द में 'शाकपार्थिव' (शाकप्रियः + पार्थिवः = शाकपार्थिवः) के समान ही मध्यमपदलोपी समास है, अन्य नहीं। "अज्येष्ठासः" (ऋ० ५।५६।६) ऋचा तथा "स पूर्वेषामपि गुरुः" (१।२६) इस योगसूत्र से प्रमाणित होता है कि ये सव आयु में वड़े, छोटे तथा समान व्यक्ति भाई-भाई हैं। रंग, रूप एवं बनावट के भेद से आर्य आदि जातियाँ परस्पर भिन्न होने पर भी समान रूप से माननीय हैं, क्योंकि एक ही परमेश्वर सबका परम पिता है ॥ ७४–७७ ॥

आस्तिक हों या नास्तिक, किसी मत के भो माननेवाले हों, चाहे वे अमीर हों या गरीव; सभी सम्माननीय हैं। शास्त्रों में श्वेत, रक्त, पीत एवं श्याम वर्णों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और श्यामवर्णीय शूद्र कहे गये हैं। ये सभी एक पिता की सन्तान होने से समान माननीय हैं। सत्त्व, रज तथा तमोगुणवाले सभी प्राणियों को एक दृष्टि से देखना चाहिए, क्योंकि ये सव एक ही पिता की सन्तान हैं ॥ ७८–८० ॥

त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई।
दुःख सुख धूनी देहि जलाई ॥ ३१ ॥

लौहचक्रादिना घाते यः प्रणिमयतेऽनलम्।
संज्ञाकेलोंप एषोऽश्मा चकमाकेति कीर्त्यते ॥ ८१ ॥
अश्मान त्रिगुणं चित्तं मथित्वाऽऽहृत्य दीपितम्।
प्राप्तं ज्ञानमयं ब्रह्म ब्रह्माग्निशब्दशब्दितम् ॥ ८२ ॥
दुःखं सुखं च तद्धेतुः कर्माणि विविधान्यतः।
देह एवाग्निकुण्डेऽस्मिन् भस्मसादकृषि द्रुतम् ॥ ८३ ॥
ब्रह्मपुत्रोऽम्बुधिं प्राप्य गतस्ततस्तदात्मताम्।
वीजाभावाद्भवो भावी भूयः सम्भाव्यते नहि ॥ ८४ ॥

लोहे के टुकड़े की चोट पाकर जो पत्थर अग्नि पैदा करता है, उस पत्थर को चकमक या चकमाक कहा जाता है। 'चकमाक' शब्द चक्र-पूर्वक मा धातु से 'क' प्रत्यय करके चक्र के 'र' का लोप कर देने पर सिद्ध होता है ॥ ८१ ॥

त्रिगुणात्मक अन्तःकरणरूपी चकमक को साधनों के अनुष्ठान से शुद्ध कर ध्यानरूपी लोहे का आघात करने पर उसमें से ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है, जिसे वेदों में 'अग्नि' शब्द से पुकारा गया है। उस ज्ञानाग्नि द्वारा शरीररूपी इस धूनी में सुख-दुःख और उनके हेतुभूत अनन्त सञ्चित कर्मों को भस्मसात् कर डाला है ॥ ८२-८३ ॥

सञ्चित कर्मों के नष्ट हो जाने पर जैसे ब्रह्मपुत्र नाम का महानद महासागर में मिलकर उसका ही रूप हो जाता है, वैसे ही जीव ब्रह्म का रूप हो जाता है। संसार के बीज समाप्त हो जाने पर फिर कभी संसार संभावित नहीं होता॥ ८४॥

संयम कपाली शोभा धारी।
चरण कमल में सुरति हमारी॥ ३२॥

शोभाधारी कपाली तु सर्वकर्मसु संयमः।
गुर्वविनाशिपादाब्जे सुरतिः सुरतिः सती॥ ८५॥

सभी व्यवहारों में संयम से काम लेना ही हमारा खप्पर है। अपने गुरुवर अविनाशी मुनि के चरणों में हमारी अगाध श्रद्धा है॥ ८५॥

भाव भोजन अमृत कर पाया।
भला बुरा मन नहीं बसाया॥ ३३॥

भावो हि भोजनं भव्यं प्राप्तमसृतसम्मतम्।
रसारससमीक्षा मे मनसि न समागता॥ ८६॥

सद्भाव ही भव्य भोजन है। अर्थात् स्वभावतः जो प्राप्त हो जाता है, उसे अमृत के समान समझता हूँ, मन में स्वादु-अस्वादु का विचार नहीं आता॥ ८६॥

पात्र विचार फरुआ बहुगुणा।
करमण्डल तुम्बा किश्ती घणा॥ ३४॥

पात्रापात्रविचारो हि काष्ठमृत्स्नामयान्यथ।
कुण्डीतुम्ब्यावमत्राणि कर्परादिबहूनि च॥ ८७॥

पात्र-अपात्र का विचार करना ही लकड़ी और मिट्टी के बने हुए कमण्डलु, तुम्बी, खप्पर आदि हैं॥ ८७॥

अमृत प्याला उदक मन दिया।
जो पीवे सो सीतल भया॥ ३५॥

अमृतं ब्रह्ममन्त्रोक्तं पेपीयन्तेऽत्र साधवः।
शुद्धमतो मनस्त्वेतद् ब्रह्मणोऽस्ति प्रियालयः॥ ८८॥
अमृतमुदकं तस्मिन् गुरुदत्तं पिबन्ति ये।
शान्तिभूतजगत्तापा जीवन्मुक्तास्तु सन्ति ते॥ ८९॥

"इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्"—इस मन्त्र में प्रतिपादित अमृत ब्रह्म का महात्मागण अपने मन में पान किया करते हैं, अतः यह शुद्ध मन ब्रह्म-रस पीने

का प्याला है। उस प्याले में गुरु द्वारा दिये गये अमृतरूप उदक को जो लोग पिया करते हैं, वे जगत्-ताप शान्त हो जाने पर जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

इडा में आवे पिंगला में धावे।
सुषमन के घर सहज समावे ॥ ३६ ॥

विष्णुपदामृतं पीत्वा नाड्येडया यथाविधि।
अन्तः क्षीणं बहिस्तच्च पिङ्गलया प्रवाहयेत् ॥ ९० ॥
प्रतीपं विदधीतापि रन्ध्यादन्तः सुषुम्नया।
प्राणार्थो गुरुणेयं दिक् प्राणायामस्य दर्शिता ॥ ९१ ॥

इड़ा नाड़ी द्वारा आकाशस्थ बाह्य वायु को विधिपूर्वक पीकर अन्दर कुछ देर रोकें। अन्दर रुकी हुई वायु को पिंगला नाड़ी द्वारा बाहर निकालें। तत्पश्चात् विपरीत क्रम से वायु का पूरण, अवरोध और रेचन करें। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना का द्वार खुल जाने पर सुषुम्ना में वायु चढ़ाकर रोकें ॥ ९०-९१ ॥

निराश मठ निरन्तर ध्यान ॥ ३७ ॥

प्राप्तः स सहजावस्थां निराशमठमाश्रितः।
ध्यायेत्सततमात्मानं समाधिना निरन्तरम् ॥ ९२ ॥

सहजावस्था को प्राप्त होकर निखिल आशाओं से रहित मनरूपी मठ में वास करता हुआ योगी निरन्तर समाधि द्वारा आत्मा का ध्यान करे ॥ ९२ ॥

निर्भौ नगरो दीपक गुरुज्ञान ॥ ३८ ॥

श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठश्रीगुर्वाप्तबोधदीपिताम्।
स्वपरहेतुर्भीशून्यां पुरीमधिवसेत्ततः ॥ ९३ ॥

परिपक्व समाधि अवस्था में योगी अपने श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से प्रकाशित अपने-पराये के भेद से रहित एक ब्रह्मपुरी में सदा वास करे ॥ ९३ ॥

स्थिर ऋद्धि अमरपद दण्डा ॥ ३९ ॥

नियमस्थिरतर्द्धिः स्याद् दण्डोऽमरपदस्थितिः।

नियमों की स्थिरता ही ऋद्धि है। अमर पद पर आरूढ़ होना हमारा दण्ड है।

धीरज फहुड़ी ॥ ४० ॥

धैर्यं मे काष्ठकुद्दाली पञ्चकोशापसारिणी ॥ ६४ ॥

धैर्य ही हमारी फहुड़ी—लकड़ी की कुदाली है, जिससे हम पञ्चकोशरूपी राख हटाया करते हैं ॥ ६४ ॥

तप कर खण्डा ॥ ४१ ॥
वश कर आसा ॥ ४२ ॥

निगमागमसंसिद्धं तपः खड्गोऽरिकम्पनः ।
करणानां वशीकार आसो दण्डो ममोत्तमः ।
निरस्यतेऽन्तरायोऽत्र आसः करण अस्यतेः ॥ ६५ ॥

निगमागम-विहित तप पापात्मा शत्रु का हृदय कँपानेवाली तलवार है। इन्द्रियों को वश में करना हमारा दण्ड (आसः) है। 'असु क्षेपणे' धातु से करण में 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'आस' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—जिससे विघ्न-बाधाएँ निरस्त की जायँ ॥ ६५ ॥

समदृष्टि चउगान । हर्षशोक नहिं मन में आन ॥ ४३ ॥

रागद्वेषावविद्योत्थौ हर्षशोकौ तदाश्रितौ ।
एतद्द्विरवं मया दृष्टं समदृष्ट्या निरुद्ध्यते ॥ ६६ ॥
सैकालम्बा चतुर्गाना चउगानं न उत्तमम् ।
कग-सर्वत्र-सूत्राभ्यामत्र त्रलोप ईरितः ॥ ६७ ॥

अज्ञान से जन्य राग-द्वेष और तदाश्रित हर्ष-शोक आदि विषमताएँ समदृष्टि भावना द्वारा मिटायी जा सकती हैं ॥ ६६ ॥

उक्त समदृष्टि हमारी चउगान है। 'चउगान' शब्द संस्कृत के 'चतुर्गान' का अपभ्रंश है। 'चतुर्गान' शब्द के तकार तथा रकार का लोप 'कग' एवं 'सर्वत्र' आदि प्राकृत-सूत्रों द्वारा होकर 'चउगान' शब्द बना है ॥ ६७ ॥

सहज विरागी करे वैराग ।
माया मोहनी सकल त्याग ॥ ४४ ॥

स्वभावतो विरक्तो यां मायां संसृज्य दुःखितः ।
मोहनीं सविलासां तां विसृज्य स्यात्सुखी नरः ॥ ६८ ॥

जिस माया में आसक्त होकर मानव दुःखी होता है, स्वभावतः विरक्त व्यक्ति उस सपरिवार मोहिनी माया को छोड़कर सुखी रहता है ॥ ६८ ॥

नाम की पाखर ।। ४५ ।।

देवस्य प्रथमस्याग्नेश्चारु नाम मनामहे ।
जीत्रेनर्चि प्रतिज्ञातं जपस्तदर्थभावनम् ॥ ९९ ॥
योगसूत्राच्च यौगिक्याः शक्तेर्नामपदस्य च ।
सार्थनाम्नः परेशस्य मननं प्रक्खरः शुभः ॥ १०० ॥
तदेव मननं साधु यत्कर्तुर्गुणकर्मणी ।
ईशस्यैव सदा स्यातां सँल्लग्ने विश्वशर्मणि ॥ १०१ ॥

"अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम" (ऋग्वेद १।५४।२) इस ऋचा में भगवान् के नाम-जप की प्रतिज्ञा की गयी है। "नम्यते शब्द्यतेऽर्थोऽनेन" इस प्रकार की यौगिक व्युत्पत्ति और "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (१।२८) इस योगसूत्र के आधार पर अर्थ-ध्यानपूर्वक नाम का जप करना ही हमारे घोड़े का सुदृढ़ वख्तर है। वही जप-मनन सुन्दर है, जिससे कर्ता के गुण और कर्म सदा ईश्वर के विश्वकल्याणकारी कर्मों में संलग्न रहें ॥ ९९–१०१ ॥

पवन का घोड़ा ।। ४६ ।।

वाह्यजन्येऽङ्गमवैंव मुख्यं पवन आन्तरे ।
तं संसाध्य वशीकुर्युस्तद्विश्वं विजिगीषवः ॥ १०२ ॥

जैसे अश्व वाह्य संग्राम का एक महत्त्वशाली अंग है, वैसे आध्यात्मिक युद्ध में प्राण । अतः आध्यात्मिक संग्राम के विजयाभिलाषियों को चाहिए कि प्राणरूपी अश्व को भली प्रकार अपने वश में रखें ।। १०२ ।।

निःकर्म जीन ।। ४७ ।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं केशवोऽब्रवीत् ।
जगौ कर्मस्वनासक्तिं पल्ययनं तदर्वतः ॥ १०३ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा है : 'कर्मों के न करने मात्र से पुरुष को निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती, निष्काम कर्मानुष्ठान से होती है।' वही उक्त घोड़े की काठी है ।। १०३ ।।

तत्त्वकर जोड़ा ।। ४८ ।।

निर्गुण ढाल ।। ४९ ।।

वस्तु नास्त्यन्तराभावं जगतो भाव ईश्वरः ।
तत्तत्प्रकृतिके त्वेऽत्र परस्तत्त्वं पुरस्कृतम् ।
जोड़ा सैव यतोऽनेन दिष्टया जीवोऽत्र जोडयते ।। १०४ ॥

निर्गुणं निष्कलं ब्रह्म फलकोऽस्ति ममोत्तमः ॥ १०५ ॥

सत्ता के विना कोई वस्तु नहीं होती और जगत् की सत्ता ईश्वर है। अतः यहाँ 'तत्' प्रकृतिक 'त्व' प्रत्यय से परम तत्त्व ईश्वर विवक्षित है। उसी ईश्वर का नाम जोड़ा है, क्योंकि उसके साथ यह जीव अभेद भाव से जोड़ा जाता है ॥ १०४ ॥

निर्गुण-निष्कल ब्रह्म हमारी ढाल है ॥ १०५ ॥

गुरुशब्द कमान ॥ ५० ॥

कुर्वन्नेव यजुर्मन्त्रो वास्तवं कर्मबोधिता।
कार्मुकं गुरुशब्दोऽयं प्रभवन् कर्मणे यतः ॥ १०६ ॥

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यह यजुर्मन्त्र ही यहाँ 'गुरु' शब्द से अभिप्रेत है। अतः यही सच्चा धनुष या कार्मुक है, क्योंकि यह कर्म कराने में समर्थ है ॥ १०६ ॥

अकल संजोह ॥ ५१ ॥

ब्रह्म यदष्टमे काण्डे वर्माऽऽहाथर्वणी श्रुतिः।
अविद्यायाः परित्रातृ तनुत्रं वित्त तद्दृढम् ॥ १०७ ॥

अथर्ववेद के अष्टम काण्ड में जिस ब्रह्म को सन्नाह (वर्म) माना गया है, वही अज्ञान-रक्षक हमारा कवच है ॥ १०७ ॥

प्रीति के बाण ॥ ५२ ॥

अकल की बरछी ॥ ५३ ॥

गुणों की कटारी ॥ ५४ ॥

जगति पातनीं प्रीतिं त्यक्त्वेशे सेषुरिष्यते ॥ १०८ ॥
वरच्छीमकलां कुर्याच्छ्यत्यरीन् साधु सा यतः।
विशिनष्टि क्रियामत्र वरो न कर्मगोचरः।
अभ्यस्यत्वाद्गुणान् कुर्यान्मैत्र्यादींस्तु कटारिकाम् ॥ १०९ ॥

जगत् में गिरानेवाली प्रीति को छोड़कर ईश्वर से प्रीति जोड़ना हमारा बाण है। बुद्धि की बरछी बनानी चाहिए, क्योंकि वह शत्रुओं को भली प्रकार छेदती है। 'वरं छ्यति' इस विग्रह में 'वर' शब्द क्रिया-विशेषण है, छेद क्रियारूप कर्म का वाचक नहीं। बार-बार प्रयोक्तव्य मैत्री आदि गुणों को कटारी माना जाता है ॥ १०८-१०९ ॥

मन को मारि करौ असवारी ॥ ५५ ॥

मनसो मारयित्वाशु कुरुध्वमश्ववारताम् ।
मनोऽध्याद्यक्षवर्गस्य नूनमत्रोपलक्षणम् ॥ ११० ॥
तेनैतत्तनुदेवानां सुपथि चालनं तथा ।
मनसो मारणा या सा दुस्सङ्कल्पान्निवर्तना ॥ १११ ॥
तदनु शिवसङ्कल्पीकरणमश्ववारता ।
एतदर्थं स्वभावो हि गुरुणोद्घोष्यते स्फुटम् ॥ ११२ ॥
सूत्रे पूर्वापरीभावः सङ्गच्छेतान्यथा कथम् ।
मनोऽस्तु शिवसङ्कल्पं प्रार्थना वेद ईदृशी ।
मृतमग्ने मनो मेऽस्तु नास्ति तस्या विरोधिनी ॥ ११३ ॥

साधको ! मन को मारकर शीघ्र अपने वश में कर लो। इस आज्ञा में 'मन' पद सभी नेत्रादि इन्द्रियों का उपलक्षक है । अतः इन शरीरस्थ देवों अर्थात् इन्द्रियों को सुपथ पर चलाना ही उन पर सवारी करना है । मन को मारने का अर्थ दुःसङ्कल्पों से मन को मोड़ना है । मन को दुःसङ्कल्पों से हटाकर शिवसङ्कल्पी बनाना सवारी करना है। अतः आचार्य ने 'मारण' पद की दुःसङ्कल्प-निवृत्ति और 'सवारी' पद की शिवसंकल्पीकरण में प्रवृत्ति स्पष्ट की है । यदि यहाँ 'मारण' शब्द का अर्थ नष्ट करना माना जाय, तो उक्त सूत्र में पहले मन को मारकर सवारी करने का कथन कैसे संगत होगा ? जो घोड़ा मर-मिट गया, उस पर सवारी कौन कर सकता है ? मन शांत संकल्प हो, इस प्रकार की प्रार्थना भगवान् वेद करता है : हे परमात्मन् ! मेरा मन मर जाय । इस प्रकार की वैदिक प्रार्थना भी उक्त प्रार्थना के विरुद्ध नहीं, क्योंकि मन को मारने का अर्थ मन को दुष्ट प्रवृत्तियों से हटाना ही है ॥ ११०–११३ ॥

विषम गढ़ तोड़ निर्भौ घर आया ।
नौबत शंख नगारा बाया ॥ ५६ ॥

संसारं विषमं दुर्गं भङ्क्त्वाऽऽयं निर्भयं गृहम् ।
शङ्खभेर्यादिकं वाद्यं विजयवादिवादितम् ॥ ११४ ॥

संसाररूपी विषम दुर्ग को तोड़कर अपने अभय पद पर पहुँच गये । शंख, नगाड़ा आदि विजय के बाजे विजेताओं ने बजाये ॥ ११४ ॥

गुरु अविनाशी सूषम वेद ।
निर्वाण विद्या अपार भेद ॥ ५७ ॥

अविनाशी गुरुः सूक्ष्मं स्वसंवेद्यं प्रपश्यति ॥ ११५ ॥

सेयं श्रुतौ श्रुता विद्या परा निर्वाणदायिनी।
विद्योभयविधा प्रोक्ता परापरविभेदतः॥ ११६॥
बहुविधाऽपरा तत्र परा त्वेकत्वमाश्रिता।
श्रुतिस्तल्लक्षणं प्राह यथाधिगम्यतेऽक्षरम्॥ ११७॥

मुनिवर अविनाशी गुरु अत्यन्त सूक्ष्म, स्वयं संवेद्य परम तत्त्व के द्रष्टा हैं। उनका वही दर्शन वेदों में निर्वाणप्रद परा विद्या के नाम से विश्रुत है। पर और अपर भेद से विद्या दो प्रकार की कही गयी है। उनमें अपरा विद्या अनेक प्रकार की है, किन्तु परा एक ही प्रकार की है। उसका श्रुति ने यह लक्षण किया है— जिस विद्या से अक्षर ब्रह्म जाना जाता है, वही परा विद्या है॥ ११५–११७॥

अखण्ड जनेऊ॥ ५८॥
निर्मल धोती॥ ५९॥

अखण्डानन्द आत्मा धीः यज्ञसूत्रमनन्तगम्।
नैर्मल्यं मनसो ज्ञेयं धौतवस्त्रं महात्मनाम्॥ ११८॥

अखण्ड, आनन्दस्वरूप आत्मा मैं हूँ—इस प्रकार की बुद्धि यज्ञोपवीत है। महात्माओं की धोती उनका स्वच्छ अन्तःपटल ही है॥ ११८॥

सोहं जाप सच माल पिरोती॥ ६०॥

यदग्ने! स्यामहं त्वं वा घा स्या अहमृचः श्रुतेः।
आम्नानमनिशं माला प्रोता सत्या हि वैदिकी॥ ११९॥
तदाम्नानफलीभूतसत्याशिषः प्रसादतः।
सोऽहंजपस्य माला मे प्रोता सत्या हि याजुषी॥ १२०॥

हे देव! मैं तेरा रूप हो जाऊँ और तू मेरा रूप हो जा, इस प्रकार ऋगर्थ का निरन्तर मनन करना वेद-प्रतिपादित सच्ची माला है॥ ११९॥

उस जप के फलस्वरूप मैं ब्रह्म हो गया। यजुर्वेद-वर्णित "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" यह माला भी वैसी ही सुन्दर माला है, इसीका आचार्य ने अपने सूत्र में वर्णन किया है॥ १२०॥

सिखा गुरुमन्त्र गायत्री हरिनाम।
निश्चल आसन कर विश्राम॥ ६१॥

शिखा मे गुरुमन्त्रो या गायत्री हरिनामगी।
श्रौतं मन्त्रं जपेच्चेमं विश्रम्य निश्चलासने॥ १२१॥

पार्थक्याद् गुरुमन्त्राणां ये द्विषन्ति परस्परम् ।
साम्प्रदायिकविद्वेषं तेषां तं घातुको गुरुः ।
मन्त्रान्तरोपदेशी चेत् प्रत्युत तं प्रवर्धयेत् ॥ १२२ ॥

मेरी शिखा मेरा गुरुमन्त्र है। हरिनाम-समन्वित गायत्री ही गुरु-मन्त्र है। निश्चल आसन पर बैठकर इस वैदिक मन्त्र का जप करें ॥ १२१ ॥

साम्प्रदायिक गुरुमन्त्रों के भिन्न-भिन्न होने के कारण जो लोग परस्पर द्वेष करने लग जाते हैं, उन लोगों के द्वेष को मिटाने के लिए आचार्य ने किसी नूतन मन्त्र का आविष्कार न करके सनातन श्रौत मन्त्र का ही उपदेश किया। यदि आचार्य नूतन मन्त्र का उपदेश करते, तो वह विद्वेष अधिक बढ़ सकता था ॥ १२२ ॥

तिलक सँपूर्ण ॥ ६२ ॥

चन्दनतिलकेनाशु वासेन वास्यते तनूः ।
वासितं ब्रह्मणा विश्वमुचितं ह्यत्र रूपणम् ॥ १२३ ॥

चन्दन के तिलक से जैसे शरीर वासित (सुगन्धित) होता है, वैसे ही ब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व वासित है। अतः ब्रह्म को तिलक का रूपक देना उचित ही है ॥ १२३ ॥

तर्पण यश ॥ ६३ ॥

नृवर्णिसुरभूतानां पितॄणां भोजनादिना ।
तर्पणं वित्त तन्मे यदीशचिन्तनजं यशः ॥ १२४ ॥

अतिथि, ब्रह्मचारी, देव एवं अन्य प्राणियों को भोजनादि से तृप्त करना ही हमारे मत में ईश्वर-चिन्तन से उपार्जित यश है ॥ १२४ ॥

पूजा प्रेम ॥ ६४ ॥

बाह्या पूजैकदेशस्य तत्तोषणी भवेन्न वा ।
विश्वरूपे विभौ प्रेम पूजा स्याद्विश्वतोषणी ॥ १२५ ॥

बाह्य पूजा ईश्वर के किसी एक अंश ब्रह्मा आदि से सम्बद्ध है। अतः वह पूर्ण ब्रह्म को प्रसन्न कर सकती है या नहीं, यह सन्देह है। किन्तु विश्वरूप परमेश्वर में साक्षात् प्रेम एक ऐसी पूजा है, जिससे निश्चय ही विश्वात्मा ईश्वर प्रसन्न होता है ॥ १२५ ॥

भोग महारस ॥ ६५ ॥

ब्रह्मभूतेन वै ब्रह्म भुज्यते रस्यते यतः ।
महारसः स भोगो मे भव्यो विश्वविलक्षणः ॥ १२६ ॥

ब्रह्मीभूत तत्त्ववेत्ता के द्वारा ब्रह्मानन्द भोगा जाता है, अतः भव्य, विश्वातीत ब्रह्मरूपी महारस का पान हमारा भोग है ॥ १२६ ॥

निर्वैर सन्ध्या ॥ ६६ ॥

निर्वैरता हि सन्ध्या मे पापपुञ्जप्रणाशिनी ॥ १२७ ॥

वैरभाव का सर्वथा परित्याग ही हमारी पाप-पुञ्जविनाशनी सन्ध्या कही गयी है ॥ १२७ ॥

दर्शन छापा ॥ ६७ ॥

सर्वभूतेष्वहंभाव आत्मनि भूतभावना ।
इति मे दर्शनं छापा निगमागमसङ्गतः ॥ १२८ ॥
छ्यत्यविद्यां विलासान्तामागामिन्याश्च पात्यपि ।
क्विबन्तच्छ्यतिपातिभ्यां छापास्त्वन्वर्थकोऽत्र वै ॥ १२९ ॥

सर्वभूतों में अहंभावना और आत्मा में सर्वभूत-भावना का नाम दर्शन है, यह बात "सर्वभूतस्थमात्मानम्" इस गीता-मन्त्र और "यस्तु सर्वाणि भूतानि" इस श्रुति में प्रसिद्ध है। वही दर्शन हमारा छापा है ॥ १२८ ॥

'छापा' शब्द का अर्थ दर्शन होता है, क्योंकि वह प्रपञ्च-सहित अविद्या का नाशक तथा आगामी अज्ञान से रक्षक होता है। यहाँ 'छो छेदने' और 'पा रक्षणे' इन दो धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'छापा' शब्द बनता है, जो कि अन्वर्थक है ॥ १२९ ॥

वाद विवाद मिटाओ आपा ॥ ६८ ॥

अहन्ताममतायुग्मं नामरूपद्वयं तथा ।
हित्वैतद्गोचरौ वादविवादौ स्यात्स्वयं सुखी ॥ १३० ॥

अहन्ता, ममता और नाम-रूप के वाद-विवाद को मिटाकर मनुष्य सुखी होता है ॥ १३० ॥

पोत पिताम्बर मन मृगछाला ॥ ६९ ॥

य एषोऽभ्यन्तरादित्ये दृश्यते ना हिरण्मयः ।
पीतोऽतः सर्व आभाषो छान्दोग्याद्यप्रपाठके ॥ १३१ ॥
भगवद्रूपमर्कस्थं पीताम्बरमतिस्फुटम् ।
तस्मिन्निवेशितं चेतस्तदस्ति मे मृगाजिनम् ॥ १३२ ॥

आदित्य-मण्डल में जो यह हिरण्मय पुरुष दिखाई देता है, वह प्रकाशमय सर्वरूप होने से विश्व का प्रकाशक है, इस प्रकार छान्दोग्य के प्रथम प्रपाठक में

वर्णित आदित्यस्थ भगवद्रूप निखरा हुआ पीताम्बर है। उस रूप में निवेशित चित्त ही हमारी मृगछाला है ॥ १३१-१३२ ॥

चीत चितम्बर रुण झुण माला ॥ ७० ॥

अत्रस्थाम्बरशब्देनाकाशस्य शब्दनं यतः।
माला निरन्तरं चित्ते चिदाकाशस्य चिन्तनम् ॥ १३३ ॥

'चितम्बर' शब्द में स्थित 'अम्बर' शब्द का यहाँ अर्थ आकाश होता है, वस्त्र नहीं; क्योंकि चित्त में चिदाकाश के चिन्तन की माला का लाभ तभी हो सकता है, जब कि अम्बर का अर्थ आकाश किया जाय ॥ १३३ ॥

बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन
खौस खड़ावाँ इह मति लीन ॥ ७१ ॥

व्याघ्राम्बरं च तोप्युच्चा सह रोमत्वगम्बरम्।
पादुके काष्ठचर्मीये बुद्धिरेव चिदात्मनि ॥ १३४ ॥

चिदात्मा में स्थित बुद्धि ही बाघम्बर है, ऊँची टोपी है, रोमवाला वस्त्र है, खड़ाऊँ एवं जूता है ॥ १३४ ॥

खौस खड़ावाँ इह मति लीन ॥ ७२ ॥

विनापि प्रत्ययं लोपः पूर्वोत्तरसुबन्तयोः।
अतोऽत्र कोशशब्देन पञ्चकोशा उदाहृताः ॥ १३५ ॥
स्वार्थेऽणि च तथा वृद्धौ कौश इत्यभिधीयते।
प्राकृते प्राकृतं सूत्रं "शषोः स" दन्त्यसो मतः ॥ १३६ ॥
अनुप्रासस्य लोभेन द्वितीयो वर्ण उच्यते।
भवमतिर्विलीना मे पूर्वोदितविचारतः।
परमार्थमतिर्लीतेरयावृत्त्याऽर्थद्वयं मतम् ॥ १३७ ॥

बिना प्रत्यय के भी पूर्व और उत्तर के सुबन्त पदों का लोप हो, इस व्याकरण-नियम के अनुसार 'पञ्चकोश' शब्द के 'पञ्च' पद का लोप होकर 'कोश' शेष रहा, उसीका अपभ्रंश 'खौस' है। अतः यहाँ 'खौस' शब्द से पञ्च कोशों का उल्लेख किया गया है। 'कोश' शब्द का 'खौस' इस प्रकार बनता है: 'कोश' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' हुआ। 'अण्' के परे रहते आदिम अच् को वृद्धि होकर 'कौश' शब्द बना। प्राकृत शब्दों के साधन में प्राकृत सूत्र लगते हैं। प्राकृत व्याकरण में "शषोः सः" इस सूत्र से कौश का कौस बना। जैसे 'विभीषण' शब्द

के साथ अनुप्रास भिड़ाने के लिए 'राभण'-विभीषण कह दिया जाय, वैसे ही 'खड़ावाँ' के साथ अनुप्रास मिलाने के लिए 'खौस खड़ावाँ' कह दिया गया। 'इहि मति लीन' के दो अर्थ होते हैं : (१) पूर्वोक्त आत्मविचार से अनात्म-बुद्धि विलीन हो गयी। (२) पूर्वोक्त विचार से आत्मबुद्धि प्रकट हो गयो। उक्त दोनों अर्थ 'इहि मति लीन' वाक्य की आवृत्ति करके, दो वार उसका पाठ करके निकाले जाते हैं ॥ १३५–१३७ ॥

तोड़ा चूड़ा और जँजोर।
लै पहिरै साधु उदासी धीर ॥
जटा जूट मुकुट सिर होइ।
मुक्ता फिरे बन्ध नहि कोइ ॥ ७३ ॥

तोड़ादिकमुदासीनो जटाजूटं च धारयेत्।
यत्किञ्चिदिष्टवेशो वा विचरेन्मुण्डमुण्डितः ॥ १३८ ॥

उदासीन साधु तोड़ा-सहित जटाजूट धारण करें अथवा मुण्डित होकर विचरें ॥ १३८ ॥

नानकपूता श्रीचन्द बोले।
जुगत पछाणे तत्त्व विरोले ॥ ७४ ॥

अनेकात्मैक्यधीभक्तिपूतात्मा ना श्रिया शशी।
प्रतारणाद्यसंसृष्टो ग्राह्यवाक्यो ब्रवीम्यहम् ॥ १३९ ॥
गोभिः श्रीणीत रे शाक३ इत्यादौ वेदलोकयोः।
असत्त्वे तद्धितस्यापि तदर्थस्त्ववबुद्ध्यते ॥ १४० ॥
एवं नानकशब्देन नानकीयोऽन्वयो मतः।
स पूतो यत्प्रभावात्स नानकपूतशब्दितः ॥ १४१ ॥
एतदर्थावगत्यै सो बहुव्रीहिरिहादृतः।
प्राचामर्थावबोधाय युक्ता पूतपरस्थितिः ॥ १४२ ॥
समवैतु गुरोर्युक्तिं तत्त्वात्तत्त्वं विलोडतु।
तत्त्वमित्थमवाप्नोतूदासीनः साधुरुत्थितः ॥ १४३ ॥

'नानकपूतः' शब्द की सन्धि पृथक् करने पर 'ना + अनकपूतः' बनता है। 'ना' शब्द का अर्थ नर और अनकपूतः का अर्थ अभेद भक्ति द्वारा पवित्र होता है। इस प्रकार 'नानकपूतः श्रीचन्द बोले' का अर्थ होता है—भक्तिपूतमानस

मैं श्रीचन्द्र वञ्चनादि दोषों से रहित एवं ग्राह्यवाक्य होकर बोलता हूँ। अथवा 'नानकपूतः' का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० ९।४६।४) इस ऋक्वाक्य में 'गो' शब्द के उत्तर तद्धित प्रत्यय के न होने पर भी 'गो' का अर्थ गव्य=दुग्ध किया जाता है एवं "रे शाक !" इस लौकिक सम्बोधन में 'शाकः' पद का शाकवाला अर्थ माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ 'नानक' शब्द का अर्थ नानकीय वंश अभीष्ट है। वह नानकीय वंश पवित्र हो गया है जिसके प्रभाव से, ऐसा श्रीचन्द्र बोलता है। इस अर्थ की प्राप्ति के लिए ही 'नानकपूतः' शब्द में बहुव्रीहि समास माना जाता है। यहाँ शङ्का होती है कि बहुव्रीहि समास मानने पर 'पूतनानकः' शब्द बनना चाहिए, क्योंकि "निष्ठा" इस पाणिनीय सूत्र से पूत शब्द का प्रयोग पहले होगा। इस शंका का समाधान यह है कि प्राचीन महापुरुषों का नानक-पुत्र अर्थ भी सूचित करने के लिए 'पूत' पद पश्चात् रखा है। 'जुगत पछाणे तत्त्व विरोले' का अर्थ होता है, आचार्य द्वारा उपदिष्ट युक्तियों का सहारा लेकर उदासीन मुनि तत्त्वातत्त्व की छानबीन करें ॥ १३९–१४३ ॥

ऐसी मात्रा लै पहिरे कोय।
आवागमन मिटावे सोय ॥ ७५ ॥

यः श्रुत्वाऽधीत्य मत्वेहङ्मात्रां परिदधीत तु।
नैजरूपमवाप्तोऽसौ यानायाने निषेधतु ॥ १४४ ॥

जो व्यक्ति इस मात्राशास्त्र का श्रवण, मनन कर उसे धारण कर ले, वह व्यक्ति आत्मस्वरूप को प्राप्त कर आवागमन के चक्कर से छूट जाता है ॥ १४४ ॥

सदर्थरत्नसम्पूर्णा भावप्रभासमुज्ज्वला।
भूषयन्ती श्रुतिस्वान्ते मात्रा गुरुप्रसादतु ॥ १४५ ॥

सच्चे रत्नों से भरपूर सद्भावरूपी प्रभा से युक्त श्रोत्र या अन्तःकरण को विभूषित करती हुई मात्राशास्त्र की वाणी गुरु-प्रसाद बन जाय ॥ १४५ ॥

एकैकशो नैकरहस्यभाञ्जि
श्रौतार्थसन्दोहसुधान्वितानि।
आकाङ्क्ष्यवार्णामधुमिश्रितानि
चषन्तु सूत्राण्यपवर्गदानि ॥ १४६ ॥

अनेक रहस्य-सूचक, वैदिक अर्थरूपी सुधा में सने हुए, आकांक्षादि अंगों से युक्त वाणी के मधु से मधुमय, अपवर्गप्रद प्रत्येक सूत्र का आस्वादन करें ॥ १४६ ॥

न विस्मरेद्विष्णुसुरूपरामं
स्वकीयरूपे रमतां सदायम् ।
दयान्वितः सद्गुरुराम आख्यद्
रामस्वरूपेति समाख्यया यम् ॥ १४७ ॥

श्रीदेवयानाख्यकपद्धतिर्यो
लतालयग्रामकृताधिवासः ।
सोऽहं व्यधां श्रीशशिभावबोधीं
प्रसादिनीं नाम मनःप्रसादीम् ॥ १४८ ॥

यह (भावप्रसादिनी व्याख्या के कर्ता) अपने गुरुभाई पण्डित विष्णुदासजी को कभी नहीं भूल सकता। मेरे सद्गुरु दयारामजी ने जिसका नाम रामस्वरूप रखा, जिसकी पद्धति देवयान (दीवाना) है तथा जो 'लताला' ग्राम का अधिवासी है, उस मैंने (पं० रामस्वरूप ने) श्रीचन्द्र भगवान् के भावों को भली प्रकार बतानेवाली 'भावप्रसादिनी' व्याख्या की है ॥ १४७–१४८ ॥

दिग्दर्शिकेयं तु कृतिर्मदीया
व्याख्यां विदध्युर्बृहतीं बुधेन्द्राः ।
गुरूपदेशेन दिशः प्रकाश्य
लभ्योऽविलम्बं स्वगुरुप्रसादः ॥ १४९ ॥

यह मेरी कृति केवल दिग्दर्शन मात्र है। इस मात्राशास्त्र की बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ तो पण्डितगण लिखेंगे। आशा है कि उन पण्डितगणों का मैं केवल मार्ग-दर्शन करके आचार्य की अनुकम्पा प्राप्त कर लूँगा ॥ १४९ ॥

भूभृन्नभोव्योमदृगङ्किते़ऽब्दे
श्रीवैक्रमे चैत्रवलक्षपक्षे ।
कुम्भे सटीका मयकाऽपि मात्रा
समागतोदासिसुधीसमक्षे ॥ १५० ॥

विक्रम संवत् २००७ चैत्र शुक्लपक्ष में हरिद्वार-कुम्भ-मेला के अवसर पर देश-देशान्तरों से आये उदासीन मुनियों के समक्ष यह सटीक मात्राशास्त्र प्रस्तुत किया गया ॥ १५० ॥

जीवस्य कार्ये क्व च न प्रमादः
त्रुटिस्ततोऽत्रेति न मन्यते न ।
क्षमास्ति धर्मो विदुषामनेन
न क्षम्यते नेति न मन्यते न ॥ १५१ ॥

जीव के किस कार्य में प्रमाद नहीं हो जाता ? अतः इस कार्य में मुझसे कोई त्रुटि नहीं रही, यह दावा नहीं किया जा सकता; अवश्य भूलें रही होंगी। फिर भी विद्वानों का क्षमा करना धर्म है, अतः वे मेरी त्रुटियाँ क्षमा नहीं करेंगे, यह कभी नहीं माना जा सकता ॥ १५१ ॥

भावप्रसादिनीव्याख्या श्रुतिसंवादिनी कृता ।
ततः सारमुपादाय कृतेयं भाषया पुनः ॥